समन्वय के साधक

श्री काकासाहेब कालेलकर अभिनन्दन ग्रंथ

□ इस ग्रंथ में

गांधी विचारधारा के प्रमुख व्याख्याता, स्वतंत्र चिंतक तथा सत्साहित्य के प्रणेता आचार्य काकासाहेब कालेलकर से संबंधित संस्मरण, काकासाहेब का आत्म-परिचय, उनके विचार तथा उनके कुछ चुने हुए पत्र दिये गए हैं।

संस्मरणों को पढ़कर पता चलता है कि काकासाहेब का व्यक्तित्व कितना प्रखर और उनकी सेवाएं कितनी बहुमुखी तथा दीर्घकालीन हैं।

आत्म-परिचय से मालूम होता है कि काकासाहेब में प्रारंभ से ही सेवा की कितनी गहरी लगन थी और उनकी प्रतिभा उन्हें इतने क्षेत्रों में ले गई कि वह एक व्यक्ति नहीं रहे, संस्था बन गए।

उनके विचार तो गागर में सागर की कहावत चरितार्थ करते हैं। उन्हें पढ़कर आनन्द तो आता ही है, प्रेरणा भी मिलती है।

पत्रावली के पत्र काकासाहेब के जीवन के, विशेषकर स्पन्दनशील हृदय के, विभिन्न पक्षों परप्रकाश डालते हैं।

परिशिष्ट में उनके जीवन की प्रमुख घटनाओं की तालिका तथा पुस्तकों की सूची दी गई है।

अनेक चित्र भी दिये गए हैं।

ग्रंथ सुपाठ्य तो है ही, संग्रहणीय भी है।

□□

समन्वय के साधक

समन्वय के साधक

क्षण

श्री काका साहेब

संस्कृति के साधक

श्री काका साहेब कालेलकर
अभिनन्दन ग्रंथ

कालेलकर अभिनन्दन समिति

परामर्शदाता मंडल

बनारसीदास चतुर्वेदी
उमाशंकर जोशी
विष्णु प्रभाकर
प्रभाकर माचवे
सतीश कालेलकर
रवीन्द्र केलेकर

संपादक मंडल

यशपाल जैन
सरोजिनी नानावटी
हसमुख व्यास

•

मुख्य विक्रेता

सस्ता साहित्य मंडल
एन-७७, कनॉट सर्कस,
नई दिल्ली-११०००१

•

प्रकाशक : श्री काकासाहेब कालेलकर अभिनंदन समिति; १, जवाहरलाल नेहरू मार्ग, नई दिल्ली • पहली बार : १ दिसम्बर १९७९ • मूल्य : पिचहत्तर रुपये • मुद्रक : रूपक प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली-३२

जिन्होंने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में
समन्वय की अथक साधना की है उन
मनीषी काकासाहेब कालेलकर को
उनकी पिच्चानवेवीं वर्षगांठ के
पावन अवसर पर

नई दिल्ली
१ दिसम्बर, १९७९

सम्पादकीय

परम सौभाग्य की बात है कि श्रद्धेय काकासाहेब कालेलकर ने अपने यशस्वी जीवन के ९४ वर्ष पूर्ण करके ९५वें वर्ष में पदार्पण किया है।

काकासाहेब व्यक्ति नहीं, एक संस्था—महान संस्था—हैं। शिक्षा, साहित्य, संस्कृति, कला, दर्शन आदि विभिन्न क्षेत्रों में उन्होंने जो योगदान दिया है, वह सर्वविदित है। गांधीजी के सिद्धान्तों में उनकी गहन आस्था है। अपने स्वतंत्र चिन्तन, सशक्त लेखन तथा ओजस्वी वाणी से उन्होंने अपने देशवासियों को ही नहीं, अन्य अनेक देशों के असंख्य भाई-बहनों को अनुप्राणित किया है।

काकासाहेब ने विपुल साहित्य की रचना की है। उनकी बहुत-सी पुस्तकें हिन्दी, गुजराती मराठी आदि भारतीय भाषाओं के साथ-साथ अंग्रेजी तथा अन्य भाषाओं में भी उपलब्ध हैं। ये पुस्तकें प्रेरणा का अक्षय स्रोत हैं। उन्हें पढ़कर पाठकों को जहां अपार आनंद मिलता है, वहां उनका ज्ञानवर्द्धन भी होता है।

काकासाहेब जीवन भर परिव्राजक रहे हैं। देश-विदेश में खूब घूमे हैं। जापान की तो उन्होंने छः बार यात्रा की है। अपने इन प्रवासों में उन्हें जो अनुभव हुए हैं, आनंद की अनुभूति हुई है, उसका भरपूर लाभ उन्होंने पाठकों को दिया है। उनके यात्रा-साहित्य को पढ़कर पाठक विभोर हो उठते हैं। उनके विवरण इतने सजीव और जीवन्त हैं कि पाठकों को लगता है कि वे स्वयं काकासाहेब के साथ यात्रा कर रहे हैं।

काकासाहेब का अध्ययन अत्यन्त बहुमुखी तथा सूक्ष्म रहा है। उन्होंने भारत के ही नहीं, सारे संसार के अध्यात्म, दर्शन, कला, संस्कृति आदि से संबंधित वाङ्मय का स्वाध्याय किया है और उनका सार ग्रहण करके उसमें पाठकों को भागीदार बनाया है।

काकासाहेब की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे निरंतर गतिशील रहे हैं और प्रत्येक क्षण उनका विकास होता रहा है। यही कारण है कि वे नये-नये क्षेत्रों में बराबर प्रवेश करते गये हैं। उनका जीवन-पटल इतना विशाल और वैविध्य-पूर्ण है कि उसे शब्दों में बांधना आसान नहीं है।

काकासाहेब का हृदय बहुत ही संवेदनशील है। जो भी उनके सम्पर्क में आता है, उस पर वह अपने वात्सल्य की वर्षा करते हैं। उनके लिए धर्मों, संस्कृतियों, विश्वासों, राष्ट्रीयताओं आदि की परिधियां कोई महत्व नहीं रखतीं। उनका धर्म मानव-धर्म है, जिसका मूलाधार प्रेम है।

काकासाहेब की इक्यासीवीं वर्षगांठ पर, 'सस्ता साहित्य मंडल' आदि संस्थाओं ने एक ग्रंथ 'संस्कृति के परिव्राजक' प्रकाशित किया था, जिसे राष्ट्रपति भवन में तत्कालीन राष्ट्रपति सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने उन्हें १ दिसम्बर १९६५ को समर्पित किया था। उस ग्रंथ को पाठकों ने इतना पसंद किया कि कुछ ही समय में उसकी सारी प्रतियां खप गईं।

पर काकासाहेब का विकासशील व्यक्तित्व वहीं रुका नहीं, विगत वर्षों में उसने आगे की और भी मंजिलें पार कीं और इन वर्षों में उन्होंने देश-विदेश को समन्वय का संदेश दिया। वे मानते हैं कि मानव-जाति का भविष्य विविधता के बीच एकता सम्पादित करने में है।

इसी बात को ध्यान में रखकर निश्चय किया गया कि काकासाहेब की पिच्चानवेवीं वर्षगांठ पर उन्हें एक ग्रन्थ अर्पित किया जाय। प्रस्तुत ग्रन्थ उसी निश्चय का सुफल है।

इस ग्रन्थ के आरम्भ में विनोबा, मुक्तानन्द परमहंस, रविशंकर महाराज और निची-दात्सू फूजीई के मंगल वचन तथा दो भावांजलियां दी गई हैं। तत्पश्चात ग्रंथ की सामग्री को चार खण्डों में विभाजित कर दिया गया है। पहले खण्ड 'व्यक्तित्व' में उन व्यक्तियों के संस्मरण दिये गए हैं, जिन्हें काकासाहेब को निकट से देखने और समझने का सुयोग मिला था। दूसरे खण्ड 'बढ़ते कदम' में काकासाहेब का उन्हीं की लेखनी से लिखा आत्म-परिचय संकलित किया गया है। तीसरे खण्ड 'विचार' में काकासाहेब की चुनी हुई रचनाओं का संग्रह है। उसे हमने तीन भागों में विभक्त कर दिया है: (१) जीवन दर्शन (२) प्रकृति दर्शन और (३) मानव दर्शन। चौथे खण्ड 'पत्रावली' में हमने काकासाहेब के कुछ चुने हुए पत्र दिये हैं। अन्त में परिशिष्ट में काकासाहेब के जीवन की प्रमुख घटनाओं की तालिका तथा उनकी रचनाओं की सूची दे दी है।

काकासाहेब ने विपुल साहित्य की रचना की है। उनका सारा साहित्य उच्च कोटि का है। हमारे सामने बहुत बड़ी कठिनाई यह रही कि इस ग्रन्थ के सीमित पृष्ठों में किन रचनाओं को दें, किनको छोड़ें। पाठकों से हमारा अनुरोध है कि वे काकासाहेब के पूरे साहित्य को पढ़ने की कृपा करें।

ग्रंथ कैसा बन पड़ा है, इस संबंध में हमें विशेष कुछ नहीं कहना है। हम यही कह सकते हैं कि ग्रंथ अधिक-से-अधिक सुपाठ्य तथा उपयोगी बने और काकासाहेब के प्रखर व्यक्तित्व तथा समन्वयी विचारों की झांकी उसमें आ जाय, ऐसा हमारा प्रयत्न रहा है।

ग्रंथ की तैयारी में और उसके प्रकाशन में जिन्होंने अपना मूल्यवान योग दिया है, उनका शब्दों में आभार मानना धृष्टता होगी। वस्तुतः काकासाहेब का विशाल परिवार उनके प्रति इतनी आत्मीयता रखता है कि उनसे संबंधित किसी भी अनुष्ठान में अपना हविर्भाग अर्पित करना उसके लिए प्रसन्नता का ही नहीं, धन्यता का कारण होता है।

पाठकों को शायद पता होगा कि विनोबाजी की लेखनी ने एक प्रकार से विराम ले रक्खा है। बाबा मुक्तानन्द परमहंस विदेश में हैं, रविशंकर महाराज अस्वस्थ हैं और नीची दात्सू फूजीई गुरुजी प्रायः प्रवास में रहते हैं, लेकिन हमारे अनुरोध पर उन्होंने तत्काल अपने मंगल-वचन लिखकर भेज दिये, उसके लिए हम उन सबके प्रति जितना आभार व्यक्त करें, थोड़ा है। संस्मरण-लेखकों ने अल्प समय में बड़ी महत्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत कर दी, हम उनके ऋणी हैं। ऐसे ग्रन्थों का प्रकाशन कितना व्यय-साध्य है, यह किसी से छिपा नहीं है। उस दिशा में जिन्होंने हमें उदारतापूर्वक सहायता दी, उनके प्रति हम अपनी आंतरिक कृतज्ञता ज्ञापन करते हैं।

इस मंगल अवसर पर हम काकासाहेब का हार्दिक अभिनन्दन करते हैं और प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि उनका वरदहस्त अभी बहुत समय तक हमारे ऊपर बना रहे और हम उनसे सतत प्रेरणा प्राप्त करते रहें।

—सम्पादक-मंडल

अनुक्रम

मंगल वचन

विनोबा १३ — १४ स्वामी मुक्तानंद
रविशंकर महाराज १५ — १६ नीची दात्सू फूजीई

वंदन

गुरुवर अनुसर रे १९ ब० भ० बोरकर
अभिनंदन-प्रसूनांजलि: २० शंकरदेव विद्यालंकार

खण्ड-१ : व्यक्तित्व

सत्याग्रह के सिद्धान्तों को आत्मसात करनेवाले २१ मो० क० गांधी
हमारा दीर्घकालीन सान्निध्य २१ जे० बी० कृपालानी
समन्वय के उद्‌गाता २३ दादा धर्माधिकारी
उनकी बहुमुखी सेवाएं २५ जगजीवनराम
ज्ञान के भण्डार २५ जानकी देवी बजाज
भारत के सांस्कृतिक राजदूत २७ बनारसीदास चतुर्वेदी
सर्वधर्म समन्वय में अटल निष्ठा ३० जी० रामचन्द्रन
उनका प्रेममय स्पर्श ३३ मीआ और क्लाउस
अनुग्रह का भाजन ३४ बालजीभाई देसाई
मेरा प्रथम परिचय ३४ गंगाबैन वैद
उनके जीवन के विभिन्न पहलू ३५ लक्ष्मी देवदास गांधी
प्रेम और प्रोत्साहन के प्रदाता ३६ मदालसा नारायण
उनकी शान्त तेजस्वी विनम्रता ३९ मार्गरेट और विलियम बेली
मानवता के पुजारी ४० सोफिया वाडिया
समन्वय के साधक ४० यशपाल जैन
गुजरात विद्यापीठ में ४४ सुन्दरम्
जीवन-समन्वय ४८ सरोजिनी नाणावटी

अफ्रीका को उनकी महान देन	५१	अप्पा पंत
नमः परम् ऋषिभ्यः	५२	कुंदर दिवाण
वंदनीय	५३	काशिनाथ त्रिवेदी
उनकी कृपा-वर्षा	५७	चंद्रकांत मेहता
समन्वय की जीवन्त प्रतिमूर्ति	५९	ओमप्रकाश त्रिखा
उनका पावन योगदान	६०	गुलाम रसूल कुरैशी
स्वातंत्र्य-प्राप्ति में ही जीवन-साफल्य	६२	अमृतलाल नाणावटी
हमारे गुरु-तुल्य	६३	रामकृष्ण बजाज
उनकी दो विशेषताएं	६४	फीरोजा वकील
मेरे प्यारे दादाजी	६५	निरूपमा मारू
सर्व-भाषा-मम-भावी ऋषि	६८	रवीन्द्र केलेकर
प्यारे आचार्य	७१	मुरलीधर घाटे
उनके प्रेम की सरिता	७३	पुरुषोत्तम ना० गांधी
शब्दलोक के यात्री	७५	रमणलाल जोशी
साहित्य के साथ तद्‌रूपता	७८	प्रेमा कंटक
मेरे विनम्र प्रणाम	७८	राधिका
मेरे निर्माण में उनका योग	७९	पदमचंद्र सिंघी
मेरे जीवन के दिशा-दर्शक	८२	प्रभुदास गांधी
ऐसे हैं काकासाहेब	८४	इस्माइलभाई नागोरी
स्थितप्रज्ञ कर्मयोगी	८६	मृणालिनी देसाई
हिमालय और काकासाहेब	८७	यशोधरा द्विवेदी
वल्लभ विद्यालय की प्रेरणा-मूर्ति	९०	शिवाभाई गो० पटेल
ज्ञान के अनंत भण्डार	९२	उमा अग्रवाल
अपरिचित मार्गों पर चलने की प्रेरणा देनेवाले	९४	मोहन पारीख
परिणत सुविचार की पवित्र खान	९६	पुण्डलीक कानगड़े
एक अविस्मरणीय प्रसंग	९९	अनसूया बजाज
मेरा हृदय-परिवर्तन	१००	नायबराज कालरा
जीवन-कला के आचार्य	१०२	चिमनभाई भट्ट
त्याग और स्वार्पण की मूर्ति काकी	१०५	ज्योति थानकी
समन्वय-योग	१०९	उमाशंकर जोशी
देश-विदेश के बीच समन्वय के संस्थापक	१११	महातम सिंह
प्रतिभा के पुंज	११३	विष्णु प्रभाकर
दुर्लभ अवसर	११५	हेनरी ई० नाइल्स
अमरीका पर उनकी छाप	११६	मेरी कुशिंग ('खुशी') नाइल्स
पहली भेंट की अटूट कड़ी	११९	क्यूया दोई

खण्ड-२ : बढ़ते कदम

(जीवन-यात्रा अपनी कलम से)

मेरे माता-पिता १२३; बचपन के संस्मरण १२५; मां का सिखाया कुटुंब-धर्म १२७; जीव-दया १२६; मेरे भाई-बहन १३१; मेरी पढ़ाई १३३; शिक्षा के द्वारा क्रांति की तैयारी १३४; हिमालय और उसके बाद १३६; मेरा वैवाहिक जीवन १४२; पत्नी की देशभक्ति १४४; सिंध के प्रति आत्मीयता १४६; प्रारंभिक सार्वजनिक जीवन की परिणति १४८; प्रान्तीयता और मेरा संकल्प १५०; मेरा आश्रम-प्रवेश १५४; आखिर हिन्दी मुझसे चिपकी १५६; हिन्दी यानी उत्तर का आक्रमण १५७; राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी १६१; साहित्य-समृद्धि, भाव-शक्ति १६६; 'नवजीवन' १७०; कांग्रेस की सेवा १७३; 'मैं जाने को तैयार नहीं' १७७; नरम होते हुए भी तेजस्वी १७८; गुजरात विद्यापीठ की स्थापना और पुनर्रचना १८२; प्रान्तीयता १८६; विकास का मौका और क्रान्ति की झड़प १६०; पहली जेल-यात्रा और कुरानशरीफ का अध्ययन १६३; चर्खे की उपासना १६५; आकाश-दर्शन और पूज्य बापूजी १६७; ग्रामोद्धार की भूमिका १६८; अस्पृश्यता-निवारण के लिए बापू का अनशन १६६; आरोग्य और दीर्घायु २००; विश्व-समन्वय-संघ की स्थापना २०२।

खण्ड-३ : विचार

(चुनी हुई रचनाएं)

प्रकृति-दर्शन

अर्णव का आमंत्रण २०७; सुर-धनु का मनन २११; वर्षा-गान २१३; उंचल्ली का प्रपात २१६; दिवसा आद्यन्त रमणीया २१६; छूटे हुए स्वच्छंद पत्ते २२१; इण्टरलॉकन में २२४।

जीवन-दर्शन

ओऽम् नमो नारायणाय पुरुषोत्तमाय २२८; ब्रह्मविद्या के बाद भी जीवन विद्या २२६; 'सत्यमेव जयते' २३१; अद्वेष-दर्शन २३२; गांधीनीति का भविष्य २३४; मेरा धर्म २३८; परम स्नेही अंधकार २३६; मृत्यु का रहस्य २४३; विश्वात्मैक्य का आनंद २४७; सब धर्मों का एक परिवार २४६; समन्वय की मांग २५२; विश्व समन्वय की विशेषता २५४; जागतिक रोग का सांस्कृतिक इलाज २५६; विश्व-समन्वय क्या और कैसे २५६।

मानव-दर्शन

हम सबमें सीनियरमोस्ट २६३; गंगाधरराव के कुछ संस्मरण २६४; दीनबंधु से प्रथम परिचय २६६; सरहद के गांधी खान अब्दुल गफार खान २७१; गांधीवादी नीग्रो-वीर २७३; गांधी-युग के आदर्श दम्पती २७६; हिन्दू-मुस्लिम एकता में जूझनेवाली बीबी अमतुस्सलाम २७७।

खण्ड-४ : पत्रावली

गांधीजी को २८१; श्रीमन्नारायण को २८३; बबल मेहता को २८४; अमृतलाल नानावटी को २८७; प्रभुदास गांधी को २८६; जेठालाल जोषी को २६१; पुण्डलीक को २६३; विजया को २६५; बबनी को २६६; चंदन को २६७; यशोधरा को २६६; अनुसूया बजाज को ३०१; उमा अग्रवाल को ३०२; पदम चन्द सिंघी को ३०४; वनू को ३०५।

परिशिष्ट

काकासाहेब के जीवन की मुख्य तिथियां ३०६; काकासाहेब कालेलकर के ग्रंथों की सूची ३१४।

मंगल-वचन

ब्रह्मविद्यामंदिर
परमधाम,
पवनार (वर्धा)

श्री काकासाहेब कालेलकर जैसे तत्वज्ञ और सत्पुरुष का ६५वें वर्ष में प्रवेश करना भारतवासियों के लिए भाग्य की बात है। उनके भारतीय संस्कृति के प्रसार तथा साहित्य-दान के लिए जनता उनकी ऋणी है। वे उत्तम लेखक हैं और उन्होंने भारत के गांधी-बापू जैसे महानुभावों का साथ भी किया है। श्री कालेलकरजी से मैं मिला हूं। वे हमारे गणेशपुरी आश्रम में भी आये हैं। हमारा आपस में स्नेह है। उनसे मिलने पर मैं यह भी समझा कि वे भारतीय दर्शन के श्रेष्ठ ज्ञाता हैं। मेरे साथ उन्होंने संतों की रहस्यमय आध्यात्मिक अनुभूतियों के विषय में चर्चा की थी।

उनके जन्म-दिन पर मैं अपनी मंगलकामनाएं भेजता हूं।

—स्वामी मुक्तानंद

पड़ाव, श्री गुरुदेव आश्रम प्रतिष्ठान
साउथ फॉल्सबर्ग,
न्यूयार्क, अमरीका

इस पहली दिसंबर को काकासाहेब ६४ वर्ष पूरे करके ९५वें वर्ष में प्रवेश करेंगे। काकासाहेब से मैं दो साल बड़ा हूं, इसलिए सांसारिक दृष्टि से आशीर्वाद देने का अधिकारी माना जाऊंगा सही, परंतु काकासाहेब ने अपने जीवन में जितने पराक्रम किये हैं, गांधी-विचार की जो सेवा की है, और गुजराती भाषा को जो अमूल्य योगदान दिया है, उसे देखते मैं उनके लिए शुभेच्छा व्यक्त करूं, यही अधिक उचित रहेगा। ऐसे समर्पित जीवन यज्ञरूप ही होते हैं। उसमें भी काकासाहेब का जीवन तो पराक्रमी रहा है। इस उम्र में वे घूमने जाते हैं और स्वस्थ चिंतन भी कर सकते हैं, यह भी एक पराक्रम ही है। उनका यह पराक्रम ज्यादा-से-ज्यादा पनपता रहे। नाम-स्मरण का सैंकड़ा १०८ का माना गया है। गुजरात में रतल का सैंकड़ा ११२ का माना जाता था और लिंबू का सैंकड़ा १२० का है। स्वास्थ्यवर्धक लिंबू का सैंकड़ा काकासाहेब संपन्न करें, अर्थात १२० वर्ष जीयें और अपने स्वस्थ चिंतन का लाभ देते जायं, ऐसी अंतर की शुभेच्छा भेजता हूं।

अहमदाबाद

—रविशंकर महाराज

आचार्य काकासाहेब के साथ मेरी प्रथम भेंट सन् १६३३ ई० के ४ अक्तूबर को उसी दिन हुई थी, जिस दिन वर्धा-आश्रम में महात्मा गांधी से पहली बार मिलने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ था। तब से आजतक परस्पर सम्मान और विश्वास दृढ़ रहे और लगभग अर्ध शताब्दी बीत गई।

उस समय वर्धा-आश्रम में वह महात्मा गांधी के सहचारी थे और उनके मंत्री का काम करते थे। काकासाहेब ने अपना कमरा मुझे दे दिया और स्वयं दूसरे कमरे में चले जाने की कृपा की। मुझे प्रतीत हुआ, वह बड़े कृपालु पुरुष हैं। तब से वर्धा-आश्रम में 'नीची-होनज़ान' के अन्तेवासियों को सदा रहने के लिए स्थान मिल गया।

द्वितीय विश्व-महायुद्ध के पश्चात महात्मा गांधी की मनोकामना के अनुसार, बिना रक्तपात के अहिंसक क्रान्ति के द्वारा स्वराज्य प्राप्त करके भारत एक महान् राष्ट्र बन गया। वर्धा में संपन्न आश्रम की शान्तिपूर्ण प्रार्थना समस्त विश्व को मानव-जाति के जीवन और विकास की कामनारूपी प्रभा बन गई तथा भारतीय राजनीति साक्षात् विश्व-शान्ति स्थापना में अंतर्राष्ट्रीय मार्गप्रदर्शित आधार बन गई।

जापान और भारत दोनों देशों का परस्पर सम्बन्ध पुनः स्थापित हो जाने के उपरान्त, भारत से वर्धा के आश्रमवासियों को जापान में बुलाने के लिए प्रयास किया गया, जिसमें विशेषकर आचार्य काकासाहेब को निमंत्रित किया गया था। आचार्य काकासाहेब का हार्दिक स्नेह जापानी संस्कृति तथा जापान के प्राकृतिक दृश्यों से है और जापानी जनता के प्रति उनमें हार्दिक आत्मीयता भरी है। उन्होंने

भारतीय जनता के समक्ष 'सूर्योदय का देश' नामक पुस्तक की रचना करके प्रकाशित करवाई। उन्हें छह बार जापान में निमन्त्रित किया गया।

इन्हीं दिनों में काकासाहेब ने एक जापानी युवक तथा एक लड़की को भारत में बुलाकर हिन्दी भाषा का अध्ययन कराया और नरेशभाई नामक युवक को, जो उनके प्रिय अंतेवासी हैं, जापान भेज कर जापानी भाषा तथा बौद्ध धर्म की शिक्षा ग्रहण करायी।

काकासाहेब के निवास स्थान 'सन्निधि' के एक कक्ष में एक 'कोनशीसानगाई' का महा मण्डाला प्रतिष्ठित है, जिसका वन्दन-अर्चन होता है। जापानी बौद्ध धर्म काकासाहेब के हृदय में उतर गया। अभी १ अक्तूबर १९७९ को जब मैं काकासाहेब से मिलने गया था तब काकासाहेब ने कहा, "जापान मेरा अपना देश है। अब जापानी लोगों के साथ बारम्बार मिलना-जुलना तो असम्भव हो गया है, लेकिन वहां के सब लोग मेरे हृदय में हैं। मैं जापानी लोगों से कभी पृथक् नहीं रहता।"

बौद्ध धर्म के संस्करानुसार मैंने भी अपने जीवन-काल के प्रारंभिक लगभग पचास वर्ष भारत में व्यतीत किये और भारत के लिए पूजा-प्रार्थना की। सम्भवतः काकासाहेब अगले जन्म में जापान में पैदा होंगे और हो सकता है कि अगले जन्म में मेरा जन्म भारत में हो। चाहे हम दोनों का जन्म किसी भी देश में हो, हम एक साथ होकर विश्व-शान्ति की स्थापना करने के लिए सतत् प्रयत्न करने की प्रतिज्ञा लेंगे।

ना म म्यो हो रें गे क्यो।

—नीची दात्सू फूजीई

टोकियो,
(जापान)

वंदन

गुरुवर अनुसर रे

बा० भ० बोरकर

गुरुवर अनुसर, रे मन।
गुरु में ही स्थित दत्त निरंतर ब्रह्मा हरिहर रे।
जननी से भी गुरु दयालु,
जनक से भी गुरु कृपालु,
सुहृद से भी गुरु नेहालु,
चिर सुख-सागर रे।
गुरु-नयनों में सूर्य चमकते,
गुरु-स्मित में चंद्र दमकते,
गुरु के एक मधुर वचन से
शतयुग विष उतरे।
गुरु-कृपा से स्मृति निखरती,
त्रिकाल अखियाँ स्पष्ट निरखतीं,
पिंड में ही ब्रह्मांड प्रतीति,
मन में विश्व तरे।
हे मन, हो नत गुरु-नाम में,
अनुसर गुरु को धर्म-कर्म में,
भृंग भाँति गुरु पाद-पद्म में,
अविरत हो रत रे! ○

अनु० विजयकुमार चोकसे

आचार्य-प्रवराय श्री कालेलकराय

अभिनंदन-प्रसूनांजलिः

शंकरदेव विद्यालंकार

वन्दना भक्ति-भद्रेयं, संस्कार-ऋषये मुदा ।
जन्मोत्सव-समारंभे, शिष्येण संप्रदीयते ।।
ज्ञानवृद्ध स्तपोवृद्धः, सदैव शिष्य-वत्सलः ।
आयुष्यं शतवर्षाणां, आनन्देन प्रकल्पताम् ।।
निसर्गोपासकः नित्यं, भारतं कीर्तयन् मुदा ।
समन्वय-प्रवक्ता वै, विन्दतां मंगलं सदा ।।
सारस्वत-प्रदीपोऽयं, भासयन् राष्ट्र-भारतीम् ।
धीरोदात्तः सुशान्तश्च, गुरुवर्यो महीयते ।।
आचारे-विनये चैव, प्रज्ञायां शील-कर्मणि ।
दिशा-बोधं प्रकुर्वाणः, यशोभि रभिवर्धते ।।
सुदृढा सम्मतिर्यस्य, साहित्ये जीवनाय वै ।
चतुर्वर्ग-फल-प्राप्त्यै, मांगल्याय च कल्पते ।।
प्रसन्ना मधुरा रम्या, पावना शीतला तथा ।
गद्य-मंदाकिनी यस्य, पद्य बन्धाद् विशिष्यते ।।
पुण्यं यो भारतं वर्षं, भ्रायं भ्रामं विलोकयन् ।
प्रबन्धैर्ललितैः हृदयैः, गायं गायं प्रमोदते ।।
पर्वतानां नदीनां च, स्रोतसां सरसां तथा ।
मुग्धेन मनसा विज्ञः, महिमानमगायत ।।
निखिलं भारतं लोकं, स्तावं स्तावं प्रमोदयन् ।
कृष्ण-द्वैपायनो मन्ये, कलिकाल मुपागतः ।।
पुण्ये साभ्रमती तीरे, राष्ट्र-शिक्षण-कर्मणि ।
चिरं येन तपस्तप्तं, प्रबोधं प्रापिताः प्रजाः ।।
विद्यापीठं यशो लेभे, यस्य प्रज्ञा-प्रभावतः ।
शान्ताय मुनि-कल्पाय, नमस्या संप्रशास्यते ।।

दाक्षिण्यं भाष्य-कर्त्तृत्वं, गाँधी-तत्व-विवेचने ।
विश्रुतं विज्ञं गोष्ठीषु, कोविदैः परिकीर्त्यते ।।
समन्वयस्य संदेशं, संदियन् विश्व-शांतये ।
विश्व-नागरिको नूनं, प्रकृत्या कर्मणा तथा ।।
भद्रं वाञ्छति सर्वेषां, ऋषिकल्प स्तपोधनः ।
भद्रं भद्रं सदा ब्रूते, भद्रकारी महामना ।।

○

नाता वाद-विवेचने सुनिपुणा प्रज्ञा हि प्रद्योतते ।
सन्मान्य स्तपसा श्रुतेन महितः वागीश्वरी सेवते ।
नाना-धर्म-विचार-संस्कृति-जुषां सम्मेलने कल्पते ।
प्रज्ञाशील वते प्रसन्न-मतये पुष्पांजलि र्दीयते ।।

○

या व्याख्या परिकल्पिता बुधवरैः आर्नोल्ड मैथ्यू वरैः ।
आचार्ये परिहरयते मधुमयी ज्योतिष्मती संस्कृतिः ।
तां रम्यां मधु-दीपिकां परिवहन् लोकं शुभां श्रद्धया ।
श्री काका शरदां शतं विजयते मांगल्य मा कल्पयन् ।।

○

सा सौम्या ऋजुता विवेक-पटुता, सारस्वती भव्यता ।
आमोदं तनुते सरोज-सदृशं, लोकोत्तरं जीवनम् ।।
तस्मै पर्यटकाय संस्कृति-पथि प्रीत्या नमस्कुर्महे ।
कर्त्तारं तु समन्वयस्य निपुणं, संप्राप्य मोदामहे ।।

•

व्यक्तित्व

इस खण्ड में विभिन्न क्षेत्रों के उन महानु-भावों के संस्मरण दिये हैं, जिन्हें काका-साहेब को निकट से देखने-समझने का अवसर प्राप्त हुआ था। ये संस्मरण काकासाहेब के बहुमुखी व्यक्तित्व के अलग-अलग पहलुओं पर प्रकाश डालते हैं—और बताते हैं कि उनकी सेवाओं का पहल कितना व्यापक रहा है।

संस्मरण

सत्याग्रह के सिद्धांतों को आत्मसात करनेवाले

मो० क० गांधी

□□

काका का अनुभव जैसा मुझे इस बार जेल में हुआ, वैसा पहले कभी नहीं हुआ था। काका में 'महा-राष्ट्रीयता' रही ही नहीं है। काका की अपार मृदुता मैं जेल के बाहर शायद कभी देख नहीं पाता। काकासाहेब कभी ऐसे हो सकते हैं, ऐसी कल्पना आप कर सकेंगे ? मैंने उन्हें जार-जार आंसू बहाते देखा है। काका मुझे कई बार कहते, "मुझमें अनेक दोष हैं। जैसे-जैसे आपके ध्यान में आवें, आप कृपया निर्दय होकर मुझे कहते जायं, सुधारते जायं।" मैंने कहा, "यह जो विश्वास आप मुझ पर रखते हैं, उसका मैं पूरा उपयोग करूंगा।" और उसके अनुसार कभी मेरी कड़ी टीका हो जाय, तब अपनी भूल कबूल करके काका रोते भी थे। सत्याग्रह के सिद्धान्तों को तो काका ने पूरा आत्मसात किया है...।

काका के बारे में डॉइल[1] के मन में पक्षपात हो, इसमें आश्चर्य नहीं है। डॉइल ने तो काका को मुसल-मानों के पक्ष में सत्याग्रह करते देखा है। सत्याग्रह की मीमांसा डॉइल ने काका के पास से सुनी होगी, अनेक चर्चाएं भी की होंगी, फिर तो डॉइल जैसा आदमी उनके गुणों से और उनकी शक्ति से आकर्षित हो, उसमें आश्चर्य किस बात का है ?

मैंने अपने 'आकाशदर्शन' लेख में काका के सहवास को 'सत्संग' कहा है और उस 'सत्संग' को मैं बहुत दफा हृदय से चाहता था। ○

१. इंस्पेक्टर जनरल ऑफ प्रिजन्स

हमारा दीर्घकालीन सान्निध्य

जे० बी० कृपालानी

□□

काकासाहेब से मैं सर्वप्रथम १६०७ में मिला, जब हम दोनों फर्गूसन कालेज में बी० ए० के आखिरी साल में पढ़ रहे थे। मेरी राजनैतिक प्रवृत्ति के कारण मुझे कराची और विलसन कालेजों में प्रवेश नहीं दिया गया। उन दिनों बृहत्तर बम्बई प्रान्त के कालेजों के, पूना के फर्गूसन कालेज को छोड़कर, प्रधानाचार्य अंग्रेज थे। वहां भी मेरा प्रवेश आंशिक ही था।

वहां के महाराष्ट्रीय विद्यार्थियों के साथ मैंने मित्रता की। उन दिनों फर्गूसन कालेज के विद्यार्थी

अधिकतर तिलक महाराज के अनुयायी थे और प्राध्यापक नरम दल के 'गोखले' को मानने वाले थे। इसलिए विद्यार्थियों और प्राध्यापकों के बीच कुछ-न-कुछ विवाद चलता रहता था। मुझे उससे दूर रहने की सलाह दी गयी थी।

काकासाहेब के साथ मेरी मित्रता कालेज के दिनों से चली आ रही है। उसके बाद हम १९१३ में मिले, जबकि मैं मुजफ्फरपुर (बिहार) कालेज में प्राध्यापक था और काकासाहेब ब्रह्मचारी दत्तात्रेय बन चुके थे। उन दिनों यह असाधारण बात नहीं थी। बहुत से राजनीतिज्ञों ने पुलिस की निगरानी से बचने के लिए नाम और वेशभूषाएं बदल रखी थीं। काकासाहेब के साथ एक युवक था, जो स्वामी आनंद के नाम से जाना जाता था। उसी साधु ने बाद में 'नवजीवन' प्रेस के व्यवस्थापक के तौर पर काम किया और गांधीजी के 'यंग इंडिया' नामक पत्र का संपादन भी किया।

हम दोनों ने पशुपतिनाथ के दर्शनार्थ नेपाल की यात्रा की। उन दिनों बाहरी व्यक्तियों के द्वारा नेपाल-यात्रा निषिद्ध थी। लेकिन जो हिन्दू-भक्त यात्री शिवरात्रि पर पशुपतिनाथ के दर्शनार्थ जाते थे, वे छः दिन ठहर सकते थे।

उसके बाद जब भी छुट्टियां मिलीं, हम तीनों ने मिलकर हिमालय की यात्रा की और गंगोत्री-जमनोत्री गये, जो कि उन दिनों मुश्किल तीर्थ-स्थल थे, क्योंकि वहां पैदल ही जाया जाता था। यह सन् १९१४ की बात है। १९१५ में हम दोनों ब्रह्मदेश गये और रंगून में गांधीजी के घनिष्ठ मित्र डा० मेहता के मेहमान बने।

उसके बाद कुछ साल तक हम नहीं मिल पाये। फिर 'असहयोग आन्दोलन' के समय मिले। उस समय काकासाहेब साबरमती आश्रम में बुनियादी शाला के आचार्य थे। १९२३ में सरदार ने मुझे गुजरात विद्यापीठ के महाविद्यालय कालेज का भार सौंपा। गांधीजी उस संस्था को ग्रामीण संस्था बनाना चाहते थे। इसलिए १९२७ में मैंने आचार्य-पद से त्यागपत्र दे दिया और वह स्थान काकासाहेब ने संभाला, क्योंकि वे उन दिनों गांधीजी के विचारों के अनुरूप 'ग्राम-पुनर्निर्माण' योजना को साकार रूप प्रदान करने में मुझसे ज्यादा सक्षम थे।

उसके बाद हमारे रास्ते अलग-अलग रहे, किन्तु संबंध बने रहे। कुछ वर्षों के बाद काकासाहेब ने महाविद्यालय छोड़ दिया, क्योंकि उनमें एक संस्था में और एक स्थान पर टिके रहने की आदत नहीं है। वे सदा से परिव्राजक रहे हैं। इसके बाद तो वे राष्ट्रीय आन्दोलन में कूद पड़े।

काकासाहेब गुजरात में बहुत साल रहे और वहां की भाषा और साहित्य का ज्ञान अर्जित किया। वे तीन भाषाएं—मराठी, गुजराती, हिन्दी—धाराप्रवाह लिख सकते हैं। उनकी पुस्तकें पढ़ने में रोचक और ज्ञानपूर्ण हैं। उनके हिमालय और गंगा माता के विवरण अभूतपूर्व हैं। उनका गुजराती भाषा में विशिष्ट योगदान है।

आजकल वे 'गांधी हिन्दुस्तानी साहित्य सभा' के प्रमुख स्तंभ हैं और दिल्ली में ही रहते हैं।

काकासाहेब का ९५वां जन्मदिन आ रहा है। उम्र के कारण कई कठिनाइयां होते हुए भी वे अपने कार्य में रत हैं।

यही एक संक्षिप्त-सी रूपरेखा है उस मनुष्य की, जो कि एक सच्चा आजीवन मित्र रहते हुए राष्ट्रीय क्षेत्र में कोई सरकारी पद ग्रहण न करते हुए भी, राष्ट्रीय आन्दोलन में पूर्णतया संलग्न रहा है।

मैं काकासाहेब के शतायु और उससे भी अधिक आयु पाने की कामना करता हूं। ○

समन्वय के उद्गाता

दादा धर्माधिकारी

□□

ऑयजक वॉल्टन की एक किताब छुटपन में पढ़ी थी। एक वाक्य याद आ रहा है—"दी एप्रीसियेशन ऑफ म्यूजिक इज लार्जली दी रिजल्ट ऑफ लिबरल एजूकेशन।" संगीत समझने के लिए उच्च शिक्षण की आवश्यकता है। इसलिए अकसर रेडियो और टेलिविजन पर पक्के गाने सुनने वाले कम होते हैं। चित्रपट-संगीत के उपभोक्ता बहुत होते हैं। उसी प्रकार महान व्यक्तित्व को समझने के लिए स्वयं अपने व्यक्तित्व में प्रगल्भता चाहिए। श्रृंगार की भाषा में कहें तो लैला की खूबसूरती देखने के लिए मजनू की आंख चाहिए। यों तो किसी भी दूसरे मनुष्य को पूरी तरह समझना असंभव है। एलेकसिस कुरेल ने एक किताब लिखी है, 'मैन दी अननोन'। उसकी बात पते की है। फिर भी हम एक-दूसरे से व्यवहार तो करते ही हैं। सम्बन्ध के बिना जीना असंभव है। इसलिए हम अपने पड़ोसी और अन्य सम्बन्धियों की एक प्रतिमा गढ़ लेते हैं और उस प्रतिमा के साथ ही हमारा सारा व्यवहार होता है।

इसी प्रकार महान व्यक्तियों की भी प्रतिमाएं हमारे चित्त पर अंकित होती हैं। उन प्रतिमाओं के आधार पर हम अपना जीवन बनाते हैं। महान व्यक्तियों को पूरी तरह समझना जितना मुश्किल है, उतना ही उनकी प्रतिमा बना लेना आसान है। जो संगीतज्ञ मूर्धन्य होते हैं, उनके संगीत में शास्त्र का जो अंश होता है, उसे मैं खाक नहीं समझता; लेकिन उनकी आवाज की लोच और राग मुझे मुग्ध कर लेती है। इसके लिए संगीत के शास्त्र के ज्ञान की कोई आवश्यकता नहीं होती। महान व्यक्तियों के लिए भी यही लागू है। अन्धा भी उनकी महानता को देख सकता है और अपनी सामर्थ्य के अनुसार उनकी प्रतिमा अपने लिए गढ़ लेता है। पूज्य काकासाहेब कालेलकर की ऐसी एक प्रतिमा मैंने अपने लिए गढ़ ली है।

जहां तक मुझे याद है, मैंने काकासाहेब को नागपुर में १९२१ में पहले-पहल देखा था। उस समय मैं नागपुर की राष्ट्रीय शाला में असिस्टेंट मास्टर था। काकासाहेब खास तौर से राष्ट्रीय शालाओं का मुआयना करने आये थे। बापूजी ने उन्हें भेजा था। उन दिनों नागपुर में महात्मा भगवानदीनजी एक असहयोग आश्रम चलाते थे। महात्मा भगवानदीनजी ही उसके अधिष्ठाता थे। उसी आश्रम में काकासाहेब ठहरे थे। उस समय वे गांधी टोपी लगाते थे। पोशाक बिल्कुल सादी, लेकिन साफ-सुथरी थी। मुझे ऐसा लगा कि वह पोशाक उनके व्यक्तित्व की प्रतिबिम्ब थी। सादगी में उदात्तता थी। उनसे मिलने के बाद मुझपर उनकी विद्वत्ता की छाप पड़ी। काकासाहेब एक चतुरस्थ विद्वान हैं। यह उनकी प्रतिमा आज भी मेरे चित्त पर अंकित है। उनकी बुद्धि के लिए जीवन का कोई क्षेत्र अविषय नहीं है और न अछूता रहा है।

उन दिनों काकासाहेब ने हमारी शाला में एक भाषण किया। उसमें उन्होंने एक बात कही, जो मुझे आज भी याद है। उन्होंने कहा कि मैं अंग्रेजी कविता पर आशिक हूं। अंग्रेजी साहित्य का रसिक हूं, फिर भी तुम लोगों से यह आग्रह करने आया हूं कि तुम लोग अंग्रेजी का बहिष्कार करो। इस बहिष्कार का प्रतिपादन उन्होंने बड़े पुरजोर शब्दों में किया। मैं शुरू से अंग्रेजी के बहिष्कार का विरोधी रहा हूं। उन दिनों तो मैं राष्ट्रीय पाठशाला में अंग्रेजी ही पढ़ाता था और बहुत लोकप्रिय शिक्षक था। काकासाहेब से मैंने अपनी भूमिका का नम्रतापूर्वक निवेदन किया। उनके मन में तीव्रता होते हुए भी उन्होंने मेरी बात बड़ी उदारता से सुन ली। इस बौद्धिक उदारता को मैं बुद्धि-निष्ठा का प्रमुख लक्षण मानता हूं। काकासाहेब के उसी प्रवास में मैं उनके

साथ भंडारा की राष्ट्रीय शाला में भी गया। वहां उनका जो भाषण हुआ, उससे मैं यह समझ सका कि काकासाहेब की राष्ट्रीय शिक्षण की कल्पना कितनी व्यापक और विशद है। उसके बाद १९३० में साबरमती में गुजरात विद्यापीठ में काकासाहेब के निमंत्रण पर एक राष्ट्रीय शिक्षा सम्मेलन हुआ। उस सम्मेलन की प्रेरक और मार्गदर्शक विभूति काकासाहेब ही थे। गुजरात विद्यापीठ उस समय अपने पूरे ऐश्वर्य से सुशोभित था। वहां आचार्य कृपालानी थे, किशोरलालभाई थे, नरहरिभाई पारिख थे। और भी कई नामवर शिक्षण-शास्त्री थे। उस सम्मेलन का नियमन करते हुए काकासाहेब ने राष्ट्रीय शिक्षण की व्याप्ति और उसके अंग-प्रत्यंगों का जो निरूपण और विश्लेषण किया, उससे भी मैं प्रभावित हुआ।

इसके अनन्तर जब बापूजी वर्धा रहने के लिए आये, तब १९३५ में मैं भी नागपुर से वर्धा आ गया और बजाजवाड़ी में रहने लगा। बजाजवाड़ी की केन्द्रीय विभूति तो पुण्यश्लोक जमनालालजी थे। जमनालालजी एक अलौकिक यजमान थे। उनका आतिथ्य हर प्रकार से लोकोत्तर था, क्योंकि उस आतिथ्य में अतिथि और यजमान दोनों के पारस्परिक विकास की योजना थी। उस समय बजाजवाड़ी सचमुच एक जंगम तीर्थराज था। मुझे तो ऐसा प्रतीत हुआ, मानो पुराणों में वर्णित विभूतियों के आधुनिक संस्करणों के बीच आकर रहने का सद्भाग्य मुझे प्राप्त हुआ। उस प्रतिवेश में एक-एक स्वनाम-धन्य व्यक्तित्व का निवास था। तपोधन श्रीकृष्णदास जाजू थे। योगारूढ़ 'किशोरलालभाई, स्नेहमूर्ति अण्णासाहब सहस्रबुद्धे तथा कार्य-कुशल और निरन्तर दक्ष भाई धोत्रे थे। इन सब पर पूज्य बापूजी के सान्निध्य की आभा थी। कुछ दिन के लिए तो बजाजवाड़ी में आत्मसमर्पण की प्रतिमूर्ति महादेवभाई भी निवास करते थे। बजाजवाड़ी के निकट ही हरिजन-छात्रालय में काकासाहेब का निवास था।

हरिजन और गिरिजनों के लिए काकासाहेब के हृदय में एक विशिष्ट स्थान रहा है। इसलिए उन्होंने हरिजन छात्रालय ही निवास के लिए पसंद किया। उन दिनों मैं काकासाहेब के साथ उनके उपसंपादक के नाते 'सर्वोदय' मासिक में काम करता था। डिक्टेशन के लिए करीब-करीब रोज काकासाहेब के पास जाता था। मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि उनके पास ज्ञान का अखंडित स्रोत था। कामधेनु की तरह उनकी वाग्धारा अप्रतिहत रूप से प्रवाहित होती रहती थी। उन्हें एक क्षण के लिए भी विचार नहीं करना पड़ता था। जितने मजमून की जरूरत होती थी, उसको अंदाज से पूरा कर देते थे। लेखक के नाते उनकी इस विशेषता से मैं प्रभावित हुआ।

उसी जमाने का एक प्रसंग मुझे याद आ रहा है। १९३६ या ३७ का वर्ष होगा। श्रीबाबू कामत नीरा के प्रचारक थे। सेवाग्राम से एक कनस्तर-भर नीरा काकासाहेब और उनके साथियों के लिए लाये। दुर्भाग्यवश जितने व्यक्तियों ने नीरा पी, उन पर हैजे का आक्रमण हुआ। काकासाहेब का होमियोपैथी में बहुत विश्वास है। उन्होंने नागपुर से सुविख्यात होमियोपैथ भाऊजी दफ्तरी को बुलाया। भाऊजी उपचार करके हार गये। काकासाहेब मरणासन्न स्थिति में पहुंच गए। उस समय उन्हें कुछ पोषण देने की नितान्त आवश्यकता थी। उसके अभाव में मृत्यु अटल थी। भाऊजी दफ्तरी ने काकासाहेब से कहा कि इस अवस्था में अंडे के भीतर के सफेद द्रव्य के सिवा और कोई पोषण नहीं दिया जा सकता। काकासाहेब ने कहा कि यदि कोई दूसरा विकल्प नहीं है तो मृत्यु का स्वागत है। यह प्रसंग काकासाहेब की व्रत-निष्ठा का द्योतक है।

इसी प्रकार का दूसरा प्रसंग याद आता है। उसका आशय बिल्कुल भिन्न है। परन्तु वह प्रसंग भी काकासाहेब की व्रत-निष्ठा का परिचायक है। १९४० का जमाना होगा। हम लोग कराची में थे। शाम को एक गिरजे में काकासाहेब का 'हिन्दी-हिन्दोस्तानी' विषय में अंग्रेजी में भाषण था। काकासाहेब का नियम यह था कि वे शाम का भोजन ठीक ७ बजे करते थे। संयोग कुछ ऐसा हुआ कि संयोजक और सभापति के भाषण

होते-होते पौने सात बज गये। काकासाहेब ने १५ मिनट के बाद बीच में उसी जगह भाषण बंद करके भोजन कर लिया और बाद में भाषण चालू रखा। काकासाहेब के व्यक्तित्व का उनकी व्रत-निष्ठा भी एक पहलू रही है।

काकासाहेब के साथ मुझे सिंध, आसाम, दक्षिण भारत और देश के अन्य कई प्रांतों में हिन्दी-प्रचार के सिलसिले में घूमने का सुयोग मिला। काकासाहेब एक जीते-जागते नित्य प्रगतिशील विश्वकोश ही रहे हैं। ऐसा जीता-जागता संदर्भ-ग्रंथ बहुत दुर्लभ है। भाषा-कोविद तो हैं ही। जन्म से महाराष्ट्रीय होते हुए भी गुजराती के चोटी के साहित्यिकों में और मनीषियों में उनकी गणना होती है। रसिकता उनकी अदम्य है। शब्द-विन्यास भी विलक्षण है। 'नगरपालिका' शब्द के जनक काकासाहेब ही हैं। नदियों को उन्होंने 'लोकमाता' की संज्ञा दी। वे अद्वितीय प्रवासी हैं। संस्कृति के परिव्राजक हैं। उनका सबसे प्यारा शब्द 'समन्वय' है। वही उनकी जीवन-दृष्टि का बोधक है। सांस्कृतिक समन्वय, धार्मिक समन्वय और राष्ट्रीय समन्वय के वे उद्गाता रहे हैं। मुझे उनके साथ निकट परिचय का सुयोग मिला है। इस रत्नाकर में से अपनी सामर्थ्य के अनुसार कुछ रत्न मैंने यहां प्रस्तुत किये हैं। ○

उनकी बहुमुखी सेवाएं

जगजीवन राम

□□

आचार्य काकासाहेब कालेलकर एक स्वतंत्रता सेनानी और हिन्दुस्तानी भाषा तथा संस्कृति के समर्थक रहे हैं। वे एक समाज-सेवी के अतिरिक्त राष्ट्र-सेवी और साहित्य-सेवी भी हैं। इनकी राष्ट्रीय भावना और साहित्यिक प्रतिभा सर्वमान्य है।

मेरी शुभकामना है कि काकासाहेब दीर्घ-जीवी हों और देश, राष्ट्र, समाज और साहित्य की सेवा में लगे रहें। ○

आ. श्रीकैलाससागरसूरि ज्ञानमन्दिर
श्रीमहावीर जैन आराधना केन्द्र
कोबा (गांधीनगर) पि 382009

ज्ञान के भण्डार

जानकी देवी बजाज

□□

बापूजी के साबरमती आश्रम में काकासाहेब, उनकी धर्मपत्नी काकी और उनके दो बेटे सतीश और बाल 'चाली' में रहते थे। वहीं पं० मोरेश्वरजी खरे, उनका परिवार, किशोरलालभाई और गोमतीबहन, नरहरिभाई और मणीबहन पारिख सपरिवार, लक्ष्मीदासभाई आसर और बेलाबहन का परिवार—ये सब रहते थे। उस समय हम लोग भी सपरिवार लाल बंगले के पीछे सात कोठरियों के पास 'जमनाकुटीर' में

रहने लगे थे। तब सबसे मिलना-जुलना होता ही रहता था। काकासाहेब के बड़े लड़के सतीश के साथ हमारे बेटे कमलनयन की बड़ी दोस्ती थी। विदेश में भी वे साथ ही रहे। बापू की ऐतिहासिक दाण्डी यात्रा में भी दोनों साथ थे और बाद में भी कमलनयन के साथ जीवन-भर उनकी दोस्ती कायम रही। सतीश का छोटा भाई बाल तो इतना मीठा बोलता था कि मैं सदा उसके मुख की तरफ देखती रहती थी कि वह क्या बोलता है।

शुरू में बापूजी की साप्ताहिक पत्रिका 'नवजीवन' आती थी। वह मैं पढ़ती थी, पर कुछ समझूं न समझूं तो काकासाहेब के पास कोई लेख समझने को ले गई। उन्होंने इस तरह से समझाया कि बापूजी लिखते क्या हैं, इसका अर्थ क्या है, इसको इस तरह पढ़ना, इस तरह मनन करना। गुजराती, हिन्दी, संस्कृत में बापूजी की लेखन-शैली को इस तरह से समझाया कि एक ही दिन में सब कुछ समझ में आ गया हो, इतना सन्तोष हो गया।

काकासाहेब की तरह उनकी पत्नी को भी सब 'काकी' ही कहते थे। बापूजी, सब बच्चे और काका भी उनको 'काकी' ही कहते थे, जैसे उनका नाम ही 'काकी' हो गया था। उस समय आश्रम में बापूजी प्रौढ़ बहनों का वर्ग लेते थे। तब हम सभी का वहां मिलना हो जाता था। उसमें काकी के साथ भी अच्छी घनिष्ठता हो गई थी।

जमनालालजी की काकासाहेब के साथ गहरी घनिष्ठता साबरमती आश्रम में ही हो गई थी। इससे उनको भी उन्होंने वर्धा बुला लिया। उनके साथ रेहानाबहन और सरोजबहन भी यहीं आ गयीं। काकासाहेब के नाम पर काकावाड़ी ही बस गई, जो सेवाग्राम जाने के रास्ते पर गोपुरी की ओर अब भी कायम है और वहां कई प्रकार के रचनात्मक और ग्रामोद्योग के काम चलते हैं।

काकासाहेब के पास ज्ञान का भण्डार है। कोई भी प्रश्न लेकर जाओ, इतनी सरलता से गले उतार देते हैं कि जैसे क, ख, ग से लेकर आखिर तक की पूरी बात समझ में आ जाती है। अभी कुछ समय पहले जनवरी में मैं दिल्ली में थी, तब छोटी बेटी उमा के साथ काकासाहेब से मिलने गई थी। वे कान से कम सुनते हैं, पर चेहरा देखते ही पहचान लेते हैं। उनसे मिलने वालों का तांता लगा ही रहता है और मन में ऐसी दया-सी आती है कि अब इनसे कुछ पूछकर इन्हें क्यों सतायें; पर वे तो हरेक मनुष्य को देखकर उससे बात करके ही सन्तोष पाते हैं। कान में यन्त्र से सुनना पड़ता है, फिर भी वे पूरी बात पूछते हैं और देर तक खूब समझाते हैं। वे तो ऊबते ही नहीं हैं, आने वाले भले ऊब जायें। उनके साथ रहने वाली सरोजबहन भी धन्य हैं !

रेहानाबहन को जमनालालजी ने अपनी धर्मबहन मान लिया था और उनसे राखी भी बंधवाते थे। रेहानाबहन शरीर से नाजुक ही थीं, पर उनकी आत्मा बड़ी बलवान थी। वे इहलोक-परलोक तक की बातों में गहरा रस लेती थीं। जीवन-मरण की समस्या हल कर देती थीं। उनके पास छोटे-बड़े सबको गहरा प्रेम मिलता। बड़े-से-बड़े संकट का धर्म-ज्ञान-ध्यान से वे निवारण कर देतीं। देश-परदेश के अनेक लोग हरेक भाषा वाले उनके पास अपने जीवन के जटिल प्रश्नों को लेकर आते। उनको दान, धर्म, हवन, पूजन, जप, यज्ञ आदि मनुष्य की शक्ति और भक्ति के अनुसार वे बतातीं और श्रद्धा बढ़ा देतीं।

अपने पिता श्री जमनालालजी की स्मृति में छोटे बेटे रामकृष्ण ने 'पांचवें पुत्र को बापू के आशीर्वाद' किताब छपवाई थी, तब उसकी बड़ी भावभरी प्रस्तावना काकासाहेब ने लिखी। बेटी उमा से उन्होंने जापान-यात्रा का हिन्दी में अनुवाद कराया। चि० मदालसा ने 'स्मृति-संगम' तैयार किया। उसकी प्रस्तावना भी काकासाहेब ने ही लिखी। कमलनयन पर तो उनका गहरा स्नेह था ही। बड़ी लड़की कमला के पति

रामेश्वरजी भी काकासाहेब के पास विद्यापीठ में पढ़े थे। इस तरह सभी बच्चों पर काकासाहेब का बड़ा गहरा प्रेम रहा।

काकासाहेब, किशोरलालभाई, नरहरिभाई, महादेवभाई, मगनलालभाई—इन सबके साथ जमनालालजी का सगे भाइयों से अधिक स्नेह जम गया था। इन सभी में अनोखी विशेषताएं थीं और इन सबकी बापूजी के प्रति अनन्य भक्ति थी। स्वामी आनन्द भी इन्हीं के साथी थे और केदारनाथजी महाराज का जीवन भी बड़ा तपोमय रहा। वर्धा के तपोधन जाजूजी भी इन्हीं के सहयोगी और बड़े संयमी सत्पुरुष थे। इन सभी का आपस में गहरा प्रेमभाव था। इसलिए मुझे भी ये सब अपने परिवार के समान ही लगते रहे।

इन सबकी खूबियां काकासाहेब जानते हैं और सबकी स्मृतियां उनके हृदय में भरी हैं। काकासाहेब जहां बैठते हैं, वहीं ज्ञान-गंगा बहने लगती है। गोते मारते रहो।

काकासाहेब शतायु हों और उनके पास अनमोल अनुभवों का जो खजाना है, वह जिनसे जितना लूटा जा सके, लूटते रहो। ○

भारत के सांस्कृतिक राजदूत

बनारसीदास चतुर्वेदी

□□

पूज्य काकासाहेब के प्रथम दर्शन मुझे सन् १९२१ में साबरमती आश्रम में हुए, जबकि मैं प्रवासी भारतीयों का कार्य करने के लिए बापू के आदेशानुसार शान्तिनिकेतन से वहां पहुंचा। एक बात में काकासाहेब और मेरा साम्य है। वे भी शान्तिनिकेतन के रास्ते से ही बापू के पास पहुंचे थे। साबरमती के छात्रावास में काकासाहेब का कमरा दूसरे तल्ले पर मेरे कार्यालय के ठीक ऊपर था। चूंकि काकासाहेब बड़े स्वाध्यायशील थे, और निरन्तर व्यस्त रहते थे, इसलिए उनसे अधिक बातचीत करने के मौके नहीं मिले। उन दिनों आश्रम में कितने ही प्रतिष्ठित व्यक्ति रहते थे, जैसे मगनलाल गांधी, छगनलाल जोशी, मशरूवाला, पं० तोताराम तथा हरिभाऊजी। बापू और काका का कमरा सड़क के दूसरी ओर था।

काकासाहेब को बहुत निकट से देखने के अवसर तो मुझे नहीं मिले, पर उनकी अनेक रचनाओं को मैं तब भी पढ़ा करता था। उनकी 'सप्त सरिता' नामक पुस्तक मुझे तब भी प्रिय थी। बापू के जो संस्मरण आगे चलकर छपे, वे भी बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। काकासाहेब का अधिकार समान रूप से इन चारों भाषाओं पर है—मराठी, गुजराती, हिन्दी और अंग्रेजी। इनके सिवा संस्कृत के तो वे महान पंडित हैं। गुजराती में काकासाहेब की शैली काफी प्रसिद्ध हो चुकी है।

एक बार अवागढ़ के राजासाहब को महात्माजी से मिलाने के लिए ले गया। राजासाहब ने बातचीत के दौरान कहा, "मैं अवागढ़ में संस्कृत के अध्ययन का केन्द्र कायम करना चाहता हूं।" उसी समय बापूजी ने मुझसे कहा, "आप राजासाहब को काकासाहेब से मिला दें। वे संस्कृत के विषय में अधिकारपूर्वक सलाह दे सकते हैं।"

यद्यपि काकासाहेब ने चारों भाषाओं में साहित्य-सृष्टि की है, तथापि जहां तक प्रचार का सम्बन्ध है, सबसे अधिक प्रचार उन्होंने हिन्दी का ही किया है। भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न भागों की जितनी यात्राएं हिन्दी के प्रचारार्थ उन्होंने की हैं उतनी किसी अन्य व्यक्ति ने न की होंगी। हिन्दीवालों का कर्त्तव्य था कि वे काकासाहेब को साहित्य-सम्मेलन का सभापति बना देते, पर हम लोगों ने इस कर्त्तव्य का पालन नहीं किया और पुरस्कार के रूप में काकासाहेब को हिन्दीवालों के कटाक्ष भी मिले।

एक बार काकासाहेब ने कह दिया था कि हिन्दी के सबसे बड़े दुश्मन हिन्दीवाले ही होंगे। यह बात कितने ही हिन्दीवालों को बहुत खलती थी। एक बात दरअसल यह है कि काकासाहेब अपने हृदय के विचारों को छिपाते नहीं और दो टूक बात कह देना उनके स्वभाव का अंग ही बन चुका है। अपने अनुभव की दो-तीन बातें मैं भी सुना दूं।

हम लोग टीकमगढ़ में प्रायः कहा करते थे कि उषा-अनिरुद्ध का प्रेम-मिलन कुण्डेश्वर में ही हुआ। अकस्मात काकासाहेब कुण्डेश्वर पधारे और अपनी गर्वोक्ति हम लोगों ने काकासाहेब के सामने भी कह दी। उसे सुनते ही उन्होंने तुरन्त कहा, "निराधार बात का प्रचार आप क्यों करते हैं ? उषा-अनिरुद्ध का मिलन तो किसी दूसरे प्रदेश में हुआ था।" अकाट्य प्रमाण देकर काकासाहेब ने हमारी कल्पना के महल को ढा दिया। उससे हमारे हृदय को धक्का भी पहुंचा। दूसरी बात मेरी निजी है। गांधी भवन बन जाने पर विंध्य प्रदेश सरकार से मुझे एक जीप मिली हुई थी। चूंकि हमारा स्थान टीकमगढ़ से साढ़े तीन मील दूर था, वह जीप प्रायः काम में आती थी। उसे टीकमगढ़ के कलक्टरसाहब ने हमसे ले लिया। यह बात शिकायत के तौर पर मैंने काकासाहेब से कही। काकासाहेब ने तुरन्त ही कहा, "आप तो साबरमती आश्रम की शिक्षा बिलकुल ही भूल गये। जिसके पैर मजबूत हों, उसे जीप की क्या जरूरत ?" बात काकासाहेब ने बिलकुल ठीक ही कही थी, पर उस समय मुझे वह बुरी लगी। बातचीत के सिलसिले में मेरे मुंह से निकल गया, "बापू के मूल पत्रों पर जो उन्होंने मुझे, पं० तोताराम जी को या दीनबन्धु एण्ड्रयूज को भेजे थे, उनपर मेरा पूरा अधिकार है और यदि मैं चाहूं तो उन्हें लुई फिशर (एक अमरीकी पत्रकार) को दे सकता हूं।" काकासाहेब को यह कल्पना आपत्तिजनक जंची और उन्होंने मुझे डांट ही पिला दी। इस बात का जिक्र मैंने मीराबहन से किया तो उन्होंने मेरा समर्थन किया और कहा, "मैं तो अपने पास इकट्ठे बापू के पत्रों को कई स्थानों में बांट देना चाहती हूं—भारत, विलायत, यूरोप।" आगे चलकर मैंने अपना पत्र-संग्रह भारतीय अभिलेखागार, नई दिल्ली को ही दिया। काकासाहेब उन पत्रों की नकल लेने के लिए ही टीकमगढ़ में आये थे।

काकासाहेब का स्वागत-सम्मान टीकमगढ़ की एक सभा में हुआ और वहां उनका परिचय मैंने ही कराया था। शायद परिचय देते समय कोई तिथि या तथ्य की बात मुझसे गलत हो गयी। काकासाहेब ने अपने भाषण में कहा, "मैंने अपना संक्षिप्त परिचय स्वयं ही छपा दिया है, क्योंकि आप जैसी भूलें बहुतों से होती रहती हैं।"

एक व्यक्तिगत घटना और भी सुना दूं। जब मैं कांग्रेस का प्रतिनिधि होकर पूर्व अफ्रीका जा रहा था, मैंने काकासाहेब की सेवा में उपस्थित होकर उनसे प्रवासी भारतीयों के बारे में कुछ बातचीत की। उस इण्टरव्यू में काकासाहेब ने यह परामर्श दिया कि कांग्रेस में एक प्रवासी विभाग कायम होना चाहिए। मैंने काकासाहेब के इस परामर्श को ध्यान में रखकर इस विषय पर आन्दोलन ही प्रारम्भ कर दिया और कानपुर कांग्रेस के अवसर पर उसका प्रस्ताव भी उपस्थित जनता के सामने रखा। महात्मा गांधी से जब मैंने यह बात कही कि मैं प्रस्ताव रखने वाला हूं तो उन्होंने तुरन्त ही कहा, "मैं तो तुम्हारे प्रस्ताव का विरोध करूंगा।" मैंने कहा, "आपने विरोध किया तो मेरा प्रस्ताव फेल ही हो जायेगा। आप मुझे प्रयोग तो कर लेने दें।" बापू मेरे आग्रह

को मान गये। उन्होंने कहा, "इसका प्रयोग करके देख लो। कांग्रेस वाले न खुद काम करेंगे, न करने देंगे।" प्रस्ताव मैंने पास करा लिया और पांच व्यक्तियों की एक कमेटी प्रस्ताव को कार्यरूप में परिणत करने के लिए नियुक्त हुई; जिसके सदस्य थे--टी०सी० गोस्वामी, लाला लाजपतराय, सरोजनी नायडू, डाक्टर अन्सारी और मैं। मैंने योजना बनाई भी, पर मामला आगे नहीं बढ़ सका और आगे चलकर जब प्रवासी विभाग कायम हुआ भी तो उससे केवल पच्चीस रुपये महीने मुझे दो-ढाई साल मिले। बाद में वे भी बन्द कर दिये गए! बापू की बात बहुत ठीक निकली, फिर भी मैं काकासाहेब का ऋणी हूं क्योंकि उनके परामर्श के अनुसार काम करने पर मुझे बहुमूल्य अनुभव प्राप्त हुआ।

प्रवासी भारतीयों का कार्य इस समय काफी महत्त्व रखता है। दुर्भाग्य की बात यही है कि महात्मा गांधी, दीनबन्धु एण्ड्रयूज, माननीय श्रीनिवास शास्त्री, भगवतीदयाल संन्यासी, सदाशिव गोविन्द वज़े और कोदण्ड राव, पं० हृदयनाथ कुंजरू के चले जाने के बाद कोई उनका नामलेवा न रहा। यदि प्रवासी भारतीयों में कोई साहित्यिक और सांस्कृतिक कार्य करने की योजना बनाई जाये तो काकासाहेब का नेतृत्व उसके लिए सबसे प्रेरणाप्रद होगा। वे बड़े उदार विचारों के हैं, और समन्वय उनके जीवन का मूल सिद्धान्त है, जिसकी प्रवासी भारतीयों को अत्यन्त आवश्यकता है।

काकासाहेब प्रशंसा के भूखे नहीं हैं। उन्हें किसी प्रमाण-पत्र की जरूरत नहीं है, बल्कि वे उस स्थिति पर पहुंच चुके हैं, जबकि उनके कथन दूसरों के लिए प्रमाण-पत्र सिद्ध होते हैं।

राज्य सभा में गुजरात विद्यापीठ के तीन अध्यापक सदस्य थे। काकासाहेब, प्रो० मलकानी साहब और मैं। विद्यापीठ के पुराने छात्र डाह्याभाई थे, जिनकी बड़ी बहन मणीबहन लोकसभा में थीं। मलकानी-साहब बड़े प्रतिष्ठित हरिजन सेवक थे और उन्होंने हरिजनों के लिए बहुत काम किया। खेद की बात है कि उनके स्वर्गवास का समाचार एक महीने के बाद इधर के पत्रों में छपा और उससे अधिक दुःख की बात यह हुई कि श्री वियोगी हरिजी तथा काकासाहेब को छोड़कर किसी ने भी उनपर कुछ नहीं लिखा। दुर्भाग्यवश हम लोगों के कई शिष्य, जो विद्यापीठ में हम लोगों से पढ़े थे, अकाल में ही स्वर्गवासी हो गये। काकासाहेब ने उन सबको श्रद्धांजलि अर्पित की।

काकासाहेब के संस्मरण—पर्यटन सम्बन्धी लेख—विशेष महत्त्व रखते हैं। अपनी यौवनावस्था में काकासाहेब ने काफी पैदल भ्रमण किया था। हिमालय के जिन दुर्गम स्थलों पर वे पहुंचे थे, उनपर बहुत कम लोग पहुंच पाते हैं। हम लोग इस मंत्र को "चरैवेति-चरैवेति" बार-बार दुहराते तो हैं, पर उसके अनुसार काम काकासाहेब ने ही किया है। काकासाहेब यात्रा-प्रिय हैं। प्रारम्भ में उनकी यात्राओं के महत्त्व को बापू भी नहीं समझ पाये, पर वे तुरन्त ही काकासाहेब की प्रवृत्ति को समझ गये। वे सच्चे अर्थों में परिव्राजक हैं। वे भारत के सांस्कृतिक राजदूत हैं। कई जापानियों को उन्होंने हिन्दी पढ़ने का आदेश दिया था। वे पूर्व अफ्रीका और गयाना आदि की यात्रा कर चुके हैं। जापान तो वे पांच-छः बार जा चुके हैं। प्राकृतिक स्थल जितने काका-साहेब ने देखे हैं, उतने शायद ही किसी ने देखे होंगे। आवश्यकता इस बात की है कि उन वृतान्तों को एक संग्रह में प्रकाशित करा दिया जाय।

काकासाहेब के जो महत्त्वपूर्ण लेख नियम-पूर्वक 'मंगल प्रभात' में छपते थे, वे उसी पत्र तक सीमित रह जाते थे। मेरे मन में कई बार यह विचार आया कि उन लेखों को टाइप कराके मैं अन्य हिन्दी पत्रों को भी भेजूं, पर मैं ऐसा नहीं कर सका। बड़े दुर्भाग्य की बात यह हुई कि सर्वोदयी लेखकों के बीच कोई संयोजक नहीं रहा। स्व० धीरेन्द्रभाई उच्चकोटि के चिन्तक थे। पर उनके लेख भी प्रचारित नहीं हुए।

हिन्दी-प्रचार के लिए सबसे अधिक कार्य मराठी भाषा-भाषियों ने ही किया है। लोकमान्य तिलक,

आचार्य विनोबाजी, वामन दत्तो पोद्दार, काकासाहेब, सप्रेजी, गर्देजी, पराड़करजी, शेवड़ेजी इत्यादि मराठी भाषा-भाषी ही रहे हैं। भाई माचवे भी मराठी भाषा-भाषी हैं।

हम हिन्दीवाले स्वभावतः आत्म-केन्द्रित बन गये हैं। हम यह चाहते हैं कि सब लोग हमारी भाषा हिन्दी को सीखें, चाहे हम कोई अन्य भाषा न सीखें। इन्दौर में रहते हुए मैंने मराठी नहीं सीखी। गुजरात में रहते हुए गुजराती नहीं सीखी, बंगाल में रहते हुए बंगला नहीं सीखी। अपने इस अक्षम्य अपराध को मैं लज्जा-पूर्वक स्वीकार करता हूं। मगर काकासाहेब ने तो बंगला पर अधिकार प्राप्त कर लिया था।

काकासाहेब पहली दिसम्बर को ९५वें वर्ष का प्रारम्भ कर रहे हैं। शायद बैरिस्टर मुकुन्दीलाल उनके सम-वयस्क हैं। पं० सुन्दरलालजी उनसे एक वर्ष छोटे थे। यह आश्चर्य की बात है कि यह त्रिमूर्ति लोकमान्य के निकट सम्पर्क में आने के बाद महात्माजी की अनन्य भक्त बनी। काकासाहेब अन्ध-भक्त किसी के नहीं हैं। वे अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व रखते हैं। राष्ट्र-भाषा हिन्दी के लिए, उसकी सरल-सुबोध शैली के लिए, काका-साहेब ने जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया है, उसे हम हिन्दीवाले कभी नहीं भूल सकते। ○

सर्वधर्म-समन्वय में अटल निष्ठा

जी० रामचन्द्रन

□□

काकासाहेब से मेरा सम्पर्क साबरमती के सत्याग्रह आश्रम में १९२४ और अगले कुछ वर्षों में हुआ था। विश्वभारती से बी०ए० पास करने के बाद ही मैंने इस आश्रम में प्रवेश लिया था। विश्वभारती (शान्ति-निकेतन) से निकलकर साबरमती के सत्याग्रह आश्रम में प्रवेश करने के कारण मेरे जीवन में जो आकस्मिक परिवर्तन आया, उसने मेरे तन-मन को पूर्णरूप से झकझोर दिया। विश्वभारती में मैंने विख्यात भारतीय तथा विदेशी प्राध्यापकों से साहित्य, दर्शन तथा समाजशास्त्र का अध्ययन किया था। विश्वविद्यालय की कक्षाओं से अधिक शिक्षा मैंने कक्षाओं से बाहर प्राप्त की, क्योंकि मैं शान्तिनिकेतन के बौद्धिक, कलात्मक और सांस्कृतिक वातावरण से घिरा हुआ था। लगभग प्रत्येक दिन कोई-न-कोई ऐसा उत्सव अवश्य होता था, जो मेरे मन को समृद्ध करता था तथा मुझे अपने देश की सांस्कृतिक विरासत तथा ललित कलाओं को जो कि हमारे सांस्कृतिक पुन-र्जागरण की गंगा में प्रस्फुटित हो रही थीं, समझने में सहायक होता था। सत्याग्रह आश्रम में आते ही मैंने अपने आपको अनुशासन तथा सृजनात्मक कार्य में व्यस्त पाया। इसमें खादी-उत्पादन का कार्य भी था, जिसमें रूई से कपड़ा बनाने की प्रत्येक प्रक्रिया सम्मिलित थी। सत्याग्रह आश्रम में हम प्रतिदिन आठ घण्टे का उत्पादन-कार्य करते थे—जैसे, रूई का ओटना, चुनना, कातना तथा बुनना इत्यादि। इसके अतिरिक्त हमारी दिनचर्या में खाद-उत्पादन जैसा खेती-बाड़ी का काम भी सम्मिलित था। आश्रम में लड़के-लड़कियों के लिए एक शाला भी थी, जिसमें विद्यार्थी आधे समय उत्पादन-कार्य तथा आधे समय विषयों का अध्ययन करते थे। परन्तु साथ ही गांधी-जी के साथ प्रतिदिन रहना तथा उनको ध्यानपूर्वक सुनने का (विशेषतः शाम को आयोजित प्रार्थना-सभाओं में) लाभकारी और सुखद अनुभव भी था। तथापि मुझे एक प्रकार की मानसिक क्षुधा तथा शारीरिक थकान-सी महसूस होने लगी थी। तभी काकासाहेब सत्याग्रह-आश्रम में कुछ दिन बिताने के लिए अचानक आ पहुंचे। वह

उन दिनों गुजरात विद्यापीठ के उपकुलपति थे और महात्मा गांधी द्वारा स्थापित इस विश्वविद्यालय के क्षेत्र में रहते थे।

यहां मैं यह कह दूं कि इससे पहले मैं गांधीजी के निकट के सहयोगी श्री किशोरलाल मशरूवाला तथा गांधीजी के सचिव श्री महादेव देसाई के बौद्धिक तथा सांस्कृतिक विचारों से प्रभावित हो चुका था। इसके बावजूद काकासाहेब का आगमन मेरे लिए बादल से फूटते सूर्य-पुंज के समान था और जब मेरी उनसे प्रथम भेंट हुई तो मेरे मन में एक खुशी की लहर दौड़ गई। कई वर्ष पूर्व काकासाहेब शान्तिनिकेतन में रह चुके थे और गुरुदेव टैगोर का अध्ययन कर चुके थे। वह कविवर के बड़े प्रशंसक थे। सत्याग्रह आश्रम में आने के पश्चात् गांधीजी से निकट संबंध रखनेवाले भारतीय संस्कृति, दर्शन और कला के अद्भुत प्रतीक रूपी व्यक्ति से यह मेरी प्रथम भेंट थी।

आश्रम में उन दिनों दो विचारधाराएं उभरकर सामने आ रही थीं। उनमें से एक कठिन अनुशासन तथा साधना की थी, जिसके नेता मगनलाल गांधी थे। दूसरी बौद्धिक, सांस्कृतिक तथा कलात्मक दृष्टिकोण से प्रभावित थी, जिसके नेता काकासाहेब थे। दोनों के बीच कोई प्रत्यक्ष तनाव तो नहीं था, परन्तु गांधीजी के महान व्यक्तित्व की छाया में इन दोनों विचारधाराओं का एक प्रकार का अन्तर्प्रवाह-सा चारों ओर सूर्य की किरणों की भांति समस्त आश्रम में फैला हुआ था। जैसे-जैसे समय गुजरता गया, काकासाहेब और मैं गांधीजी द्वारा निश्चित किए हुए अपने-अपने अलग रास्तों पर, निर्माण-कार्य में लग गये, परन्तु हमारी मुलाकातें कई स्थानों पर अक्सर होती रहीं।

काकासाहेब जब हिन्दी प्रसार के कार्य हेतु केरल आये तो उनके साथ यात्रा करने का तथा उनका यात्रा-सम्बन्धी कार्यक्रम बनाने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ। केरल हिन्दी प्रचार सभा के सचिव देवदूत विद्यार्थी सहित उनके साथ केरल के कई स्थानों का मैंने भ्रमण किया और मुझे काकासाहेब के मन्त्र-मुग्ध करने वाले भाषण सुनने का अवसर भी मिला। इस अवसर पर वह अपने भाषणों में दक्षिण-भारत के लिए हिन्दी भाषा की आवश्यकता तथा उसके कार्यक्षेत्र इत्यादि के अतिरिक्त देश में व्याप्त कई अन्य समस्याओं पर भी अमूल्य प्रकाश डालते थे, जिनमें जातिप्रथा तथा अस्पृश्यता का उन्मूलन, स्त्री-जाति की स्वतन्त्रता तथा सामाजिक समन्वय और राजनैतिक स्वतन्त्रता द्वारा प्रस्तुत चुनौतियां भी सम्मिलित थीं। विशेषतः मुझे वह अवसर अच्छी तरह से याद है, जब उन्होंने प्रेम की व्याख्या भारत के कवियों तथा दार्शनिकों की शैली में की थी। तब मैं पूर्ण रूप से समझा कि काकासाहेब स्वयं संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान तथा हिन्दी, अंग्रेजी और गुजराती के प्रतिभाशाली लेखक होने के साथ-साथ अपने जीवन-दृष्टिकोण में एक आधुनिक नवीनता भी रखते थे।

अपने व्याख्यानों में वह नई पीढ़ी को पीछे की तरफ दृष्टि न रखने की चेतावनी देते थे, चाहे अतीत कितना भी गौरवपूर्ण क्यों न हो। नई पीढ़ी से वह सदा आगे बढ़कर पहले से अधिक भव्य भविष्य का सृजन करने का अनुरोध करते थे। केरल के राजनैतिक नेताओं द्वारा प्रस्तुत तरह-तरह के प्रश्नों के समाधान करने में काकासाहेब पूरी तरह सफल रहे। मुझे अच्छी तरह याद है जब एक प्रतिभाशाली नेता ने काकासाहेब से पूछा था, "क्या स्वराज्य हमें उपलब्ध हो सकेगा और यदि हां, तो क्या हमारे जीवन-काल में ऐसा संभव होगा ?" काकासाहेब ने एक आकर्षक मुस्कराहट के साथ उत्तर दिया, "आपको स्वराज्य कल ही मिल सकता है, यदि आप गांधीजी की बात मानें और उनके कार्यक्रम पर पूर्णरूप से अमल करें, अन्यथा आप ही बता सकते हैं कि आपको स्वराज्य कब मिलेगा। यह आप पर और मेरे ऊपर निर्भर है।"

उन्होंने आगे कहा कि स्वराज्य कोई सस्ती अथवा आसान वस्तु नहीं, अपितु इसकी प्राप्ति के लिए बहुत बलिदान और कष्ट सहने पड़ेंगे। उन्होंने प्रश्नकर्त्ता को यह कहकर निरुत्तर कर दिया, "आप कितना

बलिदान दे सकते हैं और कितने कष्ट सह सकते हैं ?" इसका कोई उत्तर न था।

नवयुवकों की एक अन्य सभा में उन्होंने यह विस्तृत रूप से समझाया कि नाराज हरिजनों तथा सामाजिक क्रांतिकारियों द्वारा हिन्दू मन्दिरों में बलपूर्वक प्रवेश करना तथा सहमति और मैत्रीपूर्ण ढंग से प्रवेश करना, इसमें क्या अन्तर है। उन्होंने कहा कि पहली क्रिया वासना तथा दूसरी क्रिया प्रेम के समान है। अधीर नवयुवकों को उन्होंने समझाया कि वे वासना अथवा प्रेम के रास्तों के बीच पसंदगी करने के लिए आप स्वतन्त्र हैं। युवकगण चुनौती को समझ गये और उन्होंने गांधीजी की पद्धति को ही अपनाया।

काकासाहेब एक असाधारण उच्चकोटि के बुद्धिजीवी हैं, परन्तु उनकी बुद्धि में एक अत्यन्त गहन कलात्मक संवेदनशीलता भी अनुस्यूत है। उनकी बुद्धि समूचे संसार के इतिहास तथा दर्शन और इसके अतिरिक्त कविता, नाटक तथा निर्माण-शिल्प-कला के क्षेत्रों में हुई उपलब्धियों के ज्ञान की पृष्ठभूमि पर कार्य करती है। केवल एक ही और पुरुष है, जिनकी इस सम्बन्ध में काकासाहेब से तुलना कर सकता हूं। वह हैं राजाजी। मेरा अभिप्राय स्वर्गीय राजगोपालाचार्य से है, जो इस प्यारे नाम से समस्त भारत में जाने जाते थे। राजाजी और काकासाहेब के बीच हुई चर्चाओं के अनेकानेक संस्मरण मेरे पास हैं। राजाजी सदैव काकासाहेब के साथ वार्तालाप करने में प्रसन्नता अनुभव करते थे और काकासाहेब राजाजी के चरित्र और संस्कृति के प्रति गहरी श्रद्धा और प्रेमादर रखते थे। कई ऐसे चित्र उपलब्ध होंगे, जो राजाजी और काकासाहेब को एकसाथ दर्शाते हैं। ऐसे चित्रों को एकत्र करके अभिनन्दन-ग्रन्थ में प्रकाशित करना चाहिए। काकासाहेब एक हिन्दू हैं, परन्तु गांधीजी की भांति उनका हिन्दू-धर्म आकाश के समान विशाल और समुद्र के समान गहरा है। 'सर्व धर्म समानत्व' का ध्येय उनके लिए अति प्रिय है तथा दिल्ली में स्थित उनके निवास-स्थान 'सन्निधि' में लगातार अन्तर्धार्मिक सभाएं होती रहती हैं, जिनमें काकासाहेब की आवाज सर्वधर्मों की एकता और आवश्यक मूल्यों में समानता की आवाज का उद्घोष करती रहती है।

सर्वोच्च साहित्यिक कलाकार होने के अनन्तर उनको अमर कीर्ति प्राप्त होगी, सर्व-धर्म-समन्वय की उनकी अटल निष्ठा के लिए।

संसार की विभिन्न धार्मिक परम्पराओं में उन्होंने हर किस्म के अंधविश्वास को नकारा है। विभिन्न धर्मों के आंतरिक मूल्यों को उन्होंने उभारा है और साबित किया है कि वह आपस में पूर्णतया परिपूरक हैं। धर्मान्धों के तथा धर्म में जुनूनी मतान्धता के वह पक्के शत्रु हैं। सबसे महत्व की बात यह है कि काकासाहेब की गहन कलात्मक संवेदनशीलता उनके प्रत्येक विचार, शब्द तथा कार्य में झलकती है। इस सम्बन्ध में वह रवीन्द्रनाथ टैगोर के बहुत निकट हैं। दूसरी ओर वह जीवन की सादगी तथा अहिंसा में निष्ठा और सर्वोदय के आदर्श से ओतप्रोत होने के नाते गांधीजी के बहुत निकट हैं। हमारे समय में गांधीजी द्वारा प्रेरित क्रांति ने शायद ही कोई ऐसा दूसरा नेता उभारा हो, जो अपने में गांधीजी और रवीन्द्रनाथ टैगोर की विरासतों को ओतप्रोत कर सका हो।

इस समय काकासाहेब ९५वें वर्ष में प्रवेश कर रहे हैं, भगवान से मेरी यह प्रार्थना है कि वह अपनी शताब्दी पूरी करें—सशक्त शरीर और सतर्क मन के साथ और सतत साधनारत जीवन के साथ। ○

उनका प्रेममय स्पर्श

मीआ और क्लाउस[1]

□□

'काका'-'चाचा' शब्दों से रिश्तेदारी, कौटुंबिक संबंध का ख्याल आता है। किन्तु हम लोगों के बारे में नहीं, क्योंकि काकासाहेब, क्लाउस और मैं—हमारा सामान्य शारीरिक रिश्ता हो नहीं सकता। भारत-जर्मनी-कॅनेडा ऐसे विविध देशों के लोगों को निकट लानेवाली सिवाय अध्यात्म के कौन-सी चीज हो सकती है ? और उच्च आध्यात्मिक आकर्षण की शक्ति ऐसी होती है कि हम बिना काकासाहेब के बारे में कुछ भी जाने और हमारे देश में उनके बारे में बिना कुछ भी सुने हम उनकी ओर आकर्षित हो गये—जैसे पतंगा ज्वाला की ओर खिचा चला आता है। हमको उस ज्वाला की आवश्यकता थी, उस ज्वाला के साथ प्रज्ज्वलित होकर 'काकासाहेब' नामक चिराग से प्रकाश प्राप्त करना था।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर और महात्मा गांधी की रचनाएं पढ़कर हमारे दिल में भारत के प्रति प्रेम और आदर उत्पन्न हुआ था और काकासाहेब में इन दोनों महान पुरुषों के विचारों का समन्वय हमें मिल गया। हमारी प्रथम भेंट में ही काकासाहेब ने कहा, "एक ने मुझे सौन्दर्य सिखाया और दूसरे ने सत्य—सत्याग्रह द्वारा।"

श्री काकासाहेब का परिचय हमें सर्वप्रथम डा० माचवे ने कराया। उनके प्रति हम सदा कृतज्ञ रहेंगे। किन्तु काकासाहेब के साथ हमारा सच्चा मिलन तो तब हुआ जब हम दूसरी बार भारत गये सन् १९७४ में। सन् १९६९ से हमारा पत्र-व्यवहार चालू था, काकासाहेब के साथ और सरोज बहन के साथ, जो बाद में हमारी बहुत प्यारी बहन बनी, जैसे काकासाहेब हमारे पिता और गुरु बने।

इसलिए १९७४ में दिल्ली आते ही हम सबसे पहले सन्निधि, राजघाट गये, जहां हमारे प्रियजन हमारी राह देख रहे थे और जहां निजी परिवार के सदस्य के रूप में हमारा स्वागत किया गया। एक सप्ताह से अधिक समय हमने काकासाहेब के पलंग के पास बैठकर सुनने में और प्रश्नोत्तरी करने में बिताया। ऐसा कभी नहीं लगता था कि काकासाहेब कुछ उपदेश दे रहे हैं अथवा कुछ सिखा रहे हैं। अपने प्रश्नों के उत्तर हम स्वयं ढूंढ लें, ऐसा वातावरण वह तैयार कर देते थे। तब हम समझ गये कि काकासाहेब चाहते हैं कि हर व्यक्ति को अपना रास्ता और अपना सत्य आप ही खोज लेना चाहिए।

प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व के लिए काकासाहेब को इतना आदर था कि एक बार जब क्लाउस ने हमारा वार्तालाप टेप करने की अनुमति मांगी तो उन्होंने उत्तर दिया, "आपको 'टेप' करना हो तो मुझे उसमें कोई आपत्ति नहीं है, किन्तु मुझे उसमें, मैं कहूं, खुशी नहीं होगी। 'खुशी' शब्द मैंने सोचकर इस्तेमाल किया है मुझे इस बात में खुशी होगी कि मैं कहूं सो आप सुनें, आत्मसात् करें और फिर अपने ही शब्दों में, अपने तरीके से, दूसरों से वह कहें। ऐसा करने में आप मेरी बात को एक नयी गहराई प्रदान करेंगे। ऐसा करने के लिए मूल संदेश के प्रति निष्ठा जरूरी है ही, किन्तु मैंने भी तो यह पैगाम किसी और से या कई औरों से सुना। उस पर गहराई से मनन-चिंतन करने के बाद मैं अपनी दृष्टि से वह आपको दे रहा हूं। आपको भी वैसा ही करना है। तब तक आपने सुने हुए शब्दों के अन्दर की आत्मा को पकड़ लिया होगा। इससे इस विचार को नयी समृद्धि मिलेगी।"

१. कॅनेडा के फोटोग्राफर दंपति। पति जर्मन, पत्नी फ्रेन्च। दोनों की आध्यात्मिक जीवन की आकांक्षा उत्कट है।

—सम्पा०

"गुरु को शिष्य का आदर करना चाहिए—ऐसों का—जिनके पास सुनने को कान हैं।" काकासाहेब के मुख से भगवान यीशु के ये शब्द सुनकर उनमें हमें नवीन अर्थ दिखाई दिया। हम इन शब्दों को मानो नये हृदय से ग्रहण कर रहे थे—जिस हृदय को काकासाहेब अपने प्रेमपूर्ण प्रेममय स्पर्श से हमारे अन्दर जाग्रत कर रहे थे।

और हमारे पिता-गुरु का आखिरी और सबसे प्यारा संस्मरण सुनिये। भारत से जब हम हवाई अड्डे जाने के लिए निकल रहे थे, हृदय में और आंखों में आंसू भरकर विदाई ले रहे थे, तब उनके चरण छूकर मैंने कहा, "जाते-जाते एक बात आपको कहना चाहती हूं। हमारे देश में जब हम किसी को बहुत प्यार करते हैं तब बांह फैलाकर उनसे हृदय से हृदय लगाकर मिलते हैं। आपके देश में यह हो नहीं सकता, इसका मुझे गहरा खेद है …।"

काकासाहेब हंस पड़े, तनिक मुश्किल से पलंग पर से उठ खड़े हुए और अपनी बांहें फैलाकर मुझे और क्लाउस दोनों को अपने हृदय से लगा लिया—एक दीर्घ क्षण के लिए—हमें स्वर्ग की पूर्वानुभूति कराने को पर्याप्त था। ○

अनुग्रह का भाजन

वालजीभाई देसाई

□□

श्री काकासाहेब मेरे बड़े भाई के समान हैं। मुझ पर उनके स्नेह के कारण, जब-जब आवश्यकता हुई, मैं निःसंकोच उनको तकलीफ देता रहा हूं। जैसे गांधीजी के 'दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास' का अंग्रेजी करने का काम मेरे पास आया तब उस ग्रंथ की प्रस्तावना का अंग्रेजी अनुवाद उन्होंने और मैंने साथ बैठकर किया था।

'अखिल भारत गोरक्षा मंडल' का विधान तैयार करने में भी मुझे उनकी सहायता मिली थी।

अपनी पुस्तकें मैं उनको पढ़ने के लिए देता हूं, ताकि पढ़कर अपनी समीक्षा वह विस्तार से लिख दें। ऐसे अनेक प्रकार से मैं उनके अनुग्रह का भाजन बना हूं। ○

मेरा प्रथम परिचय

गंगाबेन वैद्य

□□

पूज्य काकासाहेब बीमारी से उठे थे। हवाबदल के लिए आश्रम के बाहर गये। कुछ दिन बाद बापूजी ने उन्हें आश्रम में बुला लिया। बापूजी ने कहा—आश्रम की हवा अच्छी है। यहीं रहकर आराम करो। उन दिनों काकासाहेब के खानपान आदि सबकी व्यवस्था शामलभाई करते थे। काकासाहेब बहुत कमजोर-अशक्त हो गये थे।

'हिमालय का प्रवास', 'उत्तर की दीवारें' और 'नवजीवन' के लेख पढ़ने से मेरे मन में काकासाहेब के प्रति आदरभाव उत्पन्न हुआ था। वह आश्रम में आये। उनसे परिचय करने की बहुत इच्छा थी, किन्तु यह हो कैसे ? मैंने श्री सुरेन्द्रजी से अपनी इच्छा प्रकट की कि मुझे काकासाहेब से मिलना है। सुरेन्द्रजी ने कहा कि काकासाहेब को पौष्टिक और सात्त्विक आहार की बहुत जरूरत है। उन्हें खिलाने की जिम्मेदारी ले लीजिये। आपके घर रोज भोजन करने आयेंगे तो परिचय सरलता से हो जायेगा।

मैंने बापूजी से कहा कि यदि काकासाहेब मेरे यहां खाना खाने आयें तो वह काम मैं खुशी से करने को तैयार हूं। बापूजी बहुत प्रसन्न हुए और काकासाहेब से कहा कि आप गंगा बेन के घर भोजन के लिए जाया कीजिये।

इस तरह काकासाहेब मेरे घर आने लगे। सुबह नाश्ते में मैं उनको हलुआ और दूध देती थी। भोजन में रोटी, मक्खन और सब्जी। सादा और पौष्टिक आहार देती रही। थोड़े दिन यह क्रम चला और उनकी तबीयत बहुत सुधर गयी। बाद में वह कुछ दिन बोरडी गये। वहां भी मैं साथ गयी। कुछ समय रही। जब मैं बोचासण रहने आ गयी तब वह समय-समय पर बोचासण आते रहे। वे मुझे सत्संग का लाभ देते रहे। फिर तो काकासाहेब के साथ का संबंध गहरा ही बनता चला गया।

काकासाहेब दीर्घायु हों, यही प्रार्थना करती हूं। ○

१. १०२ वर्ष की गंगाबेन बापूजी के आश्रम में रहीं। अत्यंत सेवाभावी, प्रेमल। गौ और पीड़ित जनों की सेवा। बालकों से प्यार। निडर स्वातंत्र्य-सेनानी, सत्याग्रही और सबकी प्यारी।—सम्पा०

उनके जीवन के विभिन्न पहलू

लक्ष्मी देवदास गांधी

□□

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में भारत माता ने जिन सुपुत्रों को जन्म दिया था उनमें आचार्य काका कालेलकर अग्रगण्य हैं। बापूजी के पथ के अनुयायियों में अब तीन आचार्य रह गये हैं : १. आचार्य काकासाहेब २. आचार्य कृपालानी और ३. आचार्य विनोबा भावे, जो सबसे छोटे हैं।

काकासाहेब के इस विशिष्ट जन्मदिन पर हम उन्हें नम्रतापूर्वक प्रणाम करते हैं और उनसे यह आशीर्वाद चाहते हैं कि हमारा इस देश का भविष्य उज्ज्वल रहे और उनकी वर्षों की शिक्षा, जो लोगों ने पाई है, व्यर्थ न जाय।

शायद १९२३ में मेरे पिताजी (पूज्य राजगोपालाचार्य जी) ने मेरा और मेरे भाई का काकासाहेब से परिचय कराया था, साबरमती आश्रम में। काकासाहेब का घर, किशोरलालभाई का घर, और महादेवभाई का घर, ये सब पास-पास थे। तब काकासाहेब की धर्मपत्नी भी जीवित थीं, जिन्हें हम लोग 'काकी' कहकर पुकारते थे। बहुत वात्सल्यमयी थीं वह। महादेवभाई कई बार हमें काकासाहेब के घर ले जाते थे। काकी हमें हमेशा प्यार से रुचिकर व्यंजन खिलाया करती थीं। उनके पुत्र बाल कालेलकर हमारे समवयस्क थे।

(दुर्भाग्यवश वे अब नहीं रहे। ऊंचे सरकारी अधिकारी पद पर आ गये थे) काकी भी कुछ छोटी उम्र में ही चल बसीं।

राजनैतिक, सामाजिक और साहित्यिक समस्याओं के बीच खुशमिजाज रहना काकासाहेब का स्वभाव रहा है। लोगों के साथ उनके वार्तालाप सुनने से काफी ज्ञान और आनन्द मिलता था।

काकासाहेब ने देश-विदेश का काफी भ्रमण किया है। कई पुस्तकें लिखी हैं। कितने ही प्रवचन दिये हैं। उनकी शैली हमेशा सरल, बुद्धिवर्धक और रोचक रही है। स्वयं गुजराती न होने पर भी उन्होंने गुजराती भाषा को संपूर्णतया अपनाया है।

गुजरात काठियावाड़ में काकासाहेब के भक्त और प्रशंसक सैकड़ों-हजारों है। हमारे गांधी-परिवार के लोग उनमें से कुछ हैं। दिल्ली आते थे। हमारे घर नाम मात्र के लिए ठहरते थे, अधिकांश समय काकासाहेब के साथ ही बिताते थे। मुझे एक बार राजघाट पर काकासाहेब का प्रवचन सुनने का सौभाग्य मिला। विषय मुझे बहुत पसन्द आया। काकासाहेब ने कहा, "रामायण में उत्तर काण्ड बाद में जोड़ा गया है। रामचन्द्र जैसा विवेकी, प्रेमल, शरणागत रक्षक कभी भी ऐसा नहीं बदल सकता था कि सीता जैसी परम पवित्र पत्नी को दूसरी बार अग्नि-परीक्षा का आदेश दे। कवि वाल्मीकि ने ऐसी कल्पना कभी नहीं की होगी। किसी एक अन्य कवि ने उत्तर काण्ड को जोड़ दिया है। चतुराई के साथ।" खैर, इस विवादास्पद बात को यहीं छोड़ देते हैं।

काकासाहेब की छोटी बहू (बाल कालेलकर की पत्नी) की मृत्यु दिल्ली में अचानक हो गई। दो छोटे बच्चे थे। काकासाहेब अपनी अवस्था और कामों को भूलकर उन दो बच्चों की देखभाल के लिए और मनोरंजन के लिए नित्य उनके घर जाकर, काफी समय बिताकर, आते थे। तुरन्त एक और धक्का लगा। बड़े पुत्र सतीश कालेलकर की पत्नी का भी विदेश में निधन हो गया। मैं काकासाहेब से मिलने गई थी। उनके असाधारण धीरज को देखकर चकित रह गई।

हम सबको कुमारी सरोज बहन नाणावटी को बधाई देनी चाहिए। क्योंकि उनकी निष्ठापूर्वक देखभाल से ही पूज्य काकासाहेब का यह जन्मदिन मना पा रहे हैं। प्रभु से प्रार्थना करें कि हमारे इस गुरुजन को जितने और नीरोग स्वस्थ वर्ष दे सकें, दें, उनके अस्तित्व से हम प्रेरणा और शक्ति पाते रहें। ○

प्रेम और प्रोत्साहन के प्रदाता

मदालसा नारायण

□□

पूज्य पिता जमनालालजी के साथ काकासाहेब की घनिष्ठता अप्रतिम थी। इसलिए हमें अपने अत्यन्त निकट के स्वजन के समान ही गहरा स्नेह काकासाहेब से सदा मिलता रहा है। उनके साथ दक्षिण भारत की यात्रा का सुअवसर मुझे सदा मिला। उड़ीसा और आसाम का प्रवास भी काकासाहेब के साथ करने में बड़ा आनन्द प्राप्त हुआ। पूना के निकट सिंहगढ़ की सैर भी बड़ी ऐतिहासिक रही।

दिल्ली में मेरे परमपूज्य पितास्वरूप श्वसुरजी बाबू श्री धर्मनारायणजी का जन्मदिन और पू० काकासाहेब का जन्मदिन १ दिसम्बर १९४८ को हमने एक साथ दोनों महान गुरुजनों की प्रत्यक्ष

उपस्थिति में सानन्द मनाया है। पू० बापूजी के दिवंगत हो जाने के बाद काकासाहेब के साथ सौराष्ट्र और गुजरात का प्रवास बड़ा आश्वासनप्रद रहा था। काकासाहेब का जीवन-व्यवहार हर प्रकार से कलापूर्ण होता है। यह अनुभव उनके साथ प्रवास में विशेष रूप से मिला। उसकी याद आज भी हमें आनन्दित और श्रद्धान्वित कर देती है। हम नेपाल में थे, तब वहां भी पू० काकासाहेब का शुभागमन हुआ था। वहां से बार-बार मिलना होता ही रहा। वे हमारे अनुरोध पर अनेक बार अहमदाबाद राजभवन में आकर भी रहे। उनके सान्निध्य में गुजरात के विशिष्ट बुजुर्गों का अनौपचारिक पारिवारिक सम्मेलन भी करीब चार दिन तक राजभवन में बड़ा ही सफल और सुखदायक रहा था।

काकासाहेब के साथ अरुणोदय से सूर्योदय तक की निसर्ग की रमणीयता का आनन्द भी अनेक बार जी भरकर लूटने को मिला। उसमें सरोजबहन की प्रार्थना के सुमधुर स्पष्ट स्वर सदा कानों में गूंजते रहते हैं।

राजभवन के निकट साबरमती नदी के पुल पर से दिन-भर में असंख्य ट्रेनें आती-जाती रहती थीं। उनकी आवाज सुनकर उसमें अपनी आवाज मिलाते हुए काकासाहेब हमारे दो बालकों की याद हमेशा कर लिया करते थे। देखो, यह रेलगाड़ी बराबर पूछ रही है, "भरत कहां है? रजत कहां है?" यह है बड़ा अजब और अनोखा काकासाहेब का तरीका। जीवन की स्मृतियों को पारिवारिक स्मृतियों से संबंधित करके वे हमेशा के लिए स्वजनों में एक शुभ संस्कार का सिंचन कर देते हैं। पंछियों की बोली को दुहरा-दुहराकर बच्चों को बहलाने में उनको बड़ा ही आनन्द मिलता, खास करके ग्रीष्म ऋतु के बाद वर्षा के पूर्व आम की अमराइयों में कूकती हुई कोयल की नकल करके उसे छेड़ने और चिढ़ाने में काकासाहेब बच्चों में इतने घुल-मिल जाते कि देखने-सुनने वाला भी आनन्द-विभोर हो उठता। इस बात पर शास्त्रों का एक कथन याद आता है, "ब्राह्मणः पांडित्यं निर्विध बाल्येन तिष्ठासेत।" अर्थात् विद्वजन को अपनी पंडिताई भूलकर बालक के समान रहना चाहिए। यह बात बच्चों के साथ तो काकासाहेब को एकदम ही सध जाती थी।

काकासाहेब की एक विशेषता यह भी है कि वे सूर्य की भांति 'नित्य-प्रवासी' रहे। नैमित्तिक रूप से तो हवाई जहाज, रेलगाड़ी या मोटरकार में जब जहां जाना होता, वे जाते ही रहते। पर वे जब दिल्ली के अपने 'सन्निधि' के निवास-स्थान पर रहते हैं, तब भी उनका प्रवास प्रायः रोजाना ही नियमित रूप से होता है। वे दिनकर (सूर्यदेव) की भांति दिन-भर अपनी अनेक विध-प्रवृत्तियों में संलग्न रहते हैं। सूर्यास्त के समय सांध्यवेला में अक्सर उनके छोटे बेटे बाल कालेलकर उन्हें लेने आ जाते थे। तब अपनी सार्वजनिक प्रवृत्तियों की किरणों को समेटकर वे अपने बेटे के साथ अपने दो पोतों के जीवन में मातृ-स्थान की पूर्ति की दृष्टि से गहरा स्नेह-सिंचन और शुभ-संस्कार देने के लिए उनके निवास-स्थान पर जा पहुंचते थे। अपने प्यारे दादा को पाकर बच्चे ऐसे प्रफुल्लित होते, जैसे सूर्य-प्रकाश को देखकर सरोवर के कमल खिल उठते हैं। यह काकासाहेब का क्रम उनकी स्नेहमयी पुत्र वधू रेवारानी के स्वर्गवास के बाद वर्षों से सतत चलता रहा। यह देखकर मन आश्चर्यचकित हो उठता। बच्चों को नित नई कहानी सुनाना, उनके साथ स्नेहयुक्त सहभोजन करना, उनको सुलाकर सोना। सुबह जल्दी उठकर प्रातर्विधि से निवृत्त हो ईश-स्मरण करना, फिर बच्चों के साथ बड़े ठीक तरीके से नाश्ता करना और कराना। उसके बाद प्रार्थना प्रवचन के समय ठीक ७ बजे सान्निधि पहुंच जाना।

काकासाहेब के साथ कभी भी कोई नया विचार, नई बात या नई योजना के सम्बन्ध में सलाह पूछी जाय तो वे इतने खुश होते हैं और उसमें इतना रस लेते हैं कि सामने वाला अपने आप प्रोत्साहन पा लेता है।

ऐसा ही एक बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रसंग इस समय सहज ध्यान में आ रहा है। हमें १९६४ से १९६७ तक नेपाल में रहने का सुअवसर मिला था, तब सम्भवतः १९६५ में पहली बार 'नवयुवक सम्मान दिवस' की रूपरेखा दिल्ली के फिरोजशाह रोड के मकान में, काकासाहेब जब श्रद्धेय कमलनयनभाई के पास आये थे तब, मैंने उन्हें दिखाई थी। उसे उन्होंने बहुत पसन्द किया। विद्यार्थियों में असन्तोष का कारण और उसका निवारण कैसे हो सकता है, इसका गहराई से विचार करते हुए नवयुवकों के सम्मान की बात मेरे मन में आई, यह सब खूब ध्यान से और गहरी दिलचस्पी से काकासाहेब ने सुना और उसका नाम 'नवनागरिक सम्मान-दिवस' रखना ठीक होगा, ऐसा उसी समय सुझाव दे दिया। इससे मुझे बड़ा भारी प्रोत्साहन मिला। फलस्वरूप उसका पत्र-पत्रिकाओं के द्वारा भारत भर में खूब प्रचार हुआ। गांधी शताब्दी में गुजरात भर में 'तरुणाभिनन्दन' के कार्यक्रम खूब सफलता से सम्पन्न हुए। उसका प्रभाव दिल्ली की लोकसभा तक जा पहुंचा और तत्कालीन केन्द्रीय शिक्षामंत्री डा० वी०के०आर०वी० राव ने बड़ी अच्छी तरह एक प्रस्ताव के रूप में 'नवनागरिक सम्मान-दिवस' के विचार को लोकसभा में प्रस्तुत किया। कुछ अनुकूल, कुछ प्रतिकूल चर्चा के बाद इस सदन में वह प्रस्ताव पास हो गया कि १५ अगस्त से दो दिन पहले १३ अगस्त का दिन देश-भर में 'तरुणाभिनन्दन दिवस' के रूप में मनाया जाय। तदनुसार गुजरात में १९७२ का १३ अगस्त का दिन राज्य भर में और विशेषतः राजभवन में बड़े शानदार तरीके से मनाया गया। वैसे तो गांधी शताब्दी में १९६९ से ही गुजरात में तरुणाभिनन्दन के समारोह होते ही रहे हैं। वह तो महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना ही हो गई है।

पिता जमनालालजी की राष्ट्रीय स्मृति में 'स्मृति-संगम' नामक एक छोटे से ग्रन्थ का संग्रथन हो रहा था, तब पू० काकासाहेब से बार-बार मिलने का मिलने का मुझे मौका और प्रोत्साहन मिलता रहा। संग्रथन कार्य पूरा होने पर 'स्मृति-संगम' के लिए उन्होंने आशीर्वचन के रूप में ये पंक्तियां लिखीं :

"चन्द ग्रन्थों में 'इतिहास' होता है ! चन्द ग्रन्थों में 'माहात्म्य' पढ़ने को मिलता है। 'स्मृति-संगम' में इन दोनों का संगम है ही। लेकिन इसमें जो तीसरी चीज है, उसके सामने ये दोनों तत्व महत्व के होते हुए भी गौण बनते हैं। 'स्मृति-संगम' में महात्माजी के विशाल विविध-युग की 'पवित्रता' का वायुमण्डल मिलता है।" शुरू से आखिर तक इसी पवित्रता के वायुमण्डल के कारण पढ़ते-पढ़ते हृदय उन्नत होता जाता है और मानो सारे ग्रन्थ से हमें वही दीक्षा मिल रही है। इस तरह कितने उन्नत आशीर्वचन काकासाहेब से संग्रथन को मिले कि कृतज्ञता से मस्तक अपने आप नत हो उठता है।

काका जमनालालजी की सब संतानों का स्मरण भी स्मृति संगम की प्रस्तावना में काकासाहेब ने अत्यन्त आत्मीयता से किया था।

काकासाहेब बड़े कुशल रत्नपारखी हैं। बचपन से उन्होंने बहुरत्ना वसुन्धरा के रूप में भारत को भलीभांति परखा है। व्यक्तियों में पहले गुरुदेव ठाकुर को उन्होंने परखा। बाद में महात्मा गांधी के व्यक्तित्व को इस तरह परख लिया कि आजीवन उन्हीं के होकर रह गये। इसी तरह काकासाहेब व्यक्तियों के अन्तरतम में समाये हुए सद्गुण रूप अनेकानेक बहुमूल्य रत्नों के रत्नपारखी हैं। उनके स्नेहीजनों का मण्डल विश्व-भर में फैला हुआ है। उन्होंने अगणित व्यक्तियों के जीवन को ज्ञान-साधना से समृद्ध किया है। उनके एक पत्र से या एक बार याद करने से भी मन उनकी ओर इतना गुरुत्वाकर्मी हो जाता है कि तत्काल उनसे जाकर मिलने का मन हो उठता है।

काकासाहेब ने हमारे पिता जमनालालजी और पितामह बापूजी की संस्कार-साधना की परम्परा को इस प्रकार से प्रस्तुत किया है कि हम उसको समझकर उसका अनुसरण करने का विचार, चिन्तन और प्रयत्न कर सकें।

पिता जमनालालजी को जुहू से जून १९२४ में बापूजी ने एक पत्र में लिखा : ''तुम्हारे प्रेम के वश होकर मैं पिता बना हूं। ईश्वर मुझे इस योग्य बनाये।''

काकासाहेब का ऐसा पारिवारिक-स्नेह प्रेम और प्रोत्साहन हमें सदा मिला है और पिता-पितामह की अनन्यता का सदा स्पष्ट-दर्शन वे हमें कराते रहे हैं। इससे हमारा जीवन शुभ-स्मरणों से सदा सम्पन्न रहा है। इतना ही नहीं, राष्ट्रपिता की राष्ट्रव्यापी पारिवारिकता का परिचय भी वे समय-समय पर प्रस्तुत करते रहे हैं। इस दृष्टि से 'एक हृदय हो भारत जननी' का जो अखिल भारतीय राष्ट्रभाषा समिति का ध्यानमंत्र है, वह पू० काकासाहेब के द्वारा सहज सिद्ध होता है।

ऐसी श्रद्धाभरी भावना के साथ श्रद्धायुक्त वन्दन ! ○

उनकी शान्त तेजस्वी विनम्रता

मार्गरेट और विलियम बेली

□□

काकासाहेब के लिए हमारे दिल में उस समय प्रेम उत्पन्न हुआ जब हमने उनके पुत्र बाल के मुख से बार-बार उनके बारे में सुना। कॉर्नेल युनिवर्सिटी में डॉक्टरेट लेने के बाद बाल अनेक बार हमारे घर विलियमस्पॉर्ट आते थे। अपने पिता के प्रति बाल की गहरी निष्ठा और आदर-युक्त प्यार की हमारे मन में बड़ी सराहना थी, और इस तरह बाल के कारण काकासाहेब के प्रति हमारा प्रेम बढ़ने लगा।

हमारे मार्ग अलग हुए, फिर भी बाल का स्थान हमारे हृदय में बना रहा, और जब हमने विश्व की पहली यात्रा की तब भारत जाने की उत्कंठा हुई। हम दिल्ली जुलाई में पहुंचे, तब बाल तो चल बसे थे; किन्तु उनके बड़े भाई सतीश ने हमारा स्वागत किया। हमें सुनकर समाधान हुआ कि काकासाहेब का स्वास्थ्य ठीक चल रहा था। हमने बंबई जाने पर काकासाहेब से मिलने की इच्छा व्यक्त की।

बंबई में नानावटी के घर पर जब हम पहुंचे तब सरोज ने हमारा स्नेहपूर्ण स्वागत किया। काकासाहेब के शान्त गौरव से और आत्मीयतापूर्ण स्वागत से हम बड़े प्रभावित हुए। बाल के साथ की मैत्री के अपने अनुभव और विलियमस्पॉर्ट में बाल के अन्य मित्रों के संस्मरण हमने सुनाये। काकासाहेब ने ध्यानपूर्वक उन्हें सुना।

बाद में भारत की दो यात्राओं में तो काकासाहेब के वात्सल्यमय व्यक्तित्व ने मानो हम पर जादू ही कर दिया। अपने देश के इतिहास में बतायी हुई काकासाहेब की असाधारण समर्पित निष्ठा और उनकी अनेकविध उपलब्धियां देखकर हम विस्मित रह गये। अपने काम पर गौरव करने का उन्हें पूरा अधिकार है, किन्तु उनकी शान्त-तेजस्वी विनम्रता से वह सबके प्यारे बन जाते हैं।

हमें भारत के अनेक समाजों और अनेक व्यक्तियों से मिलने का अवसर प्राप्त हुआ। हमेशा हम सुनते रहते हैं, ''काकासाहेब को तो हम पहचानते हैं।''

हम आशा करते हैं कि हम जल्दी ही पुनः भारत-यात्रा करेंगे और स्वजनों से पुनर्मिलन का आनन्द प्राप्त करेंगे। ○

मानवता के पुजारी

सोफिया वाडिया

□□

काकासाहेब के अनुरागियों के लिए यह अत्यन्त हर्ष की बात है कि उन्होंने न केवल इतनी बड़ी आयु प्राप्त की है, किन्तु अब तक भी वे अपने रचनात्मक तथा मौलिक कार्यों और निःस्वार्थ सेवाओं में रत हैं। यह छोटी-सी अंजलि मैं २ अक्तूबर को (गांधी-जयन्ती के दिन) अर्पित कर रही हूं। उसमें बड़ा औचित्य है, क्योंकि मैंने हमेशा काकासाहेब को महात्माजी के सच्चे शिष्य के रूप में देखा है।

काकासाहेब के क्रियाशील जीवन के अनेकानेक और विविध पहलू हैं, किन्तु मैं यहां उनके प्रतिष्ठित तथा महान लेखक के रूप की ही बात करूंगी। उन्होंने बहुत-सी पुस्तकें लिखी हैं। उनमें से कई एक के भाषांतर अनेक भारतीय भाषाओं में किये गए हैं। केन्द्रीय पी० ई० एन० के हम लोग धन्यता अनुभव करते हैं कि काकासाहेब १९३६ में हमारे सदस्य बने---हमारे केन्द्र के स्थापित होने के तीन ही वर्ष बाद। १९६५ में उन्होंने हमारी मानद सदस्यता स्वीकार की। एक प्रसंग मुझे अच्छी तरह याद है। हमारी ३८वीं वार्षिक सभा में काकासाहेब पधारे थे। मैं अध्यक्षा थी। उनके स्वागत में कुछ शब्द कहने के पश्चात मैंने काकासाहेब से अनुरोध किया कि वे सभा में प्रवचन करें। काकासाहेब ने कहा कि दूर परदेशों के पी० ई० एन० केन्द्रों को देखकर बड़ा आनन्द हुआ था और वहां उन्हें घर जैसा लगा था। अफ्रीका, जापान और अमरीका का उन्होंने विशेष उल्लेख किया। फिर पी० ई० एन० और उसके सदस्यों के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कर्तव्य के विषय में उन्होंने कहा कि मानवता और विश्वसाहित्य के एक-एक सच्चे केन्द्र तैयार करना, जिसमें कोई सीमाएं या संकुचितता न हों। इस आदर्श तक पहुंचने के हेतु व्यक्ति को एक सर्व-साधारण दुर्बलता पर विजय पाना होगा। वह दुर्बलता है धर्म, राष्ट्रीयता या शिक्षण के कारण उत्पन्न अहंकार की। उन्होंने आगे कहा कि कोई भी धर्म सबसे अच्छा या ऊंचा होने का दावा करके मानवता के भ्रातृत्व को ठेस न पहुंचाये। सार्वजनिक सभा में बोलते हमेशा की तरह उनकी वाणी बड़ी हृदयस्पर्शी, प्रभावकारी, सौम्य तथा तेजस्वी थी।

काकासाहेब के स्वभाव में मानवता निखर आती है। हर प्रकार के, हर स्तर के, लोगों के साथ उनके व्यवहार में सच्ची सहृदयता की ऊष्मा दिखाई देती है। उनमें महान बुद्धि के साथ सहानुभूतिपूर्ण हृदय का सुभग सुमेल पाया जाता है।

काकासाहेब के ९५वें जन्मदिन पर हम उनकी हार्दिक अभिवंदना करते हैं और उनके परिचय तथा सच्ची स्नेह-भरी मित्रता से धन्यता अनुभव करते हैं। ○

समन्वय के साधक

यशपाल जैन

□□

भारतीय संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि उसने विविधता के बीच एकता सम्पादित की है। भारत जैसे प्राचीन एवं विशाल देश में भूगोल, इतिहास, धर्म, संस्कृति, कला, भाषा, साहित्य, आचार-विचार, रहन-सहन आदि की दृष्टि से वैविध्य होना स्वाभाविक है। भारतीय संस्कृति ने इस वैविध्य को

मिटाया नहीं। इसे यथावत रखकर अपनी समन्वय-बुद्धि और कौशल से एकता के सूत्र में बांध दिया। इसी से हम कहते हैं कि भारत की आत्मा एक और अखण्ड है। जिस प्रकार संगीत के अनेक वाद्यों के पृथक-पृथक स्वरों का अस्तित्व बनाये रखकर उनमें से एकलयता साबित करना सराहनीय है, उसी प्रकार भारतीय संस्कृति की यह समन्वय-साधना अभूतपूर्व है।

जो बात देश के साथ है, वही व्यक्ति के साथ है। महर्षि टाल्सटाय ने लिखा है कि एक ही मनुष्य के अनेक व्यक्तित्व होते हैं, जिनका अपना-अपना स्वतंत्र अस्तित्व होता है। ये व्यक्तित्व अपने प्रभुत्व के लिए प्रायः आपस में टकराते रहते हैं। जीवन के संतुलित विकास के लिए इन व्यक्तित्वों के मध्य संघर्ष नहीं, समन्वय होना आवश्यक है। श्रद्धेय काकासाहेब का जीवन इसी समन्वय-साधना का ज्वलंत दृष्टांत है।

मानव-जीवन में सबसे अधिक संघर्ष बुद्धि और हृदय के बीच होता है। जिनकी बुद्धि अधिक विकसित हो जाती है, उनका हृदय-पक्ष दब जाता है। जिनका हृदय-पक्ष प्रबल होता है, उनका बुद्धि-पक्ष दुर्बल हो जाता है। काकासाहेब ने दोनों के बीच अद्भुत समन्वय साधित किया है। उनकी बुद्धि अत्यन्त प्रखर है, पर उनके हृदय की स्पन्दनशीलता भी उतनी ही प्रखर है। उनका ज्ञान असीम है, हम लोग उन्हें 'ज्ञान का विश्व-कोश' (एन्साइक्लोपीडिया ऑफ नॉलेज) कहा करते हैं, लेकिन उनका ज्ञान कभी शुष्क नहीं होता, क्योंकि उसमें उनके हृदय की सरलता और तरलता का मिश्रण होता है।

काकासाहेब के व्यक्तित्व के अनेक पहलू हैं: वे विद्वान हैं, शिक्षा-शास्त्री हैं, लेखक हैं, भाषाविद् हैं, राष्ट्रभाषा के उन्नायक हैं, सर्वधर्म समभाव के पोषक हैं, पर्यटक हैं और न जाने क्या-क्या हैं; लेकिन यदि कोई पूछे कि काकासाहेब के जीवन का कौन-सा पहलू सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है तो उसका उत्तर देना बड़ा कठिन होगा, कारण कि काकासाहेब ने किसी भी पहलू की उपेक्षा नहीं की, सारे पहलुओं को विकास का समान अवसर दिया है और उनके बीच समन्वय की वृत्ति रखी है। शरीर का प्रत्येक अंग पुष्ट होता है, तभी हम शरीर को स्वस्थ कहते हैं। एक अंग दुर्बल हो तो शरीर का विकास कुंठित हो जाता है। काकासाहेब ने जीवन के समग्र विकास के लिए सभी अंगों को भरपूर पोषण दिया है; साथ ही इस बात की साधना भी की है कि उनमें से समवेत स्वर ही फूटे। कोई भी पहलू अपना राग इस प्रकार न अलापे कि वह विसंगत जान पड़े।

काकासाहेब का जन्म उन्नीसवीं शताब्दी का है। वय की दृष्टि से कह सकते हैं कि वे पुरातन हैं, लेकिन उन्होंने पुरातन की परिधि में अपने को कभी आबद्ध नहीं होने दिया। वह सतत विकासशील रहे हैं। पुरातन को उन्होंने इसलिए स्वीकार्य नहीं माना कि वे भारत के गौरवशाली अतीत की धरोहर हैं और नूतनता को इसलिए त्याज्य नहीं ठहराया, क्योंकि वह पश्चिम से प्रभावित आधुनिक युग की देन है। पुरातन में जो अच्छा है, उसे उन्होंने निस्संकोच अंगीकार किया है और नवीनता में जो गुण हैं, उन्हें भी उन्होंने मुक्त हृदय से अपनाया है। साहित्य, संस्कृति, विज्ञान आदि-आदि की जो नवीनतम धाराएं हैं, उनका काकासाहेब को अद्यतन ज्ञान है। जब-जब उनसे चर्चाएं होती हैं तो ऐसा प्रतीत होता है, मानो आधुनिक युग का सम्पूर्ण चित्र उनके मस्तिष्क में विद्यमान है। अंग्रेजी, मराठी, बंगला, गुजराती आदि भाषाओं की कोई भी महत्त्वपूर्ण पुस्तक आती है तो काकासाहेब आज भी उसे पढ़े बिना नहीं रहते और यदि पुस्तक में मौलिक चिन्तन अथवा कोई नवीनता उन्हें दिखाई देती है तो प्रायः फोन पर या मिलने पर कहते हैं, "यशपालजी, यह पुस्तक बहुत अच्छी है। इसका रूपान्तर हिन्दी में होना चाहिए।" कहने का तात्पर्य यह कि पुरातन और नूतन के बीच वह सदा सामंजस्य बनाये रखते हैं।

इतना ही नहीं, उनकी दृष्टि अपने देश की सीमाओं तक ही सीमित नहीं रही। गांधीजी के संसर्ग, मौलिक चिन्तन और देश-विदेश की यात्राओं ने उनके दृष्टिकोण को राष्ट्रीय से अंतर्राष्ट्रीय बना दिया। अपने

देश का कोई भी भाग अथवा विश्व का कोई भी देश आज ऐसा नहीं है, जो उनके लिये पराया हो; कोई भी धर्म ऐसा नहीं, जिसके लिए उनके हृदय में आदर न हो। वह भारतीयता के उस अधिष्ठान पर खड़े हैं, जो किसी देश विशेष का अधिष्ठान नहीं है, समूची मानवता का अधिष्ठान है, जिसमें जाति, भाषा, धर्म, राष्ट्रीयता के विलगाव के लिए कोई स्थान नहीं है। वे 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के समर्थक हैं, अर्थात वे सबके हैं, सब उनके हैं।

यह महान सिद्धि व्यक्ति को तभी प्राप्त हो सकती है, जबकि उसका हृदय निर्मल हो, उसमें पूर्वाग्रह न हो और तानाशाही मताग्रह न रखता हो। काकासाहेब का हृदय निर्मल है, उनमें पूर्वाग्रह नहीं है, पर मताग्रह रहा। हिन्दुस्तानी, देवनागरी लिपि, नई तालीम आदि के विषय में उनके मताग्रह को जानते हैं, लेकिन आगे चलकर जब उनकी समन्वय-बुद्धि अधिक विकसित हुई तो उनके मताग्रह अपने आप गल गये।

काकासाहेब का सारा जीवन साधक का जीवन रहा है। साधक कभी और कहीं भी रुकता नहीं, उपनिषद की 'चरैवेति-चरैवेति' की प्रेरणा के अनुसार वह निरंतर चलता ही रहता है। उनका जीवन प्रयोगों की लम्बी कहानी है। उन प्रयोगों के कारण उनकी तीव्र-से-तीव्र आलोचनाएं हुईं, कठोर-से-कठोर आक्षेप उनपर किये गये, लेकिन काकासाहेब उनसे विचलित न हुए। जिसे सही माना, उसे लेकर निर्भीकता तथा दृढ़ता से अपने मार्ग पर अग्रसर होते गये। किन्तु आगे चलकर जब उन्होंने देखा कि देश का मानस उन प्रयोगों के लिए अनुकूल नहीं है, उन्हें ग्रहण नहीं कर पा रहा है तो उन्होंने बिना किसी कटुता के उनको इस प्रकार छोड़ दिया जैसे कोई बालक खेल-खेल में अपने हाथ के खिलौने को पटक देता है।

व्यक्ति के लिए सबसे कठिन काम अपने आग्रह को छोड़ना होता है; क्योंकि आग्रह के साथ उसका अहंकार जुड़ जाता है और वह उसके लिए मान-अपमान का प्रश्न बन जाता है। काकासाहेब के लिए छोटे-से-छोटा या बड़े-से-बड़ा मसला कभी मान-अपमान का प्रश्न बना हो, ऐसा एक भी प्रसंग मुझे याद नहीं आता।

संसार का कोई भी देश कदाचित ऐसा बचा हो, जहां काकासाहेब न पहुंचे हों। संयोग से उन अनेक देशों में जहां काकासाहेब हो आये हैं, मुझे भी जाने का अवसर प्राप्त हुआ है। उन देशों के निवासी आज भी काकासाहेब को याद करते हैं, उनके दृष्टिकोण की व्यापकता, उनके हृदय की विशालता, उनकी ओजस्वी वाणी और प्रेम-भरे शब्दों की इतनी गहरी छाप उन लोगों के हृदय पर पड़ी है कि वे काकासाहेब के आगमन की आज भी उत्सुकता से बाट जोहते हैं।

काकासाहेब चिर-प्रवासी हैं। इतनी अवस्था तक प्रवास उनके लिए आनंददायक है। अपनी पुस्तक 'परम सखा मृत्यु' में उन्होंने बड़े पते की बात लिखी है, लोग पूछते हैं, "अपनी दीर्घायुता का कारण बताइये। आज भी आप सतत कर्मशील हैं, लगातार मुसाफिरी करते रहते हैं, तनिक भी अप्रसन्न या थके हुए मालूम नहीं होते, इसका क्या कारण है ?"

"अपने बारे में कोई बड़ा दार्शनिक या गंभीर जवाब देना मेरे लिए रुचिकर नहीं है। मैं चिर-प्रवासी तो हूं ही। इसका लाभ लेकर मैंने विनोद में कहा, जवाब आसान है। मैंने मृत्यु का चिन्तन तो काफी किया है, लेकिन मृत्यु की चिन्ता मैं नहीं करता। अब ये दो मेरे पीछे पड़े हैं, मुझे पकड़ना चाहते हैं, एक है 'बुढ़ापा' दूसरा है 'मृत्यु'। ये दोनों काफी थके हुए हैं, पर पीछे तो पड़े ही रहते हैं। मुझे लेने कहीं पहुंच जाते हैं और लोगों से पूछते हैं कि फलां आदमी कहां है ? लोग कहते हैं, 'अभी कल यहां थे, लेकिन पता नहीं यहां से कहां चले गये।' दरियाफ्त करके, मेरा पता पाकर, नये स्थान पर हांफते-हांफते मुझे लेने पहुंचते हैं। वहां पर भी उन्हें वही अनुभव होता है। लोग कहते हैं, 'आपने थोड़ी-सी देरी की। अभी यहां पर थे, लेकिन पता नहीं, यहां से कहां चले गये।'"

आगे काकासाहेब कहते हैं, जब तक मेरी जीवन-यात्रा तेजी से चलती है, 'बुढ़ापा' और 'मौत' मुझे पा नहीं सकते।

इन प्रवासों ने काकासाहेब को जहां दीर्घायु प्रदान की है, कर्मठ बनाया है, प्रकृति के साथ उनका अभिन्न नाता जोड़ा है, वहां मानव और प्रकृति के समन्वय का अवसर भी प्रदान किया है। अपनी रचनाओं में जब काकासाहेब प्रकृति का संगीत सुनाते हैं तो मानो मानव के हृदय का संगीत भी स्वतः ही प्रस्फुटित हो उठता है। इसी से काकासाहेब के प्रवास-वृत्तान्त जहां प्राकृतिक सौंदर्य के सजीव चित्रों से पाठकों को विभोर कर देते हैं, वहां उन चित्रों में मानव-हृदय का छलछलाता स्पन्दन उन्हें अलौकिक आनंद से सराबोर कर देता है।

कहते हैं, यह संसार आदान-प्रदान पर चलता है। जितना हम लेते हैं, उतना हमें देना ही पड़ता है; पर काकासाहेब हैं कि जीवन-भर देते रहे हैं, भर-भर हाथों देते रहे हैं, और लेने के अवसर पर उन्होंने सदा अपने हाथ पीछे खींच लिये हैं। उनके अंतर का स्रोत आज भी भरा-पूरा है तो उसका रहस्य यही है कि उन्होंने जितना दिया है, उसका शतांश भी लिया नहीं है। यही कारण है कि सौ के निकट पहुंचकर भी उनमें तरुण जैसा उत्साह और उमंग है।

काकासाहेब के लिए कोई भी काम छोटा या बड़ा नहीं है। वह प्रत्येक कार्य को पूजा की भावना से करते हैं। पढ़ने-लिखने का ढंग, रहन-सहन की कला, वक्तृत्व-शैली जैसी चीजें तो कोई उनसे सीख सकता है, तो यह भी शिक्षा ले सकता है कि कम-से-कम साबुन में और कम-से-कम पानी में कपड़े किस प्रकार साफ धोये जा सकते हैं और कम-से-कम स्थान में अधिक-से-अधिक सामान किस प्रकार व्यवस्थित रूप में रक्खा जा सकता है। यद्यपि वृद्धावस्था के कारण अब उनका शरीर कुछ थक गया है, कान से सुन नहीं पाते, स्मरण-शक्ति काफी क्षीण हो गई है, फिर भी उनके जीवन की कला-पूर्ण व्यवस्थितता आज भी बनी हुई है।

बहुत वर्ष पहले का एक प्रसंग मुझे याद आता है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन में भाग लेकर हम लोग शिमला से लौट रहे थे। काकासाहेब भी तीसरे दर्जे के डिब्बे में हमारे साथ थे। बोले, "जानते हैं, तीसरे दर्जे को पहले दर्जे का डिब्बा कैसे बनाया जा सकता है ?" मैंने कहा, "नहीं।"

तब उन्होंने दरी को तह करके सीट पर बिछाया, उसपर कम्बल बिछाया और फिर चादर बिछाई। सीट गुदगुदी हो गई। जिस सुरुचिपूर्णता और व्यवस्थितता से काकासाहेब ने उस काम को किया, उसकी छाप आज तक मेरे मन पर बनी हुई है। जो जीवन की कला जानते हैं, उनके लिए परिग्रह की आवश्यकता नहीं है। वे तो अपरिग्रह को ही वैभवशाली बना देते हैं, सादगी को गरिमा प्रदान कर देते हैं।

काकासाहेब की इक्यासीवीं वर्षगांठ पर उन्हें अर्पित करने के लिए हम लोगों ने जो ग्रंथ तैयार किया था, उसका नाम 'संस्कृति के परिव्राजक' रखा था। आज उनकी ९४वीं वर्षगांठ के मंगल अवसर पर 'समन्वय के साधक' की संज्ञा से विभूषित करके मेरा मन अधिक आनन्द का अनुभव कर रहा है। अपने विनम्र प्रणाम अर्पित करते हुए मैं प्रभु से कामना करता हूं कि काकासाहेब अभी अपने जीवन के अनेक हरे-भरे वसंत देखें और हमें उनसे नित नई प्रेरणाएं प्राप्त करने का सौभाग्य मिलता रहे। ○

गुजरात विद्यापीठ में

सुंदरम्

□□

भूतकाल हमेशा सुवर्ण युग-सा प्रतीत होता है। १९२४ में जब मैं विद्यापीठ में दाखिल हुआ, तब उसकी स्थापना के चारेक वर्ष ही व्यतीत हुए थे। इतने समय में कई अध्यापक आ-जा चुके थे। हम जब उस भूतकाल की बातें सुनते तब हमें लगता था कि बहुत-सी उत्तम चीजो से हम वंचित रह गये। हमारा युग हमें सुवर्णयुग-सा नहीं मालूम होता था, किन्तु कई बातें, जिनकी स्वल्प इच्छा की हो, किन्तु अकल्पित प्रचुर परिमाण में मिल जाती हैं, ऐसा काकासाहेब के बारे में हुआ।

प्रथमा के वर्ग में संस्कृत विषय सिखाते समय उपनिषद् पाठावली के अध्ययन के साथ काकासाहेब का प्रथम परोक्ष समागम हुआ। इस पुस्तक के संपादकों में भी वह थे, ऐसा स्मरण है। सत्यं वद। धर्मं चर। आचार्य देवो भव। यान्यस्माकं सुचरितानि तान्येव त्वयोपासितव्यानि, नो इतराणि, नो इतराणि। यद् भूमा तत् सुखम् , नाल्पे सुखमस्ति। जीवन की प्रारम्भिक अवस्था में ही उपनिषदों के इन महावाक्यों का प्रथम परिचय हुआ। ऐसे परम गहन सत्य जिनमें हैं, वे उपनिषद् ग्रंथ कैसे होंगे, इन ग्रंथों में से हमारे लिए चुन-चुन कर उत्तम पाठावली तैयार करने वालों की विद्वत्ता कैसी होगी ? उनका स्वभाव कैसा होगा ?...ऐसे विचार मुझे आते रहते। काकासाहेब के बारे में ज्यादा जान लेने की उत्कंठा होने लगी।

किन्तु उस समय काकासाहेब विद्यापीठ में थे नहीं। 'साबरमती' द्वैमासिक की फाइल देखते-देखते उसमें विद्यापीठ के कई पुराने अध्यापकों की छवियां देखने को मिलीं। उनमें काका की छवि थी या नहीं, याद नहीं। काकासाहेब की जो पहली छवि मेरे सामने आयी, वह है हिमालय के प्रवासी की—भरी हुई दाढ़ी वाले काकासाहेब का चित्र। उनके 'हिमालय के प्रवास' में ही शायद वह रखी गयी थी।

काकासाहेब हमारे तीसरे आचार्य थे। गिडवानी के बाद कृपालानी आचार्य होकर आये, तब वह राज्य-परिवर्तन सौम्य शान्ति-पूर्वक हुआ था। कृपालानी के पश्चात् आचार्य के तौर पर काकासाहेब आये तब वह युगक्रान्ति कुछ अलग तरीके से हुई। जाते समय कृपालानी ज़्यादा लोकप्रिय बने थे। गुजरात कालेज की हड़ताल को सफल करने में उनके नेतृत्व का अच्छा सहयोग था। सारे गुजरात के युवा वर्ग को उन्होंने मुग्ध किया था। विद्यापीठ में उनका विदाई-समारोह अकल्प्य भव्यता से मनाया गया। उत्साह और विषाद के तीव्र आरोह-अवरोह की ऐसी भूमिका पर काकासाहेब का विद्यापीठ में आगमन हुआ।

उनके आने के बाद तो युग ही पलटने लगा। तंत्र हाथ में लेने के बाद काकासाहेब ने हमें पहला सबक दिया—स्वतंत्रता और अतंत्रता के बीच के भेद का। विद्यापीठ के तंत्र में अधिक स्वच्छता, अधिक सुव्यवस्था और अधिक कर्मशीलता लाने का लक्ष्य था।

नई विधियां और नये निषेध आने लगे। हम सब विद्यार्थी अपना कचरा —दतौन के टुकड़े, कागज के टुकड़े, जूठा पानी इत्यादि पीछे अपनी खिड़कियों में से यथेच्छ फेंकते थे। काकासाहेब ने आकर कचरापेटियां रखवा दीं और उसी में कचरा डालने का उपदेश दिया। खिड़की में से कचरा फेंकने की क्रिया के लिए उन्होंने 'ओकना' या 'कै करना' शब्द का प्रयोग किया था। वह मेरे मन में चिपक गया। किन्तु हम ऐसे तुरन्त मान जाने वाले थोड़े थे। काकासाहेब के विधि-निषेध उमंग से अपनाने वाले विद्यार्थियों में एक थे अमृतलाल नाणावटी। हमारे दुराग्रह के विरुद्ध नाणावटी सक्रिय सदाग्रह करते। काकासाहेब के सदुपदेश के बाद भी सुबह-सुबह हम दतौन के टुकड़े खिड़की में से बाहर फेंक देते, तब एक टोकरी लेकर नाणावटी उनको उठाने निकल

पड़ते ! बाद में हम भी यह सबक सीख गये।

छात्रालय के विद्यार्थी जी चाहे वहां अपने कपड़े सुखाने डालते और महाविद्यालय के चलते समय लहराती धोतियों का दृश्य बहुत रम्य तो नहीं ही था। काकासाहेब ने अपने-अपने कमरों में ही कपड़े सुखाना हमें सिखाया। उसके लिए ऊपर छत पर खास व्यवस्था भी करवा दी। उनके आने के बाद पेशाबघरों की हालत सुधर गयी। शौचालयों में उपयोग के बाद मिट्टी डालने की व्यवस्था हो गयी। रसोईघर में भी काफी सुधार हुआ, जिससे खर्चा भी कम हुआ।

काकासाहेब ने आकर पाठ्यक्रम में उद्योगों को सम्मिलित किया और कताई को नियमित और अनिवार्य बनाया। इसके लिए उनको काफी मेहनत करनी पड़ी होगी, किन्तु कुल मिलाकर उद्योग हमें—खासकर मुझे तो—काफी अच्छे लगे थे। बढ़ई के काम और बुनाई के लिए नये शिक्षक आये।

विद्यापीठ में प्रतिदिन प्रार्थना होती। बाद में वर्ग शुरू होते। काकासाहेब आये उसके बाद प्रार्थना के संगीत में उनके प्रवचन शामिल हुए और कुछ समय बाद हरेक ने कितने तार काते, उसका हिसाब भी शुरू हुआ।

अहमदाबाद में गांधीजी के कार्य का कृपालानी ने तीन तरह से वर्गीकरण किया था—आश्रम, विद्यापीठ, और सरदार की म्युनिसिपॅलिटी। आश्रम था कठोर तपोभूमि। गांधीजी के कार्य को ठोस भूमिका पर मूर्त्त करने का काम सरदार करते थे। विद्यापीठ में संसार और तपोवन दोनों का समन्वय था। तदुपरान्त बुद्धिस्वातंत्र्य की विशाल पीठ-भूमिका पर शुद्ध संस्कार की उपासना था। काकासाहेब के आते ही जैसे विद्यापीठ पर आश्रम का आक्रमण होता दिखाई दिया। उद्योग की हिमायत में बुद्धि की तराजू मानो हल्की मानी गई। यह बात अगरचे बिल्कुल सच्ची तो नहीं थी, किन्तु बुद्धि-स्वातंत्र्य के ऊपर मर्यादा तो अवश्य आ गयी। विद्यापीठ के द्वैमासिक 'साबरमती' और हस्तलिखित 'पंचतंत्र' दोनों पर सेन्सरशिप लागू हो गयी। विद्यार्थियों की सभा आचार्य के कड़े आधिपत्य में आयी। पुस्तकालय में से हेवलॉक एलिस की पुस्तकों को उठाकर अदेय विभाग में रख दिया गया और मॅकफॅडन के 'फिजिकल कल्चर' मंगवाना बंद हुआ।

इस सारी नयी व्यवस्था को चाहे कैसी मानें, समय बीतने पर मनुष्य को हर चीज की आदत हो जाती है और विपरीत लगने वाली परिस्थिति भी विकास के लिए पोषक बनती है। सेन्सरशिप के बंधन में आई हुई 'साबरमती' का मैं पहला संपादक था और मेरे दिमाग में अब तक स्वतंत्रता की धुन थी। मासिक का लेख दिखाया तो क्या और न दिखाया तो भी क्या, ऐसी शिथिल मनोवृत्ति से मैंने कुछ लेख सेन्सर को बिना बताये ही छपवा दिये। फिर क्या था ! काकासाहेब की कठोरता का मुझे पहला अनुभव हुआ। छपे हुए लेखों में से एक में अहिंसा के विरुद्ध माना जाय, ऐसा कुछ था। वह भी लेखक की कलम भूल ही थी। मैंने काकासाहेब से कहा, "शुद्धि-पत्र में सुधार देंगे या फिर उस पर स्याही छपवा देंगे।" ऐसा न करने का काकासाहेब का खंडन मुझे चमत्कारी लगा। उन्होंने कहा, "आप कुछ भी करें, किन्तु पढ़ने वाले का ध्यान उससे खिंचेगा। और कुछ अनिष्ट की आशंका उसके मन में रह जायेगी।" अपने इस तर्क से उन्होंने मुझे बिल्कुल जीत लिया। उनकी आज्ञा से मैंने वह पूरा पन्ना फिर से छपवाया।

काकासाहेब के विधि-निषेधों की धीरे-धीरे आदत हो गयी। हम सब उत्साह से कातने लगे, उद्योग के समय में लकड़ी तराश कर चीजें बनाते, प्रार्थना के बाद उनके प्रवचन सुनते और खादी के तारों का हिसाब भी करवाते। कला पर नीति की, नये आचारों की विजय ही कहलायेगा।

हमारे अभ्यासक्रम के उपरांत उन्होंने कई खास वर्ग शुरू किये। कृपालानी भी वैसा करते थे। इस तरह उनके पास से हमने 'इन मेमोरियम' और रामकृष्ण के वचनामृत सीखे थे। श्री रामकृष्ण के वचनों से भी

अधिक प्रभाव श्री रामकृष्ण के प्रति कृपालानी के भक्तिभाव का हुआ था। काकासाहेब ने राधाकृष्ण का 'दि हिन्दू व्यू ऑफ लाइफ', 'मॉडर्न सिम्पोजियम', 'लेटर्स ऑफ जॉन चाइनामैन' इत्यादि पुस्तकें हमारे साथ पढ़ीं। कलाविषयक भी कई व्याख्यान उन्होंने दिये। उन सबमें से मुझे कई बिल्कुल नई बातें ज्ञात हुईं। किन्तु उन व्याख्यानों में से मिली हुई जानकारी से अधिक व्याख्यानों के अंत में जिस वृत्ति-विकास का मैंने अनुभव किया वह मुझे आज ज्यादा कीमती मालूम होता है। काकासाहेब में भी विद्वत्ता है, यह उनके व्याख्यानों में देख सका। उनके प्रति और जिनकी पुस्तकें वे बहुमान से पढ़ते, उन लेखकों के प्रति मेरा आदर बढ़ने लगा।

हम लोग खूब शरारत किया करते थे। हमारी इन शरारतों के बारे में काकासाहेब बेशक जानते होंगे, किन्तु कुछ कहते नहीं थे। किन्तु एक दिन हद हो गयी। प्रदर्शन तो हमेशा के जैसा ही था, हास्य विनोद भी हमेशा के जैसा था। कमरे के आसपास हम प्रदर्शन का फायदा उठा रहे थे। इतने में काकासाहेब बड़े गंभीर होकर नीचे उतर आये। हम सब शान्त हो गये। अकल्पनीय संयम और गांभीर्य से उन्होंने कहा, "आज रमणभाई का देहान्त हुआ है, ऐसा विनोद आज आपको शोभा नहीं देता!" और तब से हमारी शरारतें सदा के लिए समाप्त हो गईं। काकासाहेब के व्यक्तित्व का बड़ा गंभीर प्रभाव मेरे मन पर पड़ा।

विद्यार्थियों का दंगा कहा जा सके ऐसा एक छोटा-सा प्रसंग याद आता है। उस समय जिस दक्षता से काकासाहेब ने काम लिया, वह मुझे बराबर स्मरण है। बारडोली का सत्याग्रह चल रहा था। विद्यापीठ के कई विद्यार्थी उसमें भाग लेने गये हुए थे। शहर में बारडोली-दिन मनाया जा रहा था और सर्वत्र हड़ताल थी। हमने भी छुट्टी की मांग की। ऐसी हड़ताल की मांग विद्यापीठ में शायद यह प्रथम ही थी। काकासाहेब ने प्रवचन में समझाया, "अन्य शाला के विद्यार्थी और विद्यापीठ के विद्यार्थी समान कक्षा के नहीं हैं। सरकार और राष्ट्र के बीच जो गज-ग्राह चल रहा है उसमें सरकार के पक्ष में खड़े लोग अपनी पकड़ ढीली कर सकते हैं। सरकारी शिक्षा लेने वालों को हड़ताल करना जरूरी है। हम तो सरकार के विपक्ष में हैं। हम पकड़ ढीली नहीं कर सकते। हमें तो अधिकाधिक जोरों से खींचना चाहिए।" इसके बाद हमने छुट्टी की मांग छोड़ दी।

तत्पश्चात् बारडोली का अभिनंदन करने वाला एक काव्य लिखकर काकासाहेब के पास मैं ले गया। उसमें 'लड़ते रहो, जूझते रहो' ऐसी पंक्ति थी। यह सुनकर काकासाहेब ने जरा-सी टीका की, "हां, उसको कहो 'तुम लड़ो, खतम हो जाओ, और हम यहां बैठे-बैठे तुम्हारी कविता करेंगे! ऐसा ही न?" उनकी बात मेरे ध्यान में आ गयी। मैंने कहा, "नहीं, ऐसा तो ख्याल भी हमें नहीं हो सकता।" और 'हम सब साथ लड़ेंगे, जूझेंगे' इस तरह की पंक्ति मैंने बनायी।

सब विद्यार्थियों का विकास करने के लिए काकासाहेब ने बहुत प्रवृत्तियां शुरू कीं। रात को तारा-दर्शन कराने लगे। यह मुझे बहुत पसंद था। जाड़े की ठिठरती रात में हम छत पर जाते। ठेठ पैरों तक पहुंचने वाले गरम ओवरकोट पहनकर काकासाहेब आते थे और तारों का परिचय करवाते थे। मैंने पहली बार तारों को पहचाना—और साथ ही साथ काकासाहेब कोट पहने जितने अर्वाचीन हैं, यह देखकर खुशी भी हुई।

पता नहीं यह कैसे हुआ, लेकिन काकासाहेब के साथ मैंने रवीन्द्रनाथ टैगोर की 'साधना' पढ़ने का प्रारम्भ किया। हम दो ही पढ़ने बैठते। काकासाहेब के सान्निध्य का यह मेरे लिए उत्तम प्रसंग था। जितना 'साधना' के सौन्दर्य के बारे में, जगत के शाश्वत ऋत के बारे में कई चित्र और दृष्टांत मुझे बहुत आकर्षक मालूम हुए थे; किन्तु टैगोर की वह 'साधना' किंवा काकासाहेब की साधना मेरी प्रकृति के अधिक अनुकूल न थी। जो हो, हमारी 'साधना' पूरी हुई। किन्तु उसमें से मैं एक बात सीखा, जो अभी याद है। मैं पढ़ता तब

काकासाहेब मेरे उच्चारण सुधारते। उसमें ट्रुथ (सत्य) का उच्चारण लघु स्वर का है, यह मैं सीखा।

जो बात 'साधना' से सिद्ध न हो सकी वह अनायास सिद्ध हो गयी। काकासाहेब वैसे तो कला-भक्त थे, फिर भी वे संयम प्रधान शुष्क रस वृत्ति के हैं, ऐसी छाप मुझ पर थी। एक समय हम दो-तीन विद्यार्थी उनके पास बैठे थे हममें से एक ने बहुत दबा-दबाकर सिर के बाल बनाये थे। काकासाहेब ने हंसकर कहा कि इन बालों को इस तरह कैद कर रखा है, यह अच्छा नहीं है। उनको जरा मुक्त रखिये। स्वयं बाल न रखते हुए भी बाल रखने में उनको कोई एतरात नहीं, बल्कि बाल किस तरह अच्छे लगेंगे, यह भी समझाते हैं, यह देखकर मुझे खुशी हुई।

विद्यापीठ के चार वर्ष पूरे करके मैं वतन गया। अब मानों सनातन छुट्टियां शुरू हो रही थीं। भविष्य में क्या करना, उसका विचार आकर अटक जाता। गरमी की एक दोपहर को मैं कुएं पर स्नान कर रहा था तब मेरा छोटा भाई एक पत्र ले आया। वह काकासाहेब का था। आपने सोनगढ़ गुरुकुल को मुझे सौंपा था। अध्यापक के रूप में वहां मेरी नियुक्ति हुई थी। और शामलदास भाई के साथ मुझे वहां जाना था। मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हुई। काकासाहेब ने मुझे ठिकाने लगा ही दिया! औरों के साथ आप्तभाव से भरा उनका वर्तन देखकर मुझे ईर्ष्या रहती थी, वह अब चली गयी। मुझे क्या पता था कि काकासाहेब मेरे लिए कैसा आप्तभाव रखते हैं?

सोनगढ़ में मैंने एक वर्ष बिताया। नया-नया शिक्षक था। मुझे काफी मुश्किलें आतीं। काकासाहेब उन मुश्किलों का निराकरण सुझाते। १९३० के सत्याग्रह में मैंने जंबुसर तालुका में काम करके अपना योग-दान दिया। गांधी-इर्विन करार होने पर अब मेरे सामने प्रश्न था—क्या करना? शान्तिनिकेतन हो आने का कुछ विचार था। अहमदाबाद गया, तब काकासाहेब से मिला। बातों-बातों में मैंने अपने भावी कार्यक्रम की सूचना उन्हें दी। एकाध क्षण रुककर उन्होंने मंद स्मित के साथ कहा, "मैं नहीं मानता कि आपको वहां जाने की आवश्यकता है। विद्यापीठ ने आपको क्या काम दिया है?" ऐसे जवाब की मैं कल्पना भी नहीं कर सकता था। किन्तु काकासाहेब के उस एक वाक्य से शान्तिनिकेतन जाने की मेरी वृत्ति पलट गयी। अपूर्णता का भास पिघल कर विशेष तृप्ति का अनुभव मैंने किया। काकासाहेब के अनेक प्रवचनों से मैंने जो नहीं पाया, वह उनके एकाध वाक्य से बहुत बार प्राप्त किया।

उपनिषद् पाठावली से आरम्भ होने वाला मेरा परोक्ष परिचय इस तरह सघन आत्मीयता में परि-णत हुआ। काकासाहेब के आसपास वह उपनिषद् काल का और उससे भी विशेष सुसंस्कृत युग का कुछ अर्वाचीनता से मिश्रित मधुर वायुमंडल बना रहता है। उन्होंने मुझे स्वायत्त परिपूर्णता की जो दीक्षा दे दी, वह कितनी महान थी, उसका पूरा विचार उनको भी शायद नहीं होगा।

काकासाहब शिक्षा के कलाकार कहलाते हैं। किसी भी तत्व का संक्रमण उत्तम तरह से तभी हो सकता है जब उसके लेने वाले और देने वाले अपने मुक्त अन्तःकरण को सर्वभाव से उन्मुख करके एक-दूसरे की ओर अभिमुख होते हैं। उस स्थिति में एकाध वाक्य, एकाध शब्द, एकाध दृष्टिपात भी भारी काम कर देते हैं। काकासाहेब के पास यह मेरी सच्ची उप-नि-षद् थी। ○

जीवन-समन्वय

कुमारी सरोजिनी नाणावटी

□□

पूज्य काकासाहेब के प्रथम दर्शन मुझे करीब इकतालीस वर्ष पहले १६३८ में हुए—मेरी अभिन्न-हृदय मुस्लिम बहन कुमारी रेहानाबहन तैयबजी द्वारा।

जैसे-जैसे मैं काकासाहेब के नजदीक आई, मैंने देखा कि समन्वय उनकी प्रधान जीवन-साधना है। उसके मूल में है आस्तिकता। मनुष्य में श्रद्धा, उसकी भलाई में श्रद्धा, बहुत गिरे हुए मनुष्य में भी निहित, सुप्त शुभवृत्ति पर की श्रद्धा और हरेक के साथ आत्मैक्य का अनुभव करने की उत्कट इच्छा।

बहुत छुटपन में एक हरिजन-बालक के साथ काकासाहेब (दत्तु) खेल रहे थे। घर के किसी बड़े ने देख लिया। वहीं आंगन में खड़े उनको सिर-पर से स्नान करवाया और फिर घर में लिया। छोटे-से दत्तु के मन को बड़ी ठेस लगी। अपने जैसे ही लड़के को छूने पर स्नान क्यों करना पड़े? आगे चलकर जब स्कूल जाने लगे तब शाला के वार्षिकोत्सव-समिति के वे मंत्री नियुक्त हुए। सम्मेलन में उन दिनों रिवाज था कि भोजन के समय विद्यार्थी पंक्ति में बैठते थे तब पहले ब्राह्मण लड़के फिर अन्य हिन्दू लड़के और अन्त में गैर-हिन्दू लड़के बैठते थे। परोसने का आरंभ हमेशा ब्राह्मण लड़कों से शुरू होता था। पंक्ति के अन्त तक पहुंचते खाना ठंडा हो जाता था।

दत्तात्रेय ने कहा, "ऐसा मैं बिलकुल नहीं चलने दूंगा। खाना परोसने का काम पंक्ति के दोनों छोरों से, बारी-बारी से शुरू होगा। किसी के प्रति अन्याय या तिरस्कारयुक्त बर्ताव मैं सहन नहीं करूंगा।" तबसे यह सुधार हो गया और लड़कों में ऐसा भेद-भाव अप्रतिष्ठित हो गया।

जब कालेज में आये तब-तक तो काफी चिंतन-मनन हो चुका था और संकल्प-पूर्वक समन्वय की राह काकासाहेब ने ली थी। जो दूर के हों—अकेले हों उनको खास अपनाना यही उनकी वृत्ति थी। इसीलिए जब तेजस्वी जीवतराम कृपालानी को सिंध के कालेज से और बाद में बंबई के विल्सन कालेज से निकलना पड़ा और वे पूना की फर्ग्युसन कालेज में दाखिल हुए, तब काकासाहेब ने उनसे जान-पहचान करके दोस्ती बढ़ाई। और तबसे आज तक वह दोस्ती निभाई है।

कालेज शिक्षा पूरी करने के बाद काकासाहेब कुछ दिन के बाद बड़ौदा गये और वहां के राष्ट्रीय गंगनाथ विद्यालय के आचार्य बने। वहां महाराष्ट्री लड़के गुजराती ब्राह्मण के हाथ का पकाया भी नहीं खाते थे। यह रिवाज सर्वमान्य था। किन्तु यह बात काकासाहेब को कैसे सहन होती! हिम्मतपूर्वक उन्होंने गुजराती ब्राह्मण को रसोई करने के लिए रखने का तय किया—करीब सब विद्यार्थी और शिक्षक विद्यालय छोड़ जाने को तैयार हो गये। फिर भी काकासाहेब नहीं डिगे। धीरे-धीरे एक-एक करके सब विद्यार्थी वापस आ गये।

जब गंगनाथ विद्यालय बन्द हो गया और दूसरी कोई राष्ट्रीय सेवा करना शक्य नहीं था, तब काकासाहेब हिमालय की यात्रा को निकले। उस ढाई साल की पैदल यात्रा में उन्होंने श्री रामकृष्ण मिशन के मूर्धन्य लोगों से बहुत नजदीकी व आत्मीयता बढ़ाई। उन्होंने काकासाहेब को दीक्षा लेने का सुझाया था। दीक्षा तो नहीं ली किन्तु अपने को रामकृष्ण भक्त मानने लगे और रामकृष्ण मिशन के लोग भी उनको 'रामकृष्ण बॉय' मानते थे।

हिमालय जाकर वहां गहरी साधना की। देश की स्वतंत्रता का उत्कट ख्याल ही उनको हिमालय से

वापस ला सका। वापस आने के बाद कुछ समय सनातनी ऋषिकुल में मुख्य अधिष्ठाता रहे। वहां रहते हुए गुरुकुल के आर्य-समाजी लोगों से उनका प्रेमादर का सम्बन्ध रहा। जो उन दिनों करीब असंभव-सा माना जाता था।

बाद में कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शान्तिनिकेतन में पहुंचे। वहां कविवर ने थोड़े ही दिनों में संस्था के आजीवन सदस्य का पद लेने का आग्रह किया।

अपना हृदय तो कविवर को दे ही चुके थे। एक विभाग का व्यवस्थापकपद लेने की भी करीब-करीब स्वीकृति दी थी, कि इतने में १९१५ में गांधीजी—कर्मवीर गांधी दक्षिण अफ्रीका से भारत पधारे। गांधीजी स्वयं विलायत होकर आये। उनके फीनिक्स आश्रम के लोग कुछ महीने पहले ही शान्तिनिकेतन में आकर रहे थे। उनके साथ काकासाहेब धुल-मिल गये। उन्हीं के साथ खाना-पीना, प्रार्थना करना—इत्यादि चला। बल्कि सुबह की प्रार्थना तो काकासाहेब ने ही बनाकर शुरू कर दी थी। बापूजी आये। उनसे काकासाहेब की काफी चर्चाएं हुईं और काकासाहेब को बापूजी पर पूरा विश्वास बैठ गया। जब बापूजी ने काकासाहेब को अपने आश्रम में आने का आमंत्रण दिया, काकासाहेब ने कविवर से पूछा। उनसे आज्ञा लेकर गांधीजी के आमंत्रण को सहर्ष स्वीकार किया और अपने कुछ काम निपटाकर यथाशीघ्र वे आश्रम में पहुंचे।

उस समय आश्रम में एक बड़ा उत्पात-सा मचा हुआ था।

ठक्कर बापा ने एक हरिजन परिवार को बापूजी के पास भेजा। सारे समाज का और अपने लोगों का विरोध सहन करके भी बापूजी ने उस परिवार को प्रेम से अपनाया। पति-पत्नी और छोटी-सी पुत्री लक्ष्मी थे उस परिवार में। बरसों के साथी बापूजी की इस बात को सहन न कर सके। कई लोग आश्रम छोड़कर चले गये। कई लोग सिर्फ फलाहार पर रहने लगे। उनका कहना था कि अफ्रीका जैसे परदेश में तो यह सब ठीक था, किन्तु अपने समाज में यह कैसे चल सकता है।

उसी समय काकासाहेब अपनी पत्नी और दो पुत्रों को लेकर आश्रम में आये और आनंद से सबसे मिल-जुलकर रहने लगे।

आश्रमशाला में हिन्दू-मुस्लिम, हरिजन हर तरह के बच्चे थे ही।

कुछ साल बाद जब बापूजी के आदेश से काकासाहेब गुजरात विद्यापीठ चलाते थे तब उन्होंने देखा कि ब्राह्मण रसोई करनेवाले, संस्था के चौके में किसी को आने नहीं देते थे। उनका विरोध करने से पहले काकासाहेब ने बाकायदा डबल रोटी बनाने का तरीका सीख लिया, उसके लिए भट्टी बनवाई और फिर नियम किया कि रसोई में जाने की किसी को मनाई नहीं होगी।

आश्रम में इमामसाहेब की बेटी आमिना अपने को पूज्य काकासाहेब की बेटी मानने लगी। काकासाहेब के रसोई घर में जाकर उनके साथ काम करने लगी थी। अपने यहां कोई अच्छी चीज बनी हो तो ले आती थी। बिलकुल एक परिवार का वातावरण था।

विद्यापीठ में काकासाहेब ने अलग-अलग धर्म के मूर्धन्य जानकारों को बुलाकर सब धर्मों का गहरा अध्ययन शुरू करवाया। बौद्धधर्म के विश्व-विख्यात पंडित श्रीधर्मानंद कोसंबी, जैन-धर्म के प्रखर ज्ञाता पंडित सुखलालजी और पंडित बेचरदासजी जैसे निष्णातों को इकट्ठा किया। इस तरह से धर्म-समन्वय का काम चला। एक जेल यात्रा में काकासाहेब ने मशहूर मौलाना मदनी से कुरान-शरीफ का अध्ययन किया। यह मौका काका साहेब ने अच्छी तरह कमाया था। इस जेल-यात्रा में जेलवालों ने मुस्लिम कैदियों को अजां देने की मनाई कर दी यह कहकर कि आप बहुत बड़ी आवाज में अजां पुकारते हैं, उससे अन्य कैदियों को तकलीफ होती है। हर नमाज के वक्त अजां देकर लोगों को नमाज के लिए जाग्रत करना यह उनका अनिवार्य धार्मिक तरीका माना

गया है। मनाई होने पर सब मुस्लिम कैदियों ने उपवास शुरू किये। उनके साथ सहानुभूतिपूर्वक काकासाहेब ने भी उपवास किये। काकासाहेब के उपवास के कारण ही सरकार ने मनाई हुकुम हटाकर अजां की इजाजत दे दी किन्तु जेल में उपवास करने के गुन्हा की शिक्षा भी दी। सबको एकत्र रखा और पढ़ने-लिखने की सहूलियत बंद कर दी। उस समय मौलाना हुसैन अहमद मदनी के साथ काकासाहेब ने सारा पवित्र कुरान पढ़ा और इस्लाम का मर्म समझ लिया।

बाइबल का अध्ययन भी काकासाहेब ने किया है। जब मौका मिलता है तब चर्च में, या मस्जिद में या गुरुद्वारे में बैठकर प्रार्थना करते काकासाहेब को बड़ा आनंद आता है।

काकासाहेब के साथ भारत-भर में और देश-विदेशों में प्रवास करने का सौभाग्य मुझे मिला है। हमने अपने देश के श्री शाह सलीम चिश्ती ख्वाजासाहेब की दरगाह जैसे अनेक पवित्र स्थानों में और ईजिप्ट, अफीका और वेस्टइन्डीज तक की मस्जिदों में कुरान-शरीफ का पहला सूरा (अध्याय) अल् फातिहा पढ़ा है। जर्मनी, फ्रांस, इंगलैंड, अमरीका के जग विख्यात चर्चों में और कथीड्रलों में बैठकर ईशु भगवान का ध्यान किया है। अमृतसर के सुवर्ण मंदिर जैसे अनेक गुरुद्वारों में पवित्र ग्रंथसाहेब सुना है। और भव्यातिभव्य मंदिरों में भी प्रार्थना की है। काकासाहेब को मैंने हर जगह पर एक ही तरह ध्यान-मग्न होते देखा है।

काकासाहेब के अंगत संबंधों में भी सब देश के सब धर्म के लोग हैं। उनको पिता तुल्य मानने वालों में से किस-किसकी याद करूं ! जापान की कात्सु, युकीको, ओकामोतो दम्पति, भाई कोंकी नागा इत्यादि कैनेडा के मीआ और क्लाउस, एलीज वगैरा अमरीका के स्नेही नाइल्स दम्पति, स्वर्गीय मार्टिन ल्यूथर किंग, और कितने सारे स्नेही ! जर्मनी के हमारे भाई आल्फ्रेड वर्फेल और भारत में तो बिलकुल बेटी जैसी रेहाना बहन, अमतुस्सलाम बहन, आलू बहन, फीरोजा बहन, वगैरा अगणित नाम ध्यान में आते हैं। मूल स्पेन के किन्तु अब भारतीय नागरिकता प्राप्त किये हुए संत फादर वालेस जिन्होंने गुजराती को अपनाकर उसमें किताबें भी लिखी हैं, वे काकासाहेब के मानो निकट के रिश्तेदार ही हैं।

इस तरह से समन्वय काकासाहेब के जीवन का एक अंग ही नहीं, जीवन में पूर्ण रूप से व्यापक हो गया है।

जिस भी प्रान्त में या देश में काकासाहेब जाते हैं, वहां के लोग उनको पूर्णतया अपना मानकर उनके साथ अपनी सारी मुश्किलों की गहरी चर्चाएं निःसंकोच करते हैं। गुजराती तो वे पूरे बन ही गये हैं। किन्तु आसाम के लोग भी उनको अपना मानते हैं—यहां तक कि आसाम की पहली युनिवर्सिटी के कुल-नायक (वाइस चान्सलर) होने का आमंत्रण काकासाहेब को दिया गया था।

जापान में भी एक विद्वान बौद्ध भिक्षुक ने कहा, "काकासाहेब आपके साथ बात करते हम भूल ही जाते हैं कि आप जापानी नहीं हैं और अन्दर के सब सवाल आपके सामने रख देते हैं !" ऐसे उद्‌गार दुनिया के कई कोनों में मैंने सुनकर धन्यता का अनुभव किया है।

इसका कारण यही है कि काकासाहेब के मन में कोई भेद-भाव नहीं है। जैसी गहरी भक्ति हिमालय के प्रति है उसी तरह की भक्तिकी दृष्टि से वे फ़ुजीयामाको और किलि मांजारो जैसे पर्वतों को देखते हैं। श्री गंगा-मैया, यमुना-माता को जिस भाव से नमन करते हैं उसी भाव से नील-मैया, रहाइन-मैया इत्यादि को नमते हैं।

मैंने अनुभव किया है कि काकासाहेब के लिए कुदरत तो भगवान का ही साकार रूप है। भगवान तो एक ही हो सकते हैं। फिर भेदभाव आ ही कैसे सकता है ?

समन्वय की साधना के द्वारा आत्मैक्य, सबके साथ ऐक्य का अनुभव करना यही मोक्ष की उनकी व्याख्या है। ○

अफ्रीका को उनकी महान देन

अप्पा पंत

□□

श्री काकासाहेब और मेरे पिताजी—राजा भवानराव पंत, औंध के राजासाहब—का परिचय बहुत पुराना था। किन्तु अपने राज्य के नये संविधान के विषय में महात्माजी का परामर्श लेने मेरे पिताजी सेवाग्राम गये, तब मैं काकासाहेब से प्रथम बार मिला। प्राचीन राजा-महाराजाओं की पुनीत परम्परा के अनुसार मेरे पिताजी अपने राज्य का त्याग कर उसे प्रजा के नाम करके एक साक्षी, मार्गदर्शक और 'प्रथम सेवक' के नाते ही रहना चाहते थे।

सेवाग्राम के हमारे एक सप्ताह के निवास के दरमियान रोज सुबह राज्य के त्याग के तात्विक और आध्यात्मिक पहलुओं पर पिताजी और काकासाहेब की चर्चाएं होती रहीं। इन सब बातों से काकासाहेब इतने प्रसन्न और पुलकित हो गये कि उसी क्षण से मुझे बेटे के समान अपना लिया। महात्माजी के साथ की मेरे पिताजी की हुई स्मरणीय भेंट के बाद जब-जब सेवाग्राम गया, मैं हमेशा काकासाहेब का प्रेरणादायक और सच्चा परामर्श लेता रहा। खासकर १९४२ की 'भारत छोड़ो' के भूमिगत आंदोलन के समय जब छोटा-सा औंध, सतारा और कोल्हापुर की 'प्रति सरकार' का केन्द्र बना हुआ था, उन दिनों जब नाना पाटिल, रत्नाप्पा कुंभार, वसंतराव पाटिल जैसे नेता कई बार औंध के गांवों में आश्रय लेते थे। तब काकासाहेब की सलाह ने और प्रबोधक मार्ग-दर्शन ने हमारे आंदोलन को प्रयोजनों के उचित संदर्भ में प्रस्तुत किया।

विदेशों में स्वतंत्र भारत का प्रतिनिधि होकर जब मैं अफ्रीका गया, तब काकासाहेब ने पूर्व अफ्रीका, मध्य अफ्रीका और (उस समय के) कांगों की यात्रा की। लगभग छः महीने वह हमारे बीच रहे।

अफ्रीका में काम करने वाले हम सब के लिए कैसी तेजस्वी और प्रेरणात्मक थी वह कालावधि। इस 'सूर्योदय के देश' (कान्टीनेंट ऑफ डॉन—काकासाहेब इसी नाम से अफ्रीका का उल्लेख करते रहे) और भारत के बीच मैत्री उत्पन्न करने के काम को काकासाहेब ने नया ही आयाम दिया।

मनुष्य-मनुष्य के बीच स्नेह-सम्बन्ध का विकास करने में धर्म, वंश, संस्कृति या जाति के भेद उनके लिए कभी बाधक नहीं हुए हैं। उनके लिए विविध रंग मिलकर जीवन का एक अधिक सुरंगी और सन्तोष-जनक चित्र उत्पन्न करते हैं। अपनी विविध सभाओं में—अंग्रेज, अफ्रीकी, भारतीय और अरबी श्रोतागणों के सामने काकासाहेब इस विषय का अत्यन्त सौन्दर्य के साथ और हृदय को छू जाने वाली भाषा में अपने विचारों का विकास करते रहे। वह मराठी में, गुजराती में, हिन्दी और अंग्रेजी में बोलते थे। वह एक कवि की तरह बोलते थे—एक माता के वात्सल्य से बोलते थे। हंसते-समझाते प्रेरणा देते। सौम्यभाषी, ताजे विचार, चित्रों को दर्शाते—जो सुननेवाले को स्पर्धा, हानि-लाभ, सत्ता-संघर्ष और दुर्दशा की दुनिया से कहीं दूर उड़ा ले जाते।

अफ्रीका में बसनेवाले भारतीयों ने काकासाहेब की स्पष्ट दृष्टि के द्वारा प्रथम बार अनुभव किया कि अफ्रीकी मनुष्य के हृदय में भी सौन्दर्य और स्नेह बसते हैं। तब तक अधिकतर भारतीयों के लिए अफ्रीकी मात्र एक नौकर ही था, बर्तन मांजनेवाला और जूते साफ करने वाला, जिसके साथ चिल्लाकर ही बात की जा सकती थी और जो मानो अभी-अभी पेड़ से उतरकर आया हो ! काकासाहेब के प्रवचनों से इस दृष्टि में धीरे-धीरे किन्तु निश्चित सुधार आने लगा। जिस तरह से अफ्रीकी लोग जोमो केन्याटा, न्येरेरे, म्बोया जैसे नेता से लेकर साधारण अशिक्षित नौकरों तक काकासाहब के प्रवचनों को मंत्र-मुग्ध होकर सुनते थे। यह

देखने योग्य दृश्य था। कई बार उनमें से अधिकांश व्यक्ति समझ भी नहीं पाते थे कि क्या कहा जा रहा है, किन्तु उन सबके लिए काकासाहेब 'बातु अमुंगु' (भगवान के सन्देशवाहक) थे। उन दिनों अफ्रीकियों ने कभी ऐसे मनुष्य देखे ही नहीं थे, इसलिए वे सब उन पर मुग्ध थे। भारतीय और अफ्रीकी लोग काकासाहेब से पूर्ण प्रभावित हो जायं, यह समझा जा सकता है, किन्तु यूरोपीय लोग भी, जो विजेता थे, शासक थे, वे पहले तो अनिच्छा से, किन्तु बाद में अपनत्व और आनन्द-उत्साह के साथ उनकी सभा में आते रहे। सब-के-सब सर बांकले (पूर्व अफ्रीका के सुप्रीम कोर्ट के अध्यक्ष) से लेकर नाकुरू, या किसुमु के छोटे से किसान व्यापारी तक आने लगे और अपने घरों में काकासाहेब को आमंत्रित करके अपने मित्रों के साथ उनके ज्ञान का रसास्वादन करने को उत्सुक थे। काकासाहेब सबके यहां जाते उनके साथ कविता की, कला की, संगीत की, जीवन की और सौन्दर्य की बातें करते। उनका उद्देश्य भारतीय संस्कृति का प्रचार करना ही नहीं था। वह तो मानवीय संस्कृति के पोषक थे। विश्वभर के युगों की समस्त संस्कृति उनकी विरासत थी। ऐसी विशाल दृष्टि का विरोध कौन कर सकता है, विशेषकर जब इतने सादे और ज्वलन्त शब्दों में समझाया जाय। १९५० में भारत-अफ्रीका के सम्बन्धों का श्रीगणेश हो ही रहा था। किसी और से अधिक काकासाहेब ने ही इस विकास-काल को नया और मार्मिक आयाम दिया।

उनके प्रति मेरा निजी ऋण अतुलनीय है, क्योंकि उनकी दी हुई आधार-शिला पर काम करना मेरे लिए बहुत आसान होगा।

विदेश-सेवा के २७ वर्षों के दरम्यान जब-जब मैं भारत आता, तब काकासाहेब को अपने काम का विवरण अवश्य देता। उनके आशीर्वाद और मेरे प्रयासों की स्नेहपूर्ण और विवेचनात्मक कद्र मेरे जीवन के अमूल्य तत्व बने हैं। उन्होंने बेटे के रूप में मुझे स्वीकार किया है। मैं उनको अपने विनम्र अभिनंदन अर्पित करता हूं। ○

नमः परम् ऋषिभ्यः

कुंदर दिवाण

□□

शुभाशुभाभ्यां मार्गाभ्यां वहन्ती वासना-सरित्।
पौरुषेण प्रयत्नेन योजनीया शुभे पथि॥

यह उपनिषद्-वचन बहुत ही मार्मिक है। यह मानव-जीवन का यथार्थ चित्रण और मार्ग-दर्शन करता है। नदी का प्रवाह जिस प्रकार किसी अज्ञात गिरि की गोद से निकलकर अच्छे-बुरे खेतों से बहता हुआ दूर के किसी अनजाने और असीम सागर में जाकर समा जाता है, उसी प्रकार यह हमारा जीवन भी है। उसका आदि-अन्त अज्ञात है। केवल मध्य ही गोचर है और हमें जो कुछ करना है, वह इसी मध्यावधि में करना है, अपने पौरुष प्रयत्नों से, अपने निजी बल से, करना है। मनुष्य-जीवन का कोई लक्ष्य होता है और उसे प्राप्त करने का कोई क्रम है। मनुष्य वही है, जिसने ये दोनों समझ-बूझकर अपना लिये हैं। उपनिषद् ने मानव-जीवन

को सरित् कहा है। सरिता का स्वभाव निम्नगामी होता है। उसे इसलिए संस्कृत में 'निम्नगा' कहा है। सामान्य मानव का जीवन भी इसी तरह स्वभावतः निम्नगामी है। उसे ऊपर की ओर मोड़ना, उठाना मनस्वी पुरुष की अपेक्षा रखता है। उपनिषद् इसी पुरुषकार की प्रेरणा देता है। माली जिस तरह पानी को मोड़ता है और उत्तमोत्तम फूल और फल के बगीचे सींचकर कृतार्थ होता है, उसी तरह मनस्वी पुरुष को अपने जीवन का प्रवाह मोड़कर उसे सद्वृत्ति, सद्विचार और सद्वर्तन के बगीचे सींचकर फूलते-फलते करने होते हैं। तभी उसका जीवन सफल होता है। 'योजनीया शुभेपथि' का यही आशय है। ऐसे ही पुरुषकार को प्रकट करने वाले मनस्वी पुरुषों को मैं ऊर्ध्वरेता कहता हूं। प्रायः सभी समय और सभी समाज में ऐसे अग्रणी महापुरुष—इने-गिने ही क्यों न हों—हुआ करते हैं, यह भगवान् की परम कृपा है। इन्हीं के नेतृत्व में मानव समाज अग्रसर होता हुआ अपने लक्ष्य तक पहुंचने वाला है।

हमारे युग में ऐसा एक महापुरुष हो गया है गांधी, जिसके सन्निधि में वही शुभ प्रेरणा लेकर जिन्होंने अपना जीवन कृतार्थ किया है, उनमें काकासाहेब कालेलकर का स्थान विशिष्ट है। गांधी की मूल प्रेरणा और प्रयास 'स्व'राज्य यानी आत्म-शासन की स्थापना के रहे हैं। उसका एक अंश अंग्रेजों के विदेशी शासन को हटाना था। यह कार्य ऊपरी दृष्टि से देखने से तो भौतिक ही दीखता है, परंतु उसे प्राप्त करने के जो साधन गांधी ने निश्चित किये और अपनाये थे और जिनका आग्रह उन्होंने अन्तिम श्वास तक रखा, उन सत्य और अहिंसा की ओर ध्यान दिया जाय तो कहना होगा कि यह भौतिक नहीं, आध्यात्मिक कार्य था। इस लक्ष्य का दर्शन काकासाहेब को स्पष्ट रूप से हुआ और सत्य और अहिंसा पर उनकी निष्ठा अविचल रही है। अनेक अच्छे-अच्छे लोग भी स्वराज्य प्राप्ति के आन्दोलनों में बह गये और सत्याग्रह अर्थात् सत्य के लिए अहिंसा का आग्रह उन्होंने छोड़ दिया; परंतु काकासाहेब ने कभी उनकी पुष्टि नहीं की, न तोड़फोड़, न मार-काट का समर्थन किया; क्योंकि इस तरह प्राप्त होने वाला राज्य स्वराज्य या रामराज्य नहीं हो सकता, इसका उन्हें पूरा विश्वास था। "नत्वहं कामये राज्यम्" और "यतेमहि स्वराज्ये" यह जो वैदिक आर्यों का निषेध रूप और विधिरूप घोष-वाक्य रहा है, उस पर वे बराबर चलते रहे हैं और इस आदर्शरूप स्वर्ग को धरा पर उतारने के कार्य में मनसा-वाचा-कर्मणा आजीवन संलग्न रहे। जो कुछ उन्होंने किया, जो सोचा या लिखा या बोला, वह सब इसीमें आ जाता है। उसका विस्तृत विवरण उनकी जीवनी में पढ़ा जा सकता है।

काकासाहेब इस युग के ऋषि हैं।

नमः परम् ऋषिभ्यो, नमः परम् ऋषिभ्यो। ○

वंदनीय

काशिनाथ त्रिवेदी

□□

श्री काका कालेलकर हमारे देश के उन बिरले सौभाग्यशाली गुरुजनों में से हैं, जिन्हें आज से चौंसठ बरस पहले, सन् १९१५ में, उस समय के कर्मवीर गांधी को गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शान्तिनिकेतन-आश्रम में बहुत निकट से देखने, जानने और समझने का सुअवसर मिला था। गांधीजी के साथ शान्तिनिकेतन में हुई अपनी पहली भेंट-चर्चा से काकासाहेब इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने अपना शेष सारा जीवन देश-कार्य

के लिए गांधीजी को समर्पित कर दिया। उन्होंने न केवल अपना जीवन समर्पित किया, बल्कि अपनी आस्थाएं बदलीं, अपना जीवन-पथ बदला और अपनी जीवन-पद्धति भी बदली। गहरे सोच-विचार के बाद वे गांधीजी के आजीवन-साथी बने। अपने परिवार के साथ वे उनके आश्रम में रहने लगे। गांधीजी की परिभाषा वाले व्रतधारी आश्रमवासियों में उनकी गिनती होने लगी। शीघ्र ही आश्रम-परिवार के बीच उनका अपना एक स्थान बन गया। इस तरह श्री दत्तात्रेय बालकृष्ण कालेलकर सत्याग्रह-आश्रम, साबरमती के आश्रम-परिवार के लिए 'काका कालेलकर' बन गए और आगे चलकर सारे देश में उनका यही नाम व्यापक और सुस्थिर हो गया। वे न केवल आश्रमवासियों के, बल्कि सारे देश के और सारी दुनिया के काका बन गए! खुद गांधीजी भी उन्हें 'काका' ही कहने लगे।

गांधी-युग में जिनके मूल नाम लुप्त हुए और उपनाम व्यापक रूप से प्रचलित हो गए, उनमें गांधीजी का नाम सबसे आगे रहा। श्रीमोहनदास करमचन्द गांधी 'महात्मा गांधी' और 'बापू' के नाम से प्रसिद्ध हो गए। श्री कालेलकर 'काका कालेलकर', श्री फड़के 'मामा फड़के', श्री विनायक नरहरि भावे 'विनोबा', श्री शंकर अम्बक धर्माधिकारी 'दादा धर्माधिकारी', और श्री अनन्त विष्णु सहस्रबुद्धे 'अण्णा सहस्रबुद्धे' के नाम से पहले गांधी-परिवार में और फिर पूरे देश में पहचाने जाने लगे। नामों का यह परिवर्तन भी गांधी-युग के उस समय के चिन्तन और आचरण की एक विशेष देन रही। जब गांधीजी ने अपने पारिवारिक जीवन को आश्रम जीवन में बदला और आश्रम का अपना एक विशाल परिवार बनाया, तो उसमें आत्मीयता और पारिवारिकता का पुट चढ़ाने के लिए उन्हीं की प्रेरणा से पारिवारिक सम्बन्धों को व्यापक बनानेवाला नाम-परिवर्तन का यह सिलसिला शुरू हुआ और धीरे-धीरे यह सारे देश में फैल गया। जहां-जहां भी गांधीजी के साबरमती-आश्रम से प्रेरणा पाकर राष्ट्र-कार्य के लिए आश्रमों की स्थापना हुई, वहां-वहां लगभग सभी स्थानों में नामों के साथ यह पारिवारिकता जुड़ती चली गई।

सन् १९१७-१८ के दिनों में साबरमती के सत्याग्रह आश्रम में आश्रमवासी की तरह रहने वाले भाइयों, बहनों और बच्चों की संख्या इतनी बढ़ गई थी कि आश्रम के परिवारों में रहने वाले बालकों और किशोरों की पढ़ाई का प्रश्न एक ज्वलन्त प्रश्न बन गया था। इस प्रश्न को हल करने के लिए आश्रम में राष्ट्रीय शाला का श्रीगणेश किया गया। इस राष्ट्रीय शाला में शिक्षक का काम करने वालों में सर्वश्री विनोबाभावे, काका कालेलकर, किशोरलाल मशरूवाला, जुगतराम दवे, नरहरि पारीख, छगनलाल जोशी, रमणीकलाल मोदी—जैसे उन दिनों के प्रमुख आश्रमवासी थे। स्वयं गांधीजी भी बीच-बीच में राष्ट्रीय शाला के विद्यार्थियों को पढ़ाने-सिखाने का काम करते रहते थे। जब १९१९-२० के जमाने में गांधीजी ने अपने असहयोग आन्दोलन के साथ स्कूलों, कॉलेजों, अदालतों आदि के बहिष्कार का राष्ट्रव्यापी आन्दोलन चलाया, तो उससे प्रभावित और प्रेरित होकर जो नौजवान विद्यार्थी स्कूल और कॉलेज की अपनी पढ़ाई छोड़कर असहयोग आन्दोलन में सम्मिलित हो गए, उनकी अधूरी पढ़ाई को राष्ट्रीय शिक्षा की दृष्टि से पूरा करने के लिए सारे देश में जगह-जगह राष्ट्रीय विद्यालयों की स्थापना की गई और उच्च शिक्षा के लिए विद्यापीठ खोले गए। गांधीजी ने 'गुजरात-विद्यापीठ' के नाम से एक विद्यापीठ की स्थापना अहमदाबाद में की। आगे चलकर बनारस में काशी-विद्यापीठ की, पटना में बिहार-विद्यापीठ की और दिल्ली में जामिया मिलिया के नाम से मुस्लिम-विद्यापीठ की स्थापना हुई। आचार्य गिडवानी, आचार्य कृपालानी, आचार्य काका कालेलकर—जैसे उस समय के धुरन्धर माने जाने वाले राष्ट्रीय चेतना से ओतप्रोत अध्यापकों ने गुजरात-विद्यापीठ को अपनी सेवाएं देकर उसे राष्ट्रीय शिक्षा की एक सजीव प्रयोगशाला का रूप दिया।

श्री काका कालेलकर ने वर्षों तक इस विद्यापीठ में रहकर इसके आचार्य के नाते राष्ट्रीय शिक्षा के

विविध पहलुओं पर गहन चिन्तन-मन्थन किया, नित-नए प्रयोग किए, और राष्ट्रीय शिक्षा के साथ-साथ लोक-शिक्षा के विकास और विस्तार की नई-नई दिशाएं खोलने का अपूर्व पुरुषार्थ भी किया। शिक्षण की नई धाराओं के साथ चिन्तन और लेखन की भी नई-नई धाराएं प्रवाहित होने लगीं। आग्रहपूर्वक और विचारपूर्वक अपनी ही भाषा में सोचने और लिखने की एक स्वस्थ और सुदृढ़ परम्परा का शुभारम्भ हुआ। गुजराती, मराठी, हिन्दी, उर्दू—जैसी देशी भाषाओं में अलग-अलग विषयों की जानकारी देनेवाले अध्ययन-ग्रंथ लिखे और छापे जाने लगे। आरम्भ से आज तक सारी पढ़ाई मातृभाषा या राष्ट्रभाषा में चले, इसका आग्रह रक्खा गया। एक विषय के रूप में अंग्रेजी भी पढ़ी और पढ़ाई गई, पर उसके माध्यम से सारे विषयों की पढ़ाई को अमान्य किया गया। सन् १९१९-२० से लेकर सन् १९४६-४७ तक सारे देश में प्राथमिक से लेकर उच्च शिक्षा तक के क्षेत्र में राष्ट्रीय शिक्षा की दृष्टि से ये जो प्रयोग जगह-जगह हुए, जिनमें सन् १९३७-३८ में बुनियादी शिक्षा अथवा नई तालीम के प्रयोग भी जुड़े, उन सबके संयोजन, संचालन और मार्गदर्शन में काकासाहेब का अपना बहुत ही मूलभूत और मूल्यवान योगदान रहा। इस निमित्त से उन दिनों उन्होंने बहुत पढ़ा, बहुत सोचा, बहुत किया, बहुत करवाया, बहुत लिखा और बहुत कहा। इसी सिलसिले में सारे देश में उनकी जो शैक्षणिक यात्राएं चलीं, उनके जो भाषण-प्रवचन हुए, उनके कारण देश में राष्ट्रीयता का अपना एक विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण स्थान बना। राष्ट्रीय शिक्षा-रूपी इस महान यज्ञ के आचार्यों में काकासाहेब का काम अग्रगण्य रहा है।

काकासाहेब की अनेक विशेषताओं में एक बड़ी विशेषता यह रही है कि जन्म से मराठीभाषी होते हुए भी अपने अप्रतिम पुरुषार्थ से वे गुजराती के मर्मज्ञ और मूर्धन्य साहित्यकार बने और साहित्यिकों के बीच में प्रतिष्ठित और पुरस्कृत हुए। गुजराती, मराठी, हिन्दी, अंग्रेजी और संस्कृत को उन्होंने जो कुछ, जिस तरह से दिया है, उसके कारण इन भाषाओं के भण्डार समृद्ध और सुशोभित हुए हैं। देश की इन भाषा-भगिनियों के ऊपर काकासाहेब के ऋणों की कोई सीमा नहीं है।

सन् १९१७-१८ से सन् १९३३-३४ तक लगातार गुजरात और उसके राष्ट्रीय जीवन से जुड़े रहने के बाद काकासाहेब साबरमती से वर्धा आ गए। वर्षों वे वर्धा के हरिजन-छात्रावास में रहे। जब वर्धा के महिला-आश्रम की बगल में, सेवाग्राम के रास्ते पर, काकावाड़ी का निर्माण हुआ, तो काकासाहेब उसमें रहने लगे और वहीं से पहले राष्ट्र-भाषा का और फिर हिन्दी-हिन्दुस्तानी का काम करते रहे। 'सबकी बोली' नामक अपना उस समय का लोकप्रिय मासिक उन्होंने वहीं से निकाला। राष्ट्रभाषा हिन्दी के और हिन्दी-हिन्दुस्तानी के प्रचार के लिए भी काकासाहेब ने, अन्दर-बाहर के सारे विरोधों के बावजूद, जो प्रयत्न और पुरुषार्थ किए, उनकी याद को उनके उस समय के साथी और सहयोगी क्यों कर भुला सकते हैं? काकासाहेब के संघर्षमय जीवन का वह एक स्मरणीय अध्याय है।

काकासाहेब देश के और गांधी-परिवार के उन बिरले व्यक्तियों में से हैं, जिन्होंने मौत को बार-बार छकाया है और इस तरह एक अर्थ में मृत्युञ्जयी बनने का बिरुद पाया है। क्षय और हैजे—जैसी जानलेवा बीमारियों से जूझकर ९४ साल जिन्होंने तन-मन की सजगता और सक्रियता के साथ बिताए हों, और आगे इसी रूप में १०० साल पूरे करने की साध जिनके मन-प्राण में बसी हो, ऐसे महाप्राण व्यक्ति हममें आज कितने हैं?

काकासाहेब की एक विशेषता और है। उनकी वाणी जितनी मुखर और अस्खलित रही है, उतनी उनकी लेखनी नहीं रह पाई। लिखने के काम में उनकी अंगुलियां उनसे सहयोग नहीं कर पाईं। महाभारत के व्यास के लिए गणेश ने जो काम किया, काकासाहेब के लिए वैसा ही काम उनके अन्तेवासियों ने सातत्य से

किया। इनमें सर्वश्री चन्द्रशंकर शुक्ल, शिवबालक बिसेन, अमृतलाल नाणावटी और सरोज बहन नाणावटी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

दक्षिण भारत के कुलीन ब्राह्मणों में तर्क-कौशल या तर्क-पटुता की जो एक दीर्घ और अटूट परम्परा पीढ़ियों से चली आ रही है, उसका खासा अच्छा उत्तराधिकार काकासाहेब को भी मिला है। तर्क-पटु विद्वान् या विचारक हमेशा सत्यनिष्ठ, संयमी और विवेकशील ही होते हैं, ऐसा कोई अटल नियम नहीं है। वे अपने तर्क के सहारे सच को झूठ, झूठ को सच, नीति को अनीति और अनीति को नीति सिद्ध करने की हद तक भी जा सकते हैं, और यह सब करके भी विद्वानों तथा विचारकों की मंडली में प्रतिष्ठा-पात्र बने रह सकते हैं। काकासाहेब की तार्किकता कभी इस तरह पटरी से उतरकर चली हो, निरंकुश बनी हो, इसके बहुत ही कम उदाहरण हाथ लग सकेंगे। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि उनकी तर्क-पटुता के कारण साथियों के बीच, संस्थाओं में या नित्य के व्यवहार में कभी कोई गलतफहमी, रोष, क्षोभ, टीका या घुटन पैदा ही न हुआ हो। कहा गया है कि वे जहां-जहां भी रहे, वहां-वहां उनके आसपास किसी-न-किसी तरह की प्रकट-अप्रकट खटपट की कुछ-न-कुछ अटपटी हवा जाने-अनजाने बनती रही। इसके कारण काकासाहेब को उनके सही स्वरूप में समझना उनके सब साथियों और सहयोगियों के लिए सदा सम्भव और सहज नहीं रहा। मैंने इसे उनकी मानवी मर्यादा माना है और यों मानकर अपने मन को आश्वस्त किया है। मानव के नाते परिपूर्ण तो हममें कौन, कब रह पाया है ? मुझे लगता है कि स्वयं काकासाहेब ने भी कभी अपने लिए पूर्णता का दावा नहीं किया।

काकासाहेब स्वभाव से आजीवन पर्यटक और परिव्राजक रहे हैं। अपने समय के प्रवास-प्रिय व्यक्तियों में उनकी अपनी एक मूलभूत विशेषता यह रही है कि उन्होंने प्रवास-जन्य निरीक्षण, अवलोकन और चिंतन का प्रसाद अपने चिरन्तन साहित्यिक रूप में इतनी विपुलता और विविधता के साथ बांटा है कि उसकी वैसी दूसरी मिसाल मिलनी मुश्किल है। ऐन जवानी में की गई उनकी सुप्रसिद्ध हिमालय-यात्रा से लेकर ठेठ बुढ़ापे तक की देश-विदेश की अपनी यात्राओं के संस्मरणों को उन्होंने जिस सहजता और कुशलता से रोचक, उद्-बोधक और प्रेरक बनाया है, उसके लिए देश का साहित्य-रसिक पाठक-समाज उनका सदा ही ऋणी और आभारी रहेगा।

हिन्दुस्तानी-सभा, सन्निधि, राजघाट, नई दिल्ली से निकलने वाले अपने पाक्षिक 'मंगल प्रभात' के सम्पादक के रूप में काकासाहेब ने अपनी बहुमुखी प्रतिभा का और अपने बहुमुखी सम्पादन-कौशल का अद्-भुत परिचय दिया है। सालोंसाल एक ही व्यक्ति के मौलिक, प्राणवान और प्रेरणाप्रद चिन्तन की इतनी विविधता वाली विपुल सामग्री सत्साहित्य के क्षेत्र में दुर्लभ ही कही जाएगी। अपनी इन बहुमूल्य सेवाओं के लिए वे देश के साहित्य-जगत् में लम्बे समय तक स्मरणीय, पठनीय और मननीय बने रहेंगे।

काकासाहेब के ऐसे वंदनीय और अभिनन्दनीय व्यक्तित्व के आगे नत मस्तक होने की प्रेरणा किसे न होगी ? उन्हें मेरे शत-शत वन्दन और नमन। ○

उनकी कृपा-वर्षा

चन्द्रकान्त मेहता

□□

गुजराती 'कुमार' मासिक पत्रिका में काकासाहेब ने अपनी बाल्यवय से किशोरावस्था पर्यन्त की जीवन-गाथा 'स्मरण गाथा' के नाम से धारावाहिक रूप से प्रकाशित करना प्रारम्भ किया, तभी से मैं उसे नियमित पढ़ता रहता था और इससे अत्यन्त प्रभावित हुआ था। उसके बाद काकासाहेब के साहित्य की अन्य पुस्तकें भी जैसे-जैसे प्रकाशित होती थीं, पढ़ता रहता था। काकासाहब की पुस्तकों ने मेरे साहित्यिक विचारों को आकार देने में प्रचुर मात्रा में सहायता की। काकासाहेब ने ही मुझे आत्म-विश्लेषण करने की प्रेरणा दी। उनकी पुस्तकों से ही यह आस्था मेरे मन में दृढ़ हुई कि प्रकृति जड़ तत्त्व नहीं है, परन्तु उसका मनुष्य की भांति जीवन रूप है। जब उमाशंकर जोशी का प्रथम काव्य 'विश्वशांति' प्रकाशित हुआ और मैंने काका साहेब की लिखी हुई इसकी भूमिका पढ़ी तब गांधीजी के साथ मेरा केवल भावनात्मक संबंध था, उसको तार्किक बल मिला। महादेवभाई द्वारा अनूदित गुरुदेव की पुस्तक 'प्राचीन साहित्य' में काकासाहेब की काव्यमयी भूमिका ने मुझे 'गुरुदेव' के प्रति आकर्षित किया और 'कालिदास' 'शेक्सपियर' तथा 'गुरुदेव' को नई दृष्टि से समझने का अवसर दिया।

इस प्रकार काकासाहेब के मनोजगत से परिचित होने पर भी उनके दर्शन का मुझे अवसर प्राप्त नहीं हुआ था। वह प्राप्त हुआ तब जब अहमदाबाद में गुजराती साहित्य परिषद का अधिवेशन सन् १६३६ में हुआ। और कलाविभाग के अध्यक्ष के रूप में काकासाहेब चुने गये, उनके दर्शन हुए और कला-विषयक उनका अध्यक्षीय भाषण सुनकर मुझे कला के यथार्थ स्वरूप की झांकी मिली। मुझे याद है कि उसी अधिवेशन में मैंने काकासाहेब के हस्ताक्षर लिए थे। उमाशंकर जोशी मेरे अच्छे मित्र थे और काकासाहेब के सुपुत्र सतीश कालेलकर उमाशंकरजी के अच्छे मित्र थे। उमाशंकरजी के घर सतीशभाई से मैं मिला, मुझे काकासाहेब के पुत्र के माध्यम से स्वयं काकासाहेब से मिलने का आनंद प्राप्त हुआ। मुझे यह भी लोभ था कि सतीशभाई की मैत्री से काकासाहेब को मिलने का सुयोग मुझे मिलेगा, और वैसा हुआ भी। सतीशभाई उस समय बम्बई के एलिफन्स्टन कॉलेज में पढ़ते थे, और जब काकासाहेब बम्बई आते थे, तब उनके साथ मैं काकासाहेब से मिलने लगभग चार-पांच बार गया हूंगा, ऐसा मुझे याद है। मेरे जीवन के वे क्षण बहुमूल्य थे, इतना ही नहीं, मुझे लगता था कि हरेक बार मैं ज्ञान-समृद्ध होकर वापस आता था।

इस बीच गुजराती पत्रिकाओं में काकासाहेब के ग्रंथों के विषय में आलोचनात्मक लेख लिखता रहता था। काकासाहेब संबंधी अध्ययन ग्रंथ में, जिसमें काकासाहेब-विषयक विविध लेखकों के लेख प्रकाशित हुए हैं, 'काकासाहेब का प्रकृति निरूपण' विषय पर मेरा लेख भी समाविष्ट किया गया है, जिसमें केवल गुजराती साहित्य में ही नहीं, परन्तु विश्वसाहित्य में काकासाहेब प्रकृतिदर्शन की विशेषता के लिए चिरंतन स्थान प्राप्त करेंगे, यह स्पष्ट रूप से दिखाया गया है।

जब सन् १६५६ में मुझे बंबई विश्वविद्यालय ने पी-एच० डी० का निर्देशक नियुक्त किया, तब काका-साहेब के साहित्य का विशेष और गहरा अध्ययन हो सके, इसलिए मैंने अपनी एक छात्रा कु० शारदा गोरडिया को 'काकासाहेब—एक अध्ययन' विषय शोधप्रबंध के लिए दिया। इस निमित्त गहराई से काकासाहेब की सारी रचनाओं का अध्ययन करने का अवसर शारदा के बहाने मुझे मिला। जब वह शोध के कार्य में लगी हुई थी तब मेरी दिल्ली विश्वविद्यालय में गुजराती के प्राध्यापक के रूप में नियुक्ति हुई। शारदा भी दिल्ली आई। कई

दिनों काकासाहेब के साथ रही, और काकासाहेब से प्रश्न पूछकर अपनी जिज्ञासा तृप्त की। उसको सन् १९५५ में पी-एच० डी० प्राप्त हुई।

इस समय मुझे याद आता है कि गुजरात विश्वविद्यालय में जब गुजराती विभाग आरंभ किया गया, उस समय गुजराती विभाग के अध्यक्ष (प्राध्यापक) के लिए समाचार-पत्र में एक विज्ञापन निकला था। मैंने भी उस स्थान के लिए आवेदन-पत्र भेजा था। मुझे नियुक्ति-बोर्ड के समक्ष मिलने के लिए बुलाया गया। उस बोर्ड में काकासाहेब भी थे। उन्होंने मुझसे पूछा था, "तुम पी-एच० डी० के छात्रों को शोध-प्रबंध लिखने के लिए कौन-सा विषय दोगे ?" मुझे याद है कि मैंने कहा था कि प्रथम तो आपके साहित्य-सर्जन पर ही शोध-प्रबंध लिखवाऊंगा। तब वे जोरों से हंस पड़े थे।

सन् १९३२ में मैंने गुरुदेव की कहानियों का रेडियो-नाटक में रूपान्तर किया था, जो बम्बई आकाश-वाणी से प्रसारित हुआ। बम्बई के 'कल्की प्रकाशन' ने जब उन नाटिकाओं को प्रकाशित करने की मांग की, तब मेरी इच्छा हुई कि उस पुस्तक की भूमिका काकासाहेब लिखें। मैंने सरोज बहन के मार्फत काकासाहेब से अनुरोध किया। उदार चरित काकासाहेब ने जापान-यात्रा में व्यस्त होते हुए भी भूमिका लिखवाकर जापान से भेजी, जिसके लिए मैं उनका अत्यन्त ऋणी हूं। उनके आशीर्वाद से मैं लाभान्वित हुआ, इसलिए मैं अपने-आपको धन्यभाग्य समझता हूं।

दिल्ली विश्वविद्यालय के एम०ए० के गुजराती छात्र-छात्राओं के स्नेह-सम्मेलन में मैंने दो बार काका-साहेब को मुख्य अतिथि के रूप में निमंत्रित किया था और दोनों बार उन्होंने अत्यन्त प्रेम से मेरे निमंत्रण को स्वीकार किया और अत्यन्त रोचक और मधुर भाषण दिया।

दिल्ली विश्वविद्यालय की गुजराती पाठ्यक्रम समिति में उनकी बहुमूल्य सलाह का लाभ हमें मिले, इसलिए उनकी नियुक्ति करवाई और उन्होंने समिति की बैठक में उपस्थित होकर हमें उपकृत किया।

१९६५ में गुजराती साहित्य परिषद का अधिवेशन दिल्ली में आयोजित करने के लिए मैंने सूरत अधि-वेशन में निमंत्रण दिया। काकासाहेब उस अधिवेशन में स्वागत समिति के अध्यक्ष बने— इतना ही नहीं, उस अधिवेशन की सारी व्यवस्था के लिए बार-बार परामर्श देते रहे। दिल्ली अधिवेशन की सफलता के लिए काकासाहेब का योगदान अत्यंत मूल्यवान है।

काकासाहेब की ओर से गांधी हिन्दुस्तानी सभा द्वारा संचालित भारतीय भाषाओं की शिक्षा के वर्गों के लिए सरोज बहन ने गुजराती और बंगाली पढ़ाने के लिए मुझसे कहा तो मुझे बेहद आनंद हुआ, क्योंकि इससे काकासाहेब-परिवार में प्रवेश करने का यह स्वर्णिम अवसर था।

इस प्रकार काकासाहेब जैसे अर्वाचीन महर्षि के साथ मेरा संबंध घनिष्ठ होता गया और इसको मैं परमात्मा की कृपा-वर्षा मुझपर हो रही है, ऐसा मानता हूं। ○

समन्वय की जीवन्त प्रतिमूर्ति

ओमप्रकाश विखा

□□

काकासाहेब का सारा जीवन समाज और राष्ट्र सेवा का जीवन रहा। उनके सेवा-क्षेत्र के गहरे समुद्र में डुबकी लगाने पर समाज तथा राष्ट्र-सेवकों को प्रेरणादायक सामग्री के अनमोल मोती, हीरे, जवाहरात मिल सकते हैं।

उनकी सेवाओं का एक प्रेरणादायक प्रसंग है हिन्दी प्रचार। उनकी प्रेरणा पाकर न जाने कितने हिन्दी-प्रेमी कार्यकर्ताओं ने अहिन्दी-भाषी प्रदेशों में जाकर जीवन पर्यन्त सेवा-कार्य किया जिसके परिणाम स्वरूप राष्ट्र-भाषा के प्रचार-प्रसार को गति मिली। वर्धा में राष्ट्रभाषा प्रचार समिति का निर्माण हुआ जिसकी शाखाएं सारे भारतवर्ष में फैल गयीं। काकासाहेब अपने गुरु गांधीजी के समान भारत की सामाजिक संस्कृति की वाहक राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी के समर्थक रहे। राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी की उन्होंने ४५ वर्ष तक सेवा की।

काकासाहेब के हिन्दुस्तानी भाषा में मानवीय जीवन के हर पहलू पर अनेक अनमोल ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। उनकी लेख-सामग्री इतनी बिखरी पड़ी है कि उस प्रखर साहित्य-धन-राशि से कई अमूल्य ग्रंथ और तैयार किये जा सकते हैं। उनकी लेख-सामग्री अधिकतर सृजनात्मक आन्तरिक प्रेरणा के फलस्वरूप ही है।

शिक्षा के क्षेत्र में काकासाहेब की अमूल्य सेवाओं को भुलाया नहीं जा सकता। वह बहुत बड़े शिक्षा-शास्त्री हैं। गुजराती विद्यापीठ और हिन्दुस्तानी तालीमी संघ ने उनसे शिक्षा-दर्शन का आधार लेकर शिक्षा के क्षेत्र में विशेष स्थान प्राप्त किया। प्रकृति और समाज की एकरूपता का भान ही उनके शिक्षाशास्त्र का एकमात्र सिद्धांत था। उन्होंने बालवाड़ी की शुरुआत से लेकर एम० ए० की कक्षाओं के लिये सर्वोत्तम ग्रंथ-रचना की। जो आज भी स्कूलों और कालिजों में कोर्स या सहायक पुस्तकों के रूप में विद्यार्थियों को पढ़ाई जाती हैं। शिक्षाशास्त्री के नाते काकासाहेब का सेवा-कार्य सदा के लिये अमर माना जायेगा। कारण, उन्होंने जो कुछ शिक्षार्थ लिखा या कहा वह न केवल साहित्यिक गुण से परिपूर्ण रहा बल्कि जीवन आचरण से भी परिपुष्ट रहा।

बीसवीं सदी के पहले दशक में बालगंगाधर तिलक, विपिनचन्द्र पाल और लाला लाजपतराय का—लाल, बाल और पाल का बोलबाला था। इन दिनों स्वदेशी, बंग-भंग और भूमि-कर न देने के आन्दोलन जोरों पर थे। काकासाहेब उनसे बड़े प्रभावित हुए और उन्होंने १९०५ से अपने कालेज जीवन से अपने आपको राष्ट्र-सेवा के लिये समर्पित कर दिया। स्वतन्त्रता-संग्राम-सेनानी के नाते उनको कई बार कारागार के दुःख भी झेलने पड़े। परन्तु उन्होंने उन्हें प्रसाद रूप में प्रसन्नतापूर्वक सहन किया। यरवदा जेल में काकासाहेब गांधी जी के सहवास में रहे। गांधीजी का यह आग्रह था कि जेल-निवास के समय में कम से कम खर्च हो और सादगी से रहा जाये। काकासाहेब ने भी जेल में गांधीजी के इस आदर्श को पूरी तरह निभाया। काकासाहेब बेलगाम, हैदराबाद और सिंध की जेलों में भी रहे। वहां भी उसी नीति का पालन करते रहे। काकाजी इन दिनों नियमित रूप से डायरी लिखा करते थे। यह उनकी विशेषता थी।

काकासाहेब को संस्कृति के परिव्राजक, संस्कृति के अखण्ड दीप, समन्वय-संस्कृति के प्रतीक, विश्व-संस्कृति के सन्देशवाहक आदि नामों से याद किया जाता है। काकासाहेब के समूचे जीवन-नेतृत्व से जिसकी पुष्टि होती है। गांधी विचार को वे एक विकासशील दर्शन मानते हैं। इसे हम समझें। समझ में आ जाये तो जीवन के आचरण में लायें। मतभेद होने पर उसकी हम आलोचना अवश्य करें, लेकिन वैसा करते समय

सुजनता न छोड़ें। काकासाहेब को मैं बहुत दिनों से जानता हूं। उन्हें अपना गुरु मानता हूं। जब कभी उनसे मिलता हूं। तो बातचीत में गांधीजी के प्रति उनकी अपार भक्ति का दर्शन होता है। उनका मानना है कि गांधी, टैगोर और अरविन्द के आश्रम नवभारत के तीन महातीर्थ हैं। समन्वय संस्कृति के साधकों को कुछ समय के लिये वहां जाकर रहना चाहिये।

काकासाहेब बड़े घुमक्कड़ हैं। प्रकृति से उन्हें बहुत प्रेम है। देश-विदेश की यात्रा उनके जीवन में निरन्तर चलती ही रही। परन्तु उनकी इस वृत्ति के पीछे उनके दो लक्ष्य रहे। एक रहा विज्ञान दर्शन। वह जहां भी गये, जो कुछ देखा, उसे आत्मसात किया और यत्र-तत्र-सर्वत्र उसकी वैज्ञानिक जानकारी फैलाई। भारतीय जीवन को विभिन्न रूपों में देखा। सबमें एकरूपता लाने के लिये सदा प्रयत्नशील रहे। भारतीय जीवन में आर्थिक साम्य, सामाजिक साम्य तथा मानसिक साम्य कैसे लाया जा सके, हमेशा उनकी यह चिन्ता बनी रही और जिसके लिये उन्होंने जीवनभर अपनी पूरी शक्ति से काम भी किया। प्रवासी भारतवासियों के बीच जाकर उनकी समस्याओं को समझ भारत तथा प्रवासी सरकारों के सामने समाधानकारक हल भी पेश किये। 'उस पार के पड़ोसी' पुस्तक में उनके समन्वय संस्कृति से सम्बन्धित विचार मिलते हैं—"हिन्दु संस्कृति का सच्चा रहस्य समझने के पश्चात और संसार के सारे धर्मों के प्रति समता और आदर का भाव पैदा होने के बाद अब जैसे सारे धर्म मुझे सच्चे, अच्छे और अपने ही लगते हैं, वैसे ही संसार के सारे देश मुझे भारत भूमि के जैसे ही पवित्र और पूज्य मालूम होते हैं।"

काकासाहेब कहते हैं—'जीवन व्यक्ति का हो, राष्ट्र का हो या समस्त मानव जाति का, संघर्ष टालकर उत्कर्ष—सिद्धिप्रद समन्वय ही उसे समर्थ और कृतार्थ करेगा। संस्कृति का पूर्वार्ध है संघर्ष और सहयोग। उत्तरार्ध है—समन्वय। काकासाहेब समन्वय की जीवन्त प्रतिमूर्ति हैं। उनके लिये सभी जाति के, सभी धर्मों के, सभी संस्कृतियों के सभी देशों के लोग एक हैं! काकासाहेब जैसे समन्वय संस्कृति के प्राकाशदीप के लिये यह स्वाभाविक ही है। विनोबा मानते हैं—" हम विश्व मानव हैं, किसी देश विशेष के अभिमानी नहीं, किसी धर्म विशेष के आग्रही नहीं, किसी सम्प्रदाय या जाति विशेष के बन्दी नहीं। विश्व के सद्विचार उत्थान में विहार करना हमारा स्वाध्याय होगा, सद्विचार को आत्मसात् करना हमारा अभ्यास होगा और विरोधों का निराकरण करना हमारा धर्म होगा। विशेषताओं में सामंजस्य करके विश्ववृत्ति का विकास करना हमारी वैचारिक साधना होगी।" यही वह साधना मार्ग है जिस पर काकासाहेब ने चलकर अपना ही नहीं अपने सम्पर्क में आये अनेक लोगों का जीवन सफल बनाया।

भगवान से मेरी प्रार्थना है कि काकासाहेब शतायु हों। ○

उनका पावन योगदान

गुलाम रसूल कुरैशी

□□

काकासाहेब के साथ का मेरा परिचय करीब साठ वर्ष का है। १९२०-२१ में गुजरात कालेज में जब मैं अध्ययन करता था तब उनके लेखों से आकर्षित हुआ। सरल भाषा, सुन्दर विचार और समझाने का मार्मिक ढंग हम सब युवकों को मुग्ध कर देता था। यह था काकासाहेब का परोक्ष परिचय।

सन् १९२४ से गांधी आश्रम में बापूजी के सान्निध्य में रहने लगा। स्वर्गीय इमाम साहब के साथ पारिवारिक सम्बन्ध के कारण आश्रमवासी बना तब काकासाहेब के प्रत्यक्ष परिचय में आया। बापू के आश्रम में जो अनेक महापुरुष अन्तेवासी होकर बसे थे, उनमें जिनकी ताजगी, स्वस्थता और भाषा की मोहकता मन को जीत लेती थी, उनमें श्री दत्तात्रेय बालकृष्ण कालेलकर थे। सब आश्रमवासी उनको काकासाहेब के नाम से पहचानते थे। काकासाहेब का परिचय जैसे-जैसे बढ़ता गया, उनके प्रेमल स्वभाव और वात्सल्य का लाभ मिलता गया, वैसे-वैसे उनको दिया हुआ काकासाहेब का विरुद कितना यथार्थ था, उसकी प्रतीति हुई। हम आश्रमवासियों के काकासाहेब साहित्यिक क्षेत्र में भी 'काकासाहेब' के नाम से पहचाने जाने लगे।

काकासाहेब और स्वर्गीय इमाम साहब घनिष्ठ मित्र थे। बापूजी के कार्यक्रम और प्रवृत्तियों में निष्ठापूर्ण सहयोगी थे। मैत्री के नाते दोनों एक-दूसरे के बहुत निकट थे। इन महानुभावों की मैत्री का लाभ मुझे और मेरे समस्त परिवार को मिला। काकासाहेब की तेजस्वी बुद्धिमता और उच्च विद्वता के संस्कार हमारे कुटुम्ब के छोटे-बड़े सबको मिलते रहे।

काकासाहेब के लेखों और पुस्तकों का आकर्षण बढ़ता ही रहा। गांधीजी के सत्याग्रह-आंदोलनों में बंदी होकर साबरमती कारावास में रह आने के बाद काकासाहेब की 'ओतराती दिवालो' (उत्तर की दीवारें) पुस्तक ने जेल-वास के जीवन के अनुभवों को ताजा करा दिया। वह पुस्तक बार-बार पढ़ लेने का मोह छूटता नहीं। आज अनेक दशकों के बाद भी वह पुस्तक पढ़ते, ऐसा लगता है, साबरमती जेल में बिताये दिवसों की चित्र कथा ही देख रहे हों। जेल-वास के दरमियान जेल की शुष्क दीवारों में भी जिस भव्यता का दर्शन हो सकता है, उसका भान बाहर आने के बाद 'ओतराती दिवालो' ने कराया। गांधी-आश्रम के उत्तर की ओर आने वाली उन दीवारों में सत्याग्रही कैदी होकर मैंने कई महीने बिताये थे, किन्तु वहां के जीवन की नाजुक बारीकियां देखने-समझने की शक्ति तो काकासाहेब की किताब ने ही दी।

अनेक प्रदेशों में काकासाहेब ने मानसिक प्रवास कराया है। उनकी प्रवास-कथा पढ़ते-पढ़ते उन-उन प्रदेशों में स्वयं यात्रा करने का भाव और संतोष प्राप्त होता है। 'हिमालयो ना प्रवास' (हिमालय की यात्रा) में जीवन की भव्यता के साथ हिमाच्छित प्रदेश की भव्यता का सुन्दर सुमेल होते देखा है। प्रकृति के साथ तादात्म्य होने की मनोकामना को काकासाहेब के जीवन को आनन्द से पढ़कर संतोष मिला है। भारत में बहती हुई नदियां मानो समग्र देश पर प्रकृति का अनुग्रह हैं। धरती का रस कसकर वे सार तत्व देती हैं। उसकी गोद में बसे लोगों को जीवन और ऐश्वर्य प्रदान करती हैं। काकासाहेब द्वारा प्रवाहित लोकमाताएं हमारे संस्कार और संस्कृति को जीवन देती हुई धीर-गम्भीर बह रही हैं, और सदियों तक बहती रहेंगी। काकासाहेब ने गुजराती भाषा और साहित्य को समृद्ध किया है। उनकी देन समग्र देश के लिए विशेषकर गुजरात के लिए अत्यन्त पावक और उपकारक है। काकासाहेब का स्थान ऋषि-मुनियों की पंक्ति में है। वह जीवन के ९४ वर्ष पूरे करके ९५वें वर्ष में प्रवेश कर रहे है, इस शुभ प्रसंग पर परवरदिगारे आलम से दुआ करता हूं कि वर्षों तक उनके आशीर्वाद और उनकी ममता हम सबको मिलती रहे।○

स्वातंत्र्य-प्राप्ति में ही जीवन-साफल्य

अमृतलाल नाणावटी

□□

आचार्य श्री काकासाहेब कालेलकर १ दिसम्बर १९७९ को ९४ वर्ष पूरे करके ९५वें वर्ष में प्रवेश करेंगे। उनके जीवन से जो लोग परिचित हैं, वे सब जानते हैं, ठेठ कालेज के जीवन में उन्होंने और उनके जैसे आचार्य जीवतराम कृपालानी, पं० सुन्दरलालजी आदि दोस्तों ने हिन्दुस्तान को अंग्रेजों की गुलामी से मुक्त करने का प्रण किया था। पू० काकासाहेब अपने समय के भारत के महान पुरुषों के निकट के परिचय में आये। लोकमान्य तिलक के साथ उन्होंने काम किया। गंगाधरराव देशपांडे, बैरिस्टर केशवराव देशपांडे आदि गुरु-जनों के सहवास में आकर देशोन्नति के काम किये। शान्तिनिकेतन में गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर के साथ भी काम किया और वहीं कर्मवीर मोहनदास कर्मचन्द गांधी से मिले और उनके बन गये।

बाद में महात्मा गांधी के साबरमती आश्रम में पहुंचे। वे स्वभाव से शिक्षाशास्त्री हैं। इसलिए राष्ट्रीय शिक्षा का काम वहां उन्होंने संभाला और गुजरात को 'सा विद्या या विमुक्तये' का मंत्र दिया। जब गुजरात विद्यापीठ का काम उन्होंने संभाला और बापू ने १९३० में १२ मार्च को ऐतिहासिक 'दांडीकूच' किया तब काकासाहेब ने विद्यापीठ को भी उस अद्वितीय स्वातंत्र्य-संग्राम में होम दिया। बापू अपने दांडीकूच में जब विद्यापीठ के रास्ते से गुजरे तब काकासाहेब ने उनको प्रणाम किया; उसका मैं साक्षी था। बापू ने काकासाहेब की पीठ पर जोर से हाथ ठोककर आशीर्वाद दिया। उस धन्यता का अनुभव करते हुए काकासाहेब ने मुझसे कहा, "आजे बापूजीए मारी पीठ पर जोर थी धब्बो लगावी आशीर्वाद आप्यो।"

बापू ने जितने भी सत्याग्रह के आंदोलन किये, उनमें जेल जाने का एक भी मौका काकासाहेब ने नहीं छोड़ा। इन जेल-यात्राओं का वर्णन लिखकर उन्होंने गुजराती सहित्य की जो सेवा की है वह अत्यंत लोकप्रिय हुई है।

१४ अगस्त १९४७ को हम असम जा रहे थे। मध्यरात्रि को हम पार्वतीपुर स्टेशन पर थे। उस समय सब रेलगाड़ियों के इंजिनों ने अपनी सीटियां बजाकर आजादी की घोषणा की और मैं अपने डिब्बे में से काकासाहेब के डिब्बे के पास 'आज मिल सब गीत गाओ' गाता हुआ पहुंचा। उन्होंने मुझे बुलाया, अपने पास बिठाया। सुबह की आश्रम-प्रार्थना हमने की और 'आज मिल सब गीत गाओ' भजन मैंने गाया। प्रार्थना के अंत में काकासाहेब ने मुझे और सरोज बहन को अपनी जगह बैठे-बैठे अपनी दोनों बांहों में एक साथ लेकर आलिंगन किया और धन्यता का जो अनुभव किया, उसका वर्णन शब्दों में नहीं किया जाता।

काकासाहेब ने इकसठ साल की उम्र में गांधीजी के पुण्य प्रयत्नों से स्वातंत्र्य सूर्य का दर्शन किया और उनके जीवन का एक बड़ा अध्याय यहीं समाप्त हुआ। हम जैसे नवयुवकों ने, जिन्होंने इसी स्वराज्य के लिए अपना जीवन अर्पण किया था उन्होंने, इकतालीस साल की उम्र में, स्वराज्य के सूर्य के दर्शन किये और उनके जीवन का भी एक बड़ा अध्याय यहीं पूरा हुआ।

जीवन शांत है और अनन्त भी है। गीताजी में कहा है "जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु:।" और यह भी कहा है, "बहूनिमे व्यतीतानी जन्मानि तव चार्जुन।" मनुष्य को पता नहीं चलता कि इसी जन्म में उसका मोक्ष है या और भी जन्म उसको लेने हैं। जैन तीर्थंकरों की बात अलग है, जिन्हें केवली ज्ञान प्राप्त होता है, और उसी जन्म में निर्वाण प्राप्त करते हैं।

भारत के संविधान ने हिन्दी को सरकारी भाषा घोषित किया और उसे भारत की मिली-जुली संस्कृति

को व्यक्त करने वाली कहा। इस मिली-जुली संस्कृति को अपनाने की कोशिश करते हुए स्वतंत्र भारतीय के नाते काकासाहेब ने दुनिया के विभिन्न देशों की यात्रा की। जापान तो वे अनेक बार हो आये। समन्वय का संदेश उन्होंने सबों को सुनाया और भारत के अनेक सेवकों से चर्चा भी की।

वे बार-बार कहते हैं कि समन्वय तो अहिंसा के द्वारा ही सिद्ध हो सकता है और अहिंसा की मात्रा पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में ज्यादा है। आज तक दुनिया ने पुरुषों के नेतृत्व का अनुभव किया। अब नारी-शक्ति को आगे आकर दुनिया का नेतृत्व करना है और पुरुषों को उसका अनुसरण करना है। इसीमें जगत का कल्याण है।

समन्वय की साधना के लिए वसुधैव कुटुम्बकम्, यह सारा विश्व एक छोटा-सा कुटुम्ब है, यह भावना मनुष्य में विकसित होनी चाहिए। इसका प्रचार शब्दों से नहीं होता, संस्थाएं खड़ी करने से नहीं होता। प्रत्यक्ष मनुष्य अपने जीवन में इस भावना को जब उतारता है, तब अपने आप उसका प्रचार होता है। काकासाहेब इसी भावना से जी रहे हैं। ○

हमारे गुरु-तुल्य

रामकृष्ण बजाज

□□

पूज्य काकासाहेब से अनेक वर्षों से हमारा पारिवारिक सम्बन्ध रहा है। साबरमती विद्यापीठ में मेरे बड़े भाई स्व० कमलनयनजी उनके विद्यार्थी रहे और उनके प्रति मन में बहुत गहरी श्रद्धा रखते थे। पू० काकाजी (स्व० श्री जमनालाल बजाज) का उनके प्रति विशेष आकर्षण था। काकाजी के अनुग्रह पर वे साबरमती आश्रम से वर्धा आ गए और बरसों तक वहां रहे। तब से दोनों परिवारों के बीच परस्पर सद्भावना और स्नेह का जो सम्बन्ध जुड़ा वह अभी तक चला आ रहा है। इसी वजह से भाई कमलनयन और काकासाहेब के सुपुत्र सतीशभाई दोनों साथ ही अध्ययन के लिए विदेश गए थे। श्री सतीशभाई के विद्यार्थी-जीवन की खूबी यह थी कि वह जिस कक्षा में खुद पढ़ते थे, उसी कक्षा के विद्यार्थियों का वे साथ-ही-साथ ट्यूशन भी कर लेते थे। श्री सतीशभाई का भाई कमलनयन के साथ सदा अटूट और घनिष्ठ सम्बन्ध रहा और आज जबकि कमलनयन हमारे बीच नहीं हैं, हमारे अपनत्व में कोई कमी नहीं आई है। काकासाहेब को हमारे परिवार के सारे लोग ही गुरु-तुल्य मानते हैं। काकाजी के प्रति उनकी जो श्रद्धा और स्नेह की भावना रही, उसके कारण हम सबको उनका आशीर्वाद तथा मार्गदर्शन निरन्तर प्राप्त होता रहता है।

काकाजी और बापू के पत्र-व्यवहार के प्रकाशन के सिलसिले में मेरा उनसे अधिक निकटता का संबंध आया। 'पांचवें पुत्र को बापू के आशीर्वाद' नाम से प्रकाशित ग्रन्थ का सम्पादन काकासाहेब ने करना स्वीकार किया। इस दौरान कई दिनों तक लगातार मैं उनके पास जाता रहा। कौन-सा पत्र लेना, कौन-सा नहीं लेना, किस पत्र का कितना अंश लेना, आदि तय करने में उनका मार्गदर्शन और सलाह बहुत ही आत्मीयता से प्राप्त हुई। और भी जो सवाल सामने आते, उनका विवेचन वे तुरन्त बड़ी बारीकी से करते, स्पष्टता से उनका खुलासा करते और उचित समाधान कर देते। इस चर्चा और मार्गदर्शन से मुझे बहुत कुछ सीखने को मिला।

ज्ञान के तो वह विश्वकोश ही हैं। एक चलता-फिरता पुस्तकालय यदि उन्हें कहा जाय तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। किसी भी विषय पर चर्चा चलने पर वह जो विश्लेषण करते हैं और वह इतने अधिकारिक रूप से करते हैं कि आश्चर्य होता है कि सब प्रकार के विषयों का इतना ज्ञानार्जन उन्होंने कैसे किया।

गांधी विचारधारा के व्याख्याता होने के साथ-साथ वह एक मौलिक विचारक भी हैं। बापू के प्रति पूरी श्रद्धा और भक्ति के बावजूद जब कभी उनसे विचार-भेद होता था तो काकासाहेब को अपने दृष्टिकोण को पूरे आत्म-विश्वास और साहस के साथ उनके सामने रखने में किसी तरह की हिचकिचाहट नहीं होती थी। गहन चिंतन से उपजी मान्यता और मान्यता के प्रति दृढ़ विश्वास द्वारा ही यह संभव हो सकता था।

छोटे बच्चे से लेकर बड़े तक, कार्यकर्ता से लेकर नेता तक, सबसे वह स्नेह और सद्भावना का रिश्ता बहुत सरलता से जोड़ लेते हैं। बड़ी सहानुभूति से उनके जीवन और समस्याओं में मार्गदर्शन देते हैं। उनकी गहरी मानवीय संवेदना ही इसका एक विशेष कारण है।

सारी उम्र उन्होंने सेवाकार्य किया। ईश्वर की कृपा है कि उन्होंने लम्बी आयु पायी और अबतक पूर्ण रूप से चेतन हैं। बापू का लक्ष्य था कि वे १२५ वर्ष तक जिएं। वे तो नहीं जी पाए, पर काकासाहेब, बापू के अनुयायी होने के नाते, इस अवधि को पूर्ण करें और हमें अपने ज्ञान और चिंतन का लाभ देते रहें, यही ईश्वर से कामना है। ○

उनकी दो विशेषताएं

फीरोजा वकील

□□

हां, सच्चे मित्र ही हैं काकासाहेब; हरेक के, जो भी उनके संपर्क में आते हैं; उन सबके—छोटे या बड़े, युवा या वृद्ध, ज्ञानी या मूढ़ !

बहुत वर्ष पहले जब मैं काकासाहेब से मिली, मैं अत्यन्त साधारण शिक्षिका थी, एक नगण्य-सी प्राणी, जिसको भारत के कुछ सर्वोत्तम, विशिष्ट महापुरुषों के दर्शन और परिचय का परम सौभाग्य मिला हुआ था। उन्हीं में थे काकासाहेब। हमने तुरन्त एक-दूसरे को अपना लिया।

उनके अन्दर वे सब विशेषताएं हैं, जो मेरे हृदय में उनके लिए प्रेम उत्पन्न करती हैं। उनकी एक बहुत लम्बी सूची है, जिनमें प्रमुख है गहरी करुणा और हृदय की स्नेह-भरी उदारता। वह लुप्त प्राय सच्चे, जन्म-जात सज्जनों के वर्ग के प्रतिनिधि हैं। लेकिन उनके स्वभाव के जो दो पहलू मुझे सबसे अधिक आकर्षित करते हैं, वे हैं—पारसियों के लिए उनकी कद्रदानी और जानवरों के लिए उनका गहरा प्रेम।

बम्बई महाराष्ट्र में हो या गुजरात में, यह वाद जब चल रहा था तब एक मित्र ने काकासाहेब से पूछा, "बम्बई किसको दी जाये ?" उन्होंने तुरन्त उत्तर दिया, "पारसियों को यह नगर क्यों न दिया जाये ? पारसियों ने ही तो इसको बनाया है, इसलिए उनका अधिकार है और वे ही उत्तम तरह से उसकी देखभाल करेंगे।"

काकासाहेब के लेख जिन्होंने पढ़े हैं, वे उनके पशु-प्रेम को बराबर समझ सकते हैं। उनकी इस विशे-

षता ने हमारे बीच निकट का हार्दिक संबंध उत्पन्न किया है, क्योंकि मुझे भी जानवर बहुत प्यारे लगते हैं।

मेरी अपनी जाति, हमारी प्राचीन ईरानी संस्कृति और भगवान जरथुस्त्र की करुणापूर्ण शिक्षाओं की कद्र करके उसका आदर करने की सीख मुझे काकासाहेब ने ही दी है, जिसके लिए मैं उनकी चिर-ऋणी हूं। भगवान जरथुस्त्र ने कहा है, ''प्राणी मात्र की सेवा को ही अपना आजीवन धर्म मानो।''

इस श्लोक के जीते-जागते साकार मूर्त्त स्वरूप ही हैं हमारे प्यारे काकासाहेब। ○

मेरे प्यारे दादाजी

निरुपमा मारू

□□

बचपन से ही जीवन के प्रति एक मंगल दृष्टि का विकास हो, छोटी-छोटी चीजों में छिपे हुए आनन्द को ढूंढ़-कर उसे अपना बना लेने की और उस आनन्द में अपना आनन्द मिलाकर दूसरों के सामने उसका नलराना पेश करके दुगुना आनन्द प्राप्त करने की कला का आविर्भाव हो और वैसी वृत्ति आत्मसात हो सके—यह जीवन विकास का एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण सोपान है, वैसा मेरे माता-पिता मानते रहे हैं। उसी दृष्टिकोण से मेरी मां ने जब काकासाहेब की पुस्तकों में से—'स्मरणयात्रा', 'लोकमाता', 'जीवनो आनंद', 'हिमालयनी प्रवास' इत्यादि में से कई एक परिच्छेद पढ़-सुनाकर उन सब पुस्तकों को अपने-आप पढ़ लेने का उत्साह और प्रेरणा दी, तब से मेरी छोटी-सी सृष्टि की परिधि अपने-आप विस्तरित होने लगी। काकासाहेब के साहित्य को पढ़ते-पढ़ते उनके सभी अनुभवों को मैं स्वयं अनुभव कर रही हूं, ऐसा अनुभव होता था, और उस आनंदमय व्यक्तित्व के साथ, दूर रहते हुए भी, एक विचित्र आत्मीयता घनिष्ठ होती हुई अनुभव करने लगी थी।

काका साहेब से हमारा कौटुम्बिक संबंध तो बरसों पुराना था ही, और मैं उनसे पहली बार मिली भी उनके प्रिय शिष्य पुरुषोत्तम और विजया की पुत्री के नाते ही; परन्तु जब मैंने उनसे पूछा, ''अगर मैं पत्र लिखूं तो आप मुझे उत्तर देंगे?'' और उन्होंने वात्सल्यभाव से पत्र-व्यवहार करने की बात को स्वीकार किया, तब से ही हमारे नये संबंध का प्रारम्भ एक अनोखी भूमिका पर हुआ। उसी क्षण से उन्होंने एक नन्हें-से बीज को बड़े जतन से पालकर उसके कोमल अंकुर को प्रफुल्लित पौधे में विकसित करने की श्रद्धापूर्ण, निष्ठापूर्ण, फिर भी सहज, ऐसी एक माली की जिम्मेदारी कुछ भी ज्यादा कहे बिना स्वीकार कर ली थी।

मुझे कितना कुछ कहना था, कितना ही पूछना और समझना था, ऐसे समय में मुझे मेरे ऐसे दादाजी मिल गये, जो मेरी बात को सम्मान की दृष्टि से, रस से सुनने और समझने के लिए तैयार थे। तब से वे मुझे सहज रीति से योग्य मार्गदर्शन देकर और भी गहराई से, विशाल दृष्टि से सब कुछ देखने, समझने और अनु-भव करने की शिक्षा देते रहे।

काकासाहेब के शब्दों में ही कहूं तो, ''शिक्षण तो प्रत्यक्ष सहवास से ही दिया जाता है। लेकिन पत्रों द्वारा शिक्षण कम नहीं दिया जाता। ऐसे पत्र शिक्षण में मदद रूप भले ही होते हों, परन्तु उनका मुख्य उद्देश्य शिक्षण का ही नहीं होना चाहिए। वार्तालाप जीवन के आनंद के लिए और जीवन के विनिमय के लिए होता

है, वही उद्देश्य पत्र-व्यवहार का भी होना चाहिए। तभी उसमें स्वच्छंद आनंद आये, टिके और उसकी अभिवृद्धि हो सके। ...उम्र में चाहे कितना ही फर्क क्यों न हो, फिर भी पत्रों में समान भाव से विचार-विनिमय हो सकता है। विनोद भी हो सके और इस तरह से प्रगति भी उत्तम रूप में साध्य हो सकती है।" उनके विश्वजनीन रस और वैविध्य ग्रहण करने की अभिरुचि और जीवन का उत्साह मैं जता सकी और "विद्यार्थिनीने पत्रो" ने उसका रूप धारण किया।

पत्र-व्यवहार के प्रारम्भ में एक पत्र में लिखा है 'प्रतित माता का संसर्ग अखंडित मिलता ही है—एक या दूसरे रूप में। प्रकृति माता से सख्य स्थापित होते ही अभ्यास में भी नया रस मिलता है, और सारा जीवन आनंदमय बन जाता है।" उस बात का मुझे अनुभव होने लगा। चारों ओर फैले हुए सृष्टि-सौंदर्य की विपुलता और उसमें समाई हुई अगणित अनुभूतियों के स्पंदन मुझे छूने लगे। कितनी सही बात है कि जीवनाकाश में अगर यह आनंद का सूर्य चमकता न होता तो किसे जीना अच्छा लगता ?

इस तरह समुद्र का असीम जल हो या आकाश के सितारों का अनंत सौंदर्य, प्रकृति के अवर्णनीय आनंद की अनुभूति करने की सूक्ष्मता विकसित करने में मेरे दादाजी के पत्र मुझे अद्भुत प्रेरणा और दृष्टि देते रहे—जिसका वर्षों के बाद भी जीवन के अनेकविध अनुभवों की विशेषताओं को समझने में आविष्कार होता हुआ मैंने देखा है।

शब्दों का विचारपूर्ण प्रयोग कैसे किया जा सकता है, कहीं भी विचारों की या शब्द प्रयोग की असंगतता न आने पावे, ऐसा विचार कैसे रखा जा सकता है, उस ओर मुझे जागृत करते रहे और मेरी भूलों के प्रति ध्यान खींचकर योग्य मार्गदर्शन देते रहे, और वह भी बड़े प्रेम से। अंग्रेजी भाषा का आकर्षण और रौब बढ़ते ही स्वभाव का स्वरूप विकृत होने लगे, यह कितनी शोचनीय बात है, उसके प्रति भी ध्यान खींच कर प्यार से डांट दी थी।

आदरणीय श्री मनुभाई पंचोली ने 'विद्यार्थिनीने पत्रो' की प्रस्तावना में बड़ी सुन्दर बात लिखी है, "विद्यार्थियों को अपनी क्षति और विशेषता—दोनों का दर्शन करवाना चाहिए, केवल कमी ही नहीं, न केवल विशेषता ही। कबीर ने कहा है :

"गुरु कुम्हार शिश कुंभ है, गढ़-गढ़ काढ़े खोट,
अंतर हाथ सहार दे, बाहर मारे चोट ॥"

दादाजी उसी भांति आंतरिक सहारा देकर बाहर से मेरा चरित्र निर्माण कर रहे थे—एक करुणामय गुरु के रूप में।

इस पत्र-व्यवहार के समाप्त होने से पूर्व एक बार दादाजी ने मुझे 'कन्याविदाय' की झांकी करवाकर रुलाया था। मैं कॉलेज में गई, इससे मेरी परिस्थिति बदल गई थी— मेरी भावना नहीं, लेकिन उस समय एक ओर मेरे प्रति गहरी, संरक्षित आत्मीयता का विश्वास दिलाते हुए और दूसरी ओर गाढ़े निःसंगता का भी अनुभव करवाते हुए लिखा, "अब तुम्हारी उम्र बढ़ी। एक अंक पूरा हुआ। बदली हुई परिस्थिति में नये संकल्प के साथ तुम मुझसे पत्र-व्यवहार कर सकती हो, लेकिन संभव है कि तुम्हें अब विचार-विनिमय करने के लिए किसी और अध्यापक या किसी माननीय व्यक्ति से पत्र-व्यवहार करने की इच्छा हो। नये व्यक्तित्व का विकास अनोखे ढंग से करना होता है। तब उसमें मुख्य चीज यह होती है कि अपनी नई आकांक्षा संतुष्ट हो। इसलिए इस प्रकार का हमारा पत्र-व्यवहार यहां पूरा हुआ—ऐसा अगर हम समझें तो उसका मैं स्वीकार करूंगा।"

उसके लगभग तीन साल बाद मैं और ऋषि (मेरे पति) परिचय में आए और जीवन में संघर्ष का भी

अनुभव होने लगा। हम दोनों भिन्न जाति के होने से ऋषि के परिवार में हमारे लग्न के निर्णय से विपरीत प्रत्याघात लम्बे अरसे तक होते रहे। उस समय पू० काकासाहेब ने बहुत ही स्पष्ट और ठोस भाषा में कहा था कि जिन दो व्यक्तियों की संस्कार-भूमिका समान हो, उनको मैं एक जाति का मानता हूं। कितनी विशाल दृष्टि थी यह !

१९६४ में दोनों परिवारों ने मिलकर बड़े प्यार से हमारा लग्न संपन्न किया। फिर तीन साल हम दिल्ली रहे। उसी समय मुझे मेरे दादाजी के समीप रहने का अवसर मिला। 'सन्निधि' मेरा मायका बन गया। काकासाहेब, रेहानाबहन, और मेरी प्यारी सरोजमासी के पास जब भी मन चाहे, जितना भी मन चाहे, उतना रह सकती थी। बातें करके मन भर भी लूं और खाली भी कर लूं। वे सब हम दोनों को बड़े प्यार से बुलाते और लाड़-प्यार करते थे। स्वास्थ्य के विषय में पहले भी हमेशा चिन्ता रखते थे और अब तो मैं उनकी आंखों के सामने ही थी, फिर चिन्ता में क्या कमी रहती !

उसके बाद तो कई साल हम परदेश में घूमते रहे। लेकिन जब भी घर आते थे और दादाजी से मिलने का अवसर मिलता था, तब सारा अस्तित्व एक अजीब आनन्द से नाच उठता था। उनसे मिलने की संभावना ही मेरे वर्षों के आवरणों को दूर करके मुझे उसी निर्दोष-सहज अनुभूति से भर देती थी, जबकि मैंने उनसे पहली बार पूछा था, "आप मुझे पत्र का उत्तर देंगे ?"

उनको पत्र तो मैं क्वचित ही लिखती हूं, पर उनका अत्यन्त वात्सल्यपूर्ण व्यक्तित्व सदा मेरे साथ रहता है, और मैं उनको अपने गतिशील जीवन की घटनाओं का, अनुभूतियों का मूक साक्षी बनाती रहती हूं। वही विशाल भालप्रदेश, वही वात्सल्यपूर्ण आंखें, श्वेत दाढ़ी में हमेशा लहराता हुआ उनका स्नेह मुझे निरंतर विश्वास दिलाता रहता है कि वे मुझे जरूर सुनते हैं।

१९५९ के एक पत्र में अपनी वर्षगांठ के विषय में उन्होंने बहुत ही सुन्दर लिखा था, "हर साल इस दिन अपने व्यतीत जीवन पर अन्तर्मुख होकर विचार करता हूं, और बाकी रहे हुए वर्षों के लिए संकल्प करता हूं।...अन्तर्मुख होने का समय न मिला, उसका दुःख न हुआ। मेरे मन में अन्तर्मुख और बहिर्मुख—ऐसा भेद अब नहीं रहा है। कुदरत की भव्यता निहारता हूं, उसमें परमात्मा का दर्शन होता है। लोगों से मिलता हूं, उनकी बातें सुनता हूं, उनकी परिस्थितियों का संशोधन करता हूं और उनकी परिस्थिति के विषय में जरूरी सलाह देता हूं—तब भी वह सब परमात्मा की सेवा के रूप में ही होता है। अपने आपको भूलकर इतनी सुन्दर सेवा होती हो और दर्शन होते हों तब अपना विशेष स्मरण करने से विशेष लाभ क्या हो सकता है ?" कैसी उदात्त वृत्ति है मेरे दादाजी की ?

हमारे ऐसे दादाजी की ९४वीं वर्षगांठ के पावन अवसर पर हम सबकी ओर से अनेकानेक प्रणाम और उनके दीर्घतम तथा इष्टतम आयुष्य के लिए मंगल कामनाएं। ○

सर्व-भाषा-सम-भावी ऋषि

रवीन्द्र केलकर

□□

पूज्य काकासाहेब की गिनती गुजराती भाषा के प्रथम पंक्ति के साहित्यकारों में की जाती है। हालांकि उनकी मातृभाषा मराठी है और मराठी में भी उन्होंने उतना ही मौलिक साहित्य लिखा है। हिन्दी साहित्य में उनका क्या स्थान है, मुझे मालूम नहीं है। किन्तु इतना मैं अवश्य कह सकता हूं कि पिछले चालीस वर्षों में उन्होंने हिन्दी में जितना और जिस प्रकार का साहित्य लिखा है, उतना यदि वे तमिल या बंगला भाषा में लिखते तो तमिलभाषी या बंगलाभाषी उनकी गिनती निश्चय ही तमिल या बंगला के प्रथम पंक्ति के साहित्यकारों में करते।

मैं कहने यह जा रहा था कि गुजराती और हिन्दी में जीवन-भर लिखते रहने पर भी काकासाहेब को शायद ही कभी इस बात की विस्मृति हुई होगी कि असल में वे महाराष्ट्रीय हैं और मराठी उनकी जन्मभाषा है। एक बार बातें करते समय उन्होंने मुझसे यहां तक बताया था कि बरसों से गुजराती समाज में घुल-मिल जाने पर भी और जीवन का बहुत बड़ा और महत्त्व का काल हिन्दी की सेवा में अर्पित करने पर भी "अब भी मुझे स्वप्न मराठी में आते हैं। मेरे स्वप्नों की भाषा मराठी ही है।"

हां, उन्होंने यह कभी नहीं कहा कि "मुझे महाराष्ट्र या मराठी का अभिमान है।" 'अभिमान' को उन्होंने हमेशा एक दुर्गुण ही माना। कई बार उन्होंने हमें बताया है, "अभिमान की जगह भक्ति को देनी चाहिए। अभिमान से नशा पैदा होता है, जबकि भक्ति की परिणति सेवा में होती है।" काकासाहेब में जो महाराष्ट्र-भक्ति या मराठी-भक्ति है वह किसी भी श्रेष्ठ महाराष्ट्रीय से कम नहीं है। महाराष्ट्र के राष्ट्र-पुरुषों के बारे में, संतों के बारे में या समाज-सेवकों के बारे में जब वे बोलते हैं, तब उनका हृदय गदगद् हो उठता है। पिछले पचीस वर्षों में मुझे ऐसे कई प्रसंग याद हैं, जब कि महाराष्ट्र के सत्पुरुषों के बारे में बोलते समय मैंने काकासाहेब की आंखों में आंसू देखे हैं।

इतना सब होते हुए भी बीच में एक समय ऐसा भी आया था, जबकि महाराष्ट्र के चंद लोग—विशेष रूप से चंद राजनीतिज्ञ और पत्रकार—काकासाहेब को 'महाराष्ट्र-विरोधी' मानने लगे थे।

इसका एक महत्त्व का कारण था :

लोकमान्य तिलक के कारण देश का नेतृत्व बरसों तक महाराष्ट्र के हाथों में रहा। लोकमान्य के चंद साथियों का अनुमान था कि लोकमान्य के बाद भी देश का नेतृत्व महाराष्ट्र के ही हाथों में रहेगा। किन्तु इतिहास ने ऐसा होने नहीं दिया। लोकमान्य की मृत्यु के बाद देश का नेतृत्व गांधीजी के हाथों में चला गया।

महाराष्ट्र के उन नेताओं को इससे बड़ा दुःख हुआ था।

काकासाहेब महाराष्ट्रीय थे। लोकमान्य के संस्कारों में पले हुए राष्ट्रसेवक थे। वे जब महाराष्ट्र छोड़कर गुजरात में जा बसे और गांधीजी के एक प्रमुख साथी बने, तब उन नेताओं को लगा, मानो काकासाहेब ने महाराष्ट्र को बहुत बड़ा धोखा दिया है। इसपर काकासाहेब ने एक बहुत बड़ा 'अपराध' किया। गंगाधरराव देशपांडे लोकमान्य के 'दाहिने हाथ' माने जाते थे। काकासाहेब ने उनको 'गांधीवादी' बनाया। (गंगाधरराव ने स्वयं पूना में आकर यह बताया।) तब से काकासाहेब महाराष्ट्र में बड़े ही 'अप्रिय' हुए। कठोर आलोचना के भाजन बने।

उन दिनों गांधीजी पर प्रहार करना हो तब ये नेता लोग काकासाहेब पर प्रहार करते थे।

इस पार्श्व-भूमि में काकासाहेब ने उन्नीस सौ पैंतालीस में कोंकणी भाषा को बढ़ावा देना शुरू किया। कोंकणी का मुख्य केन्द्र गोवा है। और काकासाहेब का गोवा के साथ बहुत पुराना संबंध है। उनके पुरखे गोवा के हैं। कुलदेव भी गोवा में हैं। उनके घर की बहुएं अक्सर कोंकणी ही बोलती थीं। कोंकणी के माधुर्य से वे बचपन से परिचित थे। बाद में उसकी संस्कार-संपन्न आंतरिक शक्ति को देखकर वे उससे कुछ प्रभावित और मोहित भी हुए। इतनी सुन्दर, मीठी और संस्कारी-भाषा केवल उसके सुपुत्रों की उपेक्षा के कारण साहित्य-निर्मिति के क्षेत्र में पिछड़ी रही इस बात का उन्हें दुःख था।

गोवा की राजनैतिक परिस्थिति से जब वे परिचित हुए तब कोंकणी की एक और शक्ति का उन्हें दर्शन हुआ। उन्होंने देखा कि दो बिलकुल स्वतंत्र दुनिया में रहने वाले गोवा के ईसाइयों और हिन्दुओं को एकत्र जोड़नेवाली यही एक कड़ी है। गोवा के सामाजिक संगठन में यह भाषा बहुत ही महत्त्व का हिस्सा अदा कर सकती है। स्वराज्य-प्राप्ति के लिए इस सामाजिक संगठन की नितांत आवश्यकता है। बल्कि यह संगठन ही स्वराज्य-प्राप्ति की बुनियाद है।

उन्होंने यह भी देखा कि गोवा के ईसाई लगभग चार शताब्दियों से भारत के सांस्कृतिक प्रवाह से अलग कर दिये गये हैं। उनमें यदि राष्ट्रीय जागृति लानी हो और उन्हें यदि भारत के सांस्कृतिक प्रवाह में लाना हो तो कोंकणी ही एकमात्र प्रभावी साधन बन सकती है।

गोवा के सामाजिक, सांस्कृतिक और राष्ट्रीय संगठन के एक प्रभावी साधन के तौरपर काकासाहेब ने कोंकणी के विकास-कार्य को बढ़ावा देना शुरू किया।

मगर पूर्वाग्रह-पीड़ित महाराष्ट्रीय नेता काकासाहेब की इस भूमिका को कैसे समझें ? उन्हें लगा कि काकासाहेब महाराष्ट्र को कमजोर बनाने के लिए यह 'अलग खिचड़ी पका रहे हैं' (सवतासुभा उभा करीत आहेत) वे काकासाहेब पर टूट पड़े। उनकी आलोचना करते समय कई लोगों को मर्यादा का भान भी नहीं रहा। वे कहने लगे, "कोंकणी मराठी के परिवार की ही एक बोली है। अतः गोवा महाराष्ट्र का ही एक अविभाज्य अंग है। आप कोंकणी को बढ़ावा देकर गोवा को महाराष्ट्र से अलग करना चाहते हैं।"

यहां तक तो ठीक, किन्तु वे इससे भी आगे गये और कहने लगे, "आप महाराष्ट्र के शत्रु हैं।"

सन् उन्नीस सौ पैंतालीस से लेकर इकसठ तक काकासाहेब की महाराष्ट्र में बड़ी ही निंदा की गयी। मुझे आश्चर्य और दुःख इस बात का है कि काकासाहेब से घनिष्ठ संबंध रखनेवाले 'गांधीवादी' महाराष्ट्रियों ने भी कभी इस आलोचना का प्रतिवाद नहीं किया। "आप किनके बारे में इस तरह की वाहियात और उच्छृं-खल बातें कर रहे हैं ?" यह पूछनेवाला कोई भी 'माई का लाल' महाराष्ट्र में इन सोलह-सत्रह वर्षों में नहीं निकला।

यहां मुझे कुछ अपनी बात भी बतानी चाहिए। मेरी मातृभाषा कोंकणी है। साहित्य के प्रति जब मुझमें आकर्षण पैदा हुआ तब जो एक महत्त्व की बात मेरे ध्यान में आयी वह यह थी कि मराठी या गुज-राती में जो साहित्यिक लिखते हैं वे घर में और आपस में भी मराठी या गुजराती—यानी अपनी-अपनी भाषा में बोलते हैं। उनकी बोलने की भाषा और लिखने-पढ़ने की भाषा एक है। मैं बोलता हूं कोंकणी में और लिखता हूं मराठी में। इससे लिखते समय मेरा दम घुटता है। बहुत-सी बातें तो मैं मराठी में ठीक से व्यक्त भी नहीं कर पाता। मेरी सृजन-शक्ति में मराठी अड़चनें पैदा करती है। या तो मुझे बोलना भी मराठी में चाहिए या जो भाषा मैं बोलता हूं, उसीमें लिखना चाहिए। यही मेरे लिए स्वाभाविक है।

इस अनुभव के कारण मैं कोंकणी का पक्षपाती बना और उसका प्रचार करने लगा। तब से मराठी

के पक्षपाती मेरा कड़ा विरोध करने लगे।

कोंकणी के विकास का खुद मराठी ही विरोध करती है, यह देखकर मैं मराठी का विरोधक बना। इसके पहले कोंकणी के लेखक वर्दे वालावलीकर को भी मराठी के विरोध का सामना करना पड़ा था। वे कड़े मराठी-विरोधक बने थे।

मैं काकासाहेब के सान्निध्य में पहुंचा उससे पहले मराठी-विरोधक वालावलीकर-पंथी बन चुका था।

काकासाहेब ने मेरी कोंकणी-भक्ति को बढ़ावा दिया। किन्तु मेरे मराठी-विरोध का कड़ा विरोध किया। शुरू-शुरू के दो-तीन साल तो वे मुझे यही समझाते रहे कि मराठी के संपर्क के बिना कोंकणी या तो सूख जायेगी या मर जायेगी। और मैं उनसे कहता रहा कि कोंकणी को अपने विकास के लिए यदि किसी दूसरी भारतीय-भाषा की सहायता लेनी पड़े तो हम हिन्दी की लेंगे। मराठी की हरगिज नहीं लेंगे।

एक दिन मैंने काकासाहेब से पूछा, "काकासाहेब, आप मराठीवादी हैं या कोंकणीवादी हैं? महाराष्ट्र तो आपको कोंकणीवादी मानता है और आपकी कड़ी आलोचना करता है। और इधर लगातार तीन साल आपने मुझे मराठी का महत्त्व समझाने में खर्च किये हैं।"

मैंने यह भी पूछा, "महाराष्ट्र ने आपकी इतनी निंदा की है। फिर भी आप चूं तक नहीं करते! आप कैसे यह सब सह लेते हैं?"

काकासाहेब ने कहा, "मैं स्वयं महाराष्ट्रीय हूं। महाराष्ट्र के स्वभाव से खासा परिचित हूं। महाराष्ट्र आज मेरी निंदा करता है। किन्तु किसी-न-किसी दिन उसको मेरी भूमिका जंच जायेगी। तब वह विरोध करना छोड़ देगा। मैं इस देश की छोटी-बड़ी सब भाषाओं का विकास चाहता हूं। सभी भाषाएं जीवित रहें, बढ़ें। कोई किसी का द्वेष न करे। मेरे लिए सभी भाषाएं एक-सी प्रिय और पूज्य हैं। मैं चाहता हूं कि तुम्हारी भी भूमिका यही रहे। तुम कोंकणी की सेवा करते रहो मराठी की भी करो। हिन्दी तो हम सबकी है। पुर्तगाली तुम जानते हो। इस भाषा का सारा बढ़िया साहित्य हिन्दी-मराठी में ले आओ। इस बहु-भाषिक देश में हरएक को बहुभाषिक बनाना है। सर्वधर्म-समभाव की तरह सर्वभाषा-समभाव—समभाव ही नहीं, ममभाव हमारी नीति होनी चाहिए।"

मुझे ठीक स्मरण है कि जिस दिन मैंने 'सर्वभाषा-समभाव' शब्द सुना उसी दिन मेरी भाषा-विषयक सारी भूमिका में आमूल परिवर्तन हुआ।

मैं आज भी कोंकणी में ही ज्यादातर लिखता हूं। कोंकणी के लिए ही मैंने अपना जीवन समर्पित किया है। किन्तु मैं मराठी में भी लिखता हूं। महाराष्ट्र के नेता लोग या मराठी के पक्षपाती मानें या न मानें मैं मराठी का भक्त भी हूं। मराठी के पक्षपाती जब कोंकणी का विरोध करते हैं, तब मुझे चिढ़ आती है। एक तमाचा खाने पर दूसरे को दो लगा भी देता हूं। हिन्दीवालों को भी जब मैं 'साम्राज्यवादी' बने हुए देखता हूं, तब मुझे गुस्सा आता है। मौका मिलने पर उनको भी भली-बुरी सुना देता हूं। किन्तु—

शपथपूर्वक कहता हूं कि मुझे इस देश की सभी भाषाएं एक-सी प्रिय हैं। एक-सी पूजनीय हैं।

मेरे जैसे कड़े मराठी-विरोधी को इतनी हद तक बदल देना क्या मामूली करामात है? क्या काकासाहेब की समन्वयवृत्ति की यह करामात नहीं है?

समन्वयवृत्ति की जितनी आवश्यकता धर्म के क्षेत्र में है, उतनी ही भाषा के क्षेत्र में है, बल्कि मैं कहूंगा, इसी क्षेत्र में सबसे ज्यादा आवश्यकता है। ○

प्यारे आचार्य

मुरलीधर घाटे

□□

पूज्य काकासाहेब एक बड़े साहित्य-सेवी के नाते सर्वत्र विख्यात हैं। वह केवल साहित्य के ही क्षेत्र में प्रिय हैं, ऐसी बात नहीं है। उन्होंने अनेक ग्रंथ लिखे हैं। उनका सम्पूर्ण साहित्य विचार-मूलक है। नाटक, उपन्यास, काव्य या व्यंग्य इत्यादि का उन्होंने स्पर्श तक नहीं किया। लेकिन उनके साहित्य का अध्ययन करनेवालों को उससे काव्य का रस सर्वत्र मिलता है, भले ही पुस्तक मृत्यु के संबंध में हो या श्मशानों की यादगार हो या गीता का भाष्य हो। उनकी वर्णन-शैली बड़े ही सजीव चित्र अंकित कर देती है। 'उत्तर की दीवारें' अथवा 'स्मरण-यात्रा' पढ़ते समय कितने ही नाट्य-प्रसंग पाठकों के सामने खड़े हो जाते हैं। नाटक की भव्यता 'जीवन का आनन्द' में पाठक पा सकते हैं। काकासाहेब कड़ी धूप में भी काव्यमय आनन्द दे सकते हैं। जीवन की ओर देखने की उनकी दृष्टि विलक्षण है। वह विनोदी लेखक नहीं हैं लेकिन उनके लेखन के प्रवाह में विनोद तैरते आते हैं और गंभीर प्रकृति के व्यक्ति के लिए भी कहीं-कहीं हंसी रोकना मुश्किल हो जाता है। आप साहित्यकार हैं, लेकिन निराले ढंग के। उनके प्रचलित साहित्य ने सेवक निर्माण किये हैं और सतत कार्यरत रहने की प्रेरणा भी उन्हें दी है।

अंत्योदय की प्रेरणा काकासाहेब से पाकर दूर आदिवासी क्षेत्रों में और दुर्घट हरिजन निवासों में जाकर बसने वाले अनेक सेवक अब भी मौजूद हैं। वे उनके प्रेरक पत्रों से प्रेरणा पाते रहते हैं। उनकी प्रतिभा ने निर्जीव ग्रन्थ ही निर्माण नहीं किये, लेकिन जीवन समर्पित करनेवाले असंख्य जीवित और जाग्रत सेवक भी तैयार किये हैं। उनके ग्रंथों का मूल्य रुपयों में गिना जा सकता है, लेकिन उनके साहित्य ने जो सेवा-क्षेत्र में प्रेरणा दी है, वह अनमोल है। उनका यह चिर-स्थायी साहित्य है। उसका नाश होनेवाला नहीं है।

काकासाहेब ने एक साहित्यकार के नाते अनेक पुरस्कार पाए हैं। उन पुरस्कारों को पाकर उन्होंने पुरस्कारों की ही गरिमा बढ़ाई है।

काकासाहेब के शिष्यों का समुदाय भी काफी लंबा-चौड़ा है। काकासाहेब की आयु जितनी लंबी और सुहावनी है, उतनी ही सूची लंबी और प्रेरणादायी है।

काकासाहेब के साहित्य ने जीवन के सब पहलुओं का स्पर्श करने का प्रयत्न किया है। इसलिए वह सही मानी में साहित्य है। वह जीवन के उपयोग में आता है। पढ़ा और फेंक दिया, यह साहित्य का मूल्य नहीं है। पढ़ा और प्रेरणा पायी, यह साहित्य का मूल्य है।

हम जब गुजरात विद्यापीठ में पढ़ते थे तब चर्चा छिड़ती थी कि काकासाहेब का अपना खास विषय कौन-सा है ? कोई कहते, उनका विषय इतिहास है; कोई कहते, भूगोल है; कोई कहते, साहित्य है। संस्कृत भी उनका विषय हो सकता था। गुजराती भाषा के वे लेखक माने जाते थे। लेकिन सच यह है कि उनके खास विषय का पता नहीं चलता था। किसी ने साहस करके कभी उनसे पूछा तो जवाब मिला, ''गणित।'' यह एक बड़ा विनोद ही था। किसी को इस जवाब की अपेक्षा भी नहीं थी। इसके मानी यह हैं कि वह किसी भी विषय को अपना सकते हैं। वह खगोल-शास्त्रज्ञ हैं। भूगोलशास्त्रज्ञ हैं। गद्य के पंडित हैं, इसी तरह संगीत के पंडित भी हैं। वह अनेकविध सम्मेलनों के सभापति रह चुके हैं। राजकोट के संगीत-सम्मेलन के सभापति का स्थान भी आपने सुशोभित किया था। यह आश्चर्य की बात नहीं है। उस समय संगीत भी एक सेवाक्षेत्र बन

चुका था। उसमें भी प्रेरणा का प्रचार करने का अवसर वह क्यों छोड़ते ? जीवन में पाये संगीत के ज्ञान का स्रोत उन्होंने उस सम्मेलन में पहुंचाया। अनेक संगीतकारों को भी प्रेरणा मिली।

घुमक्कड़ काकासाहेब ने सारे जगत् का प्रवास किया है। भारत की चारों दिशा में वह अनेक बार घूमे हैं, इसकी गिनती नहीं हो सकती। वह शहरों में घूमे, दूर-दूर के देहातों में भी घूमे। वह सुधरे हुए समाज में घूमे और सुदूर रहनेवाले आदिवासियों में भी घूमे। वह साहित्य-सेवियों में घूमे और निरक्षरों में भी घूमे। घूमना उनका स्वभाव था। "स्वभावो दुरति क्रमः।" स्वभाव का अतिक्रमण नहीं हो सकता। लेकिन उनका घूमना स्वाभाविक होते हुए भी संशोधक था और प्रचारक भी था। पृथ्वी के अन्य भागों में वह कई बार गये। लेकिन जापान तो यह सात बार हो आये। प्रवास से लौटकर किताबें लिखीं। उससे उनका 'मिशन' पूरा नहीं हुआ। समन्वय उनके जीवन का मिशन है। भारत-जापान समन्वय के लिए वह कई बार वहां गए। वहां के साहित्य-सेवियों से मिले। धार्मिक पंथों का अध्ययन किया। वहां के समाज का परिशीलन किया। वहां के आदिवासियों तक पहुंचे। वहां के धर्मज्ञों का परिचय किया। विद्यार्थियों से मिले। अपने छात्र जापान भेजे। जापान के भारत में लाये। अपनी और उनकी भाषा का आदान-प्रदान किया। ऐसे कई तरह के प्रयास किए। यही उनके घूमने का चरम उद्देश्य रहता है। उनका लिखा प्रवास-साहित्य भी काफी समृद्ध है। उसे पढ़ने से भूगोल और समाज का अच्छा ज्ञान मिलता है। लेकिन उनके लेखन में सर्वोदय विचार अनुस्यूत रहता है। उससे उनका सारा साहित्य प्रेरक और प्रभावी प्रचारक होता है।

अपने बचपन में मैंने 'कालेलकर' का नाम कभी सुना भी नहीं था। १९३० में जब जीवन-संघ में उनके प्रथम दर्शन हुए तब उनको गुजराती में बोलते सुना। मालूम हुआ, आप गुजराती हैं। गुजरात विद्यापीठ की पढ़ाई के वास्ते नवजीवन संघ में से उन्होंने मुझे चुना। मैं उनके साथ अहमदाबाद चला। गाड़ी में वह मेरे साथ मराठी में बोलने लगे। मैंने मन में सोचा, वह मराठी भी जानते हैं। हिन्दी भी वह बोल लेते हैं। लेकिन उनकी मातृभाषा मराठी है और वह महाराष्ट्रीय हैं, यह ज्ञात होने में थोड़ी देरी लगी। उस समय उनके दिल में गुजरात के जितना ही महाराष्ट्र के लिए भी सम्मान था। महाराष्ट्र में भी उनके काफी छात्र थे। स्वराज्य-आंदोलन में सब लगे हुए थे। वे १९३०-३१ के नमक सत्याग्रह के दिन थे। समूचा विद्यापीठ आंदोलन में लगा हुआ था। हमारे जैसे दो-चार छात्र ही विद्यापीठ में रहते थे। दो-तीन महीने के अंदर विद्यापीठ में 'स्वराज्य विद्यालय' शुरू हुआ। उसमें गुजरात के बहुत-से स्वयंसेवक शरीक हुए। विद्यापीठ भर गया। फिर हलचल मची। इस अवधि में काकासाहेब के तनिक निकट परिचय में आने का मौका मिला। मैंने देखा, वह बड़े प्यारे पिता हैं। उनमें वात्सल्य भरा हुआ है। वह जिस वात्सल्य से विविध विषयों के लिए छात्रों में अनुराग पैदा करते हैं, उससे उनके स्वयं के बारे में भी छात्रों का प्यार अनायास बढ़ता रहता है। कितना खिलाया, कितना पिलाया, कितनी प्यार की बातें कीं, कितनी अंगत समस्याओं में सहायता की, इसपर से प्यार का लेखा-जोखा करना संभव नहीं है। लेकिन ऐसा भी प्यार हमने उनके पास से पाया है। किसी विषय में या समस्याओं को लेकर पास आये व्यक्तियों को प्यार से समझाना, यही सच्चा प्रेम है। काकासाहेब ने असंख्य व्यक्तियों को अनेक विषयों में प्रविष्ट किया है, उनमें प्यार जगाया है। अनेक समस्याओं के सुलझाने में हाथ बंटाया है। यह जो प्यार का आदान-प्रदान है, वह बड़े महत्व का है। इससे लेनेवाले और देनेवाले भी एक-दूसरे के निकट आ जाते हैं। मां जैसा प्यार काकासाहेब के पास से कइयों ने पाया है। काकासाहेब को मालूम नहीं है कि उनके कितने प्यारे लोग दुनिया में हैं; और उनको प्यार करनेवाली दुनिया को भी भान नहीं है कि वह उनको कितना प्यार करती है। काकासाहेब ने आध्यात्मिक और भौतिक दोनों क्षेत्रों में अनेकों का प्यार जगाया है। एक बार वह गीता का प्रवचन कर रहे थे। सोलहवां अध्याय था। दैवी

संपत् और आसुरी संपत् के बारे में वह बोल रहे थे। उनका प्रवचन पूरा हुआ। दैवी संपत् और आसुरी संपत् के बारे में सोचते-सोचते कइयों ने गीता का अध्ययन शुरू किया। गीता से प्यार पैदा हुआ और उसके द्वारा काकासाहेब से भी जो प्यार पैदा हुआ वह हमेशा के लिए। उनकी प्रवास की पुस्तकें पढ़कर बहुतों ने घुमक्कड़ होने की प्रेरणा पायी है। अनेक व्यक्तियों ने उनको मार्ग-दर्शक मानकर उनके जरिये प्रवास भी किये हैं और उनके विचारों पर आचरण भी किया है।

काकासाहेब एक समाज अन्वेषक समाजशास्त्री हैं। उन्होंने बहुतों के उजड़े संसार को बसाया है और कई उजड़ते संसारों को संवारा है। कइयों की शादियां की हैं। अनेक अन्तर्जातीय और अन्तर्धर्मिक विवाहों को आशीर्वाद दिये हैं। अंत्योदय से लेकर समाज के सब कमजोर पहलुओं को मजबूत बनाने की कोशिश काकासाहेब ने की है। इसमें कार्य करनेवाले कई सेवकों की उलझनें उन्होंने सुलझायी हैं। कइयों ने समाज-सेवा की दीक्षा उनसे ही पाई है। "आदिवासी क्षेत्र में सेवा करने का पहला पाठ मैंने काकासाहेब से सीखा," ऐसा स्व० धर्मदेव शास्त्री हमेशा कहते थे। गुजरात के बबलभाई काकासाहेब की ही देन हैं। ऐसे कई सेवक भारत के कोने-कोने में उनकी प्रेरणा से बसे हैं। यह जो सेवकों का प्यार है, वह प्रेम की मजबूत डोर से बंधा है। वह कच्चा धागा नहीं है।

काकासाहेब ने विपुल साहित्य का निर्माण किया है और उसके पाठक बहुत बड़ी संख्या में हैं। यह सफल साहित्यसेवी के साहित्य का द्योतक है। यह तो काकासाहेब के साहित्य संबंधित बात रही, लेकिन उनकी सफलता इसके अतिरिक्त है। उन्होंने साहित्य के लिए साहित्य नहीं लिखा। उन्होंने जो कुछ किया, वह लिखा। उसमें समाज शिक्षित करने की तमन्ना थी। काकासाहेब के मन में कोई विचार तरंगित होने लगते हैं तो वे समाज को समर्पित किये बिना रह नहीं सकते। आपका मानस शिक्षक का है। विद्या-वितरण उनका कार्य है। इसके द्वारा दुनिया को विकसित करने का काम जो उन्होंने किया, वह बड़े प्यारे आचार्य का है। काकासाहेब बड़े प्यारे आचार्य हैं। ○

उनके प्रेम की सरिता

पुरुषोत्तम ना० गांधी

□□

वेदकालीन ऋषिकुल-परंपरा की साक्षात् मूर्ति यानी पू० काकासाहेब कालेलकर—आध्यात्मिकता जिनके जीवन की नींव में है, ऐसे तत्वचिंतक और अंतर्द्रष्टा का जीवन, समाज के जीवन के अनेकविध क्षेत्रों में सदा प्रकाश फैलाता रहा है। ९५वें वर्ष में पहुंचा हुआ उनका शरीर भले ही शिथिल हो गया हो, श्रवण-शक्ति भले ही लगभग नष्ट हो गई हो, किन्तु मन की प्रसन्नता और मौलिक विचारधारा क्षीण नहीं हुई है। यह उनकी जीवन-भर की निष्काम साधना का फल है। गीता के निष्काम कर्म और अनासक्ति को उन्होंने जीवन में पचाया है, ऐसा कहा जा सकता है। संत के प्राप्य चित्त की प्रसन्नता उनमें स्थित है।

अध्ययन और अध्यापन उनके जीवन-कार्य के मध्यबिन्दु रहे हैं। क्रांतिकारी विचारधारा को धारण करनेवाले युवा दत्तात्रेय ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में चाहे वह शिक्षण हो या साहित्यिक क्षेत्र हो, राजकीय क्षेत्र

हो, या समाज सुधार का कार्य हो हर एक क्षेत्र में उन्होंने सक्रिय कार्य द्वारा, असंख्य व्याख्यानों द्वारा अनगिनत लेखों तथा अनेकानेक पुस्तकों के लेखन द्वारा मौलिक विचारों को प्रस्तुत करके क्रांति का सर्जन किया है।

वे विद्यार्थी जगत के आदणीय अध्यापक रहे, प्राध्यापक हुए, आचार्यपद प्राप्त किया और अनेकों के दिल में गुरु के स्थान पर विराजमान हुए।

अपना अध्ययन पूरा होते ही विदेशी राज्य की पकड़ में से देश को मुक्त कराने के लिए हिंसक क्रांति के मार्ग पर कदम रखा, किन्तु जब इस मार्ग पर सफलता न मिलने की प्रतीति हुई तो उससे मुड़कर दूसरा मार्ग अंगीकार किया। एक संन्यासी की भांति उन्होंने सारे देश का परिभ्रमण और उत्तुंग हिमालय के शिखरों का विकट प्रवास किया है। साधना-मार्ग में भी जीवन में कम उपलब्धियां नहीं हुई हैं। जब काकासाहेब शान्तिनिकेतन में गुरुदेव टैगोर के पास रहे थे, पू० गांधीजी अफ्रीका से आकर शान्तिनिकेतन गये थे। तब बापू की अल्प भेंट में ही उनकी ओर आकर्षित हुए और शांतिनिकेतन छोड़कर साबरमती आश्रम में आकर गांधीजी के साथी बने, और शिक्षण-कार्य हाथ में ले लिया। आश्रम के हम सभी छोटे-बड़े बच्चों को एक और सहृदयी गुरु प्राप्त हुए। खूबी तो यह थी कि एक छोटे-से-छोटे बालक से लेकर युवा विद्यार्थी तक हरएक में उनको रस रहा। उनकी ज्ञान प्राप्त कराने की अनोखी ही पद्धति रही। छोटे बच्चों को उनकी जरूरत के अनुसार रुचिपूर्ण ज्ञान मिलता तो बड़े विद्यार्थियों को उनकी कक्षा का रसप्रद शिक्षण प्राप्ति होता था, और बड़े, उच्च शिक्षण तक पहुंचे हुओं को काकासाहेब में खुले ज्ञान-भंडार से जितना दे सकें, उतना ज्ञान दे देने की उत्कट भावना हमेशा दीख पड़ती थी। हर एक के दिल को उन्होंने जीत लिया था। सबके वे प्रिय आचार्य बन गए। जीवन के मार्ग-दर्शक बने और सबको ज्ञान प्राप्त करने की कला सिखाई। निसर्ग-प्रेमी काकासाहेब ने पशु-पक्षी, फूल, वृक्ष, नदी-सरोवर, पहाड़, आकाश के तारे आदि सभी में विद्यार्थियों की अभिरुचि जगाई, जितना ग्रहण कर सकें, उतना ज्ञान दिया।

तदुपरांत उनका अनोखा वात्सल्य हमें मिला। उन्होंने आश्रम के कठोर नियमों और भरसक दिनचर्या का काम विद्यार्थियों के ध्यान में भी न आने दिया। रहन-सहन की छोटी-बड़ी मुश्किलें और मानसिक उलझनों को सुलझाने के उपाय हमें उनके पास से मिलते थे।

सहृदयता से सबकी बातें सुनना, यह उनका अनोखा गुण था। वे सिर्फ आचार्य ही नहीं, बल्कि विद्यार्थी-समाज के कुलगुरु बने।

कई भाषाओं के ज्ञाता काकासाहेब मूलतः महाराष्ट्र के होते हुए भी गुजराती भाषा पर उनका कितना अभूतपूर्व अधिकार है, यह बात गुजरात की जनता से छिपी नहीं है। उनकी ज्ञान-गंगा बहाने का मुख्य माध्यम गुजराती भाषा बनी रही। गुजराती भाषा को काकासाहेब ने विशिष्ट शैली से अधिक सरल तथा रोचक बनाई और गुजराती भाषा में अपना ज्ञान परोसकर गुजराती साहित्य को विशेष रूप से समृद्ध बनाया।

भूगोल, खगोल और संस्कृत के प्रति उनका विशेष पक्षपात रहा। खूबी तो यह है कि कुछ अरसिक गिने जानेवाले विषयों को भी उन्होंने इस प्रकार रस-पूर्वक सिखाया कि किसी भी प्रकार की ऊब और बोझ के बिना हर एक विद्यार्थी वह अरसिक विषय सीख लेने के लिए उत्सुक रहता।

हमारे जैसे अनेकानेक विद्यार्थी और बालकों ने अनुभव किया कि काकासाहेब का वात्सल्य उनसे शिक्षण प्राप्त किये हुए विद्यार्थी तक ही सीमित नहीं रहा है, बल्कि उनके प्रेम की सरिता हमारे कुटुम्ब के बच्चों तक बहती रही और काकासाहेब के पत्रों के द्वारा उनका भी विकास होता रहा। साबरमती आश्रम के विसर्जन के बाद भी उनकी मौलिक विचारधारा का मार्गदर्शन उनके प्रेमपूर्ण पत्रों के द्वारा मिलता रहा।

ईश्वर ऐसे गुरु को चिरकाल तक आयुष्य प्रदान करे और उस ज्ञानरूपी विशाल वट-वृक्ष की छाया हम

सबको, देश के विशाल विद्यार्थी-समुदाय को और देश-विदेश की समस्त मानव-जाति को चिरकाल तक मिलती रहे, यही प्रार्थना है। ○

शब्द-लोक के यात्री

रमणलाल जोशी

□□

दिसम्बर की पहली तारीख को काकासाहेब ने ६४ वर्ष पूरे किये। कितनी पीढ़ियां उन्होंने देखीं, सारा गांधी युग देखा, समाज के अनेक परिवर्तन देखे।

कांग्रेस का और काकासाहेब का जन्म एक ही साल—१८८५—में हुआ। स्वतंत्रता के जन-आंदोलन के वे सेनानी और प्रचारक रहे और स्वातंत्र्य-प्राप्ति के बाद की देश की स्थिति के मूक साक्षी। 'मूक' इसलिए कि स्वराज्य मिलने के बाद काकासाहेब ने स्वदेशी राज्यकर्ताओं को एक भी शब्द सुनाया नहीं है। शायद यह उनके सौम्य व्यक्तित्व और उनकी व्यवहार दक्षता के कारण ही हुआ होगा।

गांधीजी के निकट अंतेवासियों में उनके जैसे थे किशोरलाल मशरूवाला, महादेवभाई देसाई, आचार्य कृपालानी, स्वामी आनंद, नरहरिभाई पारीख, गिडवाणीजी, मानो सप्तर्षि मंडल ही हो! गुजरात विद्यापीठ के द्वारा गांधी-विचार देशभर में फैल गया। अपने-अपने तरीके से ये सब गांधी जीवन-दर्शन के उद्‌गाता बने। काकासाहेब का काम प्रधानतया रहा शिक्षण और साहित्य के क्षेत्र में। उनके लेखों ने और संभाषणों ने साहित्य में एक नयी क्रान्ति उत्पन्न की। गुजराती लेखकों के भी वे प्रीति पात्र बने और गांधीजी ने उनको 'सवाई गुजराती' की उपाधि दी, काकासाहेब गांधी जी के समय के भाष्यकार और गुजराती गद्य के प्रणेता हो गये। इसकी नींव में है उनकी सौन्दर्याभिमुख कविदृष्टि। उनकी सर्जकता गद्य में रमणीय काव्य का निर्माण कर देती है। उमाशंकर ने काकासाहेब का परिचय देते हुए उन्हें 'कवि' कहा है, यह सर्वथा उचित ही है। ललित निबंध, आत्मपरक निबंध लेखन में काकासाहेब की सिद्धि अनोखी ही है। तदुपरान्त वैचारिक निबंध, स्मरण-कथा, शैक्षणिक विचार, साहित्य-विवेचन आदि में भी उनकी देन मूल्यवान है। काकासाहेब एक सम्मान्य साहित्यकार तो हैं ही (यद्यपि वे अपने को साहित्यकार कहलाना पसंद नहीं करते), किन्तु साथ ही वे साहित्यकारों को गढ़नेवाले, साहित्य को भी प्रेरणा देनेवाले, गांधीजी के शिक्षण का प्रचार करनेवाले, एक सात्विक संस्कार सेवक भी हैं। पत्थर में भी प्राण पैदा करने की शक्ति गांधीजी में थी। वहां जो स्वयं रत्न ही थे उनमें कैसी ज्वलंत प्रतिभा पैदा कर सकते थे, वह गांधी जी के अंतेवासियों के जीवन-कार्य से प्रतीत होता है। एक-एक अंतेवासी मानो गांधीजी की छोटी आवृत्ति रूप थे।

कुछ वर्ष पहले काकासाहेब से मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था तब श्वेत वस्त्रों में तथा श्वेत दाढ़ी में सुशोभित उनकी मूर्ति एक ऋषि जैसी ही लगती थी! तत्पश्चात् उनके दर्शन का सुयोग नहीं, मिला किन्तु वृद्धावस्था में जब-जब उन्हें देखा है, तब-तब प्रतीति हुई है कि वार्धक्य भी ऐसा सुंदर हो सकता है!

काकासाहेब का असली नाम दत्तात्रेय बालकृष्ण कालेलकर है। उनका जन्म ईस्वी सन् १८८५ में दिसम्बर की पहली तारीख को कार्तिक कृष्ण १० के दिन महाराष्ट्र की उस समय की राजधानी सातारा में

हुआ। काकासाहेब का परिवार सावंतवाड़ी की ओर का था। उनका वतन माणगांव के पास का गांव कालेली था। उनका कुलनाम राजाध्यक्ष था, किन्तु बाद में कालेली पर से कालेलकर हो गया। सावंतवाड़ी में डाकुओं का उपद्रव बढ़ जाने से कालेलकर-परिवार सावंतवाड़ी छोड़कर बेलगांव के पास आकर बस गया। काकासाहेब का जन्म हुआ तब उनके पिता श्री बालकृष्ण जीवाजी कालेलकर सातारा जिले के कलेक्टर के प्रमुख हिसाबनवीस थे। माताजी राधाबाई (पूर्वाश्रम के गोदावरी बाई) शाहपुर के भिसे-परिवार की थीं। दोनों सदाचारी और रूढ़ धर्म के मानने वाले थे। छः भाई और एक बहन में काकासाहेब सब से छोटे थे। उनके बचपन का काव्यमय वर्णन उन्होंने 'स्मरण यात्रा' में किया है।

काकासाहेब का प्राथमिक-माध्यमिक शिक्षण कारवार, धारवाड़, बेलगांव—अलग-अलग स्थानों में हुआ। काकासाहेब के मन पर पारिवारिक वातावरण का, प्रकृति-प्रेम का और अपने शिक्षकों का अच्छा प्रभाव रहा। सन् १९०२ में, सत्रह साल की उम्र में, जब वह छठी कक्षा में पढ़ रहे थे तब शिरोडकर-परिवार की लड़की लक्ष्मीबाई के साथ उनका विवाह हुआ। १९०३ में उन्होंने मैट्रिक की परीक्षा पास की। १९०४ से १९०७ के बीच पूना के फर्ग्युसन कॉलेज में पढ़ाई कर बी० ए० की परीक्षा पास की। देश-भर में स्वराज्य का आंदोलन चल रहा था। काकासाहेब ने राष्ट्रीय शिक्षक होने का संकल्प किया। उनके मन पर स्वामी विवेकानन्द का और श्री अरविंद का सघन प्रभाव था। १९०८ में बेलगांव के गणेश विद्यालय के वे आचार्य हुए। फिर उसको छोड़कर एल-एल० बी० की परीक्षा पास की। उस वर्ष में माताजी का अवसान हुआ। दो वर्ष बाद पिताजी भी चल बसे। १९१०-११ में गंगनाथ विद्यालय (बड़ोदा) में आचार्य रहे। १९१२ में हिमालय गये। १९१३ में ऋषिकुल हरिद्वार में मुख्य अधिष्ठाता रहने और छः महीने सिंधु ब्रह्मचर्याश्रम में व्यतीत करने के बाद वह गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शान्तिनिकेतन पहुंचे। वहां छः महीने शिक्षणकार्य किया। वहां गांधीजी से मुलाकात हुई। गांधीजी का परिचय बहुत घनिष्ठ हुआ और काकासाहेब उनके अंतेवासी बन गये। १९२० में 'गुजराती साहित्य परिषद' का अधिवेशन अहमदाबाद में हुआ। रवीन्द्रनाथ ठाकुर भी वहां आमंत्रित थे। गुजरात को रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा का परिचय कराने वाला लेख काकासाहेब ने लिखा। यह उनका पहला गुजराती लेख था। १९२८ में गुजरात विद्यापीठ का पुनर्गठन हुआ, तब काकासाहेब 'गुजरात विद्यापीठ' के कुलनायक बने।

स्वराज्य के आंदोलनों में कई बार वे जेल गये। १९३६ में गुजराती साहित्य परिषद् के बारहवें अधिवेशन में गांधीजी अध्यक्ष थे, तब काकासाहेब कला-विभाग के प्रमुख रहे। १९४२ के 'भारत छोड़ो' आंदोलन में भी लम्बे अर्से तक जेल भोगी। १९४८ में गांधीजी का उत्सर्ग हुआ तब गांधीजी के जीवन-दर्शन के मूर्त प्रतीकरूप जो महानुभाव उनके पास थे, उनमें एक काकासाहेब हैं। १९५० में उन्होंने पूर्व अफ्रीका का प्रवास किया। १९५२ में वह राज्य सभा के सदस्य नियुक्त किये गये। १९५२ में यूरोप का प्रवास किया। १९५३ में पिछड़ी जातियों के आयोग के अध्यक्ष बने। १९५४ में जापान का प्रवास किया। १९५६ में सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय की सरकारी योजना के सलाहकार मंडल में नियुक्त हुए। दूसरे ही वर्ष जापान और चीन की यात्रा की। तदनंतर वेस्ट इन्डीज, अमरीका, यूरोप, अफ्रीका के देशों की यात्रा की। १९५९ में मॉरीशस और मैलेगासी की यात्रा की। काकासाहेब यथार्थरूप में विश्वयात्री बन गये। उनकी ये सारी संस्कार-यात्राओं के सुंदर वर्णन हमें 'हिमालय की यात्रा,' 'सूर्योदय का देश जापान,' 'पूर्व अफ्रीका' जैसी पुस्तकों में पढ़ने को मिलते हैं। गुजराती साहित्य में उनके कितने ही प्रवास-वर्णन लिखे गये हैं, किन्तु आज भी 'हिमालय का प्रवास' अत्युत्तम है। विद्यापीठ-निवास के दरमियान काकासाहेब ने अनेक व्यक्तियों के जीवन को बनाया है। अनेक लेखकों की वह प्रेरणामूर्ति रहे। कवि श्री सुन्दरम् उनके विद्यार्थी थे। विद्यापीठ में एक समय

काकासाहेब के बाल भी सुन्दरम् ने काटे थे ! अनेक संस्मरण उन्होंने लिखे हैं। श्री उमाशंकर जोशी विधि-पूर्वक काकासाहेब के विद्यार्थी नहीं थे, फिर भी उनके विकास में काकासाहेब का कितना समृद्ध योग है, यह उमाशंकर भाई की '३१ की झांकी' पुस्तक से प्रतीत होता है।

गुजराती साहित्य के ललित निबंध के सर्जकों में काकासाहेब का स्थान चिरस्थायी है। 'रखडवानो आनंद' और 'जीवननो आनंद' इन दो पुस्तकों के निबंधों में लेखक के समृद्ध व्यक्तित्व का प्रभाव आनंद देता है। इस व्यक्तित्व ने संस्कृत और अंग्रेजी साहित्य का आकंठ पान किया है। जन्मजात् सात्विक प्रकृति-प्रेम उसकी रग-रग में व्याप्त है, जिसने भारत की संस्कृति का संदेश आत्मसात् किया है और जो हमेशा अभिनव दृष्टि से विचार करनेवाला है—ऐसे एक सर्जक-व्यक्तित्व का दर्शन मिलता है। 'ओतरानी दीवालों' (उत्तर की दीवारें) में जेल के अनुभव हैं। 'जीवन के काव्य' में हमारे उत्सवों का नवीन अर्थ वे देते हैं। 'जीवन-विकास' में शिक्षण-विषयक लेख दिये हैं। 'जीवन-भारती' में साहित्य-विवेचन है। काकासाहेब की इन सारी पुस्तकों में 'जीवन' शब्द मात्र शोभा का नहीं, अर्थ सूचक है। काकासाहेब जीवन-धर्म साहित्यकार हैं। उन्होंने स्वयं लिखा है कि वह 'कला के लिए कला' के वाद को नहीं मानते, 'जीवन के लिए कला' को मानते हैं, क्योंकि 'मात्र कला के लिए कला' तो कई बार 'विरूपता के लिए कला' हो जाती है। स्मरण रहे कि अपने लेखों में काकासाहेब कभी उपदेशक नहीं बने, सौन्दर्यद्रष्टा ही रहे हैं। विवेचन में भी उन्होंने इस सुरुचिपूर्ण अभिगम को ही प्राधान्य दिया है।

और काकासाहेब की भाषा ? संस्कृत के संस्कारोंवाली और साथ ही अपनी कहावतों और रूढ़ प्रयोगों का स्वाभाविक विनियोग करनेवाली प्रभावशाली जीवंत गुजराती भाषा है। ऐसी भाषा का प्रयोग करके उन्होंने 'सवाई गुजराती' के विरुद को सार्थक किया है।

१९६० में 'गुजराती साहित्य परिषद्' के बीसवें सम्मेलन के वह अध्यक्ष रहे। और १९६१ में जब उन्होंने ७६ वर्ष पूरे किये तब उनकी षष्टि पूर्ति के उपलक्ष्य में तैयार किया गया 'कालेलकर अध्ययन-ग्रंथ' उन्हें अर्पण किया गया। उनकी पुस्तक 'जीवन-व्यवस्था' को अकादमी का पुरस्कार मिला।

काकासाहेब जैसों के लिए ही 'विभूति' शब्द का उपयोग हो सकता है। गुजराती साहित्य की वे एक महान साहित्यिक प्रतिभा हैं। काकासाहेब के जीवन-कार्य में से अनेक लेखकों को प्रेरणा मिली है। उमाशंकर जोशी ने अपना 'गंगोत्री' काव्य-संग्रह काकासाहेब को अर्पण करते हुए जो पंक्तियां लिखी हैं, उसमें अनेक गुजराती साहित्यसेवियों की भावना की प्रतिध्वनि है।

अजाण्यु ह्वँ आव्युं गभरू छरणु के।
तव पदे
प्रवासी ! तें एने हृदय जगवी
सिंधु करणा ।।

(अनजाना बहकर आया एक मुग्ध झरना तुम्हारे चरणों तक, हे प्रवासी ! तुमने उसके हृदय में सिंधु की रटना जगा दी।) ○

साहित्य के साथ तद्‌रूपता

प्रेमा कंटक

□□

"मेरी मृत्यु मर गयी, मुझे बना दिया अमर।"—संत तुकाराम

आचार्य काकासाहेब कालेलकर साहित्य-सेवी हैं। कविहृदय हैं, महात्मा गांधी के सत्याग्रहाश्रम में वर्षों तक रहकर उन्होंने समाजसेवा की दीक्षा ली है। लेकिन मुख्यतः वह लेखक और चिंतक ही रहे हैं। जीवन के प्रेमी होने पर उसकी पूर्णता को अभिव्यक्त करना और महात्माजी के सिद्धान्त तथा संदेश को साहित्यिक भाषा में समाज के सामने पेश कर तपस्या का आनन्द सिद्ध करने में वह सफल हुए हैं। उनका साहित्य गुजराती, हिन्दी तथा मराठी भाषाओं को समृद्ध बनानेवाला है।

युवावस्था में उनको तपेदिक हुआ था। उस व्याधि से बच गये। हमारे लिए परम सौभाग्य की बात है कि वह आज हमारे बीच हैं।

सन् १९७४ के दिसम्बर में वह यहां महिला सम्मेलन के उद्‌घाटन के लिए आये थे। उस समय उनका स्वास्थ्य थोड़ा बिगड़ा था, लेकिन शरीर दुबला होने पर भी बौद्धिक और मानसिक शक्तियां अच्छा काम देती थीं। उसके बाद एक बार मैं उनसे बम्बई में मिलकर आई थी। तब वह ठीक से सुन नहीं सकते थे। अपना सवाल या जवाब लिखकर उन्हें देना पड़ता था। जो हो, उनका जीवन तो कब का कृतार्थ हो गया है। उनके लिए अब कुछ करने को बाकी नहीं रहा है। अपने साहित्य के द्वारा वह इस संसार में अमर हो गये हैं। आज-कल भी काकासाहेब पढ़ते रहते हैं और फिर पढ़ा हुआ भूल भी जाते हैं। लेकिन पठन में समाधि लग जाने जितनी अनुकूलता भगवान ने उन्हें दे रक्खी है, यह भी उसकी कृपा समझना चाहिए। ऐसी अवस्था में भी शान्ति मिल सकती है। जिन्होंने उनके साहित्य की ताजगी, मौलिकता, माधुर्य आदि विशेषताओं के दर्शन किये हैं, उनको समाधान होगा कि जीवन के उत्तरार्द्ध में भी वह साहित्य के साथ तद्‌रूपता पा रहे हैं। ○

मेरे विनम्र प्रणाम

राधिका

□□

सोलह साल विदेश में रहने के बाद मैं भारत लौट आई। जो भावनाएं और आदर्श मेरे दिल में देश के लिए बसे हुए थे, उनकी पहली कसौटी तो कॉलिज में ही हो गई। क्या यही सचमुच भारत था, यही देश की संस्कृति थी, जो कि नई पीढ़ी को सौंपी जा रही थी, और जिसके गौरव से हमारे दिल रोशन हो जाते थे ?

मेरी उमंग की लहरों में हताशा का तूफान उठा। मेरे सच्चे भारत के तट पर मैं कब पहुंच पाऊंगी ? कौन-सी दिशा में उसे ढूंढूं ? अंग्रेजों से तो स्वतंत्रता पा ली, पर अब इस अंग्रेजियत से कब छुटकारा होगा ?

आदर्श कोई मृगतृष्णा नहीं है। यह एक वास्तविकता है, जिसके बल पर हम खड़े रहते हैं और जिसके सहारे सम्पूर्ण जीवन की घटनाओं को झेल सकते हैं।

इसी वास्तविकता को खोजते हुए मैं काकासाहेब के पास पहुंच गई। आखिर मुझे भारत की झांकी मिली।

काकासाहेब एक आधुनिक मनीषी होते हुए, प्राचीन परम्पराओं को लेकर आगे चलते हैं। उन्होंने अपने मौलिक चिंतन से एक ताज़गी पैदा की है। काकासाहेब में कई विचारधाराएं मिलती हैं।

इसलिए उनका दृष्टिकोण संकुचित नहीं है, बल्कि विशाल विश्वदृष्टि है, जो कि विभिन्न स्तरों पर एकता और समन्वय उत्पन्न करती है।

काकासाहेब की गम्भीरता केवल सामाजिक और धार्मिक विचारों से ही प्रकट नहीं होती है। उनके सहज आचरण और क्रिया से हमें सैद्धान्तिक शिक्षाएं मिलतीं हैं।

मेरे विनम्र प्रणाम ! ○

मेरे निर्माण में उनका योगदान

पदमचंद्र सिंघी

□□

'बोम्बे स्कूल ऑफ इकनोमिक्स और सोशॉलाजी' से एम० ए० करने के उपरान्त मैं काम की खोज में था तो किसीने बताया कि काकासाहेब से मिलो, वह भारत सरकार के 'पिछड़े वर्ग आयोग' के अध्यक्ष हैं, कुछ काम दे सकते हैं। मैं दिल्ली जाकर काकासाहेब से मिला। वह पलंग पर बैठे थे और उनके पास कुर्सी पर एक महिला बैठी थीं। पलंग पर पुस्तकें बिखरी थीं और पास ही मेज पर तथा रैक पर पुस्तकें-ही-पुस्तकें। कमरे में दीवारों से सटाकर कुछ आलमारियां थीं, उनमें भी पुस्तकें भरी थीं। ऐसा लगा, मानो मैं एक गुरुकुल में पहुंच गया हूं। काकासाहेब को प्रणाम किया। उन्होंने मेरा परिचय पास बैठी हुई महिला से करवाया, जिनका नाम कुमारी सरोजनी नानावटी था। कमरे में ऐसी शांति और पवित्रता का अनुभव हो रहा था, जो मैंने पहले कभी अनुभव न की थी। काकासाहेब ने कुछ औपचारिक प्रश्न पूछे और उसके बाद चर्चा का रुख बराबर अनौपचारिक होता गया। दिन-भर उन्हीं के पास रहा, और बातचीत करता रहा या काकासाहेब के पास मिलने आनेवाले लोगों के वार्तालाप को ध्यान लगाकर सुनता रहा। शाम को आकर अपने निवास-स्थान पर सोया। प्रातः पुनः उनके पास गया और फिर वही बातचीत करने का या सुनने का क्रम चलता रहा। शाम के समय काकासाहेब ने कहा, "तुम्हें मैं पिछड़े वर्ग कमीशन में काम दे सकता हूं। कितना वेतन चाहिए ?"

मैंने कहा, "मैं अविवाहित हूं, और परिवार का कोई उत्तरदायित्व मुझ पर नहीं है। केवल २५० रुपया पर्याप्त होगा।"

काकासाहेब बोले, "मेरे पास कमीशन में इस प्रकार का कोई पद नहीं है। जो पद हैं वे ३०० रुपये से ८०० रुपये तक की वेतन-शृंखला के हैं।"

मैंने कहा, "मुझे केवल २५० रुपये चाहिए।"

काकासाहेब ने कहा, "ठीक है। मैं सरकार को लिखूंगा कि आप स्वेच्छा से अपने वेतन में से ५० रुपये प्रतिमाह कटौती करना चाहते हैं। आप कल से कार्य प्रारम्भ कर सकते हैं।"

मैं प्रसन्न हो उठा और १६ अगस्त, १९५३ को मैंने पिछड़े वर्ग आयोग में रिसर्च अधिकारी के पद का कार्य प्रारम्भ कर दिया। यह था मेरा काकासाहेब के सम्पर्क में आने का पहला अवसर।

पिछड़े वर्ग आयोग के कार्य में मैं दत्तचित्त होकर लग गया। कमीशन के अन्य सदस्यों के साथ भी सम्पर्क हुआ। देश के चारों वर्णों यानी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र से उत्पन्न हजारों जातियों का उद्गम, उनकी सामाजिक और सांस्कृतिक इतिहास शोध का कार्य हमारे ज़िम्मे था, क्योंकि इस आधार पर कमीशन को अपना निर्णय भारत सरकार को देना था कि कौन-सी जाति या जनजातियों को अनुसूचित जाति या जनजातियों में रक्खा जाय। कमीशन को पिछड़े वर्ग के लिए एक कसौटी भी निर्धारित करनी थी, जो यथासम्भव उपयोगी हो और जिसके आधार पर किसी भी जाति या जनजाति को किसी वर्ग विशेष में रक्खा जा सके। मेरा काम जनगणना की पुरानी रिपोर्टों को पढ़ने के साथ-साथ अन्य साहित्य को पढ़कर जातियों के नामों को तथा उनके इतिहास को खोजना था।

इस दौरान काकासाहेब के साथ रहकर उनकी बातों को सुनता तथा समझने की चेष्टा करता। कमीशन के इस कार्य के सम्बन्ध में काकासाहेब कमीशन के अन्य सदस्यों के साथ सारे देश में घूम-घूमकर विभिन्न जातियों के लोगों से मिलकर जानकारी प्राप्त करते थे। मैं भी काकासाहेब के साथ कई राज्यों में घूमा और छोटे-छोटे गांवों में जाकर हमारे देश की गरीब जनता और जातियां किस तरह की अवस्था में किस-किस कोने में रहती हैं, उनके खान-पान क्या हैं, उनकी सामाजिक और आर्थिक स्थिति क्या है, उनको क्या-क्या साधन उपलब्ध हैं, आदि की जानकारी खूब मिलती थी। काकासाहेब के भाषण सुनता था और उनके भाषणों में देश के इन पिछड़े हुए सामाजिक दृष्टि से सताये हुए और अज्ञान और अन्धकार में डूबे हुए करोड़ों लोगों के प्रति गहरी संवेदना मैं पाता था। उससे मेरे मन पर गहरा असर हुआ। लगता था कि देश के इन कोटि-कोटि निरीह लोगों को कब ऐसा अवसर मिलेगा कि जब इनका भी जीवन सुखी और समृद्ध बनेगा। इनके बालकों को भी देश और दुनिया में उपलब्ध ऊंचे-से-ऊंचा ज्ञान प्राप्त हो सके और वे ऊंचे-से-ऊंचा सम्मान प्राप्त कर सकें, जो कि शताब्दियों से तथाकथित उच्च जातियों को मिलता रहा है।

कमीशन अपने कार्य को तेजी से बढ़ा रहा था और मेरे मन में शनैः-शनैः यह बात जमती जा रही थी कि मुझे एक-न-एक दिन इन पिछड़े हुए लोगों की सेवा का काम करना है। काकासाहेब से मैंने कार्य प्रारम्भ करते समय कहा था कि मैं आपके पास केवल कुछ सीखने आया हूं, इसलिए आप जिस दिन कमीशन की रिपोर्ट भारत सरकार को देंगे, उसी दिन मैं इन पिछड़े लोगों में काम करने चला जाऊंगा। मुझे वास्तव में इस शहरी वातावरण में रहने की कोई इच्छा नहीं है।

काकासाहेब के पास रहते हुए अभी ४-६ महीने ही बीते थे कि इसी बीच स्नेहमयी सरोज बहन से इतनी आत्मीयता हो गई कि उन्होंने मुझसे पूछा, "पदमभैया, तुम्हें रहने और खाने में इतनी दिक्कत होती है, क्या तुम हमारे पास आकर रहना पसन्द करोगे ?" सरोज बहन की यह बात सुनकर तो मन खुशी से गद्गद हो गया। रहने का सुविधाजनक स्थान, वह भी काकासाहेब के साथ। मैंने तुरन्त "हां" कर दी। सरोज बहन ने काकासाहेब से बातचीत की और आखिर दूसरे ही दिन मैं अपना छोटा-सा बोरिया-बिस्तर लेकर उनके घर आ गया। काकासाहेब के मकान में उनके कमरे के पास दो खिड़कियां और बिना दरवाजे वाला एक बरामदा था, जिसमें एक और नौजवान व्यक्ति श्री नटवर ठक्कर रहते थे। वह भी कमीशन में ही काम करते थे। मैं अपना अधिकतर समय केवल काकासाहेब के पास ही गुजारता था। दस बजे कमीशन के दफ्तर में जाना होता था। तब तक मैं काकासाहेब के पास लगी मेज और उससे सटकर खड़े हुए रैक के सहारे टिका काका-साहेब के मिलने वाले लोगों की बातचीत सुनता रहता था या स्वयं उनसे बीच-बीच में प्रश्न करके उनकी

बात को समझने की कोशिश करता था। समय गुजरता रहा। ऐसे कई मौके आये जब कमीशन के कुछ वरिष्ठ अधिकारियों के व्यवहार के कारण मन दुःखी हो उठा और इसी हालत में दो-चार बार मैं काकासाहेब के सामने रो भी पड़ा। काकासाहेब मुझे समझाते थे और उधर अधिकारियों से भी अपने ढंग से बात करते थे। काकासाहेब का यह सान्निध्य मेरा निर्माण करने में सहायता दे रहा था। इसी बीच सन् १९५४ में एक दिन जयपुर से तार मिला कि पिताजी का स्वर्गवास हो गया।

मैं चुपचाप वह तार लेकर सरोजबहन के पास पहुंचा। तार उनके हाथों में थमा दिया। उन्होंने तार पढ़ा और मुझे अपने पास बिठाकर छाती से लगा लिया। स्नेह और सहानुभूति का इतना-सा सहारा पाकर मन की वेदना का बांध टूट पड़ा। कुछ देर रोता रहा, फिर सरोजबहन काकासाहेब के पास गईं। उन्होंने उनको यह खबर दी। काकासाहेब ने मुझे बुलाकर कहा, "मेरे साथ घूमने चलो।" मैं साथ हो लिया। घूमते-घूमते बोले, "देखो पदम, दुनिया से किसी भी व्यक्ति के माता-पिता अमर नहीं होते। यह सृष्टि का नियम है कि साधारण तौर पर आयु के साथ मृत्यु आती ही है। आदमी को माता-पिता का साया सुरक्षा की भावना देता है और इसीलिए वह उनकी मृत्यु पर अपने को असहाय और असुरक्षित समझने लगता है। इसीलिए उसको कष्ट होता है। तुम्हारे पिताजी चले गये, लेकिन मैं तो हूं।"

काकासाहेब के ये शब्द कानों में पड़े कि जादू की भांति आंखों का पानी थम गया। ऐसा लगा, मुझे पिताजी मिल गये। वह दिन मेरे जीवन का स्मरणीय दिन हो गया। तब से आज तक बराबर ऐसा लगता रहा है कि मेरे सिर पर पिता का साया बराबर बना हुआ है।

अब २५ वर्ष बीत गये। इन पचीस वर्षों में काकासाहेब से अनेक बार अनेक अवसरों पर मार्ग-दर्शन मिला है और ऐसा कभी नहीं लगा कि मैंने अपने पिता को खोया हो।

जो संकल्प लेकर काकासाहेब के पास गया था, उसको पूरा करने में काफी हद तक मुझे सफलता मिली। कमीशन के काम के बाद मैंने लगभग एक वर्ष 'अखिल भारतीय आदिम जाति सेवा संघ' में काम किया और उसके बाद राजस्थान के तत्कालीन समाज कल्याण मंत्री के प्रयास से राजस्थान में पिछड़े वर्गों की सेवा करने का मौका मिला। फिर मैंने राज्य के समाज कल्याण-विभाग में सहायक निदेशक के पद का कार्य-भार सम्भाल लिया और कोटा-बून्दी-झालावाड़, सवाई माधोपुर और भरतपुर जिलों में समाज कल्याण-कार्य को संचालित करने का दायित्व मेरे सिर पर आया। गांवों में घूमता रहा और कार्य करता। राज्य-सेवा में होते हुए भी अपने बड़े भाई और पूज्य पिता काकासाहेब के पास रहकर जो कुछ विचार और संस्कार मैंने पाये थे, उनके कारण अपने आपको कभी भी राज्य का अधिकारी नहीं समझा। हां, मन में यही भावना रही कि मैं जनसेवक हूं। उस रूप में राज्य-सेवा का अवसर मिला है। जो भी कार्य करने को मिलता, उसे जीवन के एक मिशन के रूप में समझने की कोशिश की और यह इच्छा रही कि मेरे पास आनेवाले गरीब से गरीब तथा दुःखी-से-दुःखी व्यक्ति का दुःख मैं जल्दी-से-जल्दी पूरी सहानुभूति के साथ दूर कर सकूं।

ईश्वर से प्रार्थना है कि काकासाहेब द्वारा प्रदत्त संस्कार जीवन के अंतिम क्षण तक बने रहें। ○

मेरे जीवन के दिशा-दर्शक

प्रभुदास गांधी

□□

समय ठीक याद नहीं आ रहा है। संभवतः असहयोग आन्दोलन के डेढ़ वर्ष पहले का समय रहा होगा। पहला विश्वयुद्ध समाप्त हो चुका था। भारत के नौजवान उन दिनों अपने देश के वीर-वीरांगनाओं की गाथाएं पुनः-पुनः जोरों से सुनते-सुनाते थे, जैसे झांसी की रानी, खुदीराम बोस, वीरेन्द्र आदि। बाहर के वीरों में नेपोलियन बोनापार्ट, कैसर, गैरीबाल्डी, विलियम टेल, वाशिंगटन, लेनिन आदि के नामों से प्रेरणा लेते थे। सोचते थे, भारतमाता के लिए स्वतंत्रता प्राप्त करने के सिलसिले में हमें भी अवश्य ऐसा अवसर मिलेगा, जब हम अपना तन, मन और सब कुछ देश के लिए न्योछावर कर देंगे। ऐसी बातें हो रही थीं, जब मैं अहमदाबाद की साबरमती के पश्चिम किनारे पर राष्ट्रीयशाला में पढ़ता था। इस राष्ट्रीयशाला का यह विद्यालय सत्याग्रह आश्रम का एक विभाग था, जिसे पूज्य मोहनदास करमचन्द गांधी ने चला रखा था। उस आश्रम-विद्यालय के आचार्य थे काकासाहेब कालेलकर। प्राध्यापकों में विनोबा, मशरूवाला, नरहरिभाई पारीख, अप्पासाहब पटवर्धन, जुगतरामभाई दवे आदि राष्ट्र के स्वयंसेवक और विपुल विद्वत्ता वाले शिक्षा-गुरु थे।

एक दिन पढ़ाई का समय समाप्त हुआ। आश्रम के संध्या के गृह-कार्य, कृषि-कार्य इत्यादि के लिए विद्यार्थी और अध्यापक भी अलग-अलग टोलियों में भिन्न-भिन्न श्रमकार्य करने लगे। इस प्रकार के काम से लौटने की घंटी दूर से सुनाई दी तब आश्रम के बीच से जेल जानेवाली सड़क पर चलते-चलते मैंने काकासाहेब से प्रश्न किया, "काकासाहेब, आचार्य और शिक्षक कुछ करने को कहें, उसका पालन करना विद्यार्थी का धर्म है, यह बात तो समझ में आती है, लेकिन पिता-माता इत्यादि जो कहें, उस बात का पालन करना भी विद्यार्थी का धर्म है क्या ? जो पुत्र पन्द्रह-सोलह की आयु का हो गया है, उसे अभिभावक की बात अपने लिए अच्छी नहीं लगती, फिर भी उसे उस आज्ञा का पालन क्यों करना चाहिए ? आचार्य और शिक्षक गुरु है तो पिता को क्यों गुरु समझा जाय ?"

काकासाहेब ने मेरा प्रश्न बहुत धीरज से सुना। कुछ देर सोचते रहे। फिर उन्होंने जवाब दिया, "गुरु का आदेश मानना यह धर्म स्वीकृत हो गया तो उसी के साथ पिता का कहना मानना भी स्वतः सिद्ध है।"

"क्यों ?" मैंने पूछा।

"इसलिए कि पिता-माता ईश्वर के दिये हुए गुरु हैं। इसी कारण उन्हें और भी ऊंचा गुरु का पद दिया जाता है। वहां लड़कों या विद्यार्थियों को चुनने का अवसर ही नहीं होता। इसी कारण पिता-माता आदि भी गुरु ही हैं।"

इतनी बात होते-होते दूसरा कार्यक्रम सामने आ गया और चर्चा वहीं समाप्त हो गई।

चार-पांच दिन तक मैं उस बारे में सोचता रहा। मन में कुछ स्पष्टता होती ही नहीं थी। अधिक गहराई से सोचने पर मन और उलझता ही जाता था।

उधर काकासाहेब ने अपनी ओर से कुछ भी नहीं कहा। शायद सोचते होंगे कि लड़का अपने-आप चर्चा करेगा। उनको पता था कि मेरे समक्ष समस्या क्या है। बात यह थी कि एक लखपति ने दो छात्रवृत्तियां देने का प्रस्ताव रखा था। वह प्रस्ताव राष्ट्रीयशाला के आचार्य के सामने नहीं रखा था, न सत्याग्रह आश्रम के प्रधान

संस्थापक और संचालक बापूजी के सामने ही रखा था, बल्कि पारिवारिक निकटता के आधार पर हमारे पिता-काका आदि को खबर भेजी थी कि यदि वे अपने कुटुम्ब से दो छात्रों को ऊंची पढ़ाई के लिए विदेश भेजना चाहें तो उनकी पढ़ाई का दो-चार वर्ष का सारा खर्च और वहां तक जाने और लौटने का किराया भी वे देने को तैयार हैं। उनके रोजगार में काफी मुनाफा होने से वे सज्जन विद्या-क्षेत्र में दान करना चाहते थे।

उनसे पत्र-व्यवहार चला। मेरे सबसे छोटे काका श्री जमनादास खुशालचन्द गांधी ने इच्छा व्यक्त की कि वह लंदन जाकर ढाई-तीन वर्ष की पढ़ाई पूरी करेंगे। साथ ही गांधीजी और राष्ट्रीयशाला के आदर्श का पालन भी करेंगे। इंग्लैंड में पढ़ाई कितनी भी करें, डिग्री नहीं लेंगे, इस शर्त पर भी उन महानुभाव ने मेरे पिता काका को उत्तर दिया। उनको कोई आपत्ति नहीं थी। पढ़नेवाले विद्यार्थी स्वयं सन्तुष्ट होकर जो चाहे पढ़-कर लौट आवें। तब तक का पूरा खर्चा वह देंगे।

जब बात यहां तक पहुंच गई तो मेरे काका जमनादास गांधी ने मुझसे कहा, "तू भी मेरे साथ चल। और कुछ नहीं तो लंदन में दो-ढाई वर्ष रहने से अंग्रेजी तो बढ़िया हो जायगी। फिर स्वदेश लौटकर देश-सेवा के काम में बढ़िया अंग्रेजी बड़ा लाभ पहुंचाएगी। वहां की कोई परीक्षा तू पास न कर सके तो कोई चिन्ता नहीं।"

मैंने उत्तर दिया, "प्रस्ताव तो बहुत अच्छा है। जी करता है कि चलूं, लेकिन मैं आपके साथ नहीं जाऊंगा। हम लोग यहां न हों और बापूजी कोई बड़ा काम उठायें अथवा उनका स्वास्थ्य देश की चिन्ता में बिगड़ जाय तो दूर इंग्लैंड में बैठे-बैठे हम बहुत दुःखी हो जायेंगे।"

मेरी बात सुनकर काका ने मुझसे और कुछ दिन सोचने को कहा। मैं सोचता रहा। मन में आया कि संस्कृत में कच्चा हूं तो अंग्रेजी पक्की करने क्यों विलायत जाऊं? वहां से लौटने पर विनोबा के पास संस्कृत पढ़ने का मेरा यह सिलसिला फिर जुड़ पायेगा, इसका क्या भरोसा?

मैंने न जाने का निश्चय कर लिया और इसकी सूचना जमनादासकाका को दे दी। उन्होंने मेरे माता-पिता को यह बात कही। पर इस विषय में आगे कोई बातचीत घर में नहीं हुई। कई दिनों तक सब मौन रहे।

एक दिन जमनादासकाका ने मुझसे कहा, "तू नहीं चलता है तो फिर तेरी काकी (अपनी धर्म पत्नी श्रीमती मेवाबहन गांधी) को विलायत पढ़ने ले जाता हूं।"

मैंने कहा, "ठीक है, बहुत अच्छा होगा।"

अपने शिक्षा गुरुओं को जब मैंने अपनी घरेलू अंतिम बात सुनाई तो विनोबा ने कहा, "इस निश्चय से तेरी पढ़ाई गहरी बनेगी। अंग्रेजी में लिखा तू भले ही न पढ़ सके, पर संस्कृत में तर्कशास्त्र मैं तुझे सिखाऊंगा।"

काकासाहेब को मैंने अपना निर्णय बताया तो उन्होंने विश्वास दिलाया कि तेरे इस निर्णय से मेरी जिम्मेदारी बढ़ गई। मुझे पछतावा न हो, यह मुझे विशेष ध्यान में रखना होगा। भूगोल, इतिहास, गणित और अन्य विज्ञान में तुमको ऊंची पढ़ाई करने में रुकावट न आये, यह देखना मेरा काम है। अंग्रेजी न जानने के कारण भविष्य में तेरा काम कभी नहीं रुकेगा। अगर ऐसा संकट आया तो मैं साथ दूंगा। तुझे रास्ता बताऊंगा।

इसके बाद, जैसा अनुमान था, बापूजी ने एक के बाद दूसरा बड़े-बड़े काम उठाये। लोकमान्य तिलक ने चिरविदा ले ली। "स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है," यह गूंज उन्होंने अंतिम सांस तक सुनाई। गांधीजी बोले, "मैं स्वराज्य लेकर रहूंगा।" फिर तो दिन-ब-दिन स्वराज्य का आंदोलन बढ़ता ही गया। सरकार आंदोलन

को थोड़ा-बहुत दबा देती। लेकिन वह फिर जोर पकड़ लेता। साथ-साथ राष्ट्रीय शिक्षा की प्रगति में भी वृद्धि हुई। गुजरात विद्यापीठ, बिहार विद्यापीठ, जामिया मिलिया इस्लामिया, तिलक विद्यापीठ और मद्रास के पास ऐनीबेसेंट का विश्वविद्यालय, मालवीय जी का काशी विद्यापीठ, इस प्रकार स्वराज आंदोलन के साथ-साथ युवकों की पढ़ाई आगे बढ़ी। इन विद्यापीठों में पढ़ने को अवसर मिलता, इसके अतिरिक्त दुगुना अवसर कारावास में पढ़ने का मिलता।

एक बार पाठशाला में पढ़ाई चल रही थी। बापूजी के पास चिट्ठी आई कि दो विद्यार्थियों को मामा साहब फड़के के पास गोधरा में भंगियों के बच्चों को पढ़ाने की मदद के लिए भेजने की जरूरत है। किसे भेजा जाय, यह चर्चा चली। विचार-विमर्श के बाद दो नाम चुने गये, उनमें एक नाम मेरा भी था। कम-से-कम चार महीने अपनी पढ़ाई बिल्कुल छोड़ देने की बात थी और मामा साहब के साथ भंगियों के घरों में बच्चों को पढ़ाने, खेल खिलाने आदि का कार्यक्रम वहां करना था। मेहतरों को पढ़ाने जाने का अनुमोदन मेरे माता-पिता, काका-काकी, से मिला। मैं जाने को तत्पर हुआ, लेकिन पैर उठ नहीं रहे थे। दोपहर का भोजन करके मैं काकासाहेब के घर गया। वह अपने रसोईघर में रसोई बनाने में व्यस्त थे। थोड़ी देर चुपचाप उनके पास बैठा रहा, फिर धीरे-से पूछा, "काकासाहेब जब मेरी पढ़ाई अधूरी है तब मुझे मामासाहब के पास मदद के लिए क्यों भेजते हैं? वहां बच्चों को पढ़ाना है। मैं अधकचरा उनको कैसे पढ़ाऊंगा?"

अपना रुख थोड़ा सख्त करके उन्होंने पूछा, "तू एक से सौ तक गिनती जानता है या नहीं?"

मैंने कहा, "जी। जानता हूं। उसमें भूल नहीं होगी।"

"अ से ह तक लिखना आता है?" काकासाहेब का अगला प्रश्न था।

मैंने 'हां' में सिर हिलाया और मन-ही-मन हंसा।

"तो बस, जितना तू जानता है, उतना मेहतरों के घर में छोटे-बड़े बच्चों को सिखाना। फिर आगे काम न चले तब हम लोग तेरी मदद करेंगे।"

इसके बाद कुछ कहने का अवसर नहीं था। मैं गोधरा पहुंच गया।

सप्ताह-भर बाद गोधरा में मामासाहब फड़के के पास साबरमती सत्याग्रह आश्रम की राष्ट्रीयशाला के आचार्य का पत्र पहुंचा, जिसमें पूछा गया था, "यहां से भेजे विद्यार्थी कुछ उपयोग में आ रहे हैं? प्रभुदास को कड़वा तो लगता होगा। धीरे-धीरे अनुकूल होता जायगा। यह तो मायका छोड़कर ससुराल जाने की-सी बात है। थोड़े दिन में सध जायगी।"

उस सबका स्मरण करता हूं तो बड़ी कृतार्थता अनुभव होती है। काकासाहेब ने मेरे जीवन को एक नई दिशा दी, जिसके लिए मैं आज भी उनका कृतज्ञ हूं। ○

ऐसे हैं काकासाहेब

इस्माईल भाई नागोरी

□□

काकासाहेब को फूल बहुत ही प्यारे लगते हैं। सुवासित पुष्प तो विशेष पसंद हैं। गुलाब, चमेली, मोगरा, चंपा, सुगंधित पारस, पारिजात, चुनी हुई सेवंती आदि देखने की दावत यदि दी जाय तो वह प्रसन्नता के साथ

सदा तैयार मिलते हैं। कोई मनोहारी कली, कोई अर्ध विकसित गुलाब, नयनाभिराम पुष्प-गुच्छ, सुन्दर क्रोटन का असाधारण नमूना—जो भी दिखाओ, वह आकर प्यार से देखते हैं और रंग तथा सुगंध को सराहते हैं। ऐसे ही वनस्पति जीवन के हर पहलू पर उन्हें जानकारी दो तो खुश हो जाते हैं। इतना ही नहीं, मेरा ग्रंथ पूरा होने पर कितने प्रेम से और विस्तार से प्रस्तावना लिख दी, जो मेरे लिए उत्तम तोहफा-उपहार था। इसी किताब को हिन्दी में स्थान दिलाने के लिए उन्होंने प्रयत्न किया।

अखिल भारत नयी तालीम सम्मेलन टिटाबर में हुआ था। अकबरभाई मदीना छोटे अनवर के साथ काकासाहेब के पास गये। दूसरे सज्जन बैठे हुए थे। हमें देखकर कहने लगे, "पक्के गुजराती हैं न ?" कुटुम्ब की मातृभाषा, लिबास, रहन-सहन सब गुजराती था। हां, स्नेही-संबंधी, रिश्तेदार-मेहमानों के साथ आसानी से हिन्दुस्तानी बोल लेते थे। अंग्रेजी, फारसी, उर्दू साहित्य ने हमें इन भाषाओं के प्रचलित शब्दों की भेंट दी और गीता-कुरान को मूल स्वरूप में समझने के लिए संस्कृत-अरबी का थोड़ा-सा अभ्यास किया। इसमें से दो बड़ी जबानों का माधुर्य हमारी बोली को ठीक-ठीक मिला। इस सबब से मेरे लेखन में विदेशी शब्द आ जाते हैं, मगर वे सब सहवास से देशी बन गये हैं और काकासाहेब ने उनके उपयोग को मंजूर किया है।

काकासाहेब एक दफा अमरेली तशरीफ लाये थे। मेरी इच्छा उन्हें अपने गांव तरवडा ले जाने की थी। उनसे अर्ज की तो फौरन मंजूर कर लिया। मगर भाग्य को नाचने की आदत होती है ! कोई सवारी नहीं मिली। मन की बात मन में ही रह गयी।

मेरे बेटे चि० सलीम के छोटे असीम ने कल ही अपनी 'पांचवीं गुजराती' मेरे सामने रख दी और खुश होकर कहा, "बापूजी, तुम जिनके बारे में लिख रहे हो, वह तो इस चित्र में बच्चे बनकर, कान के मोती पकड़-कर, दायां-बायां हाथ हिलाते बैठे हैं।" देखकर मैं भी खुश हो गया कि काकासाहेब कैसे अपनी युक्ति आजमा रहे हैं !

बाल दत्तु में बुद्धि की जो चमक थी, वह बढ़कर बुजुर्गी में कितनी क्षितिजें पार कर रही है ! कभी वृद्धों को आदर देने की बात शुरू करते हैं तो कभी निरामिषाहार का अपना आग्रह रखते हुए, आमिषाहार के प्रति 'सूग' (घृणा) छोड़ने की बहस का आरम्भ करते हैं ! कभी विदेश में रहनेवालों को तन-मन-धन से आत्मीयता देने का सुझाव पेश करते हैं तो कहीं प्रवास की अद्भुत स्वानुभव-कथाएं सुनाते हैं। मराठी मातृ-भाषा होते हुए भी गुजराती साहित्य को कितना समृद्ध किया है ! बड़ौदे की सेण्ट्रल जेल में स्व० हरिप्रसाद-भाई भट्ट, पुरुषोत्तमभाई जोशी और मैंने कारावास अधिकारी की मंजूरी लेकर, खाली पागलखाने के एकांत का लाभ लेकर, काकासाहेब के साहित्य का वाचन किया था। काकासाहेब का मिलन कभी शिविर में हो जाता था और नये विचार, नये दृष्टिकोण प्राप्त करके विद्यार्थी और शिक्षक दोनों अपनी संस्था में वापस जाते थे।

काकासाहेब का ज्ञान विशाल है और उनका व्यक्तित्व बहुत ऊंचा है। जो भी उनके पास आता है, वह स्वयं ऊंचा उठता महसूस करता है। ऐसे हैं काकासाहेब ! ○

स्थित-प्रज्ञ कर्मयोगी

मृणालिनी देसाई

□□

काकासाहेब के साथ जब-जब बात की होगी, कितनी सम्पदा पाकर समृद्ध हो गई ! मेरे पिता का 'धनेश्वर' कुलनाम सार्थक हो गया ! 'सहजानंद' यह जीवन का मूलमंत्र काकासाहेब से ही मिला है।

मेरा और काकासाहेब का प्रथम मिलन हुआ पूना के पास सिंहगढ़ पर। करीब ५० साल हो गये ! मैं बिल्कुल छोटी थी। उम्र एक साल से भी कम रही होगी। वहां मेरे पिताजी यकायक बीमार हो गये। डॉक्टर उन्हें पूर्ण विश्राम करने के लिए कहते थे, लेकिन मैं उनके बिना एक क्षण भी रहने को तैयार न थी। डॉक्टर का आना-जाना, मेरा रोना-चिल्लाना, परिवार की चिन्ता, अस्वस्थ मनःस्थिति! हमारे पड़ोस में काकासाहेब ठहरे थे। सहज कुतूहल से हमारे घर आये। मेरा रोना चालू था। वह मेरे पास आये। मुझे बुलाकर कुछ कहने लगे। उनकी आवाज, उनका रूप आदि सब पिताजी से बहुत मिलता-जुलता था। मैं फंस गयी और जब तक पिताजी अस्वस्थ रहे, खुशी से काकासाहेब के पास ठहरी ! तब से काकासाहेब मुझे प्रसन्नता ही देते रहे। निराशा, विफलता आदि शब्दों से तो मानो वह एकदम अपरिचित हैं !

ऋग्वेद के प्रथम ऋषिवर मधुच्छंदा को गुरुमंत्र मिला था—"चर" (चलते रहना)। बस, वही काका-साहेब का जीवनानंद है। एक बार मैंने पूछा था, "इतनी बड़ी उम्र में आप लम्बी-लम्बी मुसाफिरी करते हैं, हवा बदलती है, पानी बदलता है, वाहन में भी हैरानी होती है। आपको काफी थकावट मालूम होती होगी !"

उन्होंने मेरी बात सुन ली और कहने लगे, "देखो बेटी, भगवान ने पेड़ बनाये। कितने सुन्दर, कितने विविध, कितने उदार ! फिर प्रभु ने निर्माण किया मानव का। पेड़ में एक अपूर्णता थी। उन्हें वाचा न थी और न थी उनमें गति। मानव को वाचा और गति की दैवी देन मिली। पेड़ एक ही जगह पर विकसित होते हैं, लेकिन इन्सान चलने-फिरने से पूर्ण होता है। यह ईश्वरी संकेत है। प्रवास से कभी कोई कष्ट या क्लान्ति कैसे होगी ?"

जीने की इच्छा होते हुए भी वृद्धावस्था सबके लिए अवांछित होती है, लेकिन वृद्धावस्था काकासाहेब के पास आकर कितनी सुन्दर और प्रसन्न हो चुकी है ! एक बार कहने लगे, "वे लोग आये थे। आशीर्वाद मांग रहे थे।"

"फिर ?"

"फिर क्या ? खूब-खूब आशीर्वाद दे दिये। अब तो वह मेरा एकाधिकार है! आनेवाले सब मुझसे छोटे थे !"

अधिकार की बात अगर और कोई करे तो अच्छी नहीं लगती। लेकिन काकासाहेब की बात ही कुछ और है। उनके अधिकार में प्यार-ही-प्यार है। सत्ता की उग्रता तनिक भी नहीं है।

अवस्था के साथ शरीर की शक्ति, क्षमता कम होती है, इस वास्तविकता का स्वीकार भी वह कितनी आसानी से करते हैं ! श्रवण-शक्ति कम होने लगी तो कहते थे, "अब तो मैं आधा योगी बन चुका, किसीकी सुनना नहीं और सबको निःशंक सुनाता हूं !"

कई साल से एक ही कान से सुन सकते थे, अब वह कान भी छुट्टी कर गया ! मैं मिलने गयी तो छोटी-

सी स्लेट और बत्ती मेरे हाथ में दे दी और कहा, "जो भी कहना हो, लिख दो। अब मैं 'पूर्ण योगी' हूं ! सुनना बंद है। अब चिंतन करता हूं। आकाश-नक्षत्रों के बारे में खूब सोचा है। अब वह पुस्तक लिखवा लूंगा !"

मैं उनसे कहने गयी थी, "अब मैं थक गई, मुझसे कुछ नहीं होगा।"

लेकिन काकासाहेब का शुभसंकल्प सुनकर लज्जित हो गई। निराशा, थकावट ! उनके पास ऐसे दुर्गुण फटक ही नहीं पाते। सदानंदिनी वत्सल-मूर्ति सरोजबहन की प्रेमपूर्ण बातें और काकासाहेब के प्रत्यक्ष आनंदरूप आस्तित्व में निराशा लोप हो जाती है।

काकासाहेब की स्मरणशक्ति अद्‌भुत थी। वह भी अब विदा ले रही है। अपने परिचितों से काकासाहेब कह देते हैं, "अपना पूर्ण परिचय लिखकर सरोज को दे दीजिये। अगर मैं भूल जाऊं तो वह पढ़कर याद कर सकूं।"

बापू और गुरुदेव रवींद्रनाथ दोनों का शुभमिलन काकासाहेब के व्यक्तित्व में है। बापू की कार्यक्षमता अपूर्व थी। निर्मलता के वह आग्रही थे। साथ-साथ अनासक्त विरक्ति और असंग्रह का आग्रह भी कम नहीं था। गुरुदेव कवि थे। निरामय सौंदर्यासक्ति उनकी स्वभावगत विशेषता थी। काकासाहेब स्थितप्रज्ञ कर्मयोगी रहे। अनासक्त भी, लेकिन सौंदर्य-प्रेम से उनका व्यक्तित्व परिपूर्ण है। उनकी आंखों पर शल्यक्रिया हो चुकी थी। पूरे तीन मास तक आंखें बन्द थीं। जब पट्टी खुली, मैं मिलने गई। मेरे कान में मोती के कर्णफूल थे। उनकी निर्मल दृष्टि कर्णफूल पर पड़ी और आनंद से कहने लगे, "मोती की सुन्दर रचना देखकर आज बड़ा संतोष हुआ। शल्यक्रिया होने से पहले एक बहन मिलने आयी थी। मीनाकारी के रंगारंग में मोती डालकर कर्णफूल बनाये थे। कितनी विसंगति ! आंखें बन्द थीं तब बार-बार सोचता रहा, क्या स्त्री भी मुक्तामणि का उपयोग रसिकता से नहीं कर सकती...आज तेरा अलंकार देखा।...संतोष है।"

काकासाहेब को मिलती हूं तब जीवन का पूर्ण विकसित स्वरूप दिखाई देता है। औपचारिकता के कोई बंधन परिपक्व जीवन का स्पर्श नहीं कर पाते ! एक संपूर्ण, सभर, स्थितप्रज्ञ और क्रांतदर्शी कविआत्मा के सहवास से हमें भी मिलती है अपूर्व समृद्धि ! ○

हिमालय और काकासाहेब

यशोधरा द्विवेदी

□□

श्रद्धेय काकासाहेब के साथ परिचय होने को मैं ईश्वर की देन समझती हूं।

मेरे माता-पिता के देशभक्ति-पूर्ण विचारों के कारण मेरी पढ़ाई (मैट्रिक परीक्षा तक) घर पर ही हुई। पिताजी के प्रवास के शौक के कारण उनके साथ हिमालय जाने का सुअवसर मुझे बचपन से ही प्राप्त हुआ और तब से लेकर आज तक हिमालय के प्रति मेरा एक विशेष प्रकार का लगाव और आकर्षण है। साल में एक बार अगर हिमालय के दर्शन न हों तो मैं बेचैन हो जाती हूं।

मेरे माता-पिता ने कुछ अनोखे ढंग से मुझे पढ़ाया। मेरी माताजी ऐतिहासिक, धार्मिक, साहित्यिक आदि पुस्तकें पढ़ने के लिए मुझे दिया करती थीं और इस प्रकार सब विषयों की ओर मेरी रुचि जाग्रत होती थी।

श्रद्धेय काकासाहेब के नाम का सर्वप्रथम परिचय बचपन में मेरी माताजी के द्वारा ही हुआ। अकसर मेरी माताजी उनके बारे में कुछ-न-कुछ बातें किया करती थीं। एक बार पुस्तकालय से मेरी माताजी उनकी 'स्मरण-यात्रा' पुस्तक ले आयीं। मैंने भी वह पुस्तक पढ़ी। मेरा बालमानस काकासाहेब को एक बालरूप में देखने लगा, कल्पना करने लगा। काकासाहेब के और मेरे विचारों में मैंने एकता पाई, और उनसे मिलने की मेरी प्रबल इच्छा हुई। मेरी माताजी भी यह जानकर बहुत खुश हुईं।

एक बार बेलगांव में माता-पिता के साथ, काकासाहेब के घर जाने का अवसर मिला। मैं बहुत प्रसन्न थी। काकासाहेब से मुलाकात होगी, खूब बातें करेंगे, मैंने सोचा; लेकिन अफसोस! वह घर पर नहीं थे, इस-लिए भेंट नहीं हुई।

इसके बाद कई साल बीत गये। भारत आजाद होने के बाद, मैंने कॉलिज की पढ़ाई शुरू कर दी थी। काकासाहेब की पुस्तक 'हिमालय की यात्रा' हमारे पाठ्यक्रम में थी। जैसे-जैसे मैं पुस्तक पढ़ती गयी, मुझे ऐसा महसूस होने लगा कि काकासाहेब तो मेरे अपने ही हैं। अरे काका क्या, मेरे पिताजी ही हैं! मेरी ही तरह उन्हें प्रकृति से प्यार है। मेरी ही तरह हर पेड़, पर्वत, नदी, पक्षी, झरना, बादल आदि से बातें करते हैं। विशेष बात तो यह है कि मेरी ही तरह हिमालय के प्रति आकर्षित हैं। पुस्तक पढ़ते-पढ़ते कई स्थान पर तो मुझे ऐसा लगा कि मैं उनके साथ हिमालय में घूम रही हूं। बस, उसी समय से, अपनी ओर से मैं उनकी मानसपुत्री बन चुकी थी।

बाल्यावस्था से ही मैं हिमालय के लिए पागल हूं। हिमालय के जंगलों में अकेले घूमना, हिमशिखरों को घंटों तक अपलक देखते रहना, गंगा के पवित्र जल में देर तक स्नान करके मुक्त आनंद पाना, चीड़ और देवदार के ऊंचे वृक्षों को देखते रहना, यह सब बचपन से लेकर आज तक मुझे बेहद पसंद है। हिमालय के प्रति जो मेरा असीम प्रेम है, वही मैंने काकासाहेब में और उनकी पुस्तक में पाया।

आखिर एक दिन भगवान ने मेरी प्रार्थना सुनी। अहमदाबाद में, श्री उमाशंकर भाई के घर पर २८ जनवरी, १९६८ को काकासाहेब से मेरी मुलाकात हुई। श्रद्धा से जब मैं उनके चरणों में झुकी तो मुझे ऐसा लगा, मैं अपने हिमालय के पास ही पहुंच गयी हूं। जीवन की वह एक धन्य घड़ी थी। आज भी जब मैं उस प्रसंग का स्मरण करती हूं तो मुझे वह उतना ही ताज़ा लगता है, और मैं आनंद-विभोर हो जाती हूं। मैंने सोचा, मेरा जीवन धन्य हुआ। जीवन की एक प्रबल इच्छा पूर्ण हुई। इस जीवन में काका के साथ मेरा घनिष्ठ संबंध होगा, इसकी तो मैं कल्पना भी नहीं कर सकती थी, क्योंकि हम दोनों का हिमालय के प्रति अनुराग एक समान होते हुए भी—कहां उनका असीम ज्ञान और कहां मैं? यह सब मेरा मन सोचता था, लेकिन आत्मा की बात कुछ और थी!

मैंने तो काकासाहेब में हिमालय के दर्शन किये थे। हिमालय तो है अशरण शरण। जो उसके पास जाता है, उसे आश्रय देता ही है। भला, काकासाहेब मुझे कैसे छोड़ देते? प्रथम भेंट में ही उन्होंने मुझसे कहा, "जब जी चाहे, तब मेरे पास दिल्ली जरूर आना, जितने दिन रहना हो रहना, कभी संकोच मत करना। तुम्हारा ही घर है।" यह सुनकर मैं फूली नहीं समाई।

बस, तब से लेकर आज तक मैं काकासाहेब के पास अक्सर जाती हूं। जब मिलते हैं तब हिमालय और गंगा के बारे में तो बातें होती ही हैं, लेकिन इसके अतिरिक्त वेद, उपनिषद, गीता आदि पर भी चर्चा होती है। कभी-कभी विनोद भी होता रहता है।

मैं काकासाहेब से अहमदाबाद और बम्बई में भी मिली हूं, लेकिन जब मैं उनसे एक बार हिमालय (मसूरी) में मिली तो मैंने काकासाहेब के चेहरे पर कुछ अनोखा आनंद और तेज पाया। उसी समय उन्होंने

मेरी ऑटोग्राफ बुक में लिखकर दिया, "भारतवर्ष से भी पुराना यह हिमालय, युग-युगान्तर से अपने वक्तृत्व-पूर्ण मौन के द्वारा देश-देशान्तर के बच्चों को निमंत्रण देता है, और उनकी मीठी-मीठी बातों से खुश होता है। हमारे लिए जो काल अनंत है, वह उसके लिए गतदिवस के समान है। उसके मौन में वात्सल्य है, गांभीर्य है, प्रसन्नता है, और समाधि की अलिप्तता भी है। लेकिन सर्वोपरि है उसका सबके लिए सनातन वात्सल्य, जो उसके वृक्ष और बादलों में हमेशा प्रतीत होता है।"

——काका के सप्रेम शुभाशिष

१२-६-६८, मसूरी

काकासाहेब के भी मौन में वात्सल्य, गांभीर्य, प्रसन्नता और समाधि की अलिप्तता के दर्शन होते हैं, लेकिन सर्वोपरि है, आपका सबके लिए सनातन वात्सल्य, जो आपकी आंखों में झलकता होता है। ऐसा लगता है, मानो उन्होंने हिमालय को अपने जीवन के साथ संपूर्ण रूप से मिला लिया है।

'हिमालय की यात्रा' पुस्तक में उन्होंने लिखा है, "हिमालय का वैभव दुनिया के तमाम सम्राटों के समस्त वैभव से भी बढ़कर है। हिमालय वही हमारा महादेव है, सारे विश्व की समृद्धि को आबाद करते हुए भी अलिप्त, विरक्त, शांत और ध्यानस्थ हिमालय जाकर उसे ही हृदय में ध्यानस्थ कर लेने की जिसकी शक्ति हो, उसने ही जीवन पर विजय पायी। ऐसे को अनंत प्रणाम।"

सचमुच, काकासाहेब ने हिमालय जाकर उसे अपने हृदय में ध्यानस्थ कर लिया है और अपने जीवन पर विजय पायी है।

जिस प्रकार हिमालय का वैभव अपार है, उसी प्रकार काकासाहेब का ज्ञान भी अपार है। जिसके पास ज्ञान ग्रहण करने की शक्ति और इच्छा है, वह कभी काकासाहेब के पास से खाली हाथ लौट नहीं सकता। और आश्चर्य तो इस बात का है कि बिना पूछे ही आपकी ज्ञान-पिपासा के विषय को काकासाहेब जान जाते हैं, और आपको यथेष्ट ज्ञान देकर संतुष्ट करते हैं।

मैं तो हिमालय की पगली हूं। हिमशिखरों के सामने घंटों देखती रहती हूं! उस समय तो पता नहीं चलता कि क्या पाया? लेकिन जब वापस लौटती हूं, तब अवश्य अनुभव करती हूं कि मैंने कुछ पाया है, जिसे शब्दों में बताया नहीं जा सकता। ठीक वैसा ही अनुभव जब मैं काकासाहेब से मिलती हूं तब होता है। चाहे मुझे उनसे बात करने का सुयोग ही न मिले, उनके दर्शन मात्र ही हों, तब भी मैं उनसे अवश्य कुछ पाती हूं। अगर एक ही शब्द में कहा जाय, तो हिमालय और काकासाहेब से मैं जो पाती हूं, वह है आत्मानंद! भला, आत्मानंद का कभी शब्दों में वर्णन किया जा सकता है? यह तो स्वानुभव की बात है। जिसने अनुभव किया, उसने समझ लिया।

काकासाहेब को मैं एक और दृष्टि से देखती हूं। और वह है माता के रूप में! पुरुष होते हुए भी उनमें मैंने माता के वात्सल्य-भाव का दर्शन किया है। मैं इतना तो दावे के साथ कह सकती हूं कि मैंने जो प्यार अपनी मां से पाया, वह आज तक कहीं से नहीं पाया। अगर पाया तो, हिमालय से, गंगा से और काकासाहेब से! मां का प्यार कुछ अनोखा ही होता है। निःस्वार्थ प्रेम करनेवाले दुनिया में विरले ही मिलते हैं। उसी निःस्वार्थ प्रेम और वात्सल्य का दर्शन काकासाहेब के नेत्रों में होता है और इससे प्रेरित होकर, एक छोटे बालक की तरह, निःसंकोच उन्हें सब बात बताने को जी करता है।

एक दशक के उनके सान्निध्य से मैंने उनसे बहुत आध्यात्मिक ज्ञान पाया, और उसी ज्ञान के सहारे मेरा जीवन ऊपर उठ रहा है।

९४ वर्ष की आयु में किस-किस से उनका परिचय हुआ और किस-किस ने उनसे क्या पाया, यह बताना

बड़ा मुश्किल है। वह नम्रता और विश्वात्मैक्य की भावना-साधना पर चल रहे हैं। छोटे-बड़े, सभी के लिए उनका प्यार सामान है। ऐसे ऋषि-तुल्य, हिमालय-स्वरूप, काकासाहेब के पावन चरणों में मेरे कोटि-कोटि साष्टांग प्रणाम ! ○

वल्लभ विद्यालय की प्रेरणा-मूर्ति

शिवाभाई गो० पटेल

□□

सन् १९३० में जब देश में पूर्णस्वराज की लड़ाई शुरू हुई तब दांडी कूच में काकासाहेब ने, जो उस समय विद्यापीठ के आचार्य थे, दो अरुण टुकड़ियां तैयार कीं, जो बारह-बारह विद्यार्थियों और कार्यकर्ताओं की थीं। वे टुकड़ियां दांडी कूच के मुकामों पर आगे से जाकर सफाई की, रहने की, भोजन की समुचित व्यवस्था करें, ऐसी व्यवस्था की थी। इससे दांडी-यात्रियों को बहुत सरलता रहती थी, साथ ही गांववालों को अनुकूलता होती थी।

आखिरी दिन ६ तारीख के सुबह पूज्य बापूजी ने इन अरुण टुकड़ियों के २४ सदस्यों को दांडी-यात्रियों में समाविष्ट कर लिया था। ये सब नमक-सत्याग्रह में शामिल हो गये।

भाई शामलभाई (मलातज, ता० पटेलाद) सन् १९३३ में काकासाहेब के साथ जेल में थे। तब से वह स्वतंत्रता की लड़ाई में सक्रिय भाग लेते थे। वे सन् १९३० में विद्यापीठ के विद्यार्थियों के साथ बोचासन में आये और बोचासन ने महसूल न देने का प्रस्ताव किया था। इससे उनके घरों में कुर्की लाकर सरकार महसूल वसूल न कर सके, इसलिए पास की गायकवाड़ी सीमा के खेतों में मंडवे बनाकर वह रहते थे। उनके साथ मंडवा बांधकर रहने गये।

उस समय सत्याग्रहाश्रम से गंगाबहन आश्रम की बहनों के साथ भाई शामलभाई के साथ काम करने आयीं।

इस तरह गांव का आश्रम के और विद्यापीठ के सत्याग्रही भाई-बहनों के साथ पारिवारिक संबंध हुए। सत्याग्रही फुरसत के समय बच्चों को पढ़ाते, कताई करना सिखाते और सभा करने में सहायक होते। इसलिए जब सन् १९३१ में गांधी-इर्विन-संधि हुई तब गांव के लोगों ने कहा, "तुम सभी हमारे साथ रहना और हमारे बच्चों की पढ़ाई में सहायक होना।"

उनकी अभिलाषा थी कि गांव में जो सातवीं कक्षा तक की पढ़ाई की व्यवस्था है, वह बढ़कर आगे हाईस्कूल तक हो और उसमें ये स्वयंसेवक ही कार्य करें।

भाई शामलभाई ने गांव की अभिलाषा पूज्य काकासाहेब के सामने रक्खी।

बंबई के श्रीमान नगीनदास अमुलखराय ने जीवन में किफायत करके बचाई हुई एक लाख रुपये की रकम ग्राम-सेवा के लिए गांधीजी को दी थी। गांधीजी ने वह रकम विद्यापीठ के आचार्य काकासाहेब को सौंप दी थी।

इसलिए काकासाहेब की इच्छा थी कि गुजरात के प्रत्येक जिले में दलित और उच्चजातीय लोगों को जोड़नेवाली संस्था स्थापित की जाय।

भाई शामलभाई बोचासन की दरखास्त लेकर गये तो काकासाहेब ने उसे सहर्ष स्वीकार कर लिया।

खेड़ा जिले में उच्च जाति में मुख्यतया पाटीदारों की गिनती थी और बारैया तथा पाटनवाडिये सामाजिक रूप से दलित नहीं बल्कि आर्थिक और शैक्षणिक रूप से हरिजनों से भी विशेष दलित थे और उनकी बस्ती भी बहुधा प्रत्येक गांव में थी। कई गांव तो ऐसे थे, जहां कोई भी पाटीदार या उच्चजातीय नहीं था। वहां बढ़ई, लुहार और नाई भी नहीं थे, परन्तु बारैया या पाटनवाडिया ही मुख्यतया थे।

काकासाहेब की इच्छा थी कि इन जातियों के बीच कड़ी बन सके, ऐसी संस्था होनी चाहिए, इसलिए बोचासन गांव में श्री नरहरिभाई परीख (महापात्र) गये और लोगों से मिले। गांव के लोग खुश हुए और ऐसी संस्था के लिए एक बीघा जमीन स्टेशन के पास भेंट में देने का निश्चय किया।

संस्था के नामकरण का प्रश्न आया। बारैयादि भाइयों ने कहा कि बारैयादि लड़कों को ध्यान में रख-कर शिक्षा संस्था का आरंभ करते हैं तो बारैया विद्यालय नाम रखना चाहिए।

परन्तु साम्प्रदायिक संस्था स्थापित नहीं करनी थी, राष्ट्रीय संस्था बनानी थी, जिससे राष्ट्र का प्रत्येक बच्चा लाभ उठा सके। इसलिए विचार-विमर्श के बाद अन्त में सरदार वल्लभभाई का नाम जोड़ने का तय हुआ, और 'वल्लभ विद्यालय' संस्था का निर्माण हुआ।

काकासाहेब की दूसरी यह इच्छा थी कि विद्यालय के मकान सादे हों, गरीब लोग जैसे मकानों में रहते हैं, वैसे मकान बनाये जायं। इस तरह के बांस-मिट्टी के मकान एक महीने में बना दिये और गांधीजी के पवित्र करकमलों से ६-५-३१ के दिन संस्था की बुनियाद डाली और श्री मोरारजीभाई के हाथों १६-६-३१ को उसका उद्घाटन हुआ। शाला के आचार्य के रूप में स्व० श्री कपिलराय मेहता रहे। बाल कालेलकर और भादरण के श्री मणिभाई उनके साथ शामिल हुए।

संस्था छ: मास चली। छात्रालय में १० विद्यार्थी थे और निटकवर्ती गांवों से अनेक विद्यार्थी पढ़ने आते थे।

छ: मास के बाद सन् १९३२ के जनवरी में फिर से लड़ाई शुरू हुई, इसलिए सरकार ने इस विद्यालय को जब्त कर लिया। १९३५ में वापस मिला। मकानों में दीमकों ने कब्जा कर लिया था, और पुलिस ने मकानों के बांस रसोई के काम में ले लिये थे। इससे मकानों की दीवारें खत्म हो गयी थीं।

भाई शामलभाई ने फिर से बांस वगैरा इस्तेमाल करके एक महीने में मकानात तैयार कराये और संस्था को फिर से १९३५ के जून की १६ तारीख से शुरू किया। सरदार पटेल ने विद्यालय के आचार्य की जिम्मेदारी मुझे सौंपी।

काकासाहेब की इच्छा को ध्यान में रखकर दीमकों से बचाने के लिए चूने की चुनाई से नये मकान तैयार किये। उनके ऊपर देशी खपरैल डालीं। इस प्रकार की व्यवस्था से स्वच्छता, सुघड़ता रक्खी, जिसे काकासाहेब ने पसंद किया।

उसके बाद काकासाहेब कई बार विद्यालय में आये, उनके आशीर्वाद हमें मिले, और उनकी जो भावना थी कि उच्चजातीय और दलित जाति की कड़ीरूप वल्लभ विद्यालय बने, उस भावना के साथ आज भी यहां काम जारी है।

बापू की नई तालीम की दृष्टि से बालवाड़ी से लगाकर कक्षा-१२ तक का और अध्यापन मंदिर यहां चलता है। तदुपरांत ग्राम सेवा की दृष्टि से दवाखाना और गोशाला चलते हैं। प्राय: किसानों के बच्चे पढ़ने आते हैं, क्योंकि यहां कृषि विद्या उद्योग के रूप में सिखाई जाती है।

भूतपूर्व विद्यार्थियों की मांग से यहां से दो मील दूर भालेल गांव में बहनों का कन्या विद्यालय सन् १९७२ में विद्यालय की शाखा के रूप में आरंभ किया है।

प्रारंभिक वर्ष में ११ बहनें छात्रावास में थीं। उसमें भी दलित और उच्चजातीय बहनें पढ़ती हैं। अब उसमें १०० लड़कियां पढ़ती हैं। वे सब छात्रावास में रहती हैं। उनको गृह-विद्या की शिक्षा विशेष रूप से दी जाती है। गृह-विद्या में सफाई, रसोई, सिलाई, कताई, गौ-सेवा, बाल-पोषण आदि विषय हैं।

खेड़ा, बड़ौदा और भरौंच जिले की कन्याएं पढ़ती हैं। इसका श्रेय आचार्या धनलक्ष्मीबहन को जाता है।

इस संस्था को सभी राजकीय पक्षों का, सभी जातियों का अनुमोदन प्राप्त है। यहां सभी जातियों और राजकीय पक्षों के भाई-बहनों के बाल-बच्चे साथ में प्रेम से रहकर पढ़ते हैं।

स्वराज्य मिलने के बाद सरकार ने उद्योग और सामूहिक जीवन की शिक्षा के लिए प्राथमिक शाला के शिक्षकों तथा निरीक्षकों को भेजा। सभी जगह उन्हें सामूहिक जीवन का अनुभव हुआ। उसके बाद शिक्षकों के सम्मेलनों में जातिवार बैठाकर भोजन करने की प्रथा बंद हुई और सब साथ मिलकर सफाई, रसोई आदि काम करने लगे और साथ ही भोजन करने लगे।

काकासाहेब के प्रिय विद्यार्थी बबलभाई मेहता इस विद्यालय के निर्माण में हमेशा सहायक हुए। पूज्य रविशंकर महाराज की मदद तो है ही।

इस तरह काकासाहेब इस संस्था की प्रेरणामूर्ति हैं। ○

ज्ञान के अनन्त भण्डार

उमा अग्रवाल

□□

पूज्य काका साहेब का स्मरण आते ही अनेक सुखद स्मृतियां मस्तिष्क में घूमने लगती हैं। उनमें से चुनाव करना बड़ा ही कठिन है। काकासाहेब ने देश, समाज, संस्कृति, शिक्षा आदि विभिन्न क्षेत्रों में महत्व-पूर्ण योगदान किया है। विपुल साहित्य की रचना की है। उस सबका लेखा-जोखा लेना गागर में सागर भरने के समान होगा।

मेरा बचपन काकासाहेब के सान्निध्य में बीता है। मुझे याद है कि हम बच्चों की शैतानियों को भी काकासाहेब एक सुन्दर जामा पहना देते थे और हंसी-हंसी में ही बहुत-सी बोधप्रद बातों की जानकारी हमें अनायास उनसे मिल जाती थी। उनके ज्ञान का अनन्त भण्डार छोटे-बड़े, स्त्री-पुरुष सबके लिए सदा खुला रहता था। अपनी क्षमता के अनुसार जितना ग्रहण कर सको, उनसे ग्रहण कर लो।

काकासाहेब का ज्ञान इतना व्यापक है कि देखकर आश्चर्य होता है। आसमान के रंग, ग्रह, नक्षत्र, बादलों के आकार आदि बातें उनसे सहज ही जानी जा सकती थीं। नदी, पर्वत, प्रपात, वन, पृथ्वी के कंकड़-पत्थर, संसार के पशु-पक्षी, ऐसी अनेक कीट-पतंग, भुनगे, पक्षियों के नाम, जात, गुण, रूप-रंग, आवाजें, उनकी नकल करना, ऐसी बातें उनसे बड़ी आसानी से सीखी जा सकती थीं। कोयल को चिढ़ाने की दीक्षा तो मुझे काकासाहेब से ही मिली थी। प्रकृति की वृक्ष-बल्लरियों, फूल-पत्तों के गुण-अवगुण सब उनसे जाने जा सकते थे।

उनके वर्णन इतने सरस होते थे कि सुनते-सुनते उनका चित्र आंखों के आगे साकार हो जाता था। फूल और फलों का जब वह परिचय कराते थे तो फूलों की महक और फलों का स्वाद अनुभव होने लगता था।

देश-विदेश में काकासाहेब का लाखों व्यक्तियों से सम्पर्क आया है। वस्तुतः वह 'वसुधैव कुटुम्बकम्' में विश्वास रखते हैं और इस दृष्टि से उनका परिवार अत्यन्त विशाल है।

कुछ वर्षों से काकासाहेब की स्मरण और श्रवण शक्तियां क्षीण हो गयी हैं। इन शक्तियों से काकासाहेब ने काम भी तो कम नहीं लिया। अब वह अधिकांश चेहरों को भूल जाते हैं, लेकिन अभी कुछ महीने पहले जब मैं उनसे मिली तो उन्होंने मुझे एकदम पहचान लिया और प्रसन्नता के साथ मेरा नाम लिया। बोले, "मेरी याददाश्त अब बहुत कमजोर हो गयी है। बहुत से लोगों को मैं भूल गया हूं। पर तुम्हें नहीं भूला। इसका मतलब यह है कि बहुत पुराने संबंधों की स्मृति अब भी मेरे मस्तिष्क में बनी हुई है।"

मैं जब भी उनसे मिलती थी, वह मुझे लिखने के लिए प्रोत्साहित करते रहते थे। उनके आग्रह के कारण ही कुछ वर्ष पहले मैंने उनकी गुजराती में लिखी जापान यात्रा 'उगमणों देश' का हिन्दी में अनुवाद 'सूर्योदय का देश' के नाम से किया था। मैं जानती हूं कि इस काम के लिए उन्हें बड़े-से-बड़े लेखक और अनुवादक मिल सकते थे, लेकिन उन्होंने यह काम मुझसे ही कराया। बच्चों से भी जवाबदारी के काम कराने की उनकी कला का यह एक सबूत है।

काकासाहेब से संबंधित एक घटना की छाप मेरे मन पर अभी भी जमा है। उनके छोटे युवा पुत्र बालभाई का अकस्मात हृदय की गति रुक जाने से स्वर्गवास हो गया। इस दुःखद समाचार को सुनते ही हम लोग किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये। बड़ी कठिनाई से हिम्मत करके उनके यहां गये। बड़ा हृदयस्पर्शी दृश्य था। बालभाई एक कमरे में चिर-निद्रा में लेटे हुए थे। उनके बड़े भाई और लड़के अन्तिम यात्रा की तैयारी में लगे थे। सामने ही काकासाहेब एक पलंग पर धीरज और सांत्वना की मूर्ति बने बैठे थे। हमारे मुंह से शब्द नहीं निकल रहे थे। बालभाई हर साल रक्षाबंधन पर मेरे पास राखी बंधवाने आते थे। यह स्नेह-सूत्र बचपन से ही बंधा हुआ था। बालभाई को देखकर हमारे धीरज का बांध टूट गया। पर काकासाहेब ने हमें धीरज बंधाया। हमें ही क्यों, वह सबको समझा रहे थे। बड़े तटस्थभाव से सारी घटना बता रहे थे।

बुढ़ापे में अपने लाड़ले बेटे को चिरविदा देने से पहले काकासाहेब ने प्रार्थना करवाई, बड़े उद्बोधक प्रवचन कहे। सारा वातावरण नितान्त शांत और पावन था। ऐसे अवसर पर मन का इतना संतुलन रखना एक अद्‌भुत दैवीगुण ही मानना चाहिए।

ईश्वर से प्रार्थना है कि काकासाहेब बहुत वर्षों तक हमारे बीच बने रहें और हम उनके आशीर्वाद से निरन्तर प्रेरणा लेते रहें। ○

अपरिचित मार्गों पर चलने की प्रेरणा देनेवाले

मोहन परीख

□□

साबरमती सत्याग्रह आश्रम का शिक्षक निवास। काकासाहेब, किशोरलालभाई, महादेवभाई, नरहरिभाई, पंडितजी खरे—सभी परिवार एक चाली में रहते थे। आमने-सामने दो कतारें थीं। एक ओर रहने-बैठने के कमरे, बड़े रास्ते की ओर लकड़ी की पटिया लगाकर बनाया हुआ जालिया; दूसरी ओर रसोईघर, उसके ऊपर मालिया, पीछे की ओर नहाने का कमरा, जहां पानी भी रखते थे। उस जमाने में शौचालय घर से कुछ दूरी पर अलग सामूहिक उपयोग के लिए बने थे, जिसका सभी इस्तेमाल करते थे।

शिक्षक-निवास की चाली में नये विचारों से युक्त गांधी से आकर्षित युवक, उत्साह और उमंग से भरे हुए समझपूर्वक जीवन जीने की लगन के साथ जी रहे थे। उन्हें प्रचलित समाज से काफी अलग होकर अपनी मरजी के अनुसार प्रयोग करने की पूरी छूट थी। छोटी-छोटी बातों के संबंध में वे विचार-विमर्श करते और निर्णय लेते। जहां कहीं शंका होती या अधिक सोचने जैसा लगता तो बापूजी आश्रम में थे ही। शिक्षकों में अग्रगण्य काकासाहेब उनके साथ चर्चा कर आते थे। आपस में विश्वास, प्रेम और कुछ कर मिटने की तमन्ना-वाले ये युवक एक-दूसरे के गुण ही देखते थे।

शाला में शिक्षक का कार्य तो सब मिलकर चलाते ही थे, पर एक-दूसरे के जीवन के बारे में भी ज्यादा निकटता उनमें थी। अकेला पुरुष-वर्ग ही ऐसा सोचता हो, सो नहीं, बहनें भी ज्यादातर सुनती रहती थीं और बाद में सहेलियों की तरह आपस में एक-दूसरे से बातें करतीं। अपनी पसंदगी या नापसंदगी भी अवश्य बतातीं। बापू बहनों को मिलने के लिए खास तौर पर बुलाते और पूरा समय देते। ऐसे बापू-परिवार का वटवृक्ष विकसित हो रहा था।

इसी समय हम बच्चों का जन्म हुआ, सभी परिवारों को एक-दूसरे के बालकों में दिलचस्पी थी। पिताजी के समकक्ष निकट के व्यक्तियों को हम 'काका' कहते थे और मां की सहेलियों को 'मौसी' कहते थे। पर काकासाहेब की पत्नी को सभी 'काकी' कहते और पंडितजी खरे की पत्नी को 'आई'। नारायण अपने पिता जी को 'काका' कहता था, जिससे काकासाहेब को वह 'बीजीकाका' कहता था।

यही शिक्षक नव-स्थापित गुजरात विद्यापीठ में, आश्रम से दो मील दूरी पर, पढ़ाने जाते थे। काकासाहेब विद्यापीठ के आचार्य हुए तो वहीं रहने गये। नरहरिभाई भी उस समय विद्यापीठ के महामात्र बने और वे भी विद्यापीठ में रहने लगे। दोनों का आपस में गहरा प्रेमभाव और विश्वास था, जिससे काम बहुत निखर उठा।

मेरी उम्र ६-७ साल की हुई तब सहज ही प्रश्न उठा, "मोहन की पढ़ाई का क्या करें?" बचपन में मैं तूफानी और घुमक्कड़ था। उस समय काकासाहेब की ओर से ऐसा प्रोत्साहन मिला कि १० साल की उम्र तक बच्चों को शाला में जाकर लिखाई-पढ़ाई करने की कोई जरूरत नहीं है। मेरा तो काम बन गया! कोई पूछता, "क्या पढ़ते हो?" जवाब तैयार रहता, "काकासाहेब ने पढ़ने की मनाई की है।"

दस साल की उम्र तक शाला न जाने का सूत्र मैंने पकड़ लिया और अक्षरशः उसका पालन किया! विद्यापीठ में विविध उद्योग चलते थे। काकासाहेब सुथारी उद्योग में जाते थे। मेरे पिताजी ने भी मुझे सुथारी के औजार ला दिये थे और मैं भी काकासाहेब के साथ ही अपनी पटरी रखकर काम करता था। काकासाहेब

से उद्योग और हस्त-कौशल और टेक्निकल काम की प्रेरणा पाता था। कई साल गुजरने पर ये संस्कार पक्के हुए और सुधार और अनुसंधान के कार्य में बहुत काम आये।

कई लोग पूछते थे कि तुम्हारे पिताजी ने तुम्हें पढ़ाने का बहुत ध्यान रखा होगा, और तुम्हारे लिए काफी समय देते होंगे। पूछनेवालों को कहां खबर थी कि पढ़ाने में पिताजी का कभी विश्वास ही नहीं था तो सामने बिठाकर समय देने का सवाल ही कहां से उठता! हां, वे दूरी पर रहते हुए निगाह रक्खा करते थे, कि मेरा विकास सही ढंग से हो रहा है या नहीं। उन्होंने मुझे न पढ़ाकर और काकासाहेब की राय के मुताबिक शाला में न भेजकर ही मेरी सच्ची शिक्षा की। इस तरह मेरी शिक्षा में उन्हें जरूर दिलचस्पी थी, ऐसा कह सकते हैं।

बचपन में काकासाहेब के कारण किसीने मुझे पढ़ने को नहीं कहा। सुथारी उद्योग और विज्ञान के वर्गों में घंटों सभी कार्य और प्रयोग करना, उनका निरीक्षण करना यही मेरा शिक्षा-क्रम रहा और यंत्रशास्त्र के बीज यहीं से पड़े, जिनसे मेरी आगे की सारी शिक्षा हुई।

बड़े होने पर स्वतंत्र रूप से काम करने का समय आया और कार्य की पसंदगी भी बुनियादी शिक्षा पद्धति से मुझे स्वयं ही करनी थी, ऐसी पिताजी की राय रही। भाई नारायण देसाई के साथ बातचीत चलती रहती थी। हम दोनों ने स्वतंत्र रूप से सोच लिया कि हम लोगों को जिस तरह तालीम मिली है, वैसी ही तालीम का दूसरों को लाभ मिल सके तो कितना अच्छा होगा! हमने नई तालीम के माध्यम से साथ मिलकर, एक जगह बैठकर काम करने का तय किया। वेड़छी स्थान तय हुआ और गांव की शाला हमारी शाला बनी। नई तालीम के सिद्धांत के अनुसार प्रकृति, समाज और उद्योग हमारे शिक्षा के माध्यम बने। प्रथम तो शिक्षा दी प्रकृति और समाज की, यह तो ठीक था; पर जब शाला में उद्योग की शिक्षा मिलने लगी तो वह वास्तविक परिस्थिति से भिन्न होने के कारण मुझे संतोष न था। कहा करता कि सच्चा उद्योग चलना चाहिए। आज जो हम चलाते हैं, वह उद्योग वास्तविक नहीं, बल्कि खेल-सा लगता है। मेरे कहने पर शिक्षण शास्त्री कहां से राजी होंगे? उनको तो अकेले पढ़ने-लिखने के बदले तीन उंगलियों की तालीम के बजाय विद्यार्थी १० उंगलियों का इस्तेमाल करना सीखे, अपना हाथ चलाये, उससे संतोष था। और वे ऐसा भी मानते थे कि उद्योग द्वारा उपार्जन और स्वावलंबन, यह सही नहीं है। मुंह से वे बोलते नहीं थे, पर मन में ऐसा भी था कि शिक्षा के लिए चलनेवाले उद्योग में बिगाड़ भी अनिवार्य है। मुझे ये सब बातें किसी भी तरह पसंद नहीं थीं। ऐसी मेरी मानसिक स्थिति थी। संयोग से मुझे काकासाहेब का सहारा मिल गया।

सन् १९५६ में वालम (जि० महेसाणा, गुजरात राज्य) में गुजरात नई तालीम सम्मेलन हुआ। काकासाहेब उसके अध्यक्ष थे। उन्होंने कहा, "यदि शाला में उद्योग दाखिल करने में हम सफल न हुए तो उद्योग में शिक्षा दाखिल करेंगे।" इस बात ने मेरे विचारों को बल और प्रोत्साहन दिया और इस दिशा में काम करने की इच्छा होने लगी। पिताजी की बीमारी के कारण उन्हें छोड़कर बारडोली से बाहर जाना संभव नहीं था। अतः बारडोली आश्रम में ही श्री आर्यनायकमजी के आशीर्वाद से उत्तर बुनियादी विद्यालय शुरू किया। पांच विद्यार्थी आये। कृषि हमारा मूल उद्योग था। खेत में जो पके, वही खाना! गलके और तुरई खूब आने लगे। दोनों समय उसकी भाजी शक्करकन्द पके तो सवेरे नाश्ते में उबले हुए शक्करकन्द, दोपहर के भोजन में उसकी भाजी और शाम को पकाये हुए शक्करकन्द में आटा डालकर उसकी चपाती बनाते थे। पिताजी का अवसान होने पर विद्यालय बंद हो गया।

मेरी बुनियादी शिक्षा के कारण सन् १९५९ से कृषि के औजारों में सुधार और अनुसंधान का कार्य सर्व सेवा संघ' के बुजुर्गों ने मुझे सोंपा। तब से उन्नत कृषि औजार बनाने का काम शुरू हुआ। इसी समय सन्

१९६२ में सुरुचि छापाखाना आरंभ किया गया। छापाखाना शुरू करने में दो महानुभावों की प्रेरणा थी। एक थे स्वामी आनंद, जिन्होंने नवजीवन प्रेस की शुरुआत से ही छपाई-कला के बारे में नई राह ढूंढ़ने का काम किया था। उनके मन में जो बाकी रह गया था, वह हमारे द्वारा पूरा कराने का उन्होंने विचार किया। दूसरे थे काकासाहेब, जिन्होंने नई तालीम सम्मेलन में कहा था कि यदि पाठशाला में उद्योग दाखिल करने में हम सफल न हुए तो उद्योगशाला में शिक्षा दाखिल करेंगे। छपाई-व्यवसाय जैसे उद्योग में शिक्षा दाखिल करके सूरत जिले के और गुजरात के भी आदिवासी युवकों को—उसमें भी खास करके हलपति खेत-मजदूर के बेटे-बेटियों के लिए एक नई शिक्षा की संस्था स्वाश्रय के आधार पर चलाने का संकल्प किया। संकल्प को बुजुर्गों और हितेच्छुओं के आशीर्वाद प्राप्त हुए। प्रयोग सफल होता हुआ दिखाई देने लगा। तब उसीके आधार पर सन् १९७० के जून मास की २५ तारीख को यंत्र-विद्यालय का प्रारंभ काकासाहेब के कर-कमलों से बारडोली में हुआ।

ऐसी दो टेक्निकल शिक्षण संस्थाएं स्वाश्रयी शिक्षा 'कमाओ और पढ़ो' के आधार पर चल रही हैं। इन दोनों संस्थाओं का प्रेरणाबल काकासाहेब ही रहे हैं। मेरी निजी शिक्षा से लेकर अभिनव शिक्षा प्रयोग में काकासाहेब ने प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से मदद की है। ऐसे अपरिचित रास्तों पर चलने की प्रेरणा काकासाहेब जैसे प्रखर गांधीवादी शिक्षाशास्त्री ही दे सकते हैं। ○

परिणत सुविचार की पवित्र खान

पुंडलीक कानगडे

□□

पू० काकासाहेब कालेलकर के जीवन का सिंहावलोकन करते हुए ऐसा दिखाई देगा कि जहां वे गये, जिन-जिन संस्थाओं से सम्बन्ध और सम्पर्क होता गया, वहां-वहां उनका स्वागत हुआ, सत्कार हुआ। इतना ही नहीं, किन्तु गोद लिये पुत्र के समान उन-उन संस्थाओं के उद्देश्य और सिद्धांतों में और उन संस्थाओं के गठन में काकासाहेब का योगदान सबसे अधिक रहा। किन्तु उन्हें अपना क्षेत्र तब प्राप्त हुआ जब वे गांधीजी के सान्निध्य में आ पहुंचे।

सन् १९१३ में काकासाहेब रामकृष्ण मिशन के बेलूर मठ में और उसके बाद कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शांतिनिकेतन में दाखिल हुए। एक विद्वान की हैसियत से शांतिनिकेतन में स्वागत हुआ ही, किन्तु अपने शुद्ध अन्तःकरण के कारण उसके परिवारिक सदस्य हो गये। शान्तिनिकेतन में गांधीजी से उनकी प्रथम भेंट हुई। गांधीजी के साथ काकासाहेब की तात्विक चर्चाएं कई दिनों तक चलीं। गांधीजी को उसके बाद कई ध्येयनिष्ठ कार्यकर्ता मिले। जिनमें काकासाहेब और विनोबा के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं।

ये दोनों ही आज गांधी-विचार और गांधी-दर्शन के प्रामाणिक विवेचक माने जाते हैं। भारत में गांधी-दर्शन सिखाने के लिए विश्व में उसकी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए और उस दर्शन को अपने जीवन में ओत-प्रोत करने के लिए, इन दोनों ने विपुल साहित्य का निर्माण किया है, जो अनेक भाषाओं में प्रकाशित हो चुका है।

सन् १९२० में 'असहयोग आन्दोलन' के साथ राष्ट्रीय शिक्षण देने के हेतु गांधीजी ने गुजरात विद्या-

पीठ की स्थापना की। उस विद्यापीठ में प्रथम अध्यापक होकर और अन्त में कुलपति होकर काकासाहेब ने सेवा की। बाद में १९२० में जब गांधीजी जेल में थे, उनके दोनों साप्ताहिक पत्रों का संपादन काकासाहेब ने संभाला। यह कार्य करते-करते ही उन्हें जेल जाना पड़ा।

काकासाहेब की भाषा गुजराती न होते हुए भी उन्होंने गुजराती भाषा पर इतना प्रभुत्व पा लिया है कि गुजराती के जो सर्वमान्य प्रतिष्ठित लेखक हैं, उनकी पंक्ति में काकासाहेब का उच्चस्थान है। उनकी लिखी हुई अनेक पुस्तकों को पुरस्कार भी मिले हैं। उनकी प्रकाशित पुस्तकों की संख्या डेढ़ सौ से अधिक होगी। अनेक भाषाओं पर उनका अच्छा अधिकार है। बंगला साहित्य के तो वे उत्कृष्ट विवेचक हैं। हिन्दी-हिन्दुस्तानी भाषा के वे प्रखर प्रचारक और समर्थक हैं। इसके अलावा और भी कई भाषाएं वे जानते हैं।

राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के आन्दोलन में काकासाहेब को पांच बार कारावास की सजा हुई। उसमें एक वर्ष हिंडलगा (बेलगाम) जेल में मैं उनके साथ था। काकासाहेब के सहवास में मुझे जेल की कोई यातना अनुभव नहीं हुई, किन्तु काकासाहेब के साथ रहना और चलना दोनों कठिन था। काकासाहेब के साथ टिकना आसान नहीं। उनके सहवास के मीठे फल आज मुझे ज्यादा मीठे लगते हैं। मेरे जीवन में दो-तीन बार काका-साहेब ने मुझे सम्भाल लिया, एक वर्ष उनके निकट सान्निध्य में रहने से कालेज शिक्षण के अभाव की पूर्ति हो गयी। अपने जीवन में मैंने जिन-जिन आन्दोलनों को हाथ में लिया, स्वतन्त्र रूप से चलाया। काकासाहेब ने मदद भी की और मार्ग-दर्शन भी किया। यह सब मैंने अपनी पुस्तक (सप्रेम वन्देमातरम्) में किया है। काकासाहेब बहुभाषी हैं, विद्वान हैं, तत्वज्ञ हैं। उन्होंने विपुल उत्कृष्ट साहित्य समाज को दिया है। अनेक संस्थाएं चलाई हैं। गांधी तत्वज्ञान के समर्थ विवेचक हैं और राष्ट्रभाषा के समर्थक हैं। ये सब बातें सर्वविदित हैं और अनेक समर्थ चिन्तकों और विचारकों ने इन सबके बारे में काफी लिखा है। किन्तु काकासाहेब की ये विशेषताएं पर्याप्त नही हैं। उनके जीवन की विशिष्टता तो अलग ही है।

राष्ट्र-निर्माता काकासाहेब ने युवक-युवतियों को देशभक्त बनाने की कला को जीवन में शुरू से ही प्रधानता दी है। उनके सम्पर्क में आये और उनके सहवास में कुछ समय रहे हुए तरुण आजीवन राष्ट्रभक्त होकर ही निकले हैं। ऐसे कितने ही युवक-युवतियां राष्ट्र के कार्य में लगा दिये हैं। मुझे गर्व है कि उनमें से एक मैं हूं! काकासाहेब के प्रत्यक्ष सम्पर्क और सहवास में आये हुए कई विचारकों ने, शिष्यों ने, अन्तेवासियों ने स्वयं बहुत-सी पुस्तक लिखी हैं। काकासाहेब का साहित्य बुद्धि के साथ-साथ अन्तःकरण से भी समझ लेना चाहिए। आचरण की जुगाली के बिना वह पच नहीं सकता और वह उपयोगी भी नहीं हो सकता। उनके साहित्य की भाषा भी बराबर समझ लेनी चाहिए। काकासाहेब केवल भाषा-कोविद ही नहीं हैं, बल्कि नये-नये शब्दों के बनाने की तो मानो टकसाल ही हैं। भारत के श्रेष्ठ-शिक्षण-कोविदों में काकासाहेब का नाम बहुत ऊंचा है। उनकी अनेक रचनाओं के कारण 'चिन्तक' तो उनसे परिचित हैं ही प्रथम कोटि के साहित्यिक की हैसियत से प्रतिष्ठित साहित्यकार भी उन्हें पहचानते हैं। तीन पीढ़ियों से काकासाहेब निष्ठावान राष्ट्र-सेवक तो माने ही गये हैं। वह केवल तत्वज्ञ हैं, इतना ही नहीं, किन्तु ऐसे संस्कार औरों को भी सहजता से देते हैं, ऐसा कहने में अतिशयोक्ति नहीं होगी।

आध्यात्मिक मार्ग पर काकासाहेब ने बहुत दूर की मंजिल तय की है। आध्यात्मिकता की चरम सीमा तक वे पहुंचे हैं। मोक्ष अथवा मुक्ति को एक साधन मानने का विचार उन्होंने पहले अपने जीवन में उतारा, फिर अपने साहित्य में उसका प्रतिपादन किया। इसलिए उनका साहित्य रोचक-बोधक बना। ब्रह्मविद्या अथवा अध्यात्मविद्या से अधिक महत्व वह धार्मिकता को देते हैं। केवल आत्मा-परमात्मा को ही वे जीवन का सर्वस्व नहीं मानते। आत्मदर्शन के सिवा जीवन-दर्शन अपूर्ण, निःसत्व और निःसार है। यह बात उनको मान्य होते

हुए आत्मदर्शन-युक्त जीवन दर्शन उनके मत से सर्वश्रेष्ठ हैं। जीवन दर्शन और सेवा करने की आवश्यकता ये दोनों आध्यात्मिकता के अंतर्गत हैं। वह विचार काकासाहेब ने अपने साहित्य में उत्कटता से दिया है। अध्यात्म-विद्या की साधना से उत्तम सिद्धि प्राप्त करने के बाद जीवन-साधना करनी चाहिए। यदि ऐसा न हो सके तो मात्र अध्यात्म-विद्या का प्रयोग कभी नहीं हो सकता, ऐसा काकासाहेब का निश्चित मत है। उनकी यह जीवन-साधना केवल व्यक्ति के लिए नहीं, अथवा समाज तक जाकर ही वह रुकती नहीं है, वह तो समग्र मानवता जितनी विस्तृत है। आत्मदर्शन जीवन साधना की यह सीमा है। इससे तनिक भी संकुचित ध्येय, इससे छोटी महत्वाकांक्षा, काकासाहेब को कभी भी संतोषदायक नहीं लगी।

अपने ग्रन्थ और अपने गुरु को पूर्णतया परख-परख कर ही वे उनके सान्निध्य में गये। उन्होंने अपने निवास-स्थान को 'सन्निधि' का नाम दिया है। वे कभी भी ग्रन्थ-परतन्त्र या गुरु-परतन्त्र हो नहीं सके। उनके विचारों की स्वतन्त्र शैली है। सब धर्मों के मूल सिद्धान्तों की सार-रूपी धार्मिकता उनमें है। ईश्वर का वरदान उन्हें मिला हुआ है। इसी को वे 'युगधर्म' कहते हैं। यही है उनका वेदान्त और उनका अध्यात्म। वेदान्त शब्द काकासाहेब को अच्छा नहीं लगता। वेदान्त में भी द्वैत, अद्वैत, विशिष्टा द्वैत, जैसे किसी भी पंथ या सम्प्रदाय में काकासाहेब अटके नहीं। गीता, उपनिषद, ब्रह्मसूत्र इस प्रस्थाव-त्रयी का कितना ही अध्ययन किया हो, तो भी उसमें अपने आपको कभी सीमित नहीं किया, न दूसरों को भी ऐसी प्रेरणा ही दी।

अध्यात्म और विज्ञान का समन्वय उनमें ओत-प्रोत है। इसी तरह 'सर्व धर्म समन्वय' में भी उनकी निष्ठा है और जीवन का उनका अन्तिम आग्रह है। उनके जीवन में 'अध्यात्म-विज्ञान-समन्वय' है। मानव-जाति के विकास के लिए अध्यात्म-विद्या और विज्ञान को हाथ-से-हाथ मिलाकर चलना चाहिए, ऐसा वे मानते हैं।

ऐसे महान पुरुष के सान्निध्य में क्षण-भर बैठने से भी मनुष्य कुछ-न-कुछ सहज ही सीख लेता है। बापूजी ने एक बार मुझसे कहा था, "काकासाहेब की बुद्धि सिर्फ चलती नहीं बल्कि दौड़ती है।" एक बार विनोबाजी ने चर्चा में कहा था, "बड़े मजे की बात है कि काकासाहेब अपने विचार लिखवाने लगते हैं और उसमें कोई सुधार भी नहीं करना पड़ता।" उनका समस्त 'चिन्तन' किसी भी क्षण किसी भी विषय पर सदा तैयार रहता है।

उन्होंने मृत्यु का सम्पूर्ण विचार कर रखा है। स्वयं मृत्यु ने भी अपने विषय में इतना चिन्तन किया होगा या नहीं, यह विश्वासपूर्वक नहीं कहा जा सकता। 'परमसखा मृत्यु' नाम की पुस्तक काकासाहेब के चिन्तन से ओतप्रोत है।

ऐसे ऋषितुल्य व्यक्ति के पास जाकर विद्या के समुद्र में गोते लगाते रहने से बड़ा आनंद मिलता है। वह "परिणत सुविचार अनुभव की पवित्र खान" हैं। ○

एक अविस्मरणीय प्रसंग

अनसूया बजाज

□□

मैं अनेक के सहवास में आई, उनकी प्रेम-भाजन भी रही, ऐसा कहूं तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। मेरे अपने पिता ऋषितुल्य थे। पुराना उदाहरण देना हो तो जनकराजा जैसे थे। उनका जीवन सब तरह से विरक्त था। वे पिता तो थे, लेकिन मेरी भावना गुरु की ही अधिक रहती। १९३५ में पू० काकासाहेब का परिचय-संबंध-सहवास सभी बातें एक साथ हुईं। कैसे क्या घटना हुई, याद नहीं, लेकिन उनकी ओर एकदम आकर्षित हुई। इतना ही नहीं, उनके लिए मेरे मन में पिता का स्थान हो गया।

वह वर्धा से ३ मील पर बोरगांव रहते थे। मैं रोज जाती। उनके साथ दक्षिण का पूरा प्रवास किया। बंगाल-आसाम गई। मुझे उनकी सभी बातें अच्छी लगतीं। वह अत्यंत स्नेह करते। उनके पास बैठती। वे सहज में नई-नई बातें बताते रहते। फिर मेरी शादी हुई। संबंध बढ़ता ही गया। बच्चे हुए, काकासाहेब काकावाड़ी रहने आ गये। रोज सुबह-शाम घूमने जाना। उनका आना सहज बात हो गई। पत्रों का आदान-प्रदान भी होता रहा।

शादी के बाद उनके साथ राष्ट्रभाषा प्रचार के शिष्टमण्डल में मैं भी साथ थी। सारा दक्षिण घूमते-घूमते कन्याकुमारी पहुंचे। समुद्रस्नान करने को बहुत उतावली हो रही थी। पहले तो विवेकानंद शिला के पास लोहे की जंजीरबंधे पानी में नहाना हुआ। लेकिन वहां समुद्र अपनापन क्या व्यक्त कर सकता था ? मैंने काकासाहेब से शिकायत की कि यह क्या नहाना ? यह तो नदी-स्नान हुआ। तब हम दोनों खुले समुद्र में नहाने गये। पता नहीं, काकासाहेब को कैसे क्या सूझा उधर जाते समय बिस्तर की डोरी साथ ले ली। साथ ही नहीं ली वहीं से मेरे बायें हाथ में कसकर बांध दी और अपने हाथ में बांध ली। समुद्र-किनारे जाकर खड़े हो गये। मैं समुद्र-दर्शन में खोई थी। इतने में ऐसी भयंकर लहर आई कि मेरे और काकासाहेब के सिर पर से होके गई और हम दोनों को काफी अंदर बहा ले गयी। क्षणभर हम अपनी-अपनी जगह संभलते रहे। इतने में रेत जोरों से आया। पहले खारा पानी आंख-मुंह में चला गया। फिर रेत से भर गये। मेरी तो कुछ भी समझ में नहीं आया कि एक क्षण में यह क्या हो गया। समुद्र देखने तथा समुद्र में स्नान करने का यह पहला ही अवसर था। काकासाहेब कहीं दीखे नहीं। लेकिन रस्सी बंधी थी और मुझे खींचा जा रहा था, इतना समझ में आया। मैं दौड़कर जमीन की तरफ गई, ताकि कुछ संभलूं। काकासाहेब को देखूं। तभी काकासाहेब चिल्लाये। कितना आनंद हुआ, कह नहीं सकती। समुद्र के इतने वेग में मुझे खीचते-खींचते उनके दोनों हाथ लाल-सुर्ख हो गये थे। मेरा हाथ रस्सी से बंधा कटने जैसा हो गया था। भगवान की पूर्व योजना ही कहनी चाहिए कि काकासाहेब को यह सब सूझा, वरना क्या होता ? काकासाहेब कहने लगे, "बहुत भीषण प्रसंग था। रस्सी मेरे हाथ से छूट जाती तो क्या होता ? तुम तो जातीं ही, मैं भी तुम्हारे साथ आता !" मेरे मन में विचार आया कि भगवान को धन्यवाद देना चाहिए। ऐसा कुछ हो जाता तो मेरी कितनी मूर्खता कहलाती। मेरा तो क्या, लेकिन काकासाहेब का जीवन अत्यन्त मूल्यवान था। इस प्रसंग को मैं कभी नहीं भूल सकती।

काकासाहेब ९४ साल पूरे करके ९५वें वर्ष में पदार्पण कर रहे हैं। कितनी खुशी की बात है ! भगवान उनको शतजीवी करें। उन्हें स्नेह-भक्ति-पूर्वक अपने हृदयपुष्प अर्पण करती हूं। ○

मेरा हृदय-परिवर्तन

नायबराज कालरा

□□

१९४७ में पाकिस्तान बनने के बाद हम लोग सह परिवार पाकिस्तान से दिल्ली आ गये। यहां आकर रहने की जगह और रोजगार के लिए दुकान मिल गयी। परिवार सहित हम यहां बस गये। लेकिन पाकिस्तान बनने पर जो हालात आंखों से देखे थे और कानों से सुने थे उनका गहरा असर मन पर हावी था और रोजगार करते हुए भी पाकिस्तान की याद मन से भूलती नहीं थी। पिताजी और माताजी वृद्ध थे और पाकिस्तान का बनना भी अपनी आंखों से देख आये थे। इसलिए वे यहां आकर सत्संगों में ज्यादा समय देने लगे। मंदिर जाना, कथा-कीर्तन सुनना, साधु-संतों को संग लाकर भोजन खिलाना, उनका सत्संग करना आदि कार्यों में वे ज्यादा समय देने लगे। माता और पिताजी के इस कार्यक्रम से हमें भी संतों के संग का और कथा-कीर्तन का मौका मिल जाता। आखिर संतों के संग का असर मेरे मन पर जोरों से होना शुरू हो गया, और मैंने १९५६ में घरवालों को जवाब दे दिया कि मैं अब दुकान का कारोबार नहीं करूंगा।

१९५९ में मैंने दुकान पर जाना छोड़ दिया और कार्यक्रम बनाया कि सुबह दस बजे खाना खाकर दो-तीन पुस्तकें जो गांधीजी द्वारा लिखित थीं और एक किशोरीलाल मशरूवाला की थी, लेकर कोटला फिरोजशाह में चला जाता और शाम पांच बजे तक वहां रहता। कभी सो जाता, कभी पुस्तकों का अध्ययन करता। घरवालों को मेरा इस तरह का व्यवहार अच्छा नहीं लगता था। मगर वे इस बात से संतुष्ट थे कि घर छोड़कर हरिद्वार वगैरा दूसरी जगह नहीं चला गया है। कोटला फिरोजशाह जाते करीब तीन महीने हो गये। एक दिन शाम को वहां से वापस आने लगा। हरिजन बस्तीवाली गली से निकलकर मैंने मन में विचार किया आज राजघाट गांधी समाधि होकर घर जाऊंगा। जब हरिजन बस्ती की सड़क से राजघाट जाने लगा तो थोड़ा आगे सड़क के किनारे एक छोटी-सी तख्ती एक दरवाजे के साथ लगी देखी। उस पर लिखा था—काकासाहेब कालेलकर। और एक बोर्ड था गांधी हिन्दुस्तानी साहित्य सभा का। बोर्ड की तरफ मेरा ध्यान नहीं गया। तख्ती को देखकर मन में खयाल आया, काश, मैं काकासाहेब को देख लेता। लेकिन मन में सोचा, आश्रम में जाऊं कैसे ?

आखिर डरते-डरते अंदर दाखिल हुआ। यह पहला ही मौका आश्रम-प्रवेश का था। अंदर जाकर मैं सीधा दफ्तर की तरफ गया; डरते-डरते दफ्तर में दाखिल हुआ। एक तरफ के कमरे के दरवाजे पर सार्वजनिक पुस्तकालय लिखा हुआ था। दूसरे दफ्तरवाले कमरे में गया। सौभाग्य से वहां शांतिभाई बैठे मिले। उठकर वे आकर मुझसे मिले। उन्होंने कहा, "आइये, कैसे आये हो ?" मैंने कहा, "इधर से गुजरते आपका आश्रम देखने आया हूं। मुझे अपने आश्रम के संबंध में कुछ समझाइये।"

उन्होंने 'मंगल प्रभात' के दो पर्चे मुझे दिये और कहा, "आप इनको पढ़ें। आपको हमारे आश्रम के संबंध में तथा उसकी प्रवृत्तियों के संबंध में सब जानकारी मिलेगी।" मैंने चार आने देकर दो प्रतियां शांतिभाई से ले लीं। और खुशी-खुशी घर वापस आया। एक-दो दिन में मैंने उन अंकों को अच्छी तरह पढ़ा। मेरे मन में और ज्यादा जिज्ञासा पैदा हुई और विश्वास हुआ कि असली काम तो इन्हीं लोगों का है और ये प्रवृत्तियां बिलकुल ठीक हैं। चार दिन के बाद फिर मैं दफ्तर में गया। शांतिभाई फिर मुझे मिल गये। मेरे साथ आश्रम-प्रवृत्तियों के संबंध में बातचीत की। बातचीत में ही मैंने कहा, "भाई साहब, आपके कामों की

प्रवृत्तियों में मेरी पूरी रुचि है। अगर आप काकासाहेब से इजाजत लेकर यहां आश्रम में एक मकान बना दें तो मुझे बहुत खुशी होगी।"

शांतिभाई ने तुरंत कहा, "यह जगह देखो यहां हमें एक मकान बनाना है। नक्शा हमने बनवा लिया है। लेकिन हमने सरकारी मदद लेना छोड़ दिया है। आप अगर इस जमीन पर प्रार्थना भवन निर्माण कराना चाहो तो मैं अभी आपको काकासाहेब से मिला दूं।"

मैंने कहा, "ठीक है।"

शांतिभाई मुझे काकासाहेब के पास ले गये। मेरे लिए पूज्य काकासाहेब का यह पहला दर्शन था। जब कमरे में दाखिल हुआ तो एक फरिश्ता-सीरत बुजुर्ग को चारपाई पर बैठे देखा। दोनों हाथ जोड़कर प्रणाम किया। चरण-वंदना करने लगा तो उन्होंने मना किया कि चरण-वंदना नहीं करना चाहिए। हाथ जोड़कर प्रणाम करना बस है। उनकी चारपाई के पास पड़े मूढ़ों पर हम बैठ गये। शांतिभाई ने कहा, "यह भाई यहां दरियागंज से आये हैं। इनके पिताजी की इच्छा यहां आपके आश्रम में प्रार्थना भवन बनवाने की है। आप इजाजत दें तो वे अपने माता-पिता और बड़े भाई को लेकर आयेंगे तथा आपसे बातचीत करके भवन बनाने के लिए रुपये दे जायेंगे।

काकासाहेब ने खुशी से आज्ञा दे दी। मैं खुशी-खुशी घर आया। रात को पिताजी से बात की। दूसरे दिन सुबह हम तैयार होकर पिताजी, माताजी, बड़ा भाई, छोटा भाई और मैं—पांच लोग काकासाहेब के पास पहुंच गये। शांतिभाई हमारे साथ थे। बातचीत पिताजी और काकासाहेब की हो गई। मैंने कहा, जब प्रार्थना-भवन तैयार हो जाय तो बनवाने वाले नाम का पत्थर आपको लगाना होगा। काकासाहेब ने तुरंत कहा, "हमारी गांधीजी की संस्थाओं में नाम का पत्थर लगाने का रिवाज नहीं है। हम पत्थर नहीं लगवायेंगे। प्रार्थना-भवन बनाना हो तो बनावें, न बनाना हो तो न बनवावें।"

सुनकर हम लोग खामोश हो गये। आखिर हम पांचों लोग बाहर आकर बरामदे में बैठे। पिताजी ने कहा कि काकासाहेब ने जो कहा है कि हम पत्थर नहीं लगवायेंगे, सो काकासाहेब पत्थर लगावें या न लगावें, हम उनको रुपये दे दें, और प्रार्थना-भवन बनवा लें। हम सबने कहा, ठीक है। चुनांचे वापस काकासाहेब के पास जाकर पिताजी ने कहा, आप पत्थर लगावें या न लगावें, हम रुपये प्रार्थना-भवन बनवाने के लिए दे जायेंगे। चुनांचे तारीख मुकर्रर हो गयी और हमने रुपये काकासाहेब के पास जमा करवा दिये। मैंने कहा, हमारी एक शर्त है कि इस मकान में गांधीजी की सार्वजनिक सर्वधर्म समन्वय की प्रार्थना रोज हुआ करे और प्रार्थना के बाद जब काकासाहेब दिल्ली में हों, उनका प्रवचन हुआ करे। काकासाहेब ने दोनों बातों की मंजूरी खुशी से दे दी।

१ अगस्त १९६० को प्रार्थना-भवन बनकर तैयार हो गया और उसी दिन पूज्य काकासाहेब के हाथों उसका उद्‌घाटन हुआ और अशोक वृक्ष का पौधा भी लगाया गया। काकासाहेब ने फरमाया कि प्रार्थना-भवन में रोजाना सार्वजनिक प्रार्थना हुआ करेगी और इस मतलब की तख्ती भी लगवायी। उन दिनों प्रार्थना शाम को पांच बजे होती थी, वह रोजाना बाकायदा होने लगी। कुछ दिन इस तरह गुजरे, लेकिन हम लोगों को यह अनुकूल न था। पिताजी वृद्ध थे। वे शाम की प्रार्थना में शामिल नहीं हो सकते थे। हममें से सिर्फ एक भाई प्रार्थना में शामिल होता। मैंने काकासाहेब से प्रार्थना की कि अगर प्रार्थना सुबह रखी जाये तो हमें बहुत अनुकूल होगा। काकासाहेब ने मंजूर किया और प्रार्थना सुबह ६-४५ पर शुरू हो गयी।

फिर क्या था ? फिर तो हमारे घर से पिताजी, माताजी, हम दोनों भाई और दोनों भाइयों की धर्म-पत्नियां सब प्रार्थना में शामिल होने लगे। काकासाहेब का प्रवचन बाकायदा रोजाना होता। हमारे पिताजी

कभी-कभी काकासाहेब के पास आते रहते और मेरे बारे में उनसे कहा करते कि हमें इसका डर है कि यह घर छोड़कर हरिद्वार या कहीं जाकर साधु न बन जाय, क्योंकि साधु-संगत का उस पर ज्यादा असर है।

काकासाहेब ने मुझसे बगैर कुछ कहे, प्रवचन के जरिये अपना रामबाण चलाना शुरू कर दिया और मुझको मेरे कर्तव्य के प्रति जिम्मेदारी समझाते रहे। आहिस्ता-आहिस्ता उनके प्रवचनों ने मुझ पर पूरा असर किया। और मेरे मन से घर छोड़कर साधु बनने का ख्याल बिलकुल हट गया। मैं समझता हूं यह काकासाहेब की मुझ पर बड़ी कृपा हुई। उन्होंने मुझ पर किसी प्रकार का दबाव न डालकर मुझे मेरे कर्तव्य का भान कराया और हमारे घर में हर तरह की सुख-शांति तथा दैवी संपत्ति की श्रीवृद्धि करायी। मुझे उन्होंने माता-पिता के, भाइयों के, धर्मपत्नी के प्रति कर्तव्य का भान कराया और समाज के प्रति मनुष्य के कर्तव्य का भान कराया।

आज पूरे सत्तरह साल हो गये। भगवान की कृपा से उनका सत्संग और प्रवचन का लाभ मिल रहा है। मैं पूरी आस्तिकता से यह मानता हूं कि काकासाहेब के सत्संग से मेरा जीवन ही बदल गया है और हमारे परिवार के सदस्यों को भी पूरा संतोष हुआ है। घरवालों को पूर्ण विश्वास है कि अगर काकासाहेब का सत्संग न मिलता तो उनका लड़का घर छोड़कर साधु बन गया होता। मेरा भी विश्वास है कि काकासाहेब का सत्संग न मिलता तो मैं आवेश में घर छोड़कर नेता बनता और मेरा जीवन ही कुछ और होता।

भगवान से प्रार्थना है कि वह काकासाहेब का साया हम पर हमेशा कायम रखे। ○

जीवन-कला के आचार्य

चिमनभाई भट्ट

□□

काकासाहेब से मेरा प्रथम साक्षात्कार ५७ वर्ष पहले १६२२ में सत्याग्रह आश्रम में हुआ। झलकमात्र होते हुए भी उस अवसर की याद मेरे मन पर अब तक बनी है।

मैं सूरत कालेज में इंटर वर्ग में पढ़ता था। गांधीजी के असहयोग आन्दोलन का आह्वान राष्ट्र को मिल चुका था; और गांधीजी घूमते-फिरते आश्रम में पधारे थे। उनकी एक सभा उस समय के पाटीदार आश्रम में आम्रवृक्ष के नीचे हुई थी। उसमें हम कई विद्यार्थी उनका संदेश सुनने को गये थे। संदेश बहुत प्रेरक और देश के लिए सर्व-समर्पण का जोश पैदा करनेवाला था। गांधीजी ने कुछ ऐसा कहा था, "यदि हम पुरुषार्थ करेंगे तो एक ही वर्ष में स्वराज्य मिल गया समझो। मेरे एक हाथ में रचनात्मक कार्य हैं, दूसरे में स्वराज्य है। रचनात्मक कार्य पूर्ण करो और स्वराज्य ले लो।" ऐसा प्रभावशाली और अभूतपूर्व संदेश सुनकर हममें से कइयों के दिलों में गुलामी से मुक्त होकर स्वतन्त्र हवा में सांस लेने की तमन्ना जागी और थोड़े ही दिनों में हमने कालेज को तिलांजलि दे दी। तत्पश्चात् गुजरात विद्यापीठ की स्थापना हुई और उसके साथ हम जुड़ गये। उन दिनों गांधीजी का तथा सत्याग्रह आश्रम का आकर्षण बहुत अधिक था। एक दिन हम लोग किसी कार्यवश आश्रम गये और रात को वहीं रह गये। हमारी पन्द्रह-बीस लोगों के सोने की व्यवस्था छात्रालय के ऊपर छज्जे में की गयी थी। जब हम सब सोने के लिए गये, मैंने किसी एक किनारे पर सोने की रुचि प्रकट की। काकासाहेब वहीं खड़े थे। मेरी बात सुनकर उन्होंने पूछा, "सिरे पर सोने की पसन्दगी किसकी है?" "मेरी

है," मैंने कहा, "मुझे बीच में सोने के बजाय एक तरफ सोना अच्छा लगता है।" "ओह, ऐसा है ?" काकासाहेब हंसकर बोले, "बहुत अच्छी बात है।" उनके इन शब्दों से मानो मेरी रुचि को उनका समर्थन मिल गया हो। ऐसा था—थोड़े किन्तु मधुर शब्दों में हुआ पहला परिचय।

छः साल बीत गये १९२८ में बारडोली सत्याग्रह में सरदार वल्लभाई पटेल और गुजरात के अन्य नेता, मोहनलाल पंड्या, रविशंकर महाराज, दरबारसाहेब, डा० चन्द्रभाई, स्वामी आनंद, जुगतरामभाई जैसे अग्रगण्य लोकसेवकों के साथ बारडोली-सत्याग्रह में छः मास काम करने का स्वर्णिम अवसर प्राप्त हुआ और सत्याग्रह की विजय-पूर्णाहुति के बाद जुगतरामभाई के साथ बेड़छी आश्रम में रहकर आदिवासियों के शिक्षण और लोकसेवा के क्षेत्र में काम करने का मंगल कार्य प्रारम्भ किया।

श्री जुगतरामभाई के कारण उनके आदरणीय बुजुर्ग के रूप में काकासाहेब यहां आते थे। अतः उनके साथ मेरा परिचय भी सहज बढ़ता गया। धीरे-धीरे हमारे परिचय में आत्मीयता गहरी होती गई; क्योंकि काकासाहेब के साथ जो वार्तालाप होते थे, वे आत्मप्रेरक होते थे। उनकी मेरे मन पर स्थायी छाप पड़ती थी। उनके लेख पढ़ने में मुझे हमेशा से रुचि थी। गांधीजी का 'नवजीवन' हाथ में आते ही आदि से अन्त तक पढ़े बिना रहा ही नहीं जाता था। वैसे ही काकासाहेब के शिक्षण, संस्कृति और जीवन-विषयक लेखोंके बारे में था। बाद में तो 'मंगल प्रभात' के लिए भी यही विचार मन में बन गया। एक बार 'गज-ग्राह' की कथा काकासाहेब ने गद्य में सुन्दर ढंग से लिखी। मैंने पढ़ी। पढ़ते ही मुझे प्रेरणा मिली कि इसे काव्यरूप देना चाहिए। 'गज-ग्राह' की कथा ने मानो मेरे मन पर कब्जा कर लिया था। उसके लिए मैंने मराठी 'ओवी' से मिलते-जुलते छंद को पसन्द किया। उसी छंद में जुगतभाई का लिखा हुआ 'कौशिकाख्यान' मेरे ध्यान में था। मेरी कलम चल पड़ी और काकासाहेब की गद्य-कथा पर एक के बाद एक 'ओवियां' रचती गईं। मेरी पद्य-बद्ध की हुई 'गजेन्द्र-मोक्ष' की कथा पर जो बीती उसका उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा। १९४२ के मई मास में मैं सेवाग्राम गया। गांधीजी के पवित्र सान्निध्य में दो दिन बिताने का लोभ तो था ही, साथ ही काकासाहेब को इस काव्य को सुनाकर उनकी सूचनाएं और प्रस्तावना प्राप्त करने का प्रलोभन भी था। इस आख्यान का 'भाई और बैरी' यह अर्थपूर्ण नामकरण सेवाग्राम आश्रम में किया गया और दूसरे दिन काकासाहेब ने सुन्दर, उत्साहवर्धक प्रस्तावना भी लिखवाई। उमंग से भरा हुआ मैं सेवाग्राम से बम्बई लौटने को हुआ। वर्धा में जमनालाल जी के बंगले में पेटी रखकर एक मित्र के साथ शहर में कुछ देर घूमने गया। वापस आकर देखा, पेटी नदारद। कोई उसे ले गया। उस पेटी के साथ आख्यान के नोट और प्रस्तावना दोनों ही चले गये।

काकासाहेब को खबर दी। चोरी की बात सुनकर उन्होंने लिखा, "साहित्य के क्षेत्र में ऐसे भी उदाहरण हैं जब बीस-बीस बरस की मेहनत से लिखी हुई किताबें जल गई हों या चुराई गई हों। 'गजेन्द्र-मोक्ष' फिर से लिखोगे, तब पहले से उत्तम काव्य गुजरात को मिलेगा, ऐसा विश्वास मुझे है।"

बेड़छी पहुंचते ही 'पुनश्च-हरिॐ' करके मैंने काव्य लिखना शुरू कर दिया और वह यथा समय पूरा हो गया। मुझे लगा, जो हुआ, ठीक ही हुआ, क्योंकि काकासाहेब ने ममतापूर्वक काव्य का अवलोकन करके अनेक मूल्यवान सूचनाएं दीं, जिनका मैंने पूरा लाभ उठाया। मेरी दृष्टि से इस काव्य का सचमुच नया अवतरण ही हुआ और सोने में सुहागे की तरह काकासाहेब की सुन्दरतम प्रस्तावना मिली। बाद में जब काकासाहेब ने उस आख्यान के साथ चार चित्र भी देने की सूचना दी, तब काव्य में परिपूर्णता की झलक आई और मेरे मित्र जगजीवन ने चार सुन्दर चित्र तैयार कर दिये। काव्य को मानो अलंकार मिल गये।

काकासाहेब की प्रस्तावना की कुछ पंक्तियां यहां देने का लोभ संवरण करना संभव नहीं है। उन्होंने लिखा, " हमारे पुराण में धर्मबोध देने वाली योग-कथाओं का महासागर, प्राचीन भारत के लोकशिक्षण में

इन कथाओं का योगदान बेजोड़ है। इसीलिए ये बार-बार गाई और सुनी जाती हैं। ऐसी लोकहृदय की पसन्द की गई कथाओं में 'गजेन्द्र-मोक्ष' का स्थान अनोखा है। अहंकार, मत्सर और क्रोध मनुष्य को गिराते हैं, इतना ही नहीं, उसे पशु बनाते हैं। और उस स्थिति में लज्जा से अपना रास्ता सुधारने के बदले प्राणी उसमें ही मस्त रहता है और पतन द्वारा नीचे गिरने का प्रयत्न करता है। ऐसा दिखाकर मनुष्य की पाप-शक्ति कितनी अनहद है, यह बात लोकमानस पर अंकित करने का प्रयत्न करके बाद में ऐसी अधमाधम दशा में से भी उबारने वाला एक पाप-पुंज हरि बैठा हुआ है। मनुष्य के पाप करने की शक्ति से अधिक है उद्धार करने की शक्ति और इसलिए अन्त में कमजोर और दुष्ट, गाफिल, क्रूर सभी का उद्धार करनेवाला है, ऐसा अमर आश्वासन देनेवाली यह कथा जन-हृदय चिन्तामणि क्यों न लगे!

"द्रौपदी ने अपनी साड़ी की चुन्नट को हाथ से जब छोड़ दिया, तब श्रीकृष्ण पर के विश्वास की पराकाष्ठा थी। तभी भगवान दौड़कर आये, फिर कुछ करना बाकी रहा ही नहीं।

"और छः वर्ष का ध्रुव कौन-सी साधना करने गया था? बाल प्रहलाद ने तितिक्षा के पाठ किसके पास से लिये थे कि पिता के त्रास के सामने अडिग और महावीर बनकर टिक सका? ईश्वर स्मरण—सिर्फ ईश्वर का सच्चा स्मरण कैसी भी स्थिति को पार करने के लिए समर्थ है।

"हारी हुई दुनिया को 'गजेन्द्र-मोक्ष' की कथा में से यह तारक कथा मिल गई। इसीलिए पुराण-काल से आज तक इतनी लोकप्रिय बनी हुई है।

"'टग ऑफ वार' के लिए रस्सी 'खेंच' जैसा अरसिक शब्द रद्द करके मैंने जब 'गज-ग्राह' यह नया शब्द गुजराती में चलाया तब स्वप्न में भी ख्याल नहीं था कि दुनिया-भर के 'गज-ग्राहों' का रहस्य समझाने वाली सुन्दर कथा का यह गुजराती रूप मुझे पढ़ने को मिलेगा। सचमुच चिमनभाई ने गुजराती भाषा को यह सुन्दर अलंकार पहनाया है। मुझे विश्वास है कि गुजराती बोलने वाले इसे केवल कागज पर न रहने देकर अथवा मात्र अभ्यास के लिए हाथ में न लेकर हजारों-लाखों कण्ठों में धारण करेंगे।"

यहां काकासाहेब की विशिष्ट और प्रेरणादायक शक्ति का उल्लेख करना आवश्यक है। वह चिर-प्रवासी रहे हैं। विश्वयात्री बने हैं, और शिक्षा-शास्त्री तो सौ फीसदी हैं ही, समर्थ अध्यापक हैं, लिपि-निष्णात हैं, शब्दों को गढ़नेवाले हैं, कला और सौंदर्य को परखनेवाले हैं। और बहुत से गुण हैं। एक जगह वह कहते हैं, "अगर विश्वास हो जाय कि पिरामिड या ताजमहल के सृजन के पीछे गरीबों की हाय थी तो भव्य-कृतियों के लिए अपना आकर्षण उतर जाना चाहिए। कलाकार के बारे में यही नैतिक दृष्टि रखनी चाहिए।" काका-साहेब एक चलते-फिरते शब्द-कोश हैं। इसके कुछ रसिक उदाहरण उनके शब्दों में देता हूं, "आश्रम की शाला में अंग्रेजी शब्द न चलाने का आग्रह हम सबको चिपका। खेल में 'आउट' शब्द काम आता था। महाराष्ट्र में उसके लिए 'मारा', 'मर गया' ऐसे शब्द चलते, वे हमें पसन्द नहीं आये। इसलिए हमने चलाया 'बाद्ध' हो गया। यह सबको पसन्द आया। 'लम्बी कूद' और 'ऊंची कूद' इन दो शब्दों ने भारत से श्रीलंका तक लम्बी छलांग मारी। 'लांग जम्प' के लिए हमने चलाया 'हनुमान कूद', तो फिर 'हाई जम्प' के लिए भी ऐसा शब्द होना चाहिए।"

काकासाहेब ने इस शब्द के लिए लम्बी कहानी सुनाई, जिसमें सब बन्दर मित्रों के बीच अंगद ने सबसे ऊंची छलांग लगाई थी, इसलिए 'हाई जम्प' के लिए नाम दिया 'अंगद कूद'। नये-नये शब्द गढ़ने में वे निष्णांत हैं, जैसे कुमार मन्दिर, विनय मन्दिर, विनीत स्नातक, ध्यानमन्त्र, महामात्र।

१९७३ में कच्छ के मित्रों ने गांधीजी के कुछ कार्यक्रम रखे। इसलिए मैं कच्छ गया था। उन दिनों एक दिवंगत लोकसेवक की याद में सभारंभ हुई, जिसमें काकासाहेब भी पधारे। दूसरे दिन भूंज में हम फिर से

मिले, तब काकासाहेब के एक विशिष्ट पहलू के दर्शन हुए। वह बैठे हुए थे, हमारा वार्तालाप चल रहा था। मैंने पूछा, "आपका स्वास्थ्य कैसा है ?" उन्होंने विनोदपूर्वक किन्तु समझने लायक शब्द कहे, "मैं आजकल धीमे-धीमे क्रमशः मरण का अनुभव करता हूं। कान-विदाई मांग रहे हैं। यह एक मरण-विस्मरण भी पीछे पड़ा हो तो इस तरह पीछे दौड़ता आता है, यह दूसरा मरण। यों तो उस शब्द में 'मरण' शब्द तो है ही, यों तबीयत चलती है।" 'परमसखा मृत्यु' इन शब्दों से मृत्यु पहचानने वाले काकासाहेब का यह विनोदपूर्ण और अर्थवान वचन था, जो आज भी कानों में गूंज रहा है। ○

त्याग और स्वार्पण की मूर्ति काकी

ज्योति थानकी

□□

भारतीय नारी याने संयम, समर्पण एवं सहनशीलता की साक्षात् प्रतिमा ! त्याग और बलिदान का मूर्तिमंत स्वरूप। प्रेम और कारुण्य की मंगलधारा। शील और सत्य की अग्नि-शिखा। संस्कृति की धात्री किंवा राष्ट्र के भावी जीवन की विधात्री। स्त्री क्या नहीं है ? चाहे वह मां के स्वरूप में हो या पत्नी के रूप में हो, या भगिनी के स्वरूप में हो, वह अवश्य ही प्रेरणादात्री बनकर बिना कुछ शब्द कहे अपना कार्य करती रहती है। ऐसी नारी की गरिमा पर भारतवर्ष को गर्व है। भारत का भूतकाल नारी के त्याग, स्वार्पण और शौर्य से उज्ज्वल है।

भारतवर्ष की मुक्ति के महायज्ञ का आरंभ किया महारानी लक्ष्मीबाई ने। झांसी की उस रानी ने अपना सर्वस्व मां भारती की स्वतंत्रता के लिए न्योछावर कर दिया। भारत की इस वीरांगना द्वारा प्रज्वलित की हुई मुक्ति की यज्ञाग्नि में कई नारियों ने अपना सब कुछ अर्पित किया। एक सदी तक यह अग्नि प्रज्वलित होती रही। महात्मा गांधी के आने से इस यज्ञ की अग्नि-शिखा प्रचंड हो उठी और मां भारती गुलामी की जंजीरों से मुक्त हुई।

भारत के स्वातंत्र्य-यज्ञ के इतिहास में श्री लक्ष्मीबाई कालेलकर का नाम चाहे न लिखा गया हो, फिर भी उनका समग्र जीवन स्वातंत्र्य-यज्ञ की ज्वाला में समर्पित हुआ था। महाराष्ट्र के एक जमींदार परिवार की सुशील कन्या ऐसे ही उच्च और विशाल संयुक्त परिवार में विवाहित होकर जब ससुराल आई तब उसने गृह-मांगल्य के कई स्वप्न और अरमान अपने दिल में अंकित किये हुए थे। पतिगृह में पैर रखते ही उसने जाना कि पति को तो अपना विद्याभ्यास जारी रखना है, गृहजीवन तत्काल के लिए शक्य नहीं है, और इस विशाल परिवार को अपने जीवन में आत्मसात् करना है, तब इस मुग्ध बालिका-बधू ने अपने सब अरमान अपने दिल के अतल में छिपा लिये। परिवार की सच्ची गृहलक्ष्मी बनकर सबकी सेवा का भार उसने अपने नाजुक कंधों पर ले लिया। बहुत थोड़े समय में वह सबकी प्रीतिपात्र बन गई। अपने-आपको परिवार की समस्त प्रवृत्तियों में इस तरह से व्यस्त रखा कि इस नववधू के दिल के अरमानों का किसी को ख्याल तक न आया। पति का विद्याभ्यास जारी रहा। वे तो उच्च शिक्षा पाने के लिए पूना में ही रहते थे। पति के उज्ज्वल विद्याभ्यास में अपनी ओर से कोई रुकावट न होने पाये, यह सोचकर वह पतिव्रता नारी अपनी ससुराल में रही। पति के

उज्ज्वल और मंगलमय जीवन के लिए अपने कुलदेवता को प्रसन्न करना उन्होंने अपना धर्म समझा। वे व्रत, उपवास, पूजा, उपासना करती रहीं। हृदय में सुखी दाम्पत्य-जीवन की मनोकामना थी और साथ ही गृह-जीवन के मंगल-स्वप्न भी थे। उन्हें अपने पति की बुद्धि और सूझ-बूझ पर अभिमान था। अतः कालेज के उनके तेजस्वी जीवन को देखते हुए पति से उनके विरह का समय बहुत जल्दी से कटता जा रहा था। अपने आपको भी पति की सच्ची अर्धांगिनी बनाने के लिए वे तैयार कर रही थीं।

किसी ने सच ही तो कहा है कि हरेक महान पुरुष के जीवन के पीछे नारी का हाथ सदा ही रहा है। फिर भी महान पति की सहधर्मचारिणी के भाग्य में गृहजीवन के मांगल्य की स्थिति बहुत कम दिखाई देती है। पति की महानता के लिए नारी को अपना सर्वस्व न्योछावर कर देना पड़ता है, फिर चाहे वह सीता हो, भामिनी हो, कस्तूरबा हो, या लक्ष्मीबाई हो। काकासाहेब अपने विद्याभ्यास की समाप्ति के बाद न तो वकील बने न बेरिस्टर। उनके समक्ष समाज में प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त करने के बहुत प्रलोभन थे, पर वे सब कुछ छोड़कर बने मातृभूमि से एक स्वातंत्र्य सेनानी। वे सच्चे देशभक्त थे। तत्कालीन क्रांतिकारी विचारों ने उनको बहुत प्रभावित किया। जबतक देश स्वतंत्र न हो तबतक जीवन में चैन कहां था उन्हें! देश की खातिर सब कुछ न्योछावर करने को वे तैयार थे। उस भावना के प्राधान्य के कारण उनके गृहजीवन में स्नेह, सुख और माधुर्य को बहुत अवकाश नहीं मिला। काकासाहेब ने अपनी धर्मपत्नी लक्ष्मीबाई को भी देशभक्ति की ओर आकर्षित किया और लक्ष्मीबाई सच्चे अर्थ में पति की सहधर्मचारिणी बन गईं। अपने प्यारे वतन के स्वातंत्र्य के स्वप्नों ने उनके अपने जीवन के स्वप्नों का स्थान ले लिया।

काकासाहेब बेलगांव की राष्ट्रीय शाला के आचार्य बने। केवल सिद्धान्त की खातिर जब सबके मन एक न हो पाये तब उन्होंने संस्था छोड़ दी और जन्मभूमि से दूर गुजरात राज्य में गंगनाथ विद्यालय के आचार्य पद को स्वीकार किया। कुछ अरसे के बाद अपने प्रिय वतन, परिवार, स्नेहीजन सबको छोड़कर बिना हिच-किचाए लक्ष्मीबाई अपने पति के साथ गुजरात आ पहुंचीं। वहां भी अपने अप्रतिम स्नेह से अनजान प्रदेश के लोगों को अपने ही परिवार में सम्मिलित कर दिया। इस तरह से वे सबकी 'स्नेहमयी काकी' बन गईं। फिर भी गृहस्थ जीवन के सुख और स्थिरता उनके भाग्य में नहीं बदे थे। वे चाहती थीं कि अपने विद्वान पति के साथ चैन से जीवन व्यतीत करें और जब उन्होंने अपने स्वप्न को साकार बनता हुआ पाया तो देखा कि गंगनाथ विद्यालय बंद होने से काकासाहेब अपनी पत्नी को दो साल के पुत्र के साथ अपने वतन में छोड़कर हिमालय की ओर चल दिये।

काकी के लिए फिर से बिना पति के सहारे के रहने का कठिन काल शुरू हुआ। काकासाहेब संन्यास ग्रहण करने की एकमात्र मनोकामना से हिमालय की ओर गये थे। वहां उन्होंने शक्ति की उपासना की, क्योंकि उन्हें भारतमाता की मुक्ति का वरदान पाना था। यद्यपि उनके इस परिव्राजक स्थिति में उनका कोई पता नहीं था, फिर भी लक्ष्मीबाई की अपने पति में अचल श्रद्धा बनी रही। एक दिन उनके पति अवश्य घर लौटेंगे, यह उनका दृढ़ विश्वास था। ईश्वर में तो उनकी आस्था थी ही। उन्होंने अत्यंत उग्र तपश्चर्या आरंभ की। व्रत, उपवास और जागरण में वह व्यस्त रहने लगीं। सोमवार को भगवान आशुतोष की प्रसन्नता के लिए उप-वास करतीं। मंगलवार को देवी का उपवास और बृहस्पतिवार को दत्त भगवान की उपासना के लिए वे अन्न नहीं लेती थीं। शुक्रवार को लक्ष्मी की उपासना का उपवास करतीं और शनिवार को हनुमानजी का सहारा लेतीं। इस प्रकार सप्ताह में पांच दिन उपवास करती थीं। व्यवस्थित भोजन तो दो ही दिन लेती थीं। इस प्रकार का कठिन व्रत उन्होंने तीन साल तक किया, और उसी तप के प्रभाव से काकासाहेब को घर वापस लौटना ही पड़ा। लक्ष्मीबाई को पति को पाकर बड़ी प्रसन्नता हुई; पर कठिन तपश्चर्या के कारण उनके शरीर

पर बहुत विपरीत प्रभाव पड़ा। दो छोटे-प्यारे बच्चे, जो सदा ही पिता की याद करते रहते थे, उनको पालना-पोसना, लोगों के प्रतिघोष के सामने अकेले ही लड़ना, पति के लिए लोगों के व्यंग्यबाण सहना और साथ ही स्वधर्म से च्युत न होना; व्रत, संयम, नियम, आचार सब नियमित करके पति के वापस लौटने की अहर्निश प्रार्थना करना और परिवार-जन के साथ एक परिव्राजक पति की पत्नी बनकर रहना, यह उस जमाने में आसान काम न था। फिर भी लक्ष्मीबाई अपने धर्म से च्युत न होकर धरती की तरह धैर्य से चुपचाप सब कुछ सहती रहीं और परिणामस्वरूप उनके पति उनसे आ मिले।

हिमालय से लौटते ही काकासाहेब पूज्य गांधीजी के अंतेवासी बन गए। समग्र देश में स्वातंत्र्य-यज्ञ की ज्वालाएं फैल चुकी थीं। गांधीजी ने अहमदाबाद में साबरमती आश्रम की स्थापना की। राष्ट्रीय शाला की स्थापना हुई। काकासाहेब उसके आचार्य बने। उन्होंने अपने परिवार के साथ आश्रम में ही रहने की व्यवस्था कर ली। प्रारंभ में तो आश्रम में रहने के लिए कोई व्यवस्थित मकान नहीं थे। तंबू में रहना पड़ता था और उन्होंने अनेक असुविधाओं के बीच रहना शुरू कर ही दिया। काकी ने कभी अपने मुंह से इसकी फरियाद नहीं की। वे हरेक कठिनाई और असुविधा हंसते-हंसते सहती रहीं। फिर भी अपने पति के प्रत्येक कार्य में वे बिना विचार किये सहयोग देना स्वीकार नहीं करती थीं। उनके अपने विचार थे। उनका अपना जीने का ढंग था। वे सत्यप्रिय, स्पष्ट-वक्ता और निडर थीं। जो सच लगे, वही बोलना और करना, यह तो उनको पति ने स्वयं विवाहित जीवन के प्रारंभ में ही सिखाया था। अपने विचार और निश्चय पति के और स्वयं गांधीजी के समक्ष भी बिना हिचकिचाट से रख सकती थीं। गांधीजी के साथ वार्तालाप करने का मौका जब भी उन्हें मिलता तो महादेवभाई देसाई उनके दुभाषिये बनते। काकी की सूझ, निष्ठा और देशभक्ति अप्रतिम थी। १९१४ के प्रथम विश्वयुद्ध में ब्रिटिश सरकार को कठिनाई का सामना करना पड़ा। तब गांधीजी ने सोचा कि अंग्रेज सरकार को मदद करना हर भारतीय का कर्त्तव्य है, क्योंकि अंग्रेज सरकार के साथ का झगड़ा तो भारत का आंतरिक मामला है। उन्होंने निश्चय किया कि अंग्रेज सरकार को मदद करने के लिए भारतीय लोगों को सेना में भारती करना और उसकी शुरुआत आश्रम से होनी चाहिए। पर अंग्रेज सरकार को मदद करने को कोई तैयार न था। सिर्फ गांधीजी के अनुयाइयों में से काकासाहेब और नरहरिभाई ने अपने नाम लिखवाये। जब लक्ष्मीबाई को यह वास्तविकता मालूम हुई तो वे गांधीजी के पास पहुंच गईं और स्पष्ट रूप से कहा, "बापूजी, जब मेरा उनसे विवाह हुआ तब मैं जानती थी कि किसी-न-किसी दिन वे जेल जायेंगे या उन्हें फांसी दी जायेगी। मैं उसके लिए तैयार थी। मेरा नाम लक्ष्मी है। देश के लिए उन्हें फांसी मिले या शंकर और बाल भी न्योछावर हो जायं, फिर भी मैं कायरता कभी नहीं दिखाऊंगी। पर आप उन्हें ब्रिटिश सरकार की मदद के लिए फौज में भरती कराते हो, इसका मैं विरोध करती हूं। और उसके लिए मेरा सहकार कभी नहीं मिलेगा।" यही वार्तालाप सिद्ध करता है उस नारी का असीम नैतिक साहस और प्रचंड शक्ति। उनकी देशभक्ति की सीमा न थी। "अंग्रेज की मदद के लिए तो उन्हें नहीं जाने दूंगी।" गांधीजी भी यह स्पष्ट बात सुनकर चकित-से रह गये। उन्होंने लक्ष्मीबाई के स्पष्ट वक्तव्य की प्रशंसा की। उसी अरसे में प्रथम विश्वयुद्ध बंद करने की नौबत आ गई और सेना की भरती रुक गई। पर इस प्रसंग ने लक्ष्मीबाई के व्यक्तित्व पर अनोखा प्रकाश डाला। गांधीजी को भी मानना पड़ा कि स्वदेश भक्ति में काकी कुछ कम नहीं है।

काकी भय नहीं जानती थीं। वे अत्यंत निर्भय थीं। काकासाहेब जब पहली बार जेल गये तब काकी स्वयं पुलिस-वॅन में जाकर बैठ गई थीं। पति के साथ वे भी जेल जाना चाहती थीं। पर उनको जेल के अंदर प्रवेश नहीं करने दिया गया। उन्हें वापस लौटना पड़ा। काका तो सच्चे राष्ट्रभक्त के साथ गांधीजी के सच्चे अनुयायी भी बने रहे। प्रारंभ में उनके अस्पृश्यता-संबंधी विचार के प्रति काकी का तीव्र विरोध रहा। उसके

बारे में अपने विचार काकी ने गांधीजी को खुले दिल से बतलाए। लेकिन जब उनकी समझ में आया कि अस्पृश्यता को मानना ही एक पाप है तब उन्होंने लालजी नामक एक हरिजन बालक को गोद लिया और अपने दोनों बेटों के साथ उसे भी बड़े प्यार से पाला। वे जिस आदर्श में विश्वास करती थीं, सबसे पहले उसे कार्यान्वित करती थीं।

काकी प्रकाण्ड विद्वान पति की पत्नी थीं। फिर भी धर्म के प्रति उनकी असीम श्रद्धा थी। उन्होंने अपने दोनों बच्चों को धर्म का ज्ञान मिले, इसलिए पूरी कोशिश की। प्रभु के प्रति उन्हें विश्वास दिलाया। काकी को जीवन में अनेकविध कठिन परिस्थितियों का और प्रचंड झंझावातों का सामना करना पड़ा। पति के परिव्राजक जीवन के दौरान भी वे विचलित नहीं हुईं। परिस्थिति का सामना बहादुरी से करती रहीं और अपने बच्चों को धर्म और देशप्रेम के उन्नत संस्कार देती रहीं। काकासाहेब जैसे अत्यंत बुद्धिशाली विद्वान को भी काकी की भक्ति के सामने झुकना पड़ता था। इसके बारे में महादेवभाई देसाई कहते हैं कि किसी धार्मिक त्योहार के दिन तो काकासाहेब जो काकी कहती थीं वही करते थे। धर्म के क्षेत्र में काकी का अबाधित अधिकार रहता था।

काकी एक महान सती स्त्री थीं। उनकी पतिनिष्ठा अद्‌भुत थी। फिर भी पति के साथ विचारों की भिन्नता के कारण कभी-कभी बहस होती रहती थी। काकासाहेब का आग्रह था कि जबतक दोनों एक-दूसरे को पूरी तरह से समझ न सकें, तबतक उन्हें अलग रहना चाहिए। काकी ने पति की इच्छा शिरोधार्य की और अपने वतन बेलगांव लौट आईं। उन्होंने इसके बारे में अपने मन की भावना कभी प्रकट नहीं की। पति के प्रति रोष तो था ही नहीं। फिर से वही भक्ति और उग्र तपश्चर्या शुरू कर दी, जिससे उनके पति उन्हें पूर्ण रूप से समझ सकें। फिर से पतिविमुख होने से उन्होंने तीव्र वेदना का अनुभव किया। पहली बार छोटे-छोटे दो अत्यंत प्रिय बेटे साथ में थे, अब वे बड़े हो गये थे। बड़ा पुत्र कालेज में पढ़ता था, जबकि छोटा बेटा साबरमती आश्रम में पढ़ाई करता था। इस तरह से दोनों बेटे और पति काकी से दूर थे और जो साथ में रहते थे, वे उन्हें समझ नहीं पाते थे। वे क्यों बेलगांव आई हैं, उसके बारे में उन्होंने अपने माता-पिता को भी कभी कुछ बताना नहीं चाहा। उनके स्वास्थ्य पर इस सबका बहुत गहरा असर हुआ। उनका शरीर कृश हो गया। फिर भी शरीर के बारे में उन्होंने किसी को कुछ नहीं बताया। राजरोग के कीटाणु ने उन पर हमला किया। धीरे-धीरे राजरोग का उनपर संपूर्ण अधिकार हो गया। इस स्थिति में उन्होंने तीन साल व्यतीत किये। आखिर में जब उन्हें अनुभव हुआ कि अब शरीर ज्यादा नहीं चल सकेगा तब उन्होंने गांधीजी को एक पत्र लिखकर आश्रम में ठहरने देने की अनुमति मांगी। अनुमति मिलते ही अपने बड़े पुत्र सतीश के साथ वे आश्रम में आयीं। काकासाहेब ने उनसे बातचीत की तो वे अत्यंत प्रसन्न हो उठीं। कहने लगीं, "काकासाहेब ने मुझसे बात की।" पतिव्रता नारी को अपने पति के दर्शन और स्नेह के अतिरिक्त और कुछ चाहिए भी क्या ? उनका चेहरा प्रसन्नता से खिल उठा। जब किसीने उनसे अपने दर्द की बात कही तो वे कहने लगीं, "मेरी व्याधि आयी तो भले ही आयी, अब मैं जीने वाली नहीं हूं। मुझे जीवन चाहिए भी नहीं। पर मेरा सौभाग्य कायम रहा।" और उसी शाम को उनकी आत्मा ने पति के सान्निध्य में गांधीजी के आश्रम में ही स्थूल देह को त्याग दिया।

काकी ने काकासाहेब को महानता दी ! और अपने सौभाग्य के लिए उनके राजरोग को अपने में ले लिया, और उन्हें उत्तम आरोग्य प्रदान किया। उन्हें दीर्घ आयुष्य की भेंट देकर वे स्वयं चल बसीं।

काकी आज हमारे बीच नहीं हैं। उनकी मूक सेवा, स्नेह, त्याग और तपश्चर्या आज भी इतिहास के पृष्ठों पर अंकित हैं। बलिदान और स्वार्पण के पीछे छिपी हुई महानता का दूसरा नाम है भारतीय नारी।○

समन्वय-योग

उमाशंकर जोशी

□□

हांगकांग से विमान चला और बेंगकॉक की ओर उड़ा। थोड़ी देर के बाद देखा कि कोई यात्री महोदय मेरी बैठक की पीठ पर हाथ रखे हुए कुछ झुककर खिड़की से बाहर देखने का प्रयत्न कर रहे हैं। मैंने दृष्टि ऊंची की। विस्मय से मेरे मुंह से निकला, "काकासाहेब, आप ?" उतने विस्मय से उन्होंने कहा, "अरे, तू ?" पृथ्वी से बीस-पच्चीस हजार फुट की ऊंचाई पर यह आकस्मिक मिलन बहुत आनन्दप्रद था। काकासाहेब चीन होकर आ रहे थे। मैं तोक्यो-क्योतो में अन्तर्राष्ट्रीय पी० ई० एन० परिषद में सम्मिलित होकर लौट रहा था। गुसलखाने से निकलकर उनको खिड़की द्वारा भूतलदृश्य देखने का कुतूहल हुआ, और उसने हमें मिला दिया।

यह कुतूहल—अदम्य कुतूहल—काकासाहेब के स्वभाव का एक प्रमुख लक्षण है। "आश्चर्यवत् पश्यति"—सृष्टि को आश्चर्यरूप से देखने में उनकी साधना परिसीमित नहीं है। समस्त आश्चर्यों के पीछे जिसकी आंख-मिचौनी चल रही है, उसको पहचाना ('एनं वेद')—ऐसा संतोष पाना, यह उनकी साधना का लक्ष्य है। इस आश्चर्यलोक को आनन्दलोक के रूप में पाना, परमात्म-दर्शन के माध्यम के रूप में पाना, यही तो वह साधन है।

काकासाहेब जीवन-भर घुमक्कड़ रहे हैं। मूल महाराष्ट्र-कर्णाटक की सीमा पर जन्मे। बंगाल में शांतिनिकेतन में कुछ मास काम किया, फिर गांधीजी के साथी बनकर गुजरात को कर्मभूमि बनाया। कार्यवश सारे देश में घूमते रहे। जैसे एक तितली एक फूल से उड़कर दूसरे पर बैठती है और वनस्पति के फलने-फूलने में सहायक होती है, वैसे परिव्राजक काकासाहेब एक अदृष्ट सेवा तो करते ही रहे। (यह मिसाल उन्होंने ही दी है, परन्तु उससे पूरा वर्णन नहीं मिलता।) सम्पूर्ण परिभ्रमण में काकासाहेब की एकात्मकता-दृष्टि पुष्ट होती रही और जहां-जहां वे गये, वहां-वहां उस दृष्टि का प्रभाव भी पड़ता रहा। पूर्ववय में ही उन्होंने कुछ समय निकालकर, एक-दो मित्रों के साथ, हिमालय में दो हजार मील का परिभ्रमण किया, मानो आत्मदृष्टि के विकास की, आत्मदृष्टि को केन्द्रीभूत करने की, प्रयोगशाला चलाई। हिमालय के प्रोत्साहक एकान्त में घूमते-घूमते उन्होंने भारतीत संस्कृतिधारा की गति, उसका लक्ष्य, उसका वैविध्य होने पर भी एकात्म स्वरूप चित्त में धारण किया। धर्मप्राण जीवन की महिमा विशेष रूप से हृदय में उतार ली। उसका परिचय, बल्कि आस्वाद, उनकी 'हिमालयनो प्रवास' पुस्तक में जी-भर कर मिलता है।

काकासाहेब के लेखन में और जीवन-व्यवहार में इस एकात्मदृष्टि का आलोक सुचारु रूप से निरन्तर प्रकट होता रहता है।

स्वराज मिलने पर्यन्त विदेश यात्रा के प्रति उन्होंने रुचि नहीं रक्खी। भारत स्वतंत्र होने पर उन्होंने विदेशों में भी चारों ओर यात्रा की। यूरोप, अमरीका, अफ्रीका के देशों में घूमे। जापान छः बार गये। हिमालय में जो पाया था, वह अब और भी परिपुष्ट हुआ। भारत की एकात्मता के दर्शन वास्तव में मानव-जाति की एकात्मता के दर्शन के रूप में निखर उठा। काकासाहेब बताते हैं कि भारत में अनेक जातियां हैं, भाषाएं हैं, दुनिया के प्रमुख धर्मों के अनुयायी हैं, मानो भारत संसार की एकात्मता की एक प्रयोगशाला-सा ही बन रहा है। काकासाहेब ने भारत के जीवन को जिस व्यापक दृष्टि से देखा था, उसने ही उनको मानव-जाति के ऐक्य को समझने में सहायता की।

कोई आश्चर्य नहीं, काकासाहेब की साधना समन्वय की दिशा में ही चलती रही।

समन्वय-साधना में सावधानी आवश्यक है। थोड़ी-सी असावधानी से सारी साधना पर पानी फिर जाता है। एक छोटा-सा किन्तु द्योतक दृष्टान्त काकासाहेब के जीवन का ही याद आता है। जापान में बौद्ध समाज के साथ वे गोष्ठी आदि में व्यस्त थे। एक बार सारे मण्डल का फोटो कोई ले रहा था। एक साधु, जो काकासाहेब का बड़ा प्रशंसक था और हाथ में भारत का तिरंगा झंडा लिये हुए उनके इर्द-गिर्द उमंग से नाचता-कूदता रहता था, वह भी फोटो के ग्रुप में खड़ा था। कैमरा की चांप जब दबाई जा रही थी, उसने काकासाहेब की ओर तिरंगा बढ़ा दिया। लेकिन काकासाहेब ने शीघ्र ही हाथ हटा लिया और झंडे को ग्रहण नहीं किया। उनका विचार यह रहा कि अन्य देश की भूमि पर अपने देश के झंडे को हाथ में लेकर खड़े रहने से उस भूमि पर अपने देश का आधिपत्य सूचित किया जाता है, जो एक बड़ी अविनय है।

जाग्रत मानसवाले ही समन्वय की साधना कर सकते हैं और अपनी संकीर्णताओं और आग्रहों से उसको कलुषित करने से बच सकते हैं।

सबसे पेचीदा प्रयोग धर्म के बारे में है। वहां आग्रह और भेद-बुद्धि को कैसे मिटाना अथवा कम-से-कम शिथिल करना? मध्यकालीन गुजरात के जीवन के विषय में लिखते हुए, 'पुराणोमां गुजरात' (१६४६) में, मैंने सर्वधर्मसमभाव के साथ सर्वधर्ममभाव का निर्देश किया। काकासाहेब को सर्वधर्ममभाव शब्द और उसकी भावना पसन्द आई। उन्होंने गांधीजी से भी उसका उल्लेख किया। अपनी अनोखी शैली में उन्होंने गुजराती में उसका हृदयंगम विवरण भी किया—'दरेक धर्ममां घणुंबधुं सारुं छे अने सारुं छे ते मारुं छे'—हर एक धर्म में बहुत-कुछ अच्छा है, और अच्छा है, वह मेरा है।

मुझे स्मरण है, सद्गत मनीषी किशोरलालभाई मशरूवाला ने आलोचना करते हुए कहा था कि सर्वधर्ममभाव, यह क्या बात है। आदमी अच्छे-बुरे एक ही धर्म का अनुसरण कर सकता है। उनके कथन में एक प्रकार की सच्चाई है। कोई भी धर्म प्रायः धर्मवृत्ति का एक विशेष व्यक्तीकरण (इण्डिविडचुएशन) है साधारण अमूर्त भावना नहीं है। उसका एक आकार बन आया दिखाई देता है। ऐसे दृढ़ निश्चित आकार से लाभ है, तो हानि भी है। गौण रेखाओं के विषय में भी जुनून और संघर्ष-प्रवणता प्रकट होते हैं, झगड़े भी, होते हैं। इससे, सारे इतिहासकाल में समन्वयद्रष्टा पैदा होते ही रहे हैं, जो झगड़े के मूल पर कुठाराघात करते रहे हैं। वेद ने कहा, "एकं सद्, विप्रा बहुधा वदन्ति"—सत्य एक है, जाननेवाले उसको अनेक प्रकार से अभिव्यक्त करते हैं। जैनदर्शन ने अनेकान्त का महत्त्व दिखाया। संस्कृति-प्रवाहों के मिलन के महान अवसर पर समन्वयदृष्टि अनिवार्य-सी बनती हुई दिखाई देती है। अकबर ने समन्वयधर्म की खोज की और 'दीने-इलाही' की घोषणा की। हमारे युग में रामकृष्ण मिशन से संबंध रखनेवाले मनीषी आल्डस हक्स्ले ने 'पेरेनियल फिलोसोफी' पुस्तक में सभी धर्मों से, विचारकों से, संकलन करके निरन्तर धारावाही दर्शन का निर्देश किया है।

आज के समय में जब सभी धर्म मुंह छिपाए हुए रहें, ऐसी संसार की स्थिति है, धर्म शब्द की एलर्जी-सी दिखाई दे रही है, और जब साथ-साथ यह भी प्रतीति हो रही है कि धर्म ही हमारा एकमात्र चारा है, तब यह या वह धर्म न देखते हुए, धर्मतत्त्व का स्पन्दन जिसमें हो वैसे समन्वयधर्म की आवश्यकता और भी तीव्ररूप से अनिवार्य-सी लगती है।

संभव है कि जैसे एकदेश-परायणता के बजाय समग्रजगत्परायणता (डा० राधाकृष्णन् ने जिसको 'वर्ल्ड-पेट्रियटिज्म' कहा) अनिवार्य-सी हो रही है, कोई एक या दूसरे पारंपरिक धर्म के बजाय एक नया समन्वयधर्म अनिवार्य-सा हो रहा है।

काकासाहेब के जीवन की चरितार्थता इस समन्वय-योग की साधना में है।

काकासाहेब को कुछ वर्ष से बहुत कम सुनाई देता है। उनकी एक प्रमुख अभिव्यक्ति वार्तालाप द्वारा है, वह अब सूख-सी गई है। मैं उनके पास जाता हूं, और पास में पड़ी हुई स्लेट की मदद से स्लेटालाप करता हूं। उनकी आंख में चमक आ जाती है। छोटी-से-छोटी विनोद-रेखा भी एकदम पकड़कर हंस पड़ते हैं। उनका बृहत् व्यक्तित्व पूरा-का-पूरा चेतनाविभोर हो उठता है। भारत की युग-युग की संस्कृतिधारा, सौन्दर्यविभूषित समूचे भूगोल-खगोल, मनुष्यजाति की 'पतन-अभ्युदयबन्धुर' आयुष्ययात्रा, मनुष्य-विषयक वात्सल्ययुक्त चिंता इन सबकी उन समन्वययोगी के व्यक्तित्व में हम झांकी कर पाते हैं। ○

देश-विदेश के बीच समन्वय के संस्थापक

महातम सिंह

□□

इस वर्ष पूज्य काकासाहेब अपने समर्पित जीवन के ९४ वर्ष पूरे कर ९५ वें में प्रवेश कर रहे हैं। इस मंगल अवसर पर इन महान साधक के प्रति अभिनंदन के रूप में दो शब्द अंकित करते समय आज से २५ वर्ष पूर्व की, जब मेरा प्रथम परिचय उनसे हुआ था, घटना स्मृति-पटल पर उभर आई है।

छात्रावस्था में काकासाहेब के बारे में बहुत-कुछ सुना था, पर उनसे साक्षात्कार का अवसर १९५४ में मिला। स्वतंत्रता के पश्चात् भारतीय मनीषियों ने अच्छी तरह अनुभव कर लिया था कि भारत के पास साहित्य, संगीत, कला तथा मानव-जीवन को परिपुष्ट करने के लिए प्रायः सभी क्षेत्रों में बहुमूल्य सामग्री उपलब्ध है जो विश्व कल्याणार्थ प्रदान की जा सकती है और जिससे भारतीय ऋषियों की प्राचीनतम भावना 'यत्र भवति विश्वं एक नीऽम्' सार्थक बन सकती है। इस कार्य के संचालन के निमित्त एक ऐसी संस्था की आवश्यकता थी, जो सरकारी नियंत्रण से मुक्त रहकर कार्य सम्पादन कर सके। १९५२ में 'भारतीय सांस्कृतिक सम्बन्ध परिषद' की स्थापना हुई और काकासाहेब इसके उप-प्रधान बने।

सोचा गया कि सुदूर पूर्व के लिए पीकिंग, अरब देशों के लिए काहिरा, यूरोप तथा अमरीका में सांस्कृतिक केन्द्रों की स्थापना हो। तत्कालीन शिक्षा-मंत्री स्व० मौलाना अबुल कलाम आजाद की अनुमति प्राप्त कर काकासाहेब, काहिरा, लंदन, न्यूयॉर्क होते हुए कैरीबियाई देशों (जमेका त्रिनीदाद, गियाना और सूरीनाम की यात्रा पर १९५८ में आये। मैं उन दिनों गियाना में सांस्कृतिक प्रवक्ता का काम कर रहा था और समय-समय पर सूरीनाम जाया करता था। जमेका और त्रिनीदाद में काकासाहेब और बहन सरोजनी नानावटी की यात्रा की व्यवस्था तत्कालीन राजदूत डॉ० एन० वी० राजकुमार ने की थी और गियाना तथा सूरीनाम की व्यवस्था मेरे द्वारा हुई थी।

जॉर्ज टाउन के हवाई अड्डे पर काकासाहेब का भव्य स्वागत हुआ। स्वागतार्थ उपस्थित प्रमुख व्यक्तियों में डॉ० जगन की पत्नी जैनेट जगन भी थीं, जो उस समय श्रम-मंत्री थीं। प्रधान मंत्री डॉ० छेदी जगन लण्दन की यात्रा पर गये हुए थे। इस क्षेत्र के छोटे-से प्रवास-काल में ही काकासाहेब ने प्रवासी भारतीयों की प्रमुख समस्याओं का आकलन कर लिया था। उन्होंने कहा था, लोग विभिन्न गुटों में बंटे हुए हैं। एक गुट का नेता अपने ही लोगों की सीमित स्वार्थ-सिद्धि में लगा है। प्रवासी भारतीयों की व्यापक उन्नति की बात उनके मन में नहीं बैठती। राष्ट्रीय भावना का नितान्त अभाव दृष्टिगोचर होता है। सनातनियों और आर्यसमाजियों के बीच पुरानी लड़ाई की बात जानकर उनके मन में अपार कष्ट हुआ था। उनको लगा कि धर्म

केवल अलगाव बढ़ाने का तंत्र प्रमाणित हो रहा है। हिन्दू धर्मावलम्बियों को समझाते हुए उन्होंने कहा था, "नदी आगे बढ़ते समय किसी टीले के पास पहुंचने पर दो भागों में बंट जाती है। किन्तु समतल स्थान पर पहुंचते ही पुनः एक धारा में परिणत हो जाती है।" स्पष्ट था कि काकासाहेब का ध्यान एक ऊंचे ध्येय पर केन्द्रित हो गया था, जो धर्म-धर्म के बीच भाषा व भाषा के बीच, वाद-वाद के बीच और देश-देश के बीच समन्वय की स्थापना करना चाहता है।

एक रात हम निमंत्रित होकर अमरीकी राजदूत के यहां गये। उन्हें पता हो गया था कि हम दोनों निरामिष-भोजी हैं। अतः हम लोगों के लिए भोजन की व्यवस्था अलग मेज पर की गयी थी। काकासाहेब को यह अच्छा नहीं लगा और उन्होंने आमिष-भोजियों के साथ बैठकर ही भोजन करने का आग्रह किया। उन्होंने कहा, "मांसाहार और शाकाहार का आहार-भेद रहेगा ही, रहना ही चाहिए, लेकिन 'मांसाहारी और शाकाहारी' एक-दूसरे के घर खाना खायं। एक-दूसरे के हाथ का पकाया हुआ खायं। धार्मिक त्योहारों में एक-दूसरे को बुलावें। धर्म-भेद होते हुए भी आत्मीयता कम न हो, इसके लिए पूरी-पूरी कोशिश होनी चाहिए।"

पांच साल गियाना में काम करने के पश्चात् जब मैं १९५२ में छः महीने की छुट्टी पर भारत गया तब काकासाहेब से मिलने सन्निधि, राजघाट (नई दिल्ली) गया। मेरे मन में बड़ी इच्छा थी कि मैं पूज्य विनोबा भावे से मिलकर उनके अनुभव प्राप्त करूं और उसका उपयोग अपने नये कार्य-क्षेत्र सूरीनाम में करूं। काकासाहेब ने इसका समर्थन किया और जहां तक हो सके, विनोबा-साहित्य को देख जाने का परामर्श दिया। विनोबाजी उस समय भूदान की अहिंसक क्रांति का शंखनाद करते हुए देश में पैदल घूम रहे थे। उनका पता लगाकर और काकासाहेब से परिचय-पत्र प्राप्त कर मैंने दिल्ली से भटिंडा के लिए प्रस्थान किया। कड़ाके की सर्दी पड़ रही थी। लगभग ५ बजे थे। स्टेशन से बाहर आते ही मालूम हुआ कि बाबा अपनी टोली के साथ सिरसा की दिशा में में चल पड़े हैं। उसी दिशा का टिकट लेकर मैं रेलगाड़ी में चल पड़ा। अगले स्टेशन पर उतरते ही ज्ञात हुआ कि बाबा वहां आने वाले हैं। सूर्य की किरणों के साथ ही बाबा तथा उनकी टोली के लोग आते दिखाई पड़े। आगे बढ़कर मैंने पत्र दिया, जिसमें काकासाहेब ने मराठी में लिखा था, "श्री विनोबा, श्री महातम सिंह ना तुमसे कड़े पाठवीत आहें...।" बाबा ने पत्र पढ़कर प्रसन्न मुद्रा में कहा, "अज्ञात-वास में भी तुमने हमें ढूंढ़ ही लिया।" उस दिन और दूसरे दिन पद-यात्रा के समय बाबा ने काकासाहेब के प्रति जिस आत्मीय भावना को व्यक्त किया—वह मुझे कभी नहीं भूलेगी। महात्मा गांधी के दो प्रधान आध्यात्मिक शिष्यों के बीच अनंत सौहार्द और आत्मीयता से मैं गद्गद हो गया।

हमेशा की तरह जब मैं १९६५ में भारत-यात्रा पर गया तब प्रेरणा प्राप्त करने के निमित्त सन्निधि-पहुंचा। प्रातः का समय था। सर्दियों के दिन थे। काकासाहेब सरोजबहन को 'मंगल प्रभात' के लिए लेख लिखवा रहे थे। नमस्कार कर कुर्सी पर बैठा ही था कि काकासाहेब ने कहा, "उतनी दूरी से बातचीत में आनंद नहीं आयेगा। पास आकर बैठो।" मैं उनके पलंग पर ही जाकर बैठ गया। सूरीनाम तथा वहां के लोगों से सम्बन्धित चर्चा चलती रही।

इस अवसर पर काकासाहेब ने बम्बई में आयोजित मुखरिष्ट कांग्रेस की, जिसका उद्घाटन रोमन-कैथोलिक चर्च और समुदाय के सर्वोच्च अधिकारी पोप के हाथों हुआ था, चर्चा की। कुछ लोगों ने इस सम्मेलन के आन्तरिक उद्देश्य पर संदेह प्रकट किया था। उनका कहना था कि यह संगठन—गैर ख्रिस्ती धर्मावलम्बियों को मिटाने के लिए किया गया था और भारत जैसे सहिष्णु देश के लिए यह शोभा नहीं देता। इसलिए उस अवसर पर ख्रिस्ती धर्म पर भारतीय जन-मानस क्या सोचता-समझता है, इसके स्पष्टीकरण के लिए काकासाहेब से बी० बी० सी० के माध्यम से एक वक्तृता देने के लिए आग्रह किया गया। काकासाहेब ने सहर्ष

स्वीकार कर लिया। साथ ही उन्होंने स्पष्ट कह दिया था कि व्यक्तीकरण की पूरी छूट रहनी चाहिए। आयोजकों ने इस बात को मान्य किया था। चलते समय काकासाहेब ने अपने भाषण की एक प्रति मुझे दी ?

१९७७ में जब मैं भारत गया तो काकासाहेब से मिलने पुनः सन्निधि पहुंचा। इस अवसर पर एक ऐसी बात सामने आई, जिसके बारे मैंने सुन तो रखा था, पर विश्वास नहीं हुआ था। काकासाहेब ने कुछ क्षणों तक मुझे पहचाना ही नहीं ! सरोजबहन बहुत बेचैन हो गयीं और ऊंची आवाज में बोल उठीं, "ये अपने महातम सिंह हैं।" मैं मन ही मन मुस्करा रहा था। उस समय काकासाहेब के भुलक्कड़ स्वभाव के शिकार कितने ही लोगों की याद हो आई। स्व० रामधारीसिंह 'दिनकर' ने लिखा है, "काकासाहेब से इतनी बार मिल चुका था कि इस बात का मुझे अन्देशा भी नहीं था कि वे मुझे कभी नहीं भी पहचानेंगे। पर यह अनहोनी बात एक बार हो ही गयी। तब मैं कविता लेकर काकासाहेब के पास बैठ गया और उनसे कहा, "मेरा नाम 'दिनकर' है और अपनी नवीन रचना आपको सुनाना चाहता हूं।"

आगे क्या हुआ, पाठक समझ सकते हैं। काकासाहब ने रसपूर्वक उनकी कुछ कविताएं सुनीं।

मैंने उस समय काकासाहेब को हाथ में विश्व मानचित्र लिये विचारों में निमग्न पाया ! लगा, संस्कृति का यह परिव्राजक शरीर से अशक्त होते हुए भी विचारों में विश्व-कल्याण की भावना से सतत जागरूक है। चला तो मन में अकथनीय स्फूर्ति थी। अन्तःकरण से यह उद्‌गार निकल ही पड़ा—काकासाहेब सच्चे अर्थों में पृथ्वीपुत्र हैं ! ○

प्रतिभा के पुंज

विष्णु प्रभाकर

□□

काकासाहेब ने कितना लिखा है यह उतना आश्चर्यजनक नहीं है जितना यह कि उन्होंने कितने विविध विषयों का अध्ययन किया है। भौतिक और आध्यात्मिक जगत् में कुछ भी तो ऐसा नहीं रह गया है, जिसको उन्होंने नये अर्थ देने की चेष्टा न की हो।

असंख्य रहस्यों को अन्तर में छिपाये उस अनन्त आकाश जैसा है हमारा वाङ्मय। उस सबका यथा-सम्भव अवगाहन करके काकासाहेब ने हमें दिखाना चाहा है कि कोई ऐसी समस्या नहीं है, जिसका समाधान वहां न खोजा जा सके।

उनकी मातृभाषा मराठी है, लेकिन गुजराती में ऐसे लिखते हैं, जैसे वह उन्हें घुट्टी में मिली हो। हिन्दी का प्रसार-प्रचार करने में उन्होंने सारा जीवन खपा दिया और रवीन्द्र साहित्य की सारगर्भित व्याख्या करके उन्होंने प्रमाणित कर दिया कि कोई भी भाषा हो, मन होने पर वह अपनी हो रहती है।

वे क्रांतिकारी बनने घर से निकले, पर पहुंच गये महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शान्तिनिकेतन में। वहीं उनकी भेंट गांधीजी से हुई और वे सदा-सदा के लिए उनके हो गये। क्रांति, कविता और कर्म तीनों का अद्‌भुत समन्वय हुआ है उनमें। इसीलिए उनके अन्तर में सतत प्रज्वलित ज्योति आकाश के रहस्यों को ही उजागर नहीं करती, बल्कि निरन्तर कर्म की ओर भी प्रेरित करती है। उनकी प्रतिभा वायवी नहीं, रचनात्मक है। इसीलिए मार्ग-दर्शक बन जाती है।

वे जिस अधिकार से अध्यात्म की व्याख्या कर सकते हैं, उसी अधिकार से गणित, ज्योतिष का रहस्य

भी प्रकट कर सकते हैं। नदियों की चर्चा करते समय वे कवि हो उठते हैं और रवीन्द्र गीत निर्झर के आजि, वसन्त जाग्रत द्वारे' का अर्थ समझाते-समझाते अन्तर्जातीय विवाहों की उपयोगिता प्रतिपादित करने लगते हैं। उनका कहना कि "हम संकुचितता छोड़कर, सारे जगत् से एकरूप होना, विश्व के आनन्द में अपना आनन्द मानना और अनुभव करना सीखें। अपना-पराया भाव गया, स्वार्थ गल गया और क्षुद्र बासनाओं का अस्त हुआ, फिर तो मात्र आनन्द देकर ही वह पाने का शेष रहता है। अपनी आन्तरिक मधुरता यदि सारे विश्व को दी तो क्या बिगड़ा? अपने जीवन के सुभग क्षण में वसन्त की बहार आने पर हम अपना सर्वस्व अर्पण करने को बाहर क्यों न निकालें ? अपना जीवन कुंठित करके अवगुण्ठन में उलझे क्यों रहें ?

आजि बसन्त जाग्रत द्वारे।
तव अवगुण्ठित कुण्ठित जीवने
कोरो ना बिडम्बित तारे।"

हिन्दी भारत की राष्ट्र-भाषा क्यों, अंग्रेजी क्यों नहीं ? इसका विवेचन करते हुए वे कहते हैं, "अंग्रेजी जानने वाले लोग अपनी एक अलग जाति बनाते हैं, दूसरी भाषाएं सीखते ही नहीं। अपनी-अपनी जन-भाषा तो बचपन में ही उन्हें सीखनी पड़ी, नहीं तो उसे भी नहीं सीखते।"

वे हिन्दी को स्वीकार करने के दो प्रमुख कारण मानते हैं, एक तो उसकी लिपि नागरी है, जो संस्कृत की लिपि होने के कारण भारत में सर्वत्र फैली हुई है। दूसरा कारण यह है कि सब प्रान्तों के सन्तों ने उसे अपनाया है।

वे लिखते हैं, "चीन, जापान, बर्मा, श्रीलंका, इंडोनेशिया आदि देशों के साथ हमारा सम्पर्क आज अंग्रेजी के द्वारा बढ़ रहा है। इसमें सहूलियत चाहे जितनी हो, एशिया के लिए यह शाप-रूप ही है। एशियायी संस्कृति जैसी चीज पर अंग्रेजी के कारण हमारा विश्वास ही नहीं बैठता।"

काकासाहेब ने संस्कृति का अध्ययन दीवारों से घिरे विद्यालयों में नहीं किया। वे सही अर्थों में परि-व्राजक हैं। उन्होंने विश्व-भ्रमण ही नहीं किया, प्रकृति के प्रांगण में भी वे मुक्त होकर घूमे हैं। अनेक सरिताओं के अथ-इति को बहुत पास से देखा है उन्होंने, "नदी के किनारे-किनारे घूमने जायं तो प्रकृति के मातृ-वात्सल्य के अखण्ड प्रवाह का दर्शन होता है। नदी बड़ी हो और उसका प्रवाह धीर-गम्भीर हो तब तो उसके किनारे पर रहनेवालों की शान-शौकत उस नदी पर ही निर्भर करती है। सचमुच, नदी जन-समाज की माता है...नदी ईश्वर नहीं है, बल्कि ईश्वर का स्मरण करानेवाली देवता है। यदि गुरु को वन्दन करना आवश्यक है तो नदी को भी वन्दन करना उचित है।"

नदी ही नहीं, त्योहार भी भारतीय संस्कृति की आत्मा है। काकासाहेब ने उनका विश्लेषण करते हुए उनके पीछे के मूल सांस्कृतिक आधार को खोजा है। दीवाली के नाना रूपों का परिचय देते-देते काकासाहेब बहुत गहरे डूब जाते हैं और मृत्यु के रहस्य को समझाने लगते हैं, "मृत्यु अर्थात् घड़ी-भर का आराम, मृत्यु अर्थात् नाटक के दो अंकों के मध्यावकाश की यवनिका, मृत्यु अर्थात् वाणी के अस्खलित प्रवाह में आनेवाले विराम-चिन्ह।...मृत्यु तो पुनर्जन्म के लिए ही है। प्रत्येक नयी पीढ़ी पुरानी पीढ़ी का तेज लेकर जवानी के जोश में आगे बढ़ती रहती है और पुरानी पीढ़ी बुढ़ापे के परावलम्बन को महसूस करती हुई लुप्त हो जाती है। यह कैसे भुलाया जा सकता है कि बूढ़ा निश्चंतन बना हुआ जाड़ा प्रफुल्ल नववसन्त की उंगली पकड़ कर ले आता है ? इस बात को भुलाने से काम नहीं चलेगा कि हेमन्त की काटनेवाली ठण्डक में ही वसन्त का प्रसव है।"

"दीवाली के दिन वसन्त की अपेक्षा से, वसन्त की मार्ग-प्रतीक्षा से, अगर हम दीपोत्सव कर सकते हैं,

आनन्द और मंगल का अनुभव कर सकते हैं तो हम मृत्यु से क्यों न खुश हों ?"

"दीवाली हमें सिखाती है कि मृत्यु में ही नव-जीवन प्रदान करने की शक्ति है, दूसरों में नहीं। दीवाली का त्योहार मौत का उत्सव है, मृत्यु का अभिनन्दन है, मृत्यु की श्रद्धा है। निराशा से उत्पन्न होनेवाली आशा का स्वागत है। रुद्र ही शिव है। मृत्यु का दूसरा रूप ही जीवन है।

"मृत्यु अग्नि नहीं है, बल्कि तेजस्वी रत्नमणि है, जिसे छूने में कोई खतरा नहीं है।"

काकासाहेब के लिए यह मात्र वाग्जाल, मात्र छूछे शब्दों का समूह नहीं है। इनके अर्थ को जिया है उन्होंने। इस आयु में अपने बेटे की आकस्मिक मृत्यु पर मैंने उनको वैसा ही शान्त-सुस्थिर देखा है। दर्द न हुआ हो, ऐसा नहीं, परन्तु उसके प्रथम आघात को सहकर उन्होंने तुरन्त रुद्र के शिवरूप को देखा और शान्त हो गये। कोई और व्यक्ति होता तो स्वयं ही कातर-विह्वल न होता, बल्कि पूरे वातावरण को तरल-विगलित करके शोक की विभीषिका को और उग्र कर देता।

काकासाहेब की प्रतिभा की थाह लेना इस छोटे-से लेख में सम्भव नहीं हो सकता। एक झलकमात्र है यह उनकी उस सागर-रूपिणी मेधा की, जिसके गर्भ में असंख्य अमूल्य रत्न छिपे पड़े हैं। आज के भ्रष्ट युग के सन्दर्भ में यह सीख हमें हृदयंगम कर लेनी चाहिए कि "राजनीति नहीं किन्तु मानव-समाज की सांस्कृतिक नीति ही दुनिया को बचा सकेगी और मानव-समाज को नया प्रस्थान मिलेगा। अराजकता अपरिहार्य-सी बन रही है। इसमें अगर हम फंस गये तो हमारा खात्मा है। अपने को बचा सके तो जागतिक संस्कृति की स्थापना होगी।"

इसके लिए वे एक राष्ट्रीय चरित्र की अनिवार्यता पर जोर देते हुए लिखते हैं, "सब लोगों के मन में मातृभूमि के बारे में एक-सी निष्ठा होनी ही चाहिए, किन्तु इतना बस नहीं है। सब लोगों में, सब पक्ष के, सब धर्म के, सम्प्रदाय और फिरके के लोगों के मन में एक-दूसरे के प्रति भी पूरी-पूरी आत्मीयता और निष्ठा होनी चाहिए। ऐसी निष्ठा खरीदी नहीं जा सकती। खरीदने की रीति खतरनाक होती है। हम बहुत हुआ तो खामोशी खरीद सकते हैं, न कि निष्ठा। निष्ठा तो उज्ज्वल राष्ट्रीय चारित्र्य से ही उत्पन्न हो सकती है।"

उनकी ९५ वीं जन्म-जयन्ती के अवसर पर उनके प्रति श्रद्धा ज्ञापित करने का एकमात्र मार्ग यही है कि हम राष्ट्रीय चरित्र के अर्थ जानें ही नहीं, उन्हें जीना भी सीखें। तभी, केवल तभी, हम देश के भविष्य के प्रति आश्वस्त और एक-दूसरे के प्रति निष्ठावान हो सकेंगे।

हुदूदे जात से बाहर निकल कर देख जरा,
न कोई गैर है, न कोई रकीब लगता है। ○

दुर्लभ अवसर

हेनरी ई० नाइल्स

□□

श्री काकासाहेब कालेलकर की मैत्री से मेरा जीवन बड़ा समृद्ध हुआ है, ऐसा मैं अनुभव करता हूं। १९५३ में जब मैं अमरीका के 'टेकनिकल मिशन टु इंडिया' का डिप्टी डायरेक्टर था तब श्री काकासाहेब से पहली बार मिला था। महात्मा गांधी के निकटवर्ती स्वजनों से मिलकर उनसे गांधीजी के आदर्श और विचारों के बारे में अधिक जान लेने की आशा लेकर ही मैं भारत आया था।

उस दिन मेरे आनंद की सीमा न रही जब योगायोग या ईश्वरेच्छा मुझे रेहानाबहन तैयबजी के पास ले गयी और वहां से हम काकासाहेब कालेलकर और उनकी मंत्री सरोज नानावटी के पास पहुंचे। उन तीनों ने मुझे और मेरी पत्नी को परिवार के अपने लोगों की तरह पूरा अपना लिया और हमारे बीच बड़ी प्रेरणादायक बातचीत होती रही।

कई वर्षों के बाद १९५८ में काकासाहेब दक्षिण अमरीका के, सूरीनाम, ब्रिटिश गियाना आदि देशों में वहां रहनेवाले भारतीयों को मिलने पधारे। मेरी पत्नी ने कहा कि काकासाहेब और डॉ० मार्टिन लूथर किंग के बीच मुलाकात हो तो उत्तम होगा। डॉ० किंग 'मॉन्टगोमरी आलाबामा बस बॉयकॉट, के नेता थे। नीग्रो लोगों के प्रति जो पृथक्करण या अलगाव-नीति वहां चल रही थी, उसके विरुद्ध बसों का यह बहिष्कार हो रहा था। नीग्रो लोगों का यह अहिंसक आंदोलन था। 'अमरीकी फ्रेंड्स सर्विस कमेटी, का प्रतिनिधि होकर मैं काकासाहेब को और सरोज को मॉन्टगोमरी ले गया। वहां डॉ० किंग के साथ अहिंसक आंदोलन के प्रश्नों पर गहरी चर्चा सुनने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ। काकासाहेब वर्षों के अनुभव से बोल रहे थे और युवा डॉ० किंग, जिनके सिर पर बिन मांगी गंभीर जिम्मेदारी आ पड़ी थी, अनेक गंभीर प्रश्न पूछते रहे।

दूसरे या तीसरे दिन डॉ० किंग को सभा में जाना पड़ा। शाम को हम डॉ० किंग के गोल कमरे में बैठे थे। योग पर बातें चल पड़ीं। मैंने कहा कि वर्षों से शीर्षासन सीखना चाहता हूं। मैंने सुना था कि पंडित जवाहरलाल नेहरू कहा करते थे कि शीर्षासन करने से दुनिया का नया दर्शन मिलता है। काकासाहेब ने कहा कि यह तो करना आसान है। उन्होंने एक तकिया जमीन पर रखा, उसपर मेरा सिर रखवाया और फिर मेरे पैर ऊपर उठाये। इससे मैं बड़े अभिमान से कह सकता हूं और कहता भी हूं कि मैं ही एकमात्र गोरा हूं, जिसने डॉ० किंग के कमरे में शीर्षासन किया हो।

काकासाहेब और उनके परिवार के साथ घनिष्ठ परिचय होने के कारण मुझे भारत का ऐसा अनोखा दर्शन हो सका है, जो शायद ही किसी परदेशी अफसर को मिल सका हो। मैं उनका अत्यन्त ऋणी हूं। ○

अमरीका पर उनकी छाप

मेरी कुशिंग ('खुशी') नाइल्स

□□

१९५४ में भारत छोड़ने से पहले मैं क्लिफर्ड मेन्शार्ड को मिलने गयी थी। भारत-अमरीका के बीच व्यक्तियों के आदान-प्रदान की योजना का कार्य उनके हाथ में था। मैंने कहा कि भारत की प्राचीन संस्कृति और अद्यतन अनुभवों के बारे में अमरीका को बड़ा लाभ हो सकता है, यदि आचार्य काकासाहेब कालेलकर को अमरीका आमंत्रित कर सकें और वहां उनका सम्पर्क डॉ० मार्टिन ल्यूथर किंग, जूनियर से और अहिंसक आंदोलन के वहां के दूसरे नेताओं से करवाया जाय, जो अमरीका में नीग्रो लोगों के अधिकारों के लिए आंदोलन कर रहे हैं। डॉ० मन्शार्ड ने उनकी उम्र पूछी। मैंने कहा, "६९।" डॉ० मन्शार्ड ने कहा, "आपकी बात सच है कि उनकी काफी सहायता मिल सकती है, किन्तु उनकी उम्र ज्यादा है। अमुक उम्र तक के लोगों को आदान-प्रदान के कार्यक्रम में भेज सकते है।" मैं उदास हुई। मन में तय किया कि किसी दिन मैं काकासाहेब को वहां ले जाने का प्रयत्न करूंगी।

१९५७ में इसके लिए गुंजाइश हुई, जब हमने सुना कि 'इंडियन कौन्सिल ऑफ कलचरल रिलेशन्स'

की ओर से काकासाहेब वेस्ट इंडीज आदि केरीबीयन देशों में प्रवचन-यात्रा करने वाले थे। तुरंत मैंने उनकी अमरीका-यात्रा के प्रयत्न शुरू कर दिये। मैं चाहती थी कि यह यात्रा 'अमरीकन फ्रेंड्स सर्विस कमेटी' के द्वारा हो, क्योंकि यह संस्था नीग्रो लोगों के नागरिक अधिकारों के आंदोलन में सहानुभूति और दिलचस्पी रखती थी। क्वेकरों और अन्य मित्रों की सहायता से यह यात्रा साकार हुई।

२७ जून १९५८ को हेनरी नाइल्स और मैं न्यूयार्क के हवाई अड्डे पर काकासाहेब और उनकी मंत्री सरोजनी नानावटी से मिले। एक रात होटल में गुजारकर हम फिलेडल्फिया गये। हमारे बच्चे कुशिंग और लुई डोल्वेर के साथ दोपहर का खाना खाकर न्यू जरसी-केप में गये, जहां फ्रेन्ड्स (क्वेकर्स) की कॉन्फ्रेन्स चल रही थी। वहां हम रेचल नेसन के घर पर ठहरे। उन्होंने कई विचारक क्वेकर मित्रों को काकासाहेब से मिलने के लिए आमंत्रित किया था।

बाद में एक अनौपचारिक सभा में काकासाहेब ने 'अहिंसा द्वारा परिवर्तन' पर प्रवचन किया। उसके बाद काकासाहेब और सरोज वेस्ट इंडीज की यात्रा पर निकले।

अगस्त १९५८ के पूर्वार्द्ध में काकासाहेब और सरोज वेस्ट इंडीज से मियामी आये, जहां हेनरी नाइल्स ने उनका स्वागत किया और वहां से मॉन्टगोमरी-आलाबामा चले। उस समय मोन्टगोमरी पृथक्करण के विरोध में अहिंसक बहिष्कार आंदोलन का प्रमुख केन्द्र था। उस आंदोलन के नेता थे—युवा डॉ० मार्टिन ल्यूथर किंग—एक बेप्टिस्ट पादरी, जिन्होंने उस अहिंसक बहिष्कार को अंत तक अहिंसक पद्धति से सफल बनाया था। डॉ० किंग ने महात्मा गांधी के विचार और कार्य का और अहिंसा द्वारा परिवर्तन लाने की शक्यता का गहरा अध्ययन किया था। अब पहली बार उनको अहिंसा की तकनीक पर गहराई में उतरकर चर्चा करने का अवसर मिल रहा था—एक ऐसे नेता के साथ, जिन्होंने भारत को ब्रिटिश राज्य से मुक्ति दिलाने वाले अहिंसक आंदोलन में सक्रिय योगदान दिया था।

हमारे आदरणीय अतिथियों के ठहरने की व्यवस्था डॉ किंग के घर और चर्च से जितनी नजदीक हो सके, उतनी निकट की गयी थी। यह कहते दुःख होता है कि गोरा होने के कारण हेनरी को वहां के कानून के अनुसार गोरों के होटल में अलग रहना पड़ा! डॉ० किंग की धर्मपत्नी कोरेटा ने कहा कि तीनों मेहमानों को साथ डॉ० किंग के घर में ही भोजन करना है। रविवार की रात को काकासाहेब ने बप्टिस्ट चर्च में धर्मप्रवचन दिया।

इसमें वर्षों बाद कोरेटा किंग नयी दिल्ली आयी। उनके पति को मृत्यु के बाद जो नेहरू पुरस्कार अर्पित किया गया था, उसे स्वीकार करने के लिए उन्होंने यह यात्रा की थी। एक बड़े भोज में काकासाहेब और सरोज उनके सम्मुख बैठे हुए थे। तब कोरेटा ने कहा कि मोन्ट गोमरी की काकासाहेब की मुलाकात ने मार्टिन के जीवन-पथ को एक नया मोड़ दिया, क्योंकि उनको अहिंसक तकनीकों की गहरी चर्चा करने का अवसर मिला, जिससे उनके नेतृत्व में नये स्फूर्तिदायक तत्वों का विकास हुआ।

वहां से काकासाहेब और सरोज वॉशिंगटन गये। वहां पहली मुलाकात थी 'फ्रेंड्स इंटरनेशनल हाउस' में, जहां काकासाहेब ने भारतीय विद्यार्थी समाज के सामने व्याख्यान दिया। शाम वॉशिंगटन 'अर्बन लीग' की ओर से सभारंभ था। वर्जिनिया में यह लीग काले-गोरों की महत्त्वपूर्ण संस्था है, जो नीग्रो जीवन के उत्थान का कार्य कर रही है।

अगले दिन कथरीन स्टोन के घर उनका स्वागत हुआ। वर्जिनिया लेजिस्लेचर की वह एकमात्र महिला सदस्या हैं और उदार मतवादी हैं। उन्होंने आर्लिंग्टन काउण्टी के मानव-संबंधों की संस्था के कई सदस्यों को आमंत्रित किया था। उस समय शालाओं में नीग्रो बच्चों को भी प्रवेश देने के प्रश्न पर देश में उग्र चर्चा चल

रही थी। डॉ० स्टोन ने काकासाहेब से एक प्रश्न किया, "अहिंसक प्रतिकार कब शुरू करना चाहिए, इसका निर्णय कैसे हो ?"

आचार्यजी ने तुरंत उत्तर दिया, "जब समझाने के, अनुनय के सारे-के-सारे प्रयास कर लिये हों, उसका कोई परिणाम न निकला हो, तभी अहिंसक प्रतिकार के मार्ग को अपनाया जा सकता है। गांधीजी ने हमें सिखाया था कि अहिंसक प्रतिकार भी सामने वाले पर एक तरह की जबरदस्ती है, इसलिए समझौते के सब-के-सब मार्ग प्रयोग कर लेने के पश्चात् ही इसे काम में लेने का अधिकार प्राप्त होता है।"

उनके इस कथन के रहस्य पर हममें से जो नीग्रो लोगों के अमरीकी सत्याग्रह में योगदान देना चाहते थे उन लोगों में गंभीरता से भारत से हमारे लिये काकासाहेब जो देन लाये थे, उसका यह सारतत्व था।

दोपहर के बाद हम वेस्ट मिन्स्टर मेरिलैंड गये, जहां बाल्टिमोर फ्रेंड्स (क्वेकरो) की वार्षिक सभा हो रही थी। वहां काकासाहेब ने अहिंसा पर व्याख्यान दिया और प्रश्नोत्तरी तथा चर्चा भी रही।

मेहमानों ने बाल्टीमोर के हमारे घर में रात व्यतीत की। अमरीका में उत्तर और दक्षिण के बीच की जो रेखा मानी गयी है, उसके तुरंत दक्षिण में बाल्टिमोर एक बड़ा नगर है। १८५८ में लगभग सब उपहार-गृहों में अलगाव नीति चलती थी, याने 'नोग्रो लो' उनमें नहीं जा सकते थे। इने-गिने होटलों ने ही अपने द्वार सबके लिए खोल रखे थे। माननीय भारतीय मेहमानों के लिए ऐसे एक होटल में भोजन सभारंभ हुआ। उसमें अलग जाति और वंशों के संबंधों में सुधार की इच्छा रखने वाले व्यापारी, डॉक्टर, वकील आदि लोगों का अच्छा प्रतिनिधित्व था।

उसी शाम नीग्रो लोगों की सभा थी, जिसका आयोजन दोनों जातियों के शिक्षण-शास्त्रियों ने और पादरियों ने मिलकर किया था।

अगली सुबह काकासाहेब और सरोज वाशिंगटन गये। पहले सेनेटर ह्यूबर्ट हम्फ्रीसा के साथ मुलाकात हुई, जो सेनेट में दूसरी बार चुने गये थे और जो हमेशा से नागरिक अधिकारों के हिमायती रहे थे।

लिंकन स्मारक के सामने वॉशिंगटन के सर्वाधिक प्रसिद्ध नीग्रो व्यक्ति डॉ० मौर्डेकाई जॉन्सन, हावर्ड विश्वविद्यालय के अध्यक्ष के साथ काकासाहेब का चित्र खींचा गया।

दोपहर के भोजन के समय अनेक संस्थाओं के श्रोता बहुत बड़ी संख्या में काकासाहेब का भाषण सुनने के लिए एकत्र हुए। रात को एक विख्यात नीग्रो-दंपति के घर पर भोज था। हर समय काकासाहेब का व्याख्यान और प्रश्नोत्तरी रहते थे।

हमारा आखिरी प्रवास था न्यूयार्क शहर का। वहां काकासाहेब और सरोज मार्गरेट स्नाइडर से मिले। मार्गरेट बहन करीब एक साल सन्निधि, राजघाट में रही थीं। हमारे दामाद स्टॉटन लिंड से भी मिले। स्टॉटन बाद में अटलांटा के नीग्रो कॉलेज में प्राध्यापक बने और विद्यार्थियों की अहिंसक योजना समिति के संयोजक बनकर काले-गोरे सब विद्यार्थियों को नागरिक अधिकार-आंदोलन में उत्सापूर्वक सक्रिय भाग लेने की प्रेरणा दी। कुछ समय बाद एक मित्र के साथ स्टॉटन लिन्ड ने वियतनाम की लड़ाई के विरुद्ध पहला सत्याग्रह किया। उसके लिए वे गिरफ्तार होकर जेल भी गये। ऐसे युवक स्टॉटन के लिए काकासाहेब के साथ अहिंसा की चर्चा करने का अवसर प्राप्त हो, यह एक अनोखा प्रसंग था। दूसरे लोग—वृद्ध और युवा—काकासाहेब की बातों अत्यन्त से प्रभावित हुए। उसी दिन अहिंसा पर एक विचार-गोष्ठी थी, जिसमें सब वर्ग और जाति के लोग उपस्थित थे। रात को मित्रों का स्नेह-सम्मेलन था।

दूसरे दिन भारत के कौंसल-जनरल, के घर दोपहर का भोजन था। वहां प्रेस-कान्फ्रेन्स भी हुई। बाद में भारतीयों की एक बड़ी सभा में काकासाहेब का व्याख्यान था।

दूसरे दिन भी औपचारिक दोपहर का भोज और एशिया सोसायटी की सभा थी, जिसमें भारत के हरिजनों का स्थान और उनकी प्रगति के बारे में व्याख्यान हुआ।

इस तरह आचार्यजी की अमरीका को दी हुई अद्भुत सेवाओं की पूर्णाहुति हुई। उनके दर्शन से बहुत लोग अत्यंत प्रभावित हुए, शायद उनके ज्ञानपूर्ण शब्दों से भी अधिक।

सात वर्ष बाद १९६५ में मैं नयी दिल्ली में थी। मेरे भारतीय परिवार ने आग्रहपूर्वक काकासाहेब के इक्यासीवें जन्मदिन के उत्सव में मुझे अपने साथ बिठाया।

पाश्चात्य दुनिया के दो ही उपस्थित लोगों में से मैं एक थी। काकासाहेब के क्रान्तिकारी साथियों के और अनुयायियों के बीच उपस्थित रहना मेरे लिए बड़े ही गौरव की बात थी।

काकासाहेब, हेरी और मेरी-कुशिंग नाइल्स आपके ९५वें जन्मदिन पर गहरी कृतज्ञता के साथ आपका सादर, सप्रेम वंदन करते हैं। सेवा और प्रेरणा के आपके जीवन के लिए भगवान को धन्यवाद देते हैं, जिसके द्वारा दुनिया के अलग-अलग भागों में इतने लोगों के जीवन समृद्ध हुए हैं! ○

पहली भेंट की अटूट कड़ी

क्यूया दोई

□□

हमारे जीवन में कुछ ऐसा सुअवसर भी हो सकता है कि किसी से मिलते ही हमारे हृदय में एक विचित्र मैत्री या आदर-भाव उत्पन्न होता हो। मुझे यह सौभाग्य मिला था सन् १९६७ के एक दिन। बात यों हुई कि जापान में पधारे काकासाहेब कालेलकरजी से भेंट-वार्ता करने का काम मुझे सौंपा गया था। इसी उद्देश्य से मैं सुबह उनके होटल में गया। काकाजी बिस्तर पर लेटे हुए थे और सरोजबहन बगल में खड़ी थीं। दो-तीन सज्जन खिड़की के पास आराम से बैठे थे। कमरे के अंदर जाते ही मुझे एक विचित्र आत्मीयता महसूस हुई। ऐसा लग रहा था कि मैं वास्तव में अपने काकाजी से मिलने आया हूं। यह था काकाजी के व्यक्तित्व का प्रभाव।

वह रक्षा-बंधन का दिन था। सरोजबहन ने मेरी कलाई पर राखी बांध दी। तब हमारा संबंध और भी गहरा हो गया। मैं निःसंकोच काकाजी के पास बैठ गया और तुरंत ही बातें आरंभ हो गईं।

यह हमारा पहला मिलन था, पर, 'सर्वोदय संघ' के श्री नागा और श्री मंत्री के माध्यम से हम एक-दूसरे को अच्छी तरह जान चुके थे। इसीलिए हमारी बातें एकदम अनौपचारिक रूप से और ठीक-ठीक चलने लगीं।

काकाजी हाल में निक्को हो आए थे। निक्को के मंदिर में तीन बंदरों की मूर्तियां बहुत प्रसिद्ध हैं। जापानी भाषा में बंदर अर्थ का "सारू" देखना, सुनना, कहना अर्थ की क्रियाओं के साथ मिलकर नकारात्मक अर्थ देता है। इसलिए तीन बंदरों के नाम मिजारु, किकाजारु और इवाजारु के अर्थ होते हैं न देखनेवाला बंदर, न सुननेवाला बंदर और न कहनेवाला बंदर। इन लघु पर अर्थपूर्ण शब्दों को सुनकर और बंदरों की मूर्तियों को देखकर अधिकतर जापानी समझते है कि इन तीन बंदरों का विचार जापान का अपना है। दूसरी ओर यह प्रसिद्ध बात है कि बापूजी इन तीन बंदरों को अपना गुरु मानते थे। इन बातों को ध्यान में रखकर यह कहना कठिन हो जाता है कि इन बंदरों का मूल आधार जापान का है या भारत का। निष्कर्ष यह हुआ

कि एक बात का मूल स्रोत कहीं का भी हो, संस्कृति तो विश्व के सबों की संपत्ति हैं। इस बात को लेकर काकाजी ने पंचतंत्र, हितोपदेश आदि का विश्व में फैलना, फिर उनमें से कुछ कथाओं का भारत में वापस आना, या भक्ति-आंदोलन के भारत के अनेक भागों में एक साथ उत्पन्न होना आदि मनोरंजक उदाहरण दिये। फिर वे धर्म-समन्वय की बात करने लगे। यही उनके जापान-भ्रमण का मुख्य उद्देश्य था। धर्म-समन्वय का एक उदाहरण उन्होंने बताया कि नेपाल में एक मंदिर है, जो बौद्धों का भी है और हिंदुओं का भी। एक मंदिर, एक मूर्ति और एक पुजारी। इस मंदिर को बौद्ध लोग भी मानते हैं और हिंदू लोग भी पूजा के लिए आते हैं। दूसरी ओर मैंने बताया कि जापान में किसी-किसी बौद्ध मंदिर के अहाते में शिन्तो मंदिर बना हुआ है और वहां पूर्ण सह-अस्तित्व होता है। काकाजी ने भारत में धर्म-संबंधी जटिल समस्याओं की बात करते हुए कहा, "विश्व-धर्म-समन्वय के मेरे प्रयत्न में जापान के लोग ही और तुम ही अच्छी सहायता दे सकते हो।"

मेरे लिए सबसे आनंददायक प्रसंग काका-गांधी मिलन का था। उन्होंने बताया कि वे १६१५ में गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर के साथ शांतिनिकेतन में थे। वहां गांधीजी आए तो उनसे खूब बातें कीं। बिहार में रह रहे अपने मित्र को बुलाकर गांधीजी से मिलाया। दोनों मित्रों ने मिलकर गांधीजी के विचारों का अध्ययन किया और अंत में काकाजी ने निश्चय किया कि मैं अपना हृदय गुरुदेव को अर्पण करूंगा, पर मेरा देश-सेवाकार्य तो गांधीजी को समर्पित करना उचित है। इस निश्चय के साथ वे गांधीजी के आश्रम गए। इस प्रकार गांधीजी के बारे में बहुत-सी बातें बताते हुए उन्होंने समझाया कि आनेवाली गांधी-जन्म-शती में जापान को क्या-क्या काम करने चाहिए।

इधर मुझे भी गांधीजी के हिंदुस्तानी-आंदोलन, शिक्षा-नीति आदि के संबंध में प्रश्न-पर-प्रश्न करने में बड़ा आनंद आ रहा था, विशेषकर मेरे लिए यह आशातीत आनंद की बात थी कि जब मैंने हिंदी साहित्य और गांधी-दर्शन के बारे में घूमते हुए प्रेमचन्द, जैनेन्द्रकुमार और दिनकर के नाम लिये तो मालूम हुआ कि काकाजी इन तीनों के अच्छे मित्र हैं। मुझे इन तीनों लेखकों के बारे में ऐसी-ऐसी बातें मालूम हुईं, जो पुस्तकों में नहीं मिल सकती थीं।

हम दोनों हिंदी में बातें करते रहे। पर काकाजी की मातृभाषा मराठी है। उन्होंने बताया कि जब कभी आवश्यकता हो तो वे गुजराती में भी बातें करते हैं। वे अंग्रेजी भी खूब जानते हैं। युवावस्था में तो वे अंग्रेजी साहित्य के प्रेमी थे। पर अब कुछ लिखना हो तो वे अंग्रेजी का प्रयोग नहीं करते, क्योंकि यह जनता की भाषा नहीं है। उनका विश्वास है कि जनता की सेवा करने के लिए जनता की भाषा में लिखना ही उनका कर्त्तव्य है। उनके मस्तिष्क में सदा जनता रहती है। उनके सब काम जन-हित के लिए होते हैं। उनके हृदय में न केवल अपने मित्रों के प्रति वरन जनता के प्रति अपार प्रेम है। तभी तो उनके शरीर और उनकी प्रत्येक चाल से विचित्र आत्मीयता छलक पड़ती है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि इस भेंट-वार्ता से मुझे सबसे अधिक लाभ और आनंद मिला है। अपने प्रबल व्यक्तित्व से काकाजी मुझे अपनी ओर खींचते रहे और साथ ही गांधीजी की बातें करते-करते मुझे इस भ्रम में डाल दिया कि मुझे काकाजी के माध्यम से गांधीजी का शिष्य बनने का गौरव मिल गया है और साथ ही काकाजी ने मुझे प्रेमचंद, जैनेंद्र कुमार और दिनकरजी का मित्र बना दिया है।

काकाजी मानें या न मानें, मैंने अपने आपको काकाजी का चेला माना। अब मेरा कर्तव्य है कि मैं भी ६५ वर्ष की आयु तक स्वस्थ रहूं और किसी-न-किसी तरह से जनता की सेवा करता रहूं। मैं भगवान से प्रार्थना करता रहूंगा कि काकाजी और अधिक वर्षों तक अपने प्रिय कार्य, भेंट-वार्ता आदि से लोगों को प्रेरणा देते रहें और गुरुजी के अनुकरण करने के बहाने मुझ नालायक चेले को भी दीर्घ आयु मिले। ○

इस खण्ड में काकासाहेब की संक्षिप्त आत्म-कथा दी गई है। इससे उनके जीवन का परिचय तो मिलता ही है, यह भी पता चलता है कि उनके जीवन का विकास किस प्रकार हुआ। चूंकि यह सारी सामग्री काकासाहेब की कलम से प्रस्तुत हुई है, अतः अत्यन्त प्रामाणिक है। कहने की आवश्यकता नहीं कि पाठकों के लिए यह प्रेरणा का अक्षय स्रोत है।

जीवन यात्रा
अपनी कलम से

१ :: मेरे माता-पिता

दक्षिण के हम सारस्वत ब्राह्मण। पश्चिम भारत में रहना हमने पसंद किया। हमारे पूर्वज कब यहां आकर बसे उसका इतिहास आज मिल नहीं सकता, और कहां से आये यह भी हम नहीं जानते।

कालेलकर, रांगणेकर अथवा नेरूरकर जैसे हमारे कुलनाम आज महत्त्व के नहीं हैं। स्थान को लेकर ये नाम दिये गए हैं। मैंने सुना था कि हमारा असली कुलनाम राजाध्यक्ष था। इस कुलनाम के सारस्वत परिवार आज भी पश्चिम भारत में मिलते हैं।

सामान्य रूप से दक्षिण भारत के ब्राह्मण शुद्ध शाकाहारी होते हैं। उत्तर के ब्राह्मणों को मांस खाने में सामान्य रूप से हरजा नहीं है, ऐसा कह सकते हैं। दक्षिण के सारस्वत, धर्म के रिवाज के अनुसार, मांस नहीं खाते, किन्तु मच्छी खाते हैं।

आज की बात नहीं है, पुराने धार्मिक परिवारों के रिवाजों की बात है। अधिकतर सारस्वत समुद्र किनारे रहते हैं इसलिए मच्छियां खाते हैं। मच्छी तो समुद्र की सब्जी। यह खायी जा सकती है, ऐसा कहनेवाले धर्मनिष्ठ लोग मैंने देखे हैं। मच्छी खानेवाले और न खानेवाले एक ही जाति में रह नहीं सकते, उनकी अलग जाति होनी चाहिए, यह है दक्षिण की सामान्य मान्यता। लेकिन हम सारस्वतों ने इतना बड़ा आहार-भेद होते हुए भी, दो न्यातें नहीं कीं। लड़की का ब्याह करते समय सहज तलाश की जाती है कि बेटी को तकलीफ तो सहन नहीं करनी पड़ेगी? जिसको मच्छी खानी नहीं है, उसपर खाने का अत्याचार नहीं होना चाहिए—यह है सर्वमान्य नियम। हमारी जाति की इस उदारता के कारण हम उदार मन के प्रगतिशील माने जाते हैं। हमारे कालेलकर परिवार में तीन-चार पीढ़ियों तक मत्स्याहार का नामोनिशान भी नहीं मिलेगा। इसलिए मैं तो आजन्म शुद्ध शाकाहारी ही रहा हूं।

गोवा के उत्तर में, सावंतवाडी राज्य में, 'कालेली' नाम का एक गांव है। वहां के हम रहनेवाले। इसलिए हमारा कुलनाम हो गया कालेलकर।

मेरे पिताश्री छुटपन में गरीबी का पूरा अनुभव लेकर बेलगाम आये, थोड़ी अंग्रेजी सीख ली। (उन दिनों मैट्रिक परीक्षा भी नहीं थी।) और कलादगी (बिजापुर) की तरफ लश्करी नौकरी में शामिल हुए। उसी नौकरी में यदि वे टिके होते तो सूबेदार के पद तक पहुंचे होते और हम सबको लश्करी वायुमंडल में रहकर उस तरह की जीवन-पद्धति अपनाने की शायद इच्छा हुई होती, ऐसा विचार बहुत बार मन में आया था। फौज के गोरे अमलदार मेरे पिताश्री की अंग्रेजी पर खुश हुए और उनको मुल्की विभाग में नौकरी दिलवायी। पिताश्री कलेक्टर के मुख्य हिसाब-नवीस बने। उनकी नौकरी के अनुसंधान में हम सातारा, बेलगाम, कारवार, धारवाड़ इत्यादि जिलों में रह सके।

तदुपरान्त जिन देशी राज्यों के राजा बालिग नहीं होते, उन राज्यों की व्यवस्था ब्रिटिश देखभाल में चलती थी। फलस्वरूप व्यवस्था संतोषकारक है या नहीं, इसकी तलाश करके अंग्रेज सरकार को रिपोर्ट देने के लिए कभी-कभी मेरे पिताजी की नियुक्ति होती थी। मैं तो अपनी विद्याभ्यास की हानि उठाकर भी प्रवास का लाभ लेने का आग्रही था; इसलिए पिताश्री के साथ सावंतवाड़ी, जत, रामदुर्ग, मिरज, मुधोल, सावनूर

इत्यादि देशी राज्यों की राजधानियों में जाकर वहां की सरकार के आदरणीय अतिथि होकर रहने का मौका हमें मिला। तब देशी राज्य कैसे चलते हैं, जनता की भावना कैसी होती है और अंग्रेज अपनी नीति किस ढंग से चलाते हैं, इसकी सविस्तार कल्पना मुझे सहज मिली।

मेरी मां थी भिसे परिवार की। उन लोगों ने भी किसी जमींदार के यहां नौकरी करके कमाई में से खेत खरीदे और वे गांव के साहूकार बनने जा रहे थे। मेरा बाल्यकाल सतारा में और बेलगाम की तरफ सांगली राज्य के शाहपुर—इन दो शहरों में बीता। शाहपुर में हमारी जाति के लोग साहूकारी करते या व्यापार करते। अंग्रेजी सीखकर सरकारी नौकरी में जानेवाले शायद ही कोई निकलते। इसलिए जाति में हमारी प्रतिष्ठा बहुत अच्छी थी। मेरे पिताश्री अच्छे धर्मनिष्ठ और ईमानदारी के आग्रही थे। उन्हीं संस्कारों में पला हुआ मैं, संस्कृत मंत्र कंठ करके छुटपन से ही भगवान की पूजा करने में सहयोग देने लगा। पिताजी के साथ अनेक यात्राएं भी मैंने कीं। फलस्वरूप रूढ़िनिष्ठ धार्मिक परंपरा के संस्कार मुझे उत्तम मिले हुए थे। साथ-साथ संत-साहित्य पढ़कर और पंढरपुर, गोकर्ण जैसे महत्त्व के तीर्थों में जाकर मैंने अपनी धार्मिकता अच्छी तरह से बढ़ाई थी। धर्मनिष्ठा के पूरे-पूरे लाभ भी मुझे मिले थे।

आगे चलकर कॉलिज में प्रिन्सिपल रेन्गलर परांजपे के प्रभाव में आकर मैं बुद्धिवादी बना। उस विषय का अंग्रेजी साहित्य पढ़कर भगवान पर की मेरी श्रद्धा हिल गयी। फिर भी मेरे चारित्र्य पर बुद्धिवाद का अच्छा ही प्रभाव हुआ। सत्यनिष्ठा, न्यायनिष्ठा और समाज-सुधार का मैं आग्रही बना।

छत्रपति शिवाजी के समय से ही महाराष्ट्र में उत्कट स्वराज्य-भक्ति चली आती थी। दो सौ, तीन सौ साल के उस उज्ज्वल इतिहास के प्रभाव से अंग्रेजों के प्रति मेरे पिताजी की जो 'स्वामिनिष्ठा' थी, उसको मैंने तिलांजलि दे दी। और कॉलेज के दिनों में ही मैं क्रान्तिकारी बन गया—इस हद तक कि मेरे जन्म के वर्ष में ही जिसका जन्म हुआ, उस इन्डियन नेशनल कांग्रेस-जैसी संस्था का भी मैं विरोधी बन गया; क्योंकि वह तो 'ब्रिटिश साम्राज्य के अंदर रहकर प्रजाकीय अधिकार प्राप्त करने का प्रयत्न करनेवाली एक कमजोर संस्था' है, ऐसा मेरा, सकारण, ख्याल था। गांधीजी भारत आये। नरमदल के गोखलेजी को अपने राजनैतिक नेता के रूप में स्वीकार कर, गांधीजी ने कांग्रेस में प्रवेश किया। किन्तु देखते-ही-देखते जब उन्होंने उसी कांग्रेस को पूर्ण स्वराज्य के आदर्श को कबूल करनेवाली एक तेजस्वी संस्था बना दिया, तब उनके उस प्रयत्न में मददरूप होने के लिए मैं कांग्रेस में दाखिल हुआ। फिर भी कांग्रेस चलानेवाले गांधी-भक्तों में भी मैं पूरे दिल से शामिल न हो सका।

यह है गांधी पूर्वकाल का मेरा मुख्य जीवन-वृत्तांत।

गांधी पूर्वकाल में अपने जीवन के मुख्य दो भाग मैं मानता हूं। पहला भाग तो राजनैतिक, क्रांतिकारी आंदोलनों में शामिल होकर गुप्त संस्था द्वारा क्रांति की तैयारी करनेवाला बना। संसार-सुधार के लिए लोक-मत तैयार करने के प्रयत्न को भी इसीमें मैं मान लेता हूं और दूसरा भाग है मेरे आध्यात्मिक विकास का। इसमें छुटपन की भोली, कर्मकाण्डी पूजा, त्योहार, उत्सव, उपवास, यात्राएं वगैरा सब आ जाता है। उसके बाद आया बुद्धिवाद का काल। वह काल था चारित्र्य का आग्रह रखते हुए भी धर्मभावना का विरोध करने-वाला और उसके बाद फिर से वेदांत आधारित धर्मनिष्ठा से प्रारंभ करके, हिमालय में खूब घूमकर धर्मचिंतन ध्यान आदि साधना के द्वारा प्राप्त किया हुआ धर्मानुभाव और सारे जीवन पर छाया हुआ उसका आध्यात्मिक प्रभाव। इस विभाग में स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, रामकृष्ण परमहंस, बाबू भगवानदास, अरविंद घोष और रवीन्द्रनाथ ठाकुर आदि धर्मप्रधान, स्वातंत्र्य-प्रेमी सांस्कृतिक नेताओं के विचार और जीवन का प्रभाव मुख्य है।

२ :: बचपन के संस्मरण

छुटपन के संस्मरणों में से दो-तीन यहां देने को जी चाहता है। मेरी मां घर की नौकरानी को साथ लेकर, अथवा अकेली-अकेली आटा पीस रही है और मैं उसकी गोद में सिर रखकर जमीन पर टांगें फैलाकर मां के गीत सुनता रहता हूं। ऐसा चित्र याद आता है। नौकरानी के साथ मालकिन पीसने को बैठ जाय, इसमें उन दिनों किसीको कुछ बुरा नहीं लगता था। बड़प्पन का ख्याल और मध्यमवर्ग के लोग हाथ से मेहनत न करे, ऐसा गलत विचार उस जमाने में लोगों में घुसा नहीं था। पीसने की गति के साथ गीतों का संगीत एक हो जाता था। उसके प्रभाव में लेटे-लेटे सुनने का विशिष्ट आनन्द न मिला होता तो यह संस्मरण टिक न पाता।

कभी-कभी मेरी दादी के साथ मैं गली के सिरे पर स्थित हनुमान मन्दिर तक जाता। दादी मन्दिर में पुराण सुनने बैठती। अपने राम मन्दिर के आसपास खेलते रहते। बीच-बीच में दादीजी मुझे आवाज देकर विश्वास कर लेती थीं कि मैं कहीं दूर तो नहीं गया हूं। यह भी एक मजेदार संस्मरण है।

तीसरा संस्मरण यह है।

शाम होते ही सरकारी अधिकारियों की पत्नियां सज-धजकर देव-दर्शन के लिए मन्दिर को जातीं, तब हम बच्चे भी साथ जाते थे। यह मन्दिर हनुमान मन्दिर जैसा छोटा नहीं था। पुरोहित आगे आकर भगवान का प्रसाद और चरणामृत देते। छोटे-बड़े सब उसे लेकर मुख पर धन्यता दिखाते, ऐसा स्पष्ट चित्रात्मक संस्मरण मन में आता है।

मैंने एक बार मां से पूछा, "आई, आप मन्दिर जाती हैं, तब अच्छे-अच्छे गहने क्यों पहनती हैं ? और मन्दिर का रास्ता मालूम होते हुए भी चपरासी को साथ क्यों लेती हैं ?" मेरा सवाल सुनकर पहले तो वे मुक्त-कण्ठ से हंस पड़ीं। फिर बोलीं, "दत्तू, देखो, हम अच्छे बड़े मकान में रहते हैं। घर में नौकर-चाकर हैं, यह सारा वैभव भगवान की कृपा से ही तो हमें मिला है। मन्दिर को जाते हैं, तब अच्छे कपड़े पहनते हैं, कीमती गहने पहन लेते हैं और भगवान को सारा दिखाकर कहते हैं कि 'देव-बापा, यह सारी तेरी ही कृपा है। आनन्द से रहते हैं, तुमने बच्चे दिये, सुख-समृद्धि दी, और वैभव दिया, यह तेरी ही कृपा है। भगवान् हमारे हाथों गरीबों का भला होने दो। सभी के आशीर्वाद हम प्राप्त करें, और कभी भी तुझे न भूलें।"

'प्रदर्शन भगवान के सामने करके प्रतिष्ठा और वैभव के लिए भगवान का उपकार मानना चाहिए।' ऐसी-ऐसी बातें करके मां ने अपना समर्थन किया। मेरे लिए तो यह जीवन की पहली दीक्षा सिद्ध हुई। मन्दिर में एकत्र होनेवाले लोग अधिकतर विभिन्न प्रकार की मांगें करते हैं, यह सारा मैंने सुना था। मां के कहने में भगवान के पास से कुछ मांगने की बात नहीं, किन्तु भगवान की कृपा को यादकर, उसका इकरार करने की बात है। यह भेद बहुत वर्षों के बाद मन में स्पष्ट हुआ। लेकिन मन्दिर में जाकर भगवान के उपकार को याद कर उसका स्वीकार करने की बात मेरे मन में जम गयी।

हमारे घर में दोपहर की रसोई का काम ज्यादातर मेरी दादीजी करती थीं। पकाए हुए दाल, भात, सब्जी सारी रसोई भगवान को नैवेद्य के रूप में अर्पित की जाती थी। इसलिए उसमें प्याज या लहसून का निषेध था।

मेरे पिताश्री नौ बजे के आसपास स्नान करके पूजा में बैठ जाते। पूजा के कमरे में जिसे 'देवघर' कहते थे, देव-देवियों की छोटी-छोटी मूर्तियां, शिवजी के स्थान पर लिंग जैसे गोल पत्थर, जिसे बाण कहते हैं, गण-पति के लिए लाल पत्थर, सूर्य नारायण के लिए स्फटिक जैसा पत्थर, देवी के लिए सोनामुखी धातु का टुकड़ा इत्यादि तरह-तरह की चीजें रहती थीं। ठीक बीच में मंगेश महारुद्र (शिवजी) के स्थान पर लकड़ी के आसन

पर एक नारियल रहता, उसकी कुदरती दो आंखें और मूंछ के नीचे छिपा हुआ मुख यह सब देखकर भगवान के सिर की कल्पना आती थी। दो आंखों के बीच का सहज ऊपर के भाग को कपाल समझकर उसपर हम चन्दन का तिलक करते थे। उसपर थोड़ा कुमकुम छिड़कते। दूध, दही, मक्खन, चीनी का शर्बत इत्यादि से मूर्तियों को पंचामृत स्नान करवाते। मेरे पिताश्री वैदिक मंत्रों का उच्चारण करते जाते, कंठस्थ की हुई संस्कृत की पौराणिक रचनाएं भी बोलते जाते, और साथ में पूजा भी करते जाते थे। मेरा यज्ञोपवीत नहीं हुआ था, फिर भी पिताश्री के पास निर्वस्त्र बैठकर, मूर्ति-पूजा में मैं पिताश्री की मदद करता था। पंचामृत स्नान के पश्चात् शुद्धोदक से स्नान करवाना, फिर शुद्ध पवित्र कपड़ों से मूर्तियों को पोंछ लेना, उनकी पूजा पूरी करके नैवेद्य चढ़ाना इत्यादि सभी कार्यों में मैं पिताश्री की मदद करता रहता था। घर में मैं सबसे छोटा था मुझे इस तरह भक्तिपूर्वक भगवान की पूजा में मदद करता देखकर छोटे-बड़े सभी मेरी कदर करते थे। कदर के शब्द सुनकर मैं खुश होता था। मां कहती थी, "इसके बड़े भाई स्कूल जाकर नास्तिक होने लगे हैं, अपना छोटा दत्तू कैसी सुन्दर पूजा करता है। आगे जाकर न जाने क्या-क्या करेगा।"

पूजा के बाद मैं पूजा के नारियल की आंखों में देखता कि भगवान् मेरी पूजा से प्रसन्न हैं, या नहीं ? न जाने किस तरह से बहुत बार तो नारियल की आंखों में प्रसन्नता दीख पड़ती, किन्तु कभी-कभी जरा नाराज हुए हैं, अथवा चिन्तित हैं, ऐसी मन पर छाप पड़ती थी, और फिर सारे दिन की घटनाएं याद करके, मैंने क्या गलती की, क्या बिगाड़ा इसका विचार बाल-बुद्धि के अनुसार करता रहता था।

उन दिनों तो यह सब बाल-मानस का खेल था। आज देखता हूं, कि अन्तर्मुख होकर अपने आचरण और विचारों पर धर्म-बुद्धि चलाकर आत्म-परीक्षण करने की, एक तरह की साधना का, यह शुभारम्भ ही था।

जब मैं बहुत छोटा था, रेलें नई-नई शुरू हुई थीं। उससे पहले बैलगाड़ी में बैठकर सातारा से बेलगांव तक हम गये थे और रास्ते में एक नदी के किनारे दोपहर की रसोई करने के लिए रुके थे। इतने में मां ने कहा, "देखो, इस नदी के प्रवाह में कितने सारे बुलबुले पैदा होकर बहते रहते हैं। यह नदी मासिक धर्म में है। इसलिए इसका पानी इस समय नहीं पीना चाहिए न इसे रसोई में लेना चाहिए। एक पड़ाव आगे चलकर वहीं पकायेंगे और भोजन करेंगे।"

बाल-मानस इसे क्या समझता ? नदी का पानी बिगड़ा है, इतना ही मैं समझ सका। बड़े होने के बाद इस पुराने प्रसंग को यादकर, मन में शंका आयी, नदियों को भी क्या मासिक धर्म हो सकता है ? नदी का पानी बिगड़ा हो, उसे काम में न लिया जाये, यह तो समझनेवाली बात थी। किन्तु मनुष्य जाति के बाल्यकाल में बुद्धि से कल्पना-शक्ति अधिक काम करती है। और उसमें से कितनी ही धर्म भावनायें जागती हैं। मूल में होती है, लोक-धर्म की भावना। बाद में उसको तोड़-मरोड़ कर भी लोग उस शास्त्र का आधार बैठा देते हैं।

रेलगाड़ी जब नई-नई थी, तब लोग इंजिन पर फूल चढ़ाते थे, कुछ नारियल को इंजिन पर चढ़ाते और रेल के डिब्बे में हर तरह के लोग बैठते हैं, इसलिए कई लोग रेल में कुछ नहीं खाते थे। चंद लोग बांस या बेंत की छोटी-सी पेटी में खाना रखकर, ऊनी वस्त्र उस पर लपेटकर साथ रख लेते थे। स्टेशन आने पर नीचे उतर जमीन पर बैठ खाना खाते, नल से पानी पीते, फिर डिब्बे में बैठ जाते थे।

उस जमाने में रेल के डिब्बे में शौच जाने की सुविधा नहीं थी। स्टेशन आने पर लोग उतरकर शौच जाते।

३ :: मां का सिखाया कुटुम्ब-धर्म

मेरी मां ने जिस प्रकार मुझे मेरा धर्म दिया, उसी प्रकार स्पष्ट शब्दों में कुटुम्बियों के प्रति मेरा धर्म भी मुझे सिखाया।

पुत्र का पिता के प्रति क्या धर्म है, यह तो वे अनेक बार मुझे समझाया करती थीं। प्रसंग के अनुसार, एक-एक करके, ये सब बातें मैंने मां के मुंह से सुनी थीं। पिताजी अपने सुख या आराम का कोई विचार किये बिना दिन-रात जो यह सब मेहनत करते हैं, कमाया हुआ धन अपने लिए जरा-सा भी खर्च किए बिना हमारे लिए खर्च करते हैं, हमारी शिक्षा-दीक्षा की इतनी अधिक चिन्ता रखते हैं, हमारे बीमार होने पर जागते बैठे रहते हैं, हमारी प्रगति से संतोष का अनुभव करते हैं और समाज में हमारे लिए स्थान बना देते हैं, यह सब उनका प्रेम है, उनका उपकार है। इसलिए हमें उनकी सेवा करनी चाहिए, उनकी आज्ञा माननी चाहिये, उन्हें जिससे सन्तोष हो, वैसा बर्ताव करना चाहिए। मां के वचन मेरे लिए हमेशा ही प्रमाण होते थे, इसलिए यह सब सहज ही मेरे गले उतर जाता था। परन्तु इन सब वचनों का मुझ पर जो गहरा असर होता, वह इस-लिए कि मेरे पिताजी के प्रति मेरी मां की भक्ति बहुत गहरी थी।

माता-पिता का परस्पर सम्बन्ध पति-पत्नी का होता है, यह उस समय मेरे ध्यान में नहीं आया था, और यह भी मेरे ध्यान में आने का कोई कारण नहीं था कि मेरे पिता के प्रति मां की भक्ति विशुद्ध प्रेम ही है।

एक दिन मैं अपनी मां के साथ एक बगीचे में घूम रहा था। वहां एक असाधारण सुन्दर, खुशबूदार और ताज़ा गुलाब का फूल देखकर मेरी मां का मन ललचा उठा। उन्होंने उसे तोड़कर हल्के से, अंगुलियों में पकड़ लिया और जहां पिताजी बैठे थे, वहां जाकर उन्हें दे दिया। इतनी भक्ति से दिया कि उनकी आंखों में उस भक्ति के तेज को असाधारण रूप से प्रकट होते मैंने देखा। पिताजी ने प्रसन्न होकर वह फूल लेकर उसे सूंघ लिया। मां धन्य-धन्य हो गयीं और खाली हाथ वापस लौटीं। खाली हाथ इसलिए कहता हूं कि मां ने इस स्पष्ट भाव से अपना हाथ लटकता हुआ रखा था कि जो-कुछ मेरे पास देने को था, वह सब दे दिया। मेरा ध्यान उसकी ओर तुरन्त गया। वापस लौटते हुए मां ने मुझसे कहा, "गुलाब का फूल उन्हें बहुत अच्छा लगता है।" इतनी बात कहे बिना मां से रहा नहीं गया, यह भी मैंने देखा।

उस दिन से मैं पिताजी की सेवा और भी अधिक प्रेमपूर्वक करने लगा। पिताजी की कोई छोटी-सी भी सेवा करने का अवसर मिलता तो मैं भी धन्यता का अनुभव करने लगता।

एक दिन मुझे बहुत दुःखद अनुभव हुआ।

पिताजी की बदली हो गई। हम कारवार गये। समुद्र के किनारे का गर्म प्रदेश था। बेलगाम-सतारा की ओर की ठंडी और सूखी हवा में पले हुए हम लोग कारवार की गीली गर्मी से बर्फ के समान पिघलने लगे। सब लोग यही सोचते रहते कि दोपहर कब समाप्त हो और कब सायंकाल की ठंडी हवा मिले। पानी से भरा लोटा रूमाल से मुंह बांधकर उलटा टांग देने की रीति किसी ने बता दी थी, इसी से ठंडे-से-ठंडा पानी पीने को मिल जाता था; पर जितना पानी पीते थे, उतना पसीने के रूप में बाहर निकल जाता था।

रविवार का दिन था। भोजन करने के बाद पिताजी चटाई पर सो रहे थे। हनुमान जिस तरह राम-चन्द्र की भक्ति करते थे, उसी प्रकार मैं खड़ा पिताजी पर पंखा झल रहा था। पंखा झलते-झलते मैं थक गया। खड़े-खड़े मेरे पैर दुःख गये। पंखा चलाते-चलाते हाथ तो थक गया था, परन्तु मेरी भक्ति नहीं थकी थी। पंखा झलता जा रहा था और सोये हुए पिताजी की गहरी सांस सुन-सुनकर संतोष पा रहा था।

इसी बीच बाहर एक स्त्री अच्छी-अच्छी ककड़ी बेचने आयी। कोमल, कुरकुरी ककड़ी देखकर मन में आया कि यदि पिताजी को ऐसी ककड़ी खाने को मिले तो अन्दर से ठंडक पहुंचेगी, शान्ति मिलेगी। मैं इतना बड़ा नहीं था कि अपने मन से ककड़ी खरीद लेता। मैंने पिताजी को जगाया। गहरी नींद से जागने के कारण वे नाराज हुए। उनींदे ही बोले, "कैसा कसाई है तू, जरा सोने भी नहीं देता !"

मेरे दिल को बड़ी चोट पहुंची। क्या करने गया था और क्या हो गया ! मुंह से एक शब्द भी न निकला। उदास होकर खड़ा देखता रह गया। बाद में उन्होंने देखा कि अच्छी ककड़ियां आई हैं। उन्होंने प्रसन्नता से उन्हें खरीदा। चाकू निकालकर उन्हें काटा, उनपर नमक बुरककर और निचोकर उनका कुछ पानी निकाल दिया और पहला टुकड़ा मुझे दिया। मैंने कहा, "नहीं, पहला टुकड़ा आप खाइये।" पिताजी ने कहा, "नहीं, तू खा।" जगाने के बाद वे वस्तुस्थिति समझ गये थे। मेरा उतरा हुआ चेहरा भी उन्होंने देखा था। मुझसे पहले खाने का उनका आग्रह अपनी भूल स्वीकार करने का एक तरीका था। मैं अपनी जिद पर कायम रहा। उन्होंने ककड़ी खा ली। मां के हिस्से की ककड़ी मैंने ले जाकर उन्हें दी। इसके बाद ही मैंने ककड़ी खाई। उस दिन अपने हिस्से की ककड़ी माता-पिता के खाने के बाद खाने में मुझे जो आनन्द हुआ, वह भी मेरा एक धर्मानुभव ही था। मां को मेरी इस प्रकार की वृत्ति बहुत अच्छी लगती थी। वे बड़ी प्रसन्न होती थीं।

मां मुझे हमेशा शिक्षा दिया करती थीं कि जिस तरह लक्ष्मण ने राम की सेवा की थी, उसी तरह तू भी बड़े भाइयों के कहने में रहना। लक्ष्मण के तो एक ही बड़े भाई थे। मेरे हिस्से में पांच थे, और वे सब राम नहीं थे। वे मेरी लक्ष्मण-वृत्ति का खूब लाभ उठाते थे और फिर मुझसे झगड़ते और मुझे मारते थे, सो अलग।

मैं अपना यह धर्म समझता था कि वे मुझे मारें और डांटें-फटकारें तो भी उनके प्रति मेरे प्रेम में कोई कमी नहीं आनी चाहिए, और मैंने अपने इस धर्म को बहुत हद तक निभाया। गोंदू की उम्र लगभग मेरी जितनी ही थी और हम दोनों एक-दूसरे के साथी थे, इसलिए वह मेरे ऊपर बड़े भाई के रूप में रौब नहीं दिखा सकता था। मुझे बहुत सहना पड़ा भाऊ (केशू) के हाथों। वह लहरी, मौजी और शीघ्रकोपी था। अपनी इच्छाओं का दास था। उसके हाथों मैंने बहुत मार खायी और आश्चर्य यह कि उस पर ही मेरी भक्ति अधिक रही। उस समय मुझे ऐसा लगता था कि मैं आदर्श बन्धु-प्रेम के संस्कार प्राप्त कर रहा हूं। आज मैं समझता हूं कि वह एक प्रकार की विकृति थी और गुलामी की वृत्ति का रूप धारण कर रही थी। केशू से विष्णु उम्र में थोड़ा बड़ा था, परन्तु उसके प्रति भाऊ ने लक्ष्मण-वृत्ति नहीं सीखी थी। भाऊ उसकी निन्दा करता था और मुझे भी उस निन्दा में शामिल होने के लिए न्योता देता था। मैं परेशानी में पड़ जाता था, परन्तु करता वही था, जो भाऊ कहता था।

पितृभक्ति और ज्येष्ठबन्धु-भक्ति मैंने अपनी मां से सीखी, परन्तु मातृभक्ति तो मुझे किसी ने सिखाई ही नहीं।

माता को हमेशा 'तू' कहकर पुकारा जाये, जिस चीज की इच्छा हो वह हठपूर्वक मांग ली जाय, अनेक प्रकार से उन्हें सताया जाय, पिताजी मां को डांटें-फटकारें तो निरपवाद रूप से पिता का पक्ष लिया जाय और इस प्रकार मां को और भी दुःखी किया जाय—ऐसी स्थिति में माता के प्रति भक्ति का वातावरण कैसे पैदा होता ? परन्तु यदि मां को जरा-सा भी दुःख होता तो मैं अन्दर-ही-अन्दर इतना व्याकुल हो जाता, मानो अधमरा हो गया होऊं। माता की सेवा करते हुए मुझे असाधारण आनन्द मिलता था। जब मां अपने सुख-दुःख की बातें मुझे सुनातीं तब तो मैं गल-सा जाता, पिघल उठता। उनके प्रति भक्ति नहीं, उत्कट प्रेम ही मेरे हृदय

में विकसित हुआ और वह भी बिना सिखाये। स्वयं मां ने मुझे मातृभक्ति की शिक्षा कभी एक शब्द द्वारा भी नहीं दी। जब मैं पिता का पक्ष लेता तो कभी-कभी वे कहतीं, "आखिर तू भी उनका ही पक्ष लेता है। मेरी लड़की होती तो ऐसा न करती।" मैंने निश्चय कर लिया कि मैं तो मां की लड़की ही बनूंगा।

वैसा मैंने किया, परन्तु जब पिताजी और मां के बीच मतभेद होता तब तो मैं पिताजी के ही पक्ष में रहता। उसमें लड़की बनने की बात मुझे कभी नहीं सूझी।

४ :: जीवदया

मन में एक मंथन चल रहा था कि प्राणियों को मरने से बचाना चाहिए या नहीं, और यदि यह निश्चय हो जाय कि बचाना चाहिए और बाद में बचाना ही एक धन्धा बन बैठे तो क्या किया जाय? ऐसे ही समय हमारे बेलगुंदी के घर में एक बिल्ली ने बच्चे जने। उसके बच्चों को ले-लेकर हम लोग खूब खेलते थे। एक दिन कहीं से एक बड़ा बिल्ला हमारी कोठरी में घुस आया और उसने एकदम झपटकर हमारी बिल्ली के एक बच्चे को पकड़ लिया। मैंने उसे एक लाठी मारी, मगर फिर भी वह बच्चे को ले ही गया। मैं दुःखी और अवाक् होकर वहीं खड़ा रहा। परन्तु हमारे नारायण मामा बड़े जोशीले थे। उन्होंने चिल्लाकर मुझसे कहा, "दत्तू, दौड़। इस बच्चे को हम अभी भी बचायें।" मैं उठूं इसके पहले ही उन्होंने बिल्ले का पीछा किया और इधर-उधर दौड़कर उसे घेर लिया। बिल्ले ने बच्चे को छोड़ दिया और खुद अपनी जान लेकर भाग गया।

बिल्ला सिर्फ अपने प्राण बचाकर भाग गया होता तो कोई हर्ज नहीं था, परन्तु उसने बच्चे को छोड़ने के पहले उसकी गरदन पर इतने जोर से काट लिया था कि वह लगभग निष्प्राण हो गया। मामा ने उसे जिलाने का बहुत प्रयत्न किया, परन्तु कोई आधा घंटा वेदना भोगकर वह मार्जारों के वैकुंठलोक को प्रयाण कर गया।

मामा उठे तब मैंने मन-ही-मन अपने आपको तरह-तरह से धिक्कारा। मामा का रजोगुण कैसा समर्थ है कि उन्होंने बिल्ले का पीछा किया, बच्चे को बचाने के लिए इतना कष्ट उठाया! मैं तो जहां-का-तहां बैठा रहा। मामा चिल्लाये तो मैं दौड़ा जरूर और बिल्ले को पकड़ने में मदद भी थी, परन्तु वह मेरी स्वयं-भू प्रेरणा थोड़े ही थी!

बाद में जब बच्चा मर गया तो दूसरे ढंग से विचार चलने लगे। बच्चे की आखिरी चीख सुनते ही मुझे रामा की 'चान्नी'[1] याद आ गई। इस बच्चे को बचाने का प्रयत्न करके हमने क्या पाया? बच्चा तो मर

१ कोंकणी भाषा में 'चान्नी' गिलहरी को कहते हैं।

रामा लेखक महोदय के ममेरे भाई का नाम था। जब सभी बच्चे थे, एक दिन उसने एक गिलहरी पकड़ी और घर के सब बच्चे उसे घेरकर उसके उछलने-कूदने का आनन्द लेने लगे। गिलहरी जिधर से निकलने का प्रयत्न करती, उधर ही किसी-न-किसी को खड़ा देखकर लौट पड़ती। इस प्रकार वह घेरे के बीच में ही उछलती-कूदती रही। सब बच्चों को जब इसमें खूब आनन्द आ रहा था, ठीक उसी समय एक चील झपट्टा मारकर गिलहरी को उठा ले गयी। उस समय गिलहरी ने मर्मवेधी चीख निकाली. उसने उस बालवय में लेखक के हृदय पर गहरा आघात किया। बाद में चील उसे लेकर एक ऊंचे वृक्ष की फुनगियों पर जा बैठी और उसे काट-काटकर खा गई। सब लोग असहाय होकर उस दृश्य को मार्मिक वेदना के साथ देखते रहे। उस दृश्य ने लेखक के हृदय के घाव को स्थायी बना दिया। —अनु०

ही गया। इसीलिए मन में विचार उठा कि कुदरत की व्यवस्था में दखल देने से कोई लाभ है क्या ? अगर मैं बिल्ले को समझा सकता कि बच्चे को नहीं मारना चाहिए तो बात अलग थी। बिल्ला चूहे को खाय, यह समझ में आने लायक बात है। यह उसका भोजन है। परन्तु वह बिल्ली के बच्चे को खाता नहीं, मारकर फेंक देता है, तो फिर वह मारता किसलिए होगा ? प्रकृति ने उसे जो यह वृत्ति दी है उसके पीछे क्या हेतु होगा ? इस प्रकार के विचार करता-करता मैं परेशान हो उठा। कोई ठीक जवाब नहीं मिला, इसीलिए समय-समय पर ये विचार उठते ही रहे। जीवन और मरण प्रकृति का खेल है। चूहा हमें सताता है, इसलिए हम घर में बिल्ली पालते हैं। बिल्ली जब चूहे को खाती है तो हम दिल की भूतदया को भोथरी करके खुश होते हैं। वही बिल्ली जब अपने बच्चे को मारती है तो हम अनाथ की सहायता को दौड़ पड़ते हैं, और जब वह पक्षी को मारती है तो हमारे काव्यात्मा का हनन होता है, और जब वह बिल्ली मनुष्य के बच्चों को नाखून मारती है तब—? मेरे पिताजी जब बहुत छोटे थे तब एक दिन पालने पर एक बिल्ली ने झपटकर उनकी नाक और गाल के बीच के भाग में, आंख के नीचे, पंजा मार दिया था। उसकी निशानी उनके मुख पर सारी जिन्दगी रही। उसीसे मेरे विचारों ने यह दिशा पकड़ी थी।

कोचरब (अहमदाबाद) के सत्याग्रह आश्रम की बात है। स्वामी सत्यदेव आश्रम के मेहमान थे। रात होने पर दीये के आसपास कीड़े इकट्ठे हो जाते थे। बहुत से गंधाते भी थे। इन कीड़ों को खाने के लिए छिपकलियां आती थीं। कीड़ों को बचाने के लिए हम छिपकलियों को भगा देते थे। सत्यदेव को यह ठीक नहीं लगता था। वे कहते, "छिपकली कीड़ों को पकड़ती है तो उसे देखने में कितना मजा आता है।" एक बार उनकी खड़ाऊं के नीचे दबकर एक छिपकली मर गयी तो उन्हें दुःख हुआ—जीवहत्या का नहीं, लेकिन उपयोगी छिपकली के मर जाने का !

किसी ने सारी बात बापूजी से कही और जीवों को बचाने की चर्चा छेड़ दी। बापूजी ने जो जवाब दिया, उसके लिए मैं तैयार नहीं था। उन्होंने कहा, "सभी प्राणियों को बचाने का हमारा धर्म नहीं है। छिपकली कीड़ों को खाती है, यह क्या इससे पहले मैंने कभी नहीं देखा ? छिपकली अपनी खुराक ढूंढ़ती है इसमें—अर्थात् प्राकृतिक व्यवस्था में—दखल देने का मैंने अपना कर्तव्य नहीं माना। इन जानवरों को हम स्वार्थ के लिए या शौक के लिए पालते हैं उनको बचाने का धर्म हमने अपने ऊपर लिया है इससे आगे जाना हमारे लिए संभव नहीं है।"

बापूजी के इस जवाब पर हमने आपस में खूब चर्चा की। किशोरलालभाई ने फैसला दिया, "मन तटस्थ अथवा उदासीन हो, तब बचाने का प्रयत्न न किया जाये। जीव को बचाने की वृत्ति जाग्रत हो, दयाभाव उमड़े, तब उसे दबाने की अपेक्षा जीव को बचाने का यत्न करना ही अच्छा है।" किशोरलालभाई की वृत्ति मेरे जीवन-सिद्धान्तों के साथ मेल खाती थी, इसलिए उनका निर्णय स्वीकार करके मैं शान्त हो गया। उसके बाद जीवों के सवाल ने मन में किसी भी प्रकार की अस्वस्थता पैदा नहीं की। बचपन से जाग्रत हुआ जीवास्था और जीवदया का यह सवाल इस प्रकार शांत हुआ। हल हुआ, ऐसा कहने का मन नहीं होता।

५ :: मेरे भाई-बहन

हम थे छह भाई । मैं सबसे छोटा था। हमारे बीच में एक ही बहन थी। वह थी नंबर तीन। वह मेरे बचपन में ही गुजर गयी। मैंने उस आक्का के बारे में 'स्मरणयात्रा' में लिखा है।

अपने पांचों भाइयों के बारे में मैंने 'स्मरणयात्रा' में कुछ-कुछ लिखा है, इसलिए यहां ज्यादा लिखना जरूरी नहीं, किन्तु एक बात का उल्लेख किये बिना चारा नहीं। मेरा चौथा भाई केशु स्वभाव से उग्र था। प्रेम से मुझे अपनाता भी, और चिढ़ जाये तब मुझसे चुटकी ले और मार भी मारे। उसका स्वभाव मैं समझ सकता था, और उसके प्रति किसी भी हालत में निष्ठा रखने में मैं धन्यता का अनुभव करता था। मेरे स्वभाव की इस खासियत का रहस्य मैं अभी भी समझ नहीं पाया हूं। भाऊ (केशू) के प्रति मेरी निष्ठा संभालने के लिए मैंने पिताजी के प्रति पुत्र की निष्ठा से भी किनारा किया है। भाऊ के पास से मुझे कुछ भी विशेष मिलता हो, ऐसा भी नहीं था। वह केवल शुद्ध निष्काम आंतरिक-निष्ठा ही थी।

चर्चा करने में सबसे बड़े भाई को विशेष रस था। वे थे संस्कृत के विशेष प्रेमी, लेकिन हमारे घर में वेदांत दाखिल किया मेरे दूसरे भाई अण्णा ने। वे वेदांत बहुत पढ़ते थे। उस अतिवाचन के कारण ही वे वेदांत के प्रभाव से मुक्त हुए, ऐसा हम मान सकते हैं। व्यवहार तो वे अच्छी तरह पहचानते थे। बी० ए० होकर नौकरी में गये। अच्छा कमाया। पिताजी से और घर से अलग होने की व्यावहारिक स्वार्थ-बुद्धि भी उनमें थी।

मेरी माताजी में सामाजिकता ज्यादा थी। घर में आनेवाले अतिथि-अभ्यागतों को खिलाना, घर में आनेवाली पुत्रवधुओं को बेटियों की तरह रखना, और इस विषय में समाज के लोगों, खास करके अपनी जाति के लोगों से, अपनी प्रशंसा सुननी, यह था उनका सबसे बड़ा आनन्द। और लोग भी कैसे ! मेरी मां की यह कमजोरी पहचान कर टीका करने लायक कुछ-न-कुछ ढूंढ़ ही निकालते थे मात्र चिढ़ाने के हेतु से, और ऐसा कुछ सुनने में आ जाये तो मां बड़ी दुःखी हो जाती थीं।

मेरे पिताजी को अपने परिवार के बाहर किसी चीज में रस नहीं था। भोजन के बाद यदि पान का बीड़ा तैयार करके उन्हें दिया तो जल्दी के कारण, जेब में रख देते थे और कभी उसे खाना भूल भी जाते थे।

मुझसे बड़ा भाई गोविन्द, बचपन में बीमार रहता था। इसलिए वह मां के पास सोता था और मैं पिताजी के बिस्तर में, उनकी पीठ की तरफ अपनी पीठ करके सोता था।

पुत्र का मुख्यधर्म है मां-बाप की सेवा, छुटपन से यह मैं जानता था। इसलिए दोनों की सेवा करने में मुझे अखंड आनंद और धन्यता का अनुभव होता था। इस कारण से, और सबसे छोटा होने के कारण भी मुझे माता-पिता दोनों का प्रचुर प्रेम मिलता रहा। पिताजी को प्रेम के शब्द बोलने की आदत न होने से शाब्दिक प्रेम की मुझे जरूरत ही नहीं पड़ी। पिताजी का सहवास भी सबसे ज्यादा मुझको मिला। आगे चलकर अपने सुख-दुःख की बातें भी, पिताजी बिना किसी संकोच के मेरे साथ करते थे और जब मैं बड़ा हुआ तब मेरी सलाह भी लेते थे। इस धन्यता के कारण मुझे असाधारण पोषण मिलता रहता था।

मेरे भाई सब पढ़ाई के लिए पुणे जाकर रहे थे। कुछ दिन मेरी मां भी, अपनी बहुओं को लेकर, उन बेटों के लिए पुणे जाकर रही थीं। उस समय मैं भी वहीं था।

नौकरी के लिए पिताजी को नये-नये स्थान पर रहना पड़ता। तब माता-पिता के साथ मैं अकेला ही रह जाता। नयी जगह जाने पर मां की सेवा तो मैं ही करता था। मां को स्नान करने में मदद करता, और उनके बाल बना देता। कई बार मां कहतीं, "दत्तू तो मेरा बेटा नहीं, बेटी ही है।"

घर में मैं सबसे छोटा था, परन्तु जैसे मां और पिताजी अपनी भावनाएं मेरे सामने खुले दिल से व्यक्त करते थे, मेरा अभिप्राय भी पूछते थे, उसी तरह मेरी उम्र जरा बढ़ने के बाद मेरे भाई और भाभियां भी अपने-अपने सुख-दुःख की और अनुभव की बातें मेरे सामने करने लगीं और मेरे अभिप्राय की चर्चा भी होने लगी। फलस्वरूप सामान्य संस्कारी हिन्दू घरों के अन्दर वायुमण्डल से और उसमें से उठते प्रश्नों के साथ मेरा अच्छा परिचय हो गया। हिन्दू आदर्श और हिन्दू घर की परिस्थिति दोनों के उत्कट अनुभव के कारण समाज-विज्ञान के शास्त्र में मैं आगे चलकर सहज और उत्तम प्रवेश कर सका।

मेरे बचपन में पिताजी के साथ छोटे-छोटे राज्यों की राजधानियों में रहकर वहां के राजदरबारी वातावरण, राज्य चलाने की पद्धति, राजाओं के बारे में प्रजा के मन में सिखाई हुई मध्यकालीन राजभक्ति, और सारे वायु मण्डल में गरीबों की दुर्दशा होते हुए भी समाज में कहीं भी असन्तोष या असमाधान नहीं—यह सारा देश-दर्शन गहरा था। ठोस था। लेकिन इसके बारे में उन दिनों चिन्तन नहीं चला था। आगे चलकर जब स्वतन्त्रता, समता और बन्धुता के फ्रेंच आदर्श का परिचय हुआ तब अपनी संस्कृति की मध्यकालीन सुन्दरता को भी मैं समझने लगा, मध्यकालीन संस्कृति की कदर भी मैं करने लगा और साथ ही साथ गरीबों की परेशानी से अधिक उनकी अपमानास्पद स्थिति के बारे में मन में चिढ़ भी आने लगी। यह सारा चिन्तन पिताजी के साथ की हुई देशी राज्यों की यात्राओं के कारण ही हो सका।

इस अनुभव का एक दूसरा असर हुआ, जो मेरे लिए भी आश्चर्यजनक था।

देशी राज्यों में, राजाओं के जीवन अधिकतर विलासी थे। राजा लोग अपनी रानियों की प्रतिष्ठा को खूब संभालते थे। उनके प्रति आदर भी दिखाते थे, राज-दरबार में उनको मिलने वाली सहूलियतें और प्रतिष्ठा में कोई कमी नहीं आने देते थे, और फिर भी, रानी को सच्चे पति-प्रेम से वंचित रहना पड़ता, और तुच्छ दासियां अथवा चरित्रहीन स्त्रियां राजा के हृदय पर कब्जा जमा लेतीं इस तरह की बातें सुनने पर मुझे बहुत दुःख होता था।

राज-दरबार में पुरानी तमाम कलाओं की कदर होती थी, कलाकारों को प्रोत्साहन मिलता था दरबार में उनका स्थान स्थिर रहता, यह सब अच्छा लगता था, किन्तु कला रसिकता के साथ जब अशोभनीय विलासिता दीख पड़ती थी तब मन अस्वस्थ होता था और इस परिस्थिति को कैसे सुधारा जाय, ये विचार भी मन में आने लगे।

देशी राज्यों में आदरणीय मेहमानों की आवभगत भी अच्छी होती है। एक जगह हम गये तब घर के बर्तन मांजने के लिए दरबार की ओर से नियुक्त एक दासी आ पहुंची। उसकी पोशाक और उसके नखरे देखकर मेरी मां ने तुरन्त उसे निकाल दिया और दरबार में कहलाया कि हमें ऐसे किसी नौकर की आवश्यकता नहीं है। मुझे बहुत मजा आया। दरबार के अलग-अलग विभागों में थोड़ी चर्चा भी मैंने सुनी। वे लोग हमारे बारे में आपस में कहते थे, "नये आये हुए ये अधिकारी औरों के जैसे नहीं हैं, कुछ अलग ही लगते हैं।" मेरे पिताजी के सामने घूस या रिश्वत की बात करने की तो किसी की हिम्मत ही नहीं होती थी। सामान्य मेहमान-नवाजी स्वीकारने में पिताजी को कोई आपत्ति नहीं थी, किन्तु सब तरह से कड़ी दृष्टि रखकर किसी अशोभनीय चीज को पास आने ही नहीं देते।

मेरा एक शौक पिताजी ने चलने दिया। रोज शाम को सैर के लिए दरबार से एक घोड़ागाड़ी भेजी जाती थी, उसमें बैठकर दरबार के किसी कारकून के साथ राजधानी में और उसके आसपास अच्छे-अच्छे स्थान देखने के लिए हम खूब घूमते। एक जगह घोड़े जरा तेजस्वी थे, व्यवस्थापक ने माफी मांगी और कहलाया,

"कल अच्छे घोड़े लाएंगे।" मैंने कहलवाया, "नहीं, नहीं, तेजस्वी घोड़े ही मुझे पसन्द हैं।" क्या करते बेचारे ! मान गये।

बिलकुल बचपन में हमारे घर में पिताजी कुलदेव की विधिवत् पूजा करते थे। मन्दिरों में भी भगवान की विधिवत् पूजा चलती थी। मंदिरों में भी भगवान की विधिवत् पूजा चलती थी। वहां पंच पकवान का नैवेद्य, संगीत, नृत्य, कथा-कीर्तन सारा देखकर मेरी धार्मिकता को तुष्टि मिलती। पूज्य व्यक्तियों की जिस तरह से सेवा करते हैं, उसी तरह भगवान की पूजा होती। उसमें मेरी धार्मिकता को तुष्टि मिलती। लेकिन जब मैंने देशी राज्यों के दरबारों का वायुमण्डल देखा तब वहां की कला-विलासिता और खुशामद देखने के बाद मंदिरों की पूजा के बारे में जो मेरा भक्तिभाव था सो टिक नहीं सका। देव भी तो विलासी राजाओं के जैसे ही रहते हैं और देवियों के साथ मौज करते हैं, ये सब मुझे चुभने लगा।

फिर मैं सोचने लगा कि हम भगवान का ध्यान करें, यह तो ठीक है, लेकिन पूजा किसलिए करनी चाहिए। भगवान को पसीना तो होता नहीं। उनको स्नान कराने की क्या जरूरत ? पुजारी को यदि पंच पकवान खाने हों तो वह भले ही खायें। भगवान के सामने क्यों वह सारा धरना चाहिए ? इसलिए अब ध्यान तक जाने की मेरी तैयारी है। ध्यान के लिए मूर्ति या छवि अनिवार्य नहीं है, किन्तु उसकी उपयोगिता कुछ लोगों के लिए मान्य हो सकती है लेकिन पूजा तो अब मुझे बच्चों के खेल के जैसी लगती है। देशी राज-दरबारों का वायुमण्डल देखने के बाद नये विचारों का प्रारम्भ हुआ। उसके बाद के विचार स्वतंत्र हैं, किन्तु प्रारम्भ की बात यहां लिख दी है।

६ :: मेरी पढ़ाई

सामान्यतः बच्चों को जब स्कूल भेजते हैं तब वे पढ़ते हैं नाम कमाने की दृष्टि से। अच्छे नम्बर मिलें, परीक्षा में पास हो जायं, नीचे की कक्षा में से ऊपर की कक्षा में जाकर बैठ सकें, अपनी प्रगति देखकर सगे-संबंधी और इष्ट मित्र खुश हों और हमारी प्रशंसा करें। इन सारे प्रोत्साहन के कारण विद्यार्थी को उस उम्र में पढ़ने की प्रेरणा मिलती है।

इन सारी बातों का मेरे मन पर असर नहीं होता था, ऐसा नहीं है, किन्तु अधिकतर मैं लापरवाह ही रहता था। घर में पढ़ता, अध्यापक हमें जो काम सौंपते उसको अच्छी तरह कर ही लेता, फिर भी मेरी पढ़ाई ज्यादातर शिक्षक कक्षा में जो सिखाते, उसको रसपूर्वक सुनने में ही पूरी होती थी। ध्यानपूर्वक सुनना मुझे अच्छा लगता। गणित के उदाहरण में भी उसी तरह मुझे गणितानन्द मिलता। यही मेरी पढ़ाई की ठीक प्रेरणा थी।

एक दिन भाई ने पूछा, "माना कि तुम्हें गणित में रस न आया, और तुम गणित में फेल हो गये, और तुम्हारा एक वर्ष खराब हो गया, तो तुम क्या करोगे ?" मैंने कहा, "तो घर बैठूंगा। किसने कहा है कि पढ़ना ही चाहिए। रस है, इसीलिए तो पढ़ता हूं।"

और इसीलिए मैंने कभी इच्छा नहीं की कि मुझे ऊंचा स्थान मिले, स्कॉलरशिप मिले या स्कॉलर के तौर पर मेरी प्रतिष्ठा हो। परीक्षा नजदीक आये तब रूक्ष विषय को भी हाथ में लेकर उसमें रस पैदा करके जैसे-तैसे पास हुआ। गणित के बारे में मुझे कोई मुश्किल नहीं थी। भाषा और गणित दोनों में मुझे रस था।

कॉलिज के पहले वर्ष में रोम के इतिहास में कोई रस नहीं था; किन्तु पढ़ते-पढ़ते उसमें भी रस आने लगा। सारा इतिहास पढ़ लिया। परीक्षा में ३३ प्रतिशत के अंक मिले ही होंगे, क्योंकि मैं पास हो गया। फिर वर्षों बाद रोमन कानून पढ़ा, तब रोमन इतिहास भी फिर से पढ़ लिया। आज मैं मानता हूं कि उस इतिहास के बिना मेरी पढ़ाई अधूरी रह जाती।

जिसको परीक्षा की पड़ी न हो, डिगरियां मिलें न मिलें, यह बात जिसके लिए एक जैसी हो, 'रस है' इसीलिए जो पढ़ता हो, उस आदमी को जैसे संस्कार मिल सके, वैसे संस्कार प्राप्त कर मैंने कॉलेज का अभ्यास पूरा किया। भगवान ने मुझे विद्याध्ययन की अभिरुचि पूरी-पूरी दी है। मैं चाहता तो लोकोत्तर विद्वान हो सकता, परन्तु ऐसा कुछ मैं सोचनेवाला न था। सभी विषयों में मुझे रस था, लेकिन वह जीवन तक सीमित था और जीवन का रस आत्मानन्द था। फलस्वरूप मैं अपने को बहुश्रुत कह सकता हूं, विद्वान नहीं।

इसी कारण से गांधीजी के आश्रम का जीवन-रस मैंने पूरा-पूरा प्राप्त किया। आश्रम के आदर्शों को पूरे हृदय से अपने में पनपने दिये। किन्तु समाज के सामने एक बड़े आश्रमवासी नेता के तौर पर प्रसिद्धि पाने की मेरी कोई इच्छा नहीं थी। मेरी पद्धति से मुझे स्वयं सम्पूर्ण संतोष मिला, इसलिए इसमें मुझे कोई अफसोस नहीं है। समाज के सामने मैं प्रथम कोटि के साधक के रूप में मशहूर नहीं हुआ, इसकी मुझे परवाह नहीं है। किन्तु आदर्श आश्रमवासी को जो आंतरिक उन्नति मिलती है, वह मुझे मिली है। यह समाधान मेरे लिए काफी है, फिर भले ही लोग मुझे अल्प सन्तोषी मानें। मैं अल्प सन्तोषी नहीं हूं, इतना आत्म-विश्वास मेरे लिए पर्याप्त है।

७ :: शिक्षा के द्वारा क्रांति की तैयारी

"अंग्रेजों के शासन में रहना लज्जास्पद है। उस राज को तोड़कर स्वतन्त्र होना ही है।" ऐसे विचारों की चर्चा बहुत छुटपन में हम तीनों भाइयों के बीच अनेक बार होती थी। ऐसे विचार कहां से आये, यह खोजने का प्रयास करता हूं, लेकिन उनका उद्‌गम नहीं मिलता।

पिताजी के पास से तो ऐसे विचार हमें नहीं मिले थे, उन्होंने देश का इतिहास कभी पढ़ा भी हो, ऐसा मुझे नहीं लगता। नौकरी शुरू की तब से एक सर्व-सामान्य विचार अपनी संस्कृति में सर्वत्र फैला हुआ मैं देखता हूं। "जिनकी नौकरी करते हैं, उनके प्रति वफादार रहना ही चाहिए।" ये विचार पिताजी में मैं स्पष्ट देखता था। अंग्रेज लोग विदेशी हैं, उनका वंश अलग, धर्म अलग, इस देश में राज करने का उनका अधिकार क्या ? ऐसे विचार समाज में सुनाई देते थे। उनका विरोध भी कोई नहीं करता. ये विचार हवा में थे; स्वाभाविक लगते थे, किन्तु उनको स्वीकार करना चाहिए, अंग्रेजों का राज्य हटाने के लिए कुछ करना भी चाहिए—ऐसा वायुमण्डल उन दिनों समाज में था ही नहीं। मेरा जन्म हुआ तब सन् १८५७ की प्रवृत्ति और हार को तीस साल भी हुए न थे, तो भी अंग्रेजों का राज्य कायम ही है और लोग उसके आदी हो गये हैं, ऐसे ही विचार सारे वातावरण में फैले थे। "राज्य-कर्त्ता विदेशी हैं, विधर्मी हैं, मन में आये सो करेंगे ही, हमारे हित का ख्याल उनके मन में आवे कहां से ?" ऐसे विचार लोग प्रकट जरूर करते थे, लेकिन उसके बारे में कुछ करने की वृत्ति कहीं नहीं दीख पड़ती थी। बड़े भाइयों के पास में भी स्वतन्त्रता के विचार सुने नहीं थे। स्कूल जाना, पढ़ाई करना, क्योंकि पढ़ने से ही नौकरी मिलेगी, और जीने के लिए या तो मनुष्य खेती करे, व्यापार करे अथवा

नौकरी करे, इससे ज्यादा विचार कहीं से सुनने को नहीं मिलते।

ऐसे वायुमण्डल में न जाने कहां से, घर के हम तीन लोग मानो सभा में बैठे हों, इस तरह से "अंग्रेज सरकार का राज्य तोड़ना ही चाहिए।" इस तरह के विचारों की चर्चा आपस में करने लगे। आश्चर्य तो यह है कि ऐसे विचार दिमाग में आये कहां से ?

समाज में अनेक जातियां हैं। अपनी जाति अलग। दूसरी जातियों का मानो समाज ही भिन्न। उनके यहां जाने का कारण ही नहीं। साथ खाना-पीना नहीं। जैसा जाति-भेद वैसा ही धर्म-भेद। मुसलमानों की भी एक जाति ही तो है। गोरों के पीछे-पीछे चलनेवाले देशी टोपीवालों की भी एक जाति अलग—इतना हम समझे हुए थे। विशेष भेद ध्यान में लेने की जरूरत नहीं थी।

ऐसी हालत में राज्य विदेशियों का है, उसकी चिढ़ किसी में दीखती नहीं थी। अंग्रेजों के खिलाफ गुप्त संस्था चलानी चाहिए, लोगों में असंतोष फैलाना चाहिए, ऐसा हम मानते थे, उसकी चर्चा भी करते, किन्तु ये थे सारे ऊपर से ओढ़े हुए विचार। हमारे देश पर अंग्रेजों का राज्य हो यह हमारा बड़ा अपमान है, यह अनुभव हमें उत्कटता से नहीं हो रहा था और अंग्रेजों का राज्य हमें असह्य नहीं हो गया था।

ये विचार तो कॉलेज में जाने के बाद, पुणे के वायुमंडल में सर्वप्रथम जाग्रत हुए, ऐसा मुझे लगता है। तब तक तो एक सर्वभौम विचार प्रचलित था कि "पढ़-लिखकर सरकारी नौकरी प्राप्त कर लेनी है।" खैर, कालेज के जिस विचार ने सर्वप्रथम जड़ पकड़ी वह था कांग्रेस-विरोधी। कांग्रेस में सब देशभक्त भले ही हों, किन्तु अंग्रेजों का राज्य अपने भले के लिए, ईश्वर की इच्छा से यहां आया है,"उनके साथ थोड़ी दलीलें करके प्रजा के लिए ज्यादा अधिकार प्राप्त करने चाहिए।" ऐसा मानने वाले अच्छे-अच्छे लोग भी थे। यहां के लोगों को अंग्रेजी राज्य अच्छा लगता है, किन्तु राज्य के सरकारी कामों से जनता में जो थोड़ा-बहुत असंतोष है वह दूर करें, पढ़े-लिखों को अच्छी नौकरियां देने से सब ठीक चलेगा, ऐसा मानने वाले अंग्रेज भी हैं। उनके सहयोग से लोगों को ज्यादा अधिकार दिलवाने चाहिए और ऐसा करने के लिए अंग्रेजों को अपनी वफादारी का भरोसा उत्पन्न होना चाहिए, इस तरह के विचार कांग्रेस फैलाती है और स्वतन्त्रता के विचारों को पनपने नहीं देती। अंग्रेजी राज्य को हटाने के लिए प्रजा में असंतोष बढ़ाने का काम मुख्य है, ऐसा माननेवाले पक्ष में मैं शामिल हो चुका था। इसलिए कांग्रेस का विरोध करना, यह हमारा मुख्य काम था।

क्या करना चाहिए, इसकी प्रकट चर्चा नहीं होती थी। लड़ना चाहिए, लड़ाई की तैयारी करनी चाहिए, इतना कहने वाले लोग भी बड़े देशभक्त माने जाते। समाज में राजनैतिक विचारों के अनुसार एक पक्ष को 'जहाल' और दूसरे पक्ष को 'मवाल' कहते थे। जहाल पक्ष के नेता थे लोकमान्य तिलक। उनकी राजनीति मुझे पसंद थी, लेकिन उनकी समाजनीति तनिक भी पसंद न थी। नरम पक्ष के लोग समाज-सुधार का अच्छा प्रचार करते। उसका महत्त्व मुझे जंचता था। समाज-सुधार के बिना सारा समाज एक हो नहीं सकेगा, उसमें तेजस्विता आयेगी नहीं, इस विचार का प्रचार मैं जोश से करने लगा।

लोकमान्य तिलक अंग्रेजों के खिलाफ असंतोष बढ़ाने का काम तो अच्छी तरह करते हैं, किन्तु स्वातंत्र्य का प्रचार जोश के साथ नहीं करते, यह असंतोष उनके खिलाफ हमारे मन में था।

इसलिए मैं नासिक के सावरकर की गुप्त संस्था में शामिल हुआ। देखा कि वहां गुप्तता कहीं मिलती न थी। केवल विचार फैलाने का ही काम हो रहा था। बहुत हुआ तो थोड़ी पिस्तौलें और रिवॉल्वर इकट्ठी करके दो-चार अंग्रेजों का खून करने से क्या फायदा ? उस समय से कहता आया हूं कि अंग्रेज कायरों की औलाद नहीं है। दो-चार और पांच-दस अंग्रेजों का खून करने से वे भाग नहीं जायेंगे, उल्टा वे भयंकर हो जायेंगे। एक तरफ तो वे सामान्य जनता को खुश करते जायेंगे, नरम दल के लोगों को अच्छी-अच्छी नौकरियां

देंगे और राजनैतिक हत्या करनेवाले लोगों को क्रूरता के साथ कुचल डालेंगे। तदुपरान्त सारे ही प्रकट जीवन को नष्ट करने के लिए सख्त कदम उठायेंगे। इससे अंग्रेजों के प्रति असंतोष बढ़ने के बदले, दंगा करनेवाले और अंग्रेजों को मार डालने वाले मुट्ठी-भर लोगों के कारण सारे देश पर दमननीति फैलेगी और प्रजा में क्रांतिकारी देश-भक्तों के प्रति अरुचि फैलेगी। देश कार्य के लिए जनता प्रकट सहायता तो दे नहीं सकती किन्तु वह खानगी ढंग से देशभक्तों को पैसे खुशी से देती है, इस वातावरण का भी अंत हो जायेगा। लोग हमको नजदीक आने ही न दें, हमसे डरने लगें, ऐसा वायुमंडल खड़ा करके हमें क्या मिलने वाला है ?

सच तो हमें गुप्त रहकर लड़ाई की तैयारी करनी चाहिए। हम में से कई लोग कहते थे कि गुप्त काम के वास्ते पैसे एकत्र करने के लिए सरकारी खजाना लूटना चाहिए। लेकिन यदि हम ऐसा करेंगे तो हम जनता में अप्रिय हो जायेंगे। लोग हमारा हृदय से द्वेष करने लगेंगे। पुलिस में हमारे खिलाफ शिकायतें करेंगे। फिर लड़ाई का वायुमंडल हम कैसे तैयार कर पायेंगे ? यह थी मेरी दलील। हमारे अंदर के मतभेद बढ़ते गये। जनता में विचार-प्रसार करने से पहले हमारी गुप्त संस्था में विचार-शुद्धि और निश्चित योजना तैयार करके उसको कार्यान्वित करने के पीछे ज्यादा शक्ति खर्च करनी चाहिए, ऐसा मुझे लगता था।

जेल-जीवन मोल लेना अथवा फांसी जाने को तैयार होना, इसके लिए भी तैयारी होनी चाहिए, साथ-साथ आम जनता को अभयदान भी देना चाहिए, ऐसे-ऐसे विचार गुप्त मंडल के लोगों के सामने मैं रखता था। फिर नासिक के कलेक्टर जंक्सन की हत्या हुई। बिहार में और बंगाल में बम फूटे। देश में जो थोड़े गुप्त क्रान्तिकारी दल थे, वे प्रकट हो गये और हमें अनुभव हुआ कि हमारी तैयारी नहीं के बराबर है, जबकि अंग्रेजों की तैयारी, सोचा था उससे हजारगुना ज्यादा थी। अब क्या करना ? यह विचार मन को परेशान करने लगा। और देशी राज्य में रहकर भी कुछ करना शक्य नहीं है, ऐसा पूरा अनुभव होने के बाद और बड़ोदरा का राष्ट्रीय शिक्षा का हमारा काम भी सरकार की ओर से अशक्य हो जाने के बाद मैंने हिमालय का रास्ता लिया।

कालेज में जाने से पहले, क्रांति के बारे में मेरे विचार कच्चे थे। कालेज में दाखिल होने के बाद ही समान विचार के लोगों के साथ विचार-विनियम करने का मौका मिला। इतनी भव्य संस्कृति के वारिस हम विदेशियों की गुलामी कैसे सहन कर सके और मुक्त होने के प्रयत्नों में बार-बार हमें हार क्यों मिली। इस बात का चिन्तन हमारे लोग नहीं करते, ऐसी शिकायत मैं अनेक बार करता और फिर भी साथियों के मन पर जरूरी असर नहीं होता, यह थी मेरी उलझन। मेरी बातों में शायद कुछ दोष होगा। मेरे विचार ही मुझे यहां पेश करने चाहिए। लेकिन यह आसान नहीं है। इसलिए अनुभव और उत्कट चिन्तन के फलस्वरूप उस समय के विचारों ने जो अन्तिम स्वरूप लिया, वही यहां पेश करूंगा। चिन्तन और अनुभव का क्रम दिखाने का मेरा तनिक भी आग्रह नहीं है।

हमारे देश में चार वर्णों की व्यवस्था को लेकर देश का रक्षण, और देश की राज्य-व्यवस्था क्षत्रिय वर्ण को ही सौंप दी गई है। परिणाम यह हुआ कि बाकी के लोग गफलत में ही रहे। रोटी-बेटी व्यवहार की मर्यादा के कारण हरएक समाज अलग ही है, ऐसी मान्यता लोकमानस में रूढ़ हुई है। राजा हार जाये और विदेशी लोग यहां आकर राज करें तो पूरे समाज को इसका ज्यादा बुरा नहीं लगता था। विदेशी राजाओं की ओर से जब धार्मिक जुल्म होता था तभी जनता अकुलाती। धार्मिक स्वतन्त्रता कायम रहते हुए राजद्वारी परतन्त्रता लोगों को खास चुभती नहीं थी। यदि ऐसा न होता तो मुट्ठी-भर विदेशी लोग करोड़ों के राष्ट्र को पराजित नहीं कर सकते, और विदेशियों के राज्य यहां मजबूत भी नहीं होते।

हमारे यहां धर्म-जीवन की शिक्षा उत्तम विकसित हुई थी और जनता में उसका प्रचार भी अच्छी तरह

हुआ था।

किन्तु पुराने धर्म-ग्रंथों पर से यह नहीं लगता कि देश-रक्षा के बारे में और राज्य-व्यवस्था के बारे में सामान्य जनता को अच्छी शिक्षा मिली हो। चाणक्य का अर्थशास्त्र, कामन्दकीय नीतिशास्त्र इत्यादि ग्रन्थ हमारे पास हैं। रामायण, महाभारत में भी राज्य-शासन और प्रजा-धर्म के बारे में विचार-विवरण मिलता है। जो है, सो अच्छा है, किन्तु देश की पूरी क्षत्रिय कौम को देश-रक्षा और देश-शासन के बारे में पूरी शिक्षा मिलती हो, ऐसा यकीन नहीं। इस बारे में जो साहित्य है, वह धर्म को ही नजर में रखकर लिखा गया है।

विदेशी आक्रमण के सामने सब राजा एकत्र होकर लड़ें और सारी प्रजा भी क्षात्र-धर्म को स्वीकार करे, इस तरह का उपदेश उत्कटता से दिया हुआ कहीं दिखाई नहीं देता। बहादुरी से लड़ना, शत्रु को पीठ नहीं दिखानी, इत्यादि उपदेश सफल हुए थे और क्षत्रिय लोग पूरे-पूरे बहादुर थे यह तो स्पष्ट है।

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गम् जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।

इस किस्म के उपदेश से सारी क्षत्रिय कौम में बहादुरी का विकास हुआ था, जो आज भी है, किन्तु अपने इन क्षत्रियों ने विदेशियों का राज्य मजबूत करने में सहयोग दिया ही है। आज भी राजस्थान में क्षत्रिय जाति युद्ध में, और आपस में लड़ने में बहादुरी दिखाती है और उसी राजस्थान में ब्राह्मण-वैश्य जैसी जातियां जैन धर्म की अहिंसा का उत्कर्ष भी बताती हैं।

अब हमें असंख्य छोटी-छोटी जातियों का बन्धन तोड़कर, रोटी-बेटी व्यवहार की बिन जरूरी मर्यादाएं छोड़कर संसार-सुधार के आगे बढ़ना चाहिए। केवल राजनैतिक क्रान्ति करेंगे और सामाजिक जीवन में तो रूढ़िवादी रहेंगे, इस तरह की नीति चलाकर हमें कभी क्रान्ति में सफलता नहीं मिलेगी। ऐसे मेरे विचार हमारी गुप्त संस्था में मैं साथियों के सामने रखने लगा।

उस जमाने में हिन्दू-मुस्लिम एकता का सवाल हमारे मन में तीव्र हुआ नहीं था। शिवाजी के समय का महाराष्ट्र का इतिहास हम लोगों ने अभिमानपूर्वक पढ़ा हुआ था, इसलिए, "मुसलमान तो अपने विरोधी ही रहेंगे" ऐसे विचार मन में जोर करते थे। किन्तु इसलिए हिन्दू, ख्रिस्ती, यहूदी, पारसी इत्यादि लोगों के साथ हमें मिलना-जुलना चाहिए, उनमें स्वराज्य के लिए फना होने की वृत्ति और एकता उत्पन्न करनी चाहिए, केवल हिन्दुओं का संगठन करके तमाम गैर-हिन्दुओं को दूर रखकर किया हुआ हमारा हिन्दू-संगठन आत्मघाती होगा। इस तरह के विचार का मैं प्रचार करता था। मैंने देखा कि सामान्य जनता में उत्कट देशभक्ति की कदर है, क्रान्तिकारी लोगों को, हो सके इतनी मदद कर देनी चाहिए, ऐसी भी लोगों की इच्छा है। कोई क्रान्तिकारी देशभक्त संकट में आ पड़ा हो तो उसे बचाने के लिए, सरकारी नजर से उसे छिपाने के लिए चाहे जैसा जोखिम मोल लेने अनेक लोग तैयार होते। गुलामी के प्रति तिरस्कार और आजादी के लिए उत्कट भक्ति की भावना लोगों में है। इतना होते हुए भी व्यवहार के सामने लोग हार जाते हैं। क्रान्तिकारी लोगों के साथ खुल्लम-खुल्ला मिलते वे डरते हैं और सारा समय व्यवहार में ही डूबे रहते हैं। स्वातंत्र्य प्राप्त करने के लिए राष्ट्रीय उत्थान चाहिए। लाखों लोगों में तेजस्विता का संचार होने की आवश्यकता है, ऐसा वातावरण तो तैयार हो सकता है। लेकिन विदेशी राज्य-व्यवस्था की पकड़ को पदच्युत करने के लिए जो राष्ट्रीय जोश जरूरी है, वह केवल हमारे गुप्त आन्दोलन से सिद्ध नहीं होगा।

गुप्त आन्दोलन करनेवाले अपने को गुप्त रखने की साधना भी साध नहीं सकते। स्वातन्त्र्य-प्राप्ति के लिए जो तैयारी चाहिए, उसका हजारवां तो क्या, लाखवां हिस्सा भी हम कर नहीं कर पाये हैं। तब आगे कैसे बढ़ सकें, इसकी चिन्ता लगभग निराशा की हद तक पहुंच गई थी। स्वामी विवेकानन्द का वेदान्त, रामकृष्ण-मिशन, डा० भगवानदास का सर्व-धर्म-अध्ययन, रवीन्द्रनाथ का काव्यमय जीवनतत्व-ज्ञान, लोकमान्य तिलक

की प्रेरणा से आई हुई राष्ट्रीय जागृति, श्रीअरविन्द घोष की योगिक शक्ति—ये सारी चीजें प्रेरक और प्रोत्साहक थीं। फिर भी सारे राष्ट्र का तुरन्त उत्थान करने की आवश्यकता को पहुंच सके, ऐसी कोई संस्थागत प्रवृति दिखाई नहीं देती थी। कभी-कभी निराश होकर मैं कहता कि राष्ट्र-व्यापी दूध का क्रान्तिकारी दही बनाने के लिए जो जामुन चाहिए सो तो अपने पास है। किन्तु जिसका दही हो सके, ऐसा दूध ही जनता में नहीं है। उसका क्या करना, उसको कहां से लाना ? यही थी मेरी उलझन।

एक ही छोटा-सा, किन्तु निर्णयात्मक उदाहरण देता हूं।

दिल्ली दरबार के समय सयाजीराव ने थोड़ा-सा स्वाभिमान दिखाया, इतने भर से उनको दबा देने के लिए ब्रिटिश नीति आगे आई। कुछ थोड़ा काम हो सके, इस लोभ से देशी-राज्य में, बड़ौदा में हम लोग गंगनाथ विद्यालय चलाते थे। उसके नियामक-मण्डल में गायकवाड़ी राज्य के कई बड़े-बड़े अधिकारी थे। मुख्य नेता तो बैरिस्टर केशवराव देशपाण्डे थे। उन्होंने तो अपनी नौकरी से इस्तीफा दे दिया। लेकिन सब नियामकों ने गंगनाथ बन्द करने का निर्णय किया। उस वक्त मैंने कहा भी, "चाहे आप सब नियामक निकल जाएं, संस्था का नया मकान तैयार हुआ है सो हमको दें या न दें, आपके आश्रय के बिना ही हम गंगनाथ विद्यालय चलायेंगे। संस्था को जीवित रखने के लिए जरूरी पैसे जनता देगी। हम गंगनाथ विद्यालय बन्द नहीं करेंगे।"

इतना जोर तो मैंने दिखाया, किन्तु जनता में ऐसी घबराहट फैली हुई थी कि एकमात्र रामदासी सेवक अनन्त बुआ भरडेकर ही मेरे साथ रहने को तैयार हुआ, बाकी किसी कार्यकर्ता की हिम्मत न पड़ी। मैंने कहा, "दो तो दो, अथवा ढाई शिक्षक लेकर भी गंगनाथ चलायेंगे। संस्था बन्द क्यों की जाय ?"

मैंने जोर तो किया, किन्तु परिस्थिति मुझे सयानापन सिखाना चाहती थी। गंगनाथ के विद्यार्थियों में से एक भी विद्यार्थी विद्यालय में रहने को तैयार न हुआ। कई विद्यार्थी घर के गरीब थे, उनका खाने-पीने का खर्च भी संस्था देती थी। उनके संरक्षक सरकारी नौकर भी नहीं थे। फिर भी अंग्रेज सरकार का उग्र रुख देखकर भले थोड़े ही समय के लिए किन्तु जनता ऐसी सहम गई थी कि गरीब विद्यार्थी भी संस्था में रहने को तैयार न हुए। ऐसे अनुभव के बाद हमारे विद्यार्थी यदि राजकीय सरकारी स्कूलों में दाखिल होना चाहें तो राज्य की ओर से उसमें कोई मुश्किल उत्पन्न नहीं की जायेगी, इस तरह की विनती करने के लिए मुझे सरकारी विद्याधिकारी को मिलने जाना पड़ा। यह तो मेरे लिए बड़ा मर्माघात था। मैं हार गया, और हिमालय में जाकर आध्यात्मिक साधना करने का मैंने निर्णय किया। बेलगाम जाकर पारिवारिक उलझनें सब दूर कीं। यह भी एक बड़ा प्रकरण था। पत्नी को और बच्चे को मेरे ससुर के यहां रखकर उनके खाने-पीने की सब व्यवस्था की और "हिमालय की यात्रा को जा रहा हूं" इतना ही कहकर निजी और सार्वजनिक जीवन का अंत कर दिया। राष्ट्रमत के दिनों के मेरे साथी स्वामी आनन्द कब से हिमालय में पहुंच गये थे। उनको मैंने लिखा कि मैं सब प्रवृत्तियों से मुक्त हो गया हूं। भगवान के पास से नयी प्रेरणा प्राप्त करने के लिए हिमालय आ रहा हूं। प्रयाग, बनारस और गया त्रिस्थली जाकर माता-पिता का श्राद्ध किया। कलकत्ता जाकर रामकृष्ण मिशन के नेताओं से मिला। अनन्त बुआ मेरे साथ थे, उनके संतोष की खातिर हम अयोध्या पहुंचे। यों सब तरह से मुक्त होकर स्थायी रूप में हिमालय का रास्ता लिया और जीवन का एक हिस्सा पूरा किया।

८ :: हिमालय और उसके बाद

जैसा कि ऊपर कहा गया है, बचपन के पिछले धर्मानुभव के बाद बुद्धिवाद, संशयवाद और नास्तिकता आई। यह भी उपयोगी ही साबित हुई। इसी तरह आत्मिक साधना की पूरी धुन लगने के पहले देश को आजाद करने के लिए उत्कट निष्ठा और समाज-सुधार की लगन मुझ में उत्पन्न हुई। यह भी नयी साधना के लिए अत्यन्त उपयोगी साबित हुआ। यदि ऐसा न होता तो मेरी साधना पुराने ढंग से चलती रहती और उसमें पुरानी रूढ़ियों की कृत्रिमता भी आ जाती। अमुक शक्तियां जिसे चमत्कार कहते हैं भी मुझ में प्रकट हों ऐसी इच्छा भी जाग्रत होती। फलस्वरूप भविष्य की सेवा के लिए मैं निकम्मा हो जाता और आध्यात्मिकता में भी जो नई गहराई आई है, सो नहीं आती।

जैसा कि मैंने मेरी पुस्तक 'हिमालय की यात्रा' में लिखा है देश दर्शन, प्रकृति की भव्यता और समाज-निरीक्षण—ये तीन चीजें मेरे साथ न होतीं तो मैं या तो टूरिस्टों के जैसा छिछला रहता अथवा हिमालय के कई पुराने ढंग के साधकों की तरह हिमालय का मेरे ऊपर कोई प्रभाव न हो पाता, और फिर तो हिमालय में रहनेवाले और सामान्य लोगों को शारीरिक आंखों से न दीखनेवाले योगियों की और अवतारी पुरुषों की बातें कहते रहने में ही हिमालय के जीवन की कृतार्थता मैंने मान ली होती। उस-उस समय मुझे जो-जो सुविधाएं मिलीं वे सब मानो ईश्वर की योजना के अनुसार ही हो रहा है, ऐसा समझकर मैंने लोगों को पुराने ढंग में ही ढाला होता।

हिमालय में मैंने क्या-क्या देखा ? जो देखा उसके साथ जो आनंद का अनुभव किया, उसकी बातें मैंने उस पुस्तक में लिखी हैं। वहां क्या साधना की, वह मुझे, भले थोड़े में, अलग पुस्तक में देना बाकी है। इसलिए 'स्वराज्य-संकल्प' की पूर्ति के लिए मैं वापस आया, इतना कहकर उसके बाद के जीवन की थोड़ी बातें यहां देना चाहता हूं।

उत्तर तरफ की मेरी उस साधना के बारे में मैंने कहीं थोड़ा कुछ लिखा है। आखिरी यात्रा नेपाल की थी। पाण्डव-काल से लेकर अबतक नेपाल का और तिब्बत का सम्बन्ध कैसा रहा, यह मैं जानना चाहता था। उस समय का इतिहास हमारे लोगों ने लिखकर नहीं रखा है, और पौराणिक काल की बातें हम जानते भी नहीं। नेपाल की तरफ की भाषा में और भूटान की भोट भाषा में जो साहित्य मिलता है उसका संशोधन होने के बाद शायद हमें बहुत-सी ऐतिहासिक तथा अन्य बातें यथार्थ रूप से जानने को मिलेंगी। और तब हम पुराने इतिहास पर नव-प्रकाश डाल सकेंगे। मैं नेपाल तो गया, किन्तु खोजरनाथ जा नहीं सका, उसकी ग्लानि मुझे अब भी है। मैं नहीं मानता कि आज मैं खोजरनाथ जाऊं तो वहां की पुरानी हकीकत अब मुझे मिल सकेगी।

मैंने नेपाल-यात्रा पूरी की तभी हिमालय का पर्व पूरा हुआ, ऐसा मैं मानता हूं। मैंने अपना मानस बदलकर सांस्कृतिक स्वराज्य का चिंतन शुरू किया और उस हेतु से रामकृष्ण मिशन में और शान्तिनिकेतन में कुछ समय बिताया। श्रीअरविन्द घोष के पास नहीं जा सका, क्योंकि वे गुप्तरीति से पांडिचेरी जाकर वहां स्थिर होने की तैयारी कर रहे थे। यदि मैं रामकृष्ण मिशन में दाखिल हुआ होता तो विधिवत् संन्यास ले लेता। तब तो स्त्री-पुत्रों को साथ लेकर रहने का सवाल ही नहीं उठता। रामकृष्ण मिशन के अध्यक्ष स्वामी ब्रह्मानन्द (पूर्वाश्रम के राखाल राजा) के साथ थोड़ा-सा सम्बन्ध ही हो पाया था। इसलिए मैंने मान लिया कि वे मुझको तुरन्त संन्यास की दीक्षा देंगे, किन्तु उन्होंने तीन साल उम्मीदवारी करने के बाद संन्यास देने की बात की। इसलिए मैं खूब यात्रा कर सका और मेरे विचारों में बहुत परिवर्तन हुआ। इस परिवर्तन को लेकर मैं शान्तिनिकेतन गया।

स्वामी विवेकानन्द के संन्यस्त जीवन का और उनकी लोक-सेवा का उत्तम प्रभाव मेरे मन पर था, फिर भी इस संस्था का स्वरूप और असंख्य संन्यासियों की रूढ़ियां इत्यादि देखकर संन्यास आश्रम के बारे में मेरे मन में बहुत आग्रह नहीं रहा। मुझे लगा कि स्त्री-पुत्रों के प्रति मेरा जो कर्तव्य है और राष्ट्र-सेवा के लिए जो वायुमण्डल मैं चाहता हूं उसका विचार करते मेरा भगवे वस्त्र धारण न करना ही ठीक होगा।

गंगनाथ के समय के ढंग का नहीं, किन्तु मेरे परिपक्व विचार के आग्रह के अनुसार नई राष्ट्रीय शिक्षा आरम्भ करने का संकल्प उठा, और मैंने अपने जीवन की दिशा उस तरफ मोड़ ली।

उसी समय शान्तिनिकेतन में गांधीजी से भेंट हुई। उससे पहले गांधीजी के दक्षिण अफ्रीका के लोगों के साथ—फीनिक्स पार्टी के साथ अच्छा परिचय हुआ। इस तरह से मानो मेरे भाग्य ने अथवा मेरे जीवन-स्वामी ने मुझे गांधी-कार्य के साथ बांध दिया।

सन् १९१५ के प्रारम्भ के महीनों में मुझे तीन परिबल एक-से महत्त्व से खींच रहे थे।

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ने शान्तिनिकेतन में मुझ से कहा कि शान्तिनिकेतन में आप स्थायी रूप से जुट जायें। आप पसन्द करेंगे, उस स्थान पर शान्तिनिकेतन में आपके लिए झोंपड़ी बनवा दूंगा और शान्तिनिकेतन के स्थायी व्यवस्थापक आपको नियुक्त करूंगा। उन्होंने कहा था, "मेरे पास चाहिए उतने बंगाली विद्वान हैं। और ज्यादा को बुला भी सकता हूं, इसलिए सिर्फ पढ़ाने की दृष्टि से मुझे किसी को बुलाना पड़े ऐसा नहीं है, लेकिन जो थोड़े महीने आपने यहां शान्तिनिकेतन में काम किया है, वह देखकर तथा शान्तिनिकेतन का रसोईघर, विद्यार्थियों का वायुमण्डल सब ध्यान में लेकर आपको मैं स्थायी व्यवस्थापक बनाना चाहता हूं, यदि आप यहां आना स्वीकार करें।" अन्य सब अध्यापकों की तरह मैं भी वृक्ष के नीचे विद्यार्थियों के वर्ग लिया करता था। श्री ऐन्ड्रयूज ने मेरे काम का निरीक्षण किया होगा। गुरुदेव से मैंने सुना कि ऐन्ड्रयूज की राय मेरे लिए अच्छी है।

गुरुदेव जैसे विश्व-विख्यात कवि की ओर से ऐसा आमंत्रण मिलने पर किसको हर्ष नहीं होगा और मेरे मन में गुरुदेव शिक्षा-शास्त्री की हैसियत से सामान्य मनुष्य न लगे। वे प्रभावी शिक्षा-शास्त्री हैं, यह तो मैं पहचान सका था।

मैंने गुरुदेव से कहा, "मैं सहर्ष शान्तिनिकेतन में शामिल हो जाऊं। पहली बार जब इस बात का उल्लेख हुआ तब मैंने कहा था कि आप नहीं जानते, किन्तु मैं शादी-शुदा हूं, मेरे दो छोटे बेटे भी हैं। उन लोगों को सदा के लिए त्यागकर मैं हिमालय गया था। वह मेरी साधना पूरी हुई। अब यदि मैं शान्तिनिकेतन में आकर रहूं तो मुझे पत्नी को और बच्चों को साथ रखना पड़ेगा। उसके जवाब में ही गुरुदेव ने कहा था, शान्तिनिकेतन की भूमि पर आप चाहें वहां मैं झोंपड़ी बनवा दूंगा।

जब उन्होंने शान्तिनिकेतन में शामिल होने के लिए पक्का आमंत्रण दिया तब मैंने जो उत्तर दिया वह यहां देने योग्य है। मैंने कहा, "हरिद्वार में आर्य-समाज का गुरुकुल चलता है। उसे चलानेवाले लोग गरीब हैं। केवल जनता की मदद से इतनी बड़ी संस्था वे चला रहे हैं। सरकार से सहायता नहीं मांगते। यहां शान्तिनिकेतन के पीछे आप जैसे धनी जमींदार का आधार होते हुए भी शान्तिनिकेतन में आप बच्चों को कलकत्ता की मैट्रिक के लिए तैयार करते हैं, इसलिए इस संस्था में दाखिल होने में मन में कुछ संकोच-सा रहता है।"

गुरुदेव एक क्षण में मेरी बात समझ गये। उन्होंने कहा, "आप विधु शेखर बाबू से मिलें। इसी भूमि पर 'विश्व-भारती' नाम की नई संस्था चलाने जा रहे हैं। उसमें दाखिल होते आपको कोई संकोच नहीं होगा।"

ये सब बातें गांधीजी शान्तिनिकेतन में आये, उन्हीं दिनों की थीं। गांधीजी जब दुबारा शान्तिनिकेतन आये तब उन्होंने मुझ से कहा, "मैं आया हूं, अब मेरा आश्रम खोलूंगा। हमारी फीनिक्स पार्टी में आप अच्छी तरह से घुल-मिल गये हैं। आप मेरे आश्रम में आ सकते हैं।"

उस समय मैंने कोई उत्तर नहीं दिया, किन्तु गुरुदेव के पास जाकर कहा, "आप जानते हैं कि अपना हृदय मैं आपको दे चुका हूं। आपकी शिक्षा-प्रवृत्तियां मुझे अच्छी लगती हैं। आपके साथ काम करने का मैंने लगभग स्वीकार कर लिया है, किन्तु अब मेरा मन गांधीजी के प्रति आकर्षित हो रहा है। इसका कारण सरल भाव से कहना चाहता हूं। बड़ौदा की हमारी संस्था जब बन्द हुई तब निराश होकर मैं हिमालय गया, वहीं हमेशा के लिए रह सकता था, किन्तु स्वराज्य का संकल्प मुझे वापस खींच लाया। आपके यहां रहने में मुझे हर तरह का सन्तोष रहेगा, किन्तु मैं मानता हूं कि गांधीजी आपसे जल्दी स्वराज्य ला सकेंगे, इसीलिए उनके यहां जाने की इच्छा होती है।"

उदारता से और प्रसन्नतापूर्वक गुरुदेव ने मुझे अशीर्वाद दिया। वर्षों के बाद मैंने सुना कि बापूजी ने गुरुदेव से मेरी मांग की थी और गुरुदेव ने जवाब में कहा था, "दत्तात्रेय बाबू की सेवा मैं आपको उधार दे सकता हूं।" फिर तो मैं गांधीजी के आश्रम में पुराना हो गया। एक समय अहमदाबाद में गुजराती साहित्य परिषद हुई और उसमें सम्मानित मेहमान के तौर पर रवीन्द्रनाथ ठाकुर को आमंत्रित किया। वे आये और चार दिन आश्रम के मेहमान रहे। तब हंसते-हंसते गुरुदेव ने बापूजी से कहा, "मैंने दत्तात्रेय बाबू की सेवा आपको उधार दी थी, वह वापस करने की आपकी इच्छा नहीं दीखती।" और दोनों खिल-खिलाकर हंस पड़े। यह बात भी मुझे वर्षों के बाद मालूम हुई।

शान्तिनिकेतन और गांधी-आश्रम, इन दो आकर्षणों की बात मैंने की। तीसरा आकर्षण भी मेरे लिए जबर्दस्त था।

हिमालय और शान्तिनिकेतन के आकर्षण को पूरा करके मैं जब गुजरात आया, तब स्वाभाविकतया बड़ौदा के पास सयाजीपुरा जाकर केशवराव देशपाण्डे से मिला। उन्होंने मुझे अपने पास रहने का आमंत्रण दिया और ग्रामवासी जनता की सेवा करने का काम सूचित किया।

हिमालय जाने से पहले उनके हाथ के नीचे मैंने गंगनाथ विद्यालय में काम किया था। मेरे क्रान्तिकारी विचार और शिक्षा का आग्रह—दोनों कारणों से मैं केशवराव का आदमी बन गया था और खास बात तो यह कि गंगनाथ बन्द होने के बाद हिमालय जाने से पहले केशवराव के पास से देवी उपासना की दीक्षा मैंने ली थी, और हिमालय के आध्यात्मिक वातावरण में वह उपासना चलाई भी थी। वह मेरे दीक्षा-गुरु थे। उनका काम करने के लिए मैं मना कैसे कर सकता था, इसलिए वहां रह गया।

योगायोग से उसी साल कांग्रेस बम्बई में हुई। उसके लिए पूज्य बापूजी आये थे। प्रार्थना-समाज के पास मारवाड़ी विद्यालय में वे ठहरे थे। मैं रोज उनसे मिलने जाता और घण्टों वहां बैठा रहता। एक दिन बापूजी अपने डेस्क पर बैठकर आये हुए पत्र पढ़ रहे थे, मैं जरा दूर बैठा था। वहां महात्माजी के सबसे बड़े पुत्र हरिलाल मुझसे पूछने लगे, "काकासाहेब शान्तिनिकेतन में आप हमारी फीनिक्स पार्टी में घुलमिल गये थे और जब पूज्य बापूजी वहां आये तब आप उनके इतने करीब आये कि हम सबने माना था कि बापूजी के आश्रम खुलने पर सबसे पहले आप ही उसमें दाखिल हो जाएंगे। कितना आश्चर्य है कि अबतक आप वहां नहीं पहुंचे।" मैंने कहा, "आपकी बात बिलकुल सही है, किन्तु हिमालय जाने से पहले जिनके साथ मैं काम करता था वे बैरिस्टर देशपाण्डे ग्रामसेवा कर रहे हैं। उनको मेरी सेवा की आवश्यकता है, इसलिए वहां रहा हूं। अब आप ही कहिए कि मैं पुराने बॉस को छोड़कर नया बॉस करने जाऊं और देशपाण्डे साहब को नये

सेवक ढूंढने पड़ें, यह कुछ ठीक होगा ? इसीलिए बापूजी के प्रति मेरा चाहे कितना उत्कट आकर्षण हो, मैं केशवराव को छोड़ नहीं सकता।"

पूज्य बापूजी ने हम दोनों का संवाद सुना, वे खुश हुए उनसे रहा न गया। मुझसे कहा, "काका, तुम्हारी बात सोना-मुहर जैसी है। देश के सब सेवक ऐसी निष्ठा रख सकें तो स्वराज्य दूर नहीं।"

बात वहां समाप्त हो गई। मैं मन में फूला न समाया। स्वयं गांधीजी ने मेरी कदर की, इससे ज्यादा मुझे क्या चाहिए ? कांग्रेस समाप्त हुई, बापूजी आश्रम गये और मैं बड़ौदा।

किन्तु मेरा भाग्य मुझे कैसे छोड़े ? बापूजी ने अहमदाबाद से देशपाण्डे साहब को पत्र लिखा। उसमें लिखा था, "आपके पास काका हैं, आप उनका कोई विशेष उपयोग करते हों, ऐसा नहीं लगता। आश्रम में हम एक शाला चलना चाहते हैं, इत्यादि इत्यादि।"

इस तरह से बापूजी ने केशवराव से मेरी मांग की। केशवराव ने मुझे बापूजी का पत्र दिखाया और पूछा, "क्या विचार है तुम्हारा ?" मैंने कहा, "इसमें मुझे सोचने का कुछ है ही नहीं। मैंने तो अपनी सेवा आपके चरणों में अर्पित की है। गांधीजी ने आपको लिखा है, आप जाने और बापूजी जाने।"

केशवराव ने कहा, "इतने महान पुरुष मांग कर रहे हैं और आश्रम में भी राष्ट्रीय शिक्षा का काम है। गंगनाथ में आप काम करते ही थे। बापूजी के आश्रम को भी गंगनाथ समझ लीजिये और जैसे यहां राष्ट्रीय शिक्षण का कार्य करते थे वैसे वहां कीजिये।" मुझे तो सोचने का था ही नहीं। गांधीजी के आश्रम के लोगों के साथ तो मैं पहले से घुलमिल गया था। इसलिए एक दिन मुझे लेकर केशवराव बड़ौदा से अहमदाबाद गये और उन्होंने मुझे बापूजी को सौंप दिया।

यह बात आगे चलकर मैंने महादेवभाई से कही, तब उन्होंने कहा, "पिता जैसे बेटी का कन्यादान करते हैं, उसी तरह आप बापूजी को अर्पित हुए।" शान्तिनिकेतन, सयाजीपुरा की ग्रामसेवा और गांधी-आश्रम इन तीन तरह के आकर्षणों का इस तरह अन्त आया। गुरुदेव ने मेरे बारे में बापूजी को जो ताना दिया था, वह तो बाद की बात है। 'गुजरात साहित्य परिषद' की तारीख देखने से उसका पता लग सकता है।

६ :: मेरा वैवाहिक जीवन

एक बहन और छह भाइयों में मैं सबसे छोटा था, इसलिए बिलकुल छोटी उमर से घर के वायुमण्डल से अच्छी तरह परिचित था। जीवन के बारे में मैं कुछ भी समझ सकूं, इससे पहले मेरे दो बड़े भाई बाबा और अण्णा के ब्याह हो चुके थे। उन दोनों की पत्नियां मुझे घर के बच्चे के तौर पर नहलातीं, खिलातीं, प्यार करतीं और धमकाती भी थीं। दूसरे भाई विष्णु की शादी हुई, तब उसे घोड़े पर बैठकर बारात में जाते देखा था उसका स्मरण है। चौथा केशू का लग्न हुआ। उसकी पत्नी रमा मेरी ही उमर की थी। हम बच्चे भाई-बहन की तरह खेलते और शाम को कहानियां कहते।

मेरे सब भाइयों के मुकाबले में मेरी शादी कुछ बड़ी उमर में हुई। मैं सोलह या सत्रह साल का रहा हूंगा। शादी के बाद तुरन्त गृहस्थाश्रम शुरू करना तो अशक्य ही था। पत्नी उमर लायक भी नहीं होती और एक ही घर में एकत्र रहते हुए भी पति-पत्नी आपस में बात नहीं कर सकते थे। चोरी से बोलना तक नहीं मिला।

१९०२ के जेठ महीने में मेरी शादी हुई। १९०३ में मैट्रिक पास कर १९०४ में कालेज गया।

बचपन से मैं एक तरफ ईश्वर-भक्त और कर्मनिष्ठ और दूसरी तरफ रूढ़ियों का विरोध करनेवाला। घर में मैं बड़ों का आदर रखता, फिर भी पत्नी के साथ खुल्लम-खुल्ला बोलने की भी इच्छा होती। मेरे साथ बोलने की हिम्मत पत्नी तो नहीं कर सकती, किन्तु मैं उसके साथ क्यों न बोलूं ? मैंने एक अच्छा रास्ता ढूंढ़ निकाला।

घर में पिताजी और मां की अधिक-से-अधिक सेवा करनेवाला मैं था। जब पत्नी आ गई, तब सास-ससुर की सेवा करने का काम उसका हो गया, तब मां और घर की दूसरी बहनों की उपस्थिति में मैं पत्नी से सीधा सवाल पूछता, "स्नान के लिए मां तैयार है ? पानी रखा है ? मां के कपड़े तैयार रखे हैं ?" पिताजी के कार्यों में भी ऐसे ही सवाल पूछता रहता। घर के बड़े लोग मुझ पर हंसते। गृहस्थाश्रम तो अभी शुरू भी नहीं हुआ और अपनी पत्नी के साथ बोलने लगा। बेचारी पत्नी शर्म के मारे पानी-पानी हो जाती। लेकिन जब सबने देखा, सिर्फ मां-बाप की सेवा के सम्बन्ध में ही प्रश्न पूछता है, सूचना देता है, अन्यथा पत्नी के साथ नहीं बोलता। मातृ-भक्ति और पितृ-भक्ति के कारण इतनी हद तक ही पुरानी रूढ़ियां इसने तोड़ दी हैं, बाकी संयम में यह किसी से भी कम नहीं है, तब मेरी मजाक एक-दो बार ही हुई, सो हुई फिर तो मेरा हक सबको मान्य हो गया। पत्नी भी बिना कुछ बोले सिर हिलाकर जवाब देती, "सब ठीक है।"

समाज में मेरी उमर के युवक-युवतियों को जब मेरी इस हिम्मत का पता चला तब वे मेरी प्रशंसा करने लगे। "आप चतुर निकले। मां-बाप की भक्ति आगे करके पत्नी के साथ बातें करने का हक प्राप्त कर लिया।" मैं भी खुश होकर कहता, "प्राप्त किया, इतना ही नहीं, उस पर अमल भी करता हूं।"

उसके बाद दूसरी तरह से पत्नी के साथ बात करने को जी चाहे तब उसको नहीं, किन्तु भाभी को मैं सब बातें बताने लगा। वे हंसी में कहतीं, "हमसे क्यों कहते हैं ? आपकी पत्नी यहां खड़ी है, उससे सीधा कहिये। मैं सिर्फ हंस देता। फिर भी भाभी द्वारा मैं तो सूचना ही दे सकता था। कुछ काम रह गया हो तो उसकी ओर ध्यान खींचता। कभी-कभी जरा-सी चिढ़ भी व्यक्त करता। मेरे पास से किसी तरह के स्नेह के शब्द तो कैसे मिलते ? एक दिन मेरे ध्यान में आया कि वह हमेशा कुछ उदास-सी दीखती है। इसका क्या इलाज ? एक दिन मुझे सूझा, भोजन के बाद मैं इलायची ले रहा था। एक ज्यादा ले ली और मेरे कमरे की ओर जाते-जाते इलायची के दाने निकालकर उसके हाथ में रखकर चल दिया।

उसके बाद मैंने देखा कि उसके चेहरे पर प्रसन्नता दीख रही है। एक दिन आंगन में कुर्सी पर मैं बैठा था आपपास कोई नहीं था। जाते-जाते हिम्मत बटोर कर उसने कह दिया, "इलायची के उन दानों ने आपके प्रेम का मुझे भरोसा दिलाया। अब भले ही जीवन में कितने ही संकट आयें मुझे उनकी परवा नहीं।" जीवन में उसका यह पहला ही वाक्य था, इसलिए याद रह गया है। मेरे पिताजी को अंग्रेज सरकार की नौकरी में, कई बार देशी राज्यों में जाना पड़ता। राजा छोटा हो, तब उसका राज्य कैसा चल रहा है, उसकी रिपोर्ट भी पिताजी सरकार को देते।

माता-पिता के साथ मैं और काकी भी आदरणीय अतिथि बनते तब वहां के बगीचे, म्यूजियम इत्यादि देखने जाते। वैभव भोगने के लिए नहीं है किन्तु तटस्थ होकर देखने का मौका मिले, तब जीवन समृद्ध होता है। हरेक स्थान का महत्त्व मैं सबको समझाता रहता। इसी तरह काकी की शिक्षा बढ़ती जाती। फिर तो हम नजदीक भी आये, एकांत में बातें होने लगीं।

हमने खूब मुसाफिरी की। मेरे जीवन में अनेक परिवर्तन हुए। घर छोड़कर मैं हिमालय गया। बाद में हिमालय से वापस आया। बड़ौदा में केशवराव देशपाण्डे के साथ रहा। वहां से गांधी-आश्रम में गया। ये

सब परिवर्तन प्रसन्नता से सहन करने की शक्ति आई।

आश्रम में हमारे पड़ोस में किशोरलालभाई और उनकी पत्नी गोमतीबहन रहती थीं। उनके साथ काकी की गहरी दोस्ती जम गई। महादेवभाई की पत्नी दुर्गाबहन के साथ भी। आगे चलकर गुजरात विद्यापीठ चलाते समय जब असहयोग आन्दोलन शुरू हुआ तब रात-दिन काम करने से मुझे क्षय रोग हुआ। जेल-जीवन से वह बढ़ गया। जेल में एक अंग्रेज लश्करी डाक्टर मेजर डाइल जेल सुपरिंटेंडेंट बनकर आया। प्रथम तो उसने मेरे साथ सख्ती बरती, लेकिन उसने देखा कि मैं आश्रमवासी अपनी ही सख्ती का आदी हूं। जेल से किसी तरह से सहूलियत नहीं मांगता, तब धीरे-धीरे हमारी दोस्ती हुई। मेरे पास आकर खड़े-खड़े खूब बातें करता। यह देखकर जेलवाले मुझे सहूलियतें देने को आतुर थे। मुझे ऐसी सहूलियतें लेने से इन्कार था। जब डाइल ने देखा कि मुझे तो क्षय रोग है, तब उसने मुझे जेल के अन्दर हो सके, इतनी सहूलियतें दीं। औषधि और खुराक भी ठीक मिलने लगे और तबीयत सुधार कर मैं जेल से बाहर आया।

ग्यारह महीनों का मेरा वियोग काकी ने बड़ी हिम्मत से सहन किया।

बहुत प्रयत्न और डॉक्टर तलवलकर ने काकी के स्वास्थ्य की तरफ पूरा-पूरा ध्यान दिया फिर भी उसकी तबीयत सुधरती ही नहीं थी तब लाचारी से मैं उसे मायके छोड़ आया।

वहां उसकी तबीयत कुछ सुधरी भी किन्तु फिर से बीमारी ने जोर किया। वह वापस आश्रम आई तब मैं विद्यापीठ में रहने गया था। आश्रम में मेरा घर नहीं रहा था, इसलिए काकी को महादेवभाई के घर रखा। सन् १९२९ में साबरमती आश्रम में ही काकी का देहान्त ४० वर्ष की अवस्था में हुआ। चि० सतीश और बाल भी तब साथ ही थे। साबरमती के किनारे उसका देह हमने अग्नि को अर्पण किया और केवल उसकी स्मृति ही शेष रह गई।

मेरे आश्रम-जीवन के साथ पूर्णरूप से एक होकर काकी ने मुझे और मेरे साथियों को संतोष दिया था। किन्तु आश्रम-जीवन उसका स्वयं का आदर्श नहीं था, इसलिए मैं उसे अनेक बार मायके जाने देता। उसकी मां के प्रति सारे समाज का आदर था। मेरे मन में भी उनके प्रति पूज्य भाव था।

१० :: पत्नी की देश-भक्ति

काकी के विचार-स्वातन्त्र्य की बापूजी के मन में कदर थी। काकी गुजराती समझ सकती, किन्तु बोल नहीं पाती। महादेवभाई के साथ इसीलिए छूट से बात कर सकती थी। महादेवभाई भी काकी के साथ चर्चा करने के लिए हमारे रसोई घर में आकर बैठते थे। कोई खास बात हो तब पूज्य बापूजी भी काकी के साथ चर्चा करते थे और अपनी बात उसे समझाने हमारे रसोईघर में आये थे। ऐसे दो प्रसंग विशेष कहने योग्य हैं।

बापूजी ने जब आश्रम के पुरुषों को आश्रम के रसोईघर में साथ देने को कहा, तब काकी ने कहा, "ऐसा करने में बापूजी ने स्त्री-जाति की मानो 'दुश्मनी' की है।"

काकी का यह विचार महादेवभाई ने बापूजी तक पहुंचा दिया और बापूजी अपनी दृष्टि विस्तारपूर्वक काकी को समझाने के लिए हमारे यहां आये। काकी मराठी में बोलती थी और बापूजी को समझाने का काम महादेवभाई करते, और बापूजी की बात काकी अच्छी तरह न समझ सके तब मराठी में समझाने का काम भी महादेवभाई का रहता। उन दोनों की ऐसी चर्चाओं में मैं बीच में नहीं रहता था।

दूसरी एक महत्व की चर्चा बापूजी और काकी के बीच चली थी।

दक्षिण अफ्रीका से हमेशा के लिए भारत वापस आकर भारत के सार्वजनिक जीवन में हिस्सा लेने का और गुजरात में अपना आश्रम स्थापित करने का बापूजी ने निर्णय लिया। हम सब बापूजी के पास गये। उन प्राथमिक दिनों की यह बात है।

उस समय तक गांधीजी की अहिंसा पूरी कड़ी नहीं हुई थी और ब्रिटिश साम्राज्य के साथ पूरा नाता तोड़ने का भी उनके मन में उगा नहीं था। गांधीजी ब्रिटिश राज्य के खिलाफ जब जरूरत पड़े तब लड़ते सही, किन्तु तबतक उनके मन में विश्वास था कि कुल मिलाकर ब्रिटिश साम्राज्य भारत का अहित नहीं करेगा। हम उस साम्राज्य में दाखिल तो हो गये हैं, इच्छा से या इनिच्छा से। तब अपना स्वभाव तेजस्विता छोड़े बिना उस साम्राज्य के प्रति हम वफादार रहें, मुश्किल खड़ी होने पर साम्राज्य की मदद भी करेंगे और यदि साम्राज्य की ओर से अन्याय हो तो उसके सामने लड़ भी लेंगे।

जब गांधीजी की ऐसी भूमिका थी, उन्हीं दिनों में ब्रिटिश साम्राज्य और जर्मनी के बीच युद्ध छिड़ गया। गांधीजी दक्षिण अफ्रीका से विलायत गये। उन्होंने वहां विलायत में रहते भारतीय युवकों का संगठन करके घायल सिपाहियों की सेवा करने के लिए एक सेवा-दल स्थापित करने की कोशिश की थी। किन्तु वे बीमार हो गये और उनको भारत लौट आना पड़ा।

उस जागतिक युद्ध के लिए अंग्रेज भारत से मदद चाहते थे। ब्रिटिश वायसराय ने देश के कई नेताओं को दिल्ली बुलाया। गांधीजी को भी आमंत्रण था। अंग्रेजों की तरफ से लड़ने के लिए देश के युवकों के बीच रंगरूट भरती का प्रयत्न गांधीजी ने स्वीकार किया और वे दिल्ली से वापस आये। रंगरूट भरती सारे देश में करने की थी किन्तु उसका आरम्भ गुजरात से करना गांधीजी के लिए स्वाभाविक था।

गांधीजी जानते थे कि जर्मनों के विरुद्ध अंग्रेजों के पक्ष में लड़ने के लिए लोग आसानी से तैयार नहीं होंगे।

अतः उस दिशा में प्रयत्न करने का गांधीजी ने सोचा। गांधीजी ने कहा, "गुजरात का प्रचार आश्रम से ही शुरू होना चाहिए। इसलिए हम आश्रमवासियों को एकत्र करके उन्होंने हमें सब बातें समझाते हुए कहा कि युद्ध के लिए रंगरूट भरती का काम मैंने अपने सिर पर लिया है, इसलिए जानना चाहता हूं कि आश्रम में से भरती होने को कौन-कौन तैयार हैं ?" आश्रमशाला के आचार्य विज्ञान-विद् साकलचन्दभाई को बापूजी ने प्रथम पूछा। उनका जवाब सुनकर बापूजी को बहुत बुरा लगा।

"ना रे बाबा ! हम तो बनिया ठहरे ! बन्दूक पकड़ने का हमारा काम नहीं ?" उन्होंने एक वाक्य में जवाब दे दिया। बापूजी ने मेरी तरफ नजर की और मुझसे पूछा। इससे पहले सारी परिस्थिति उन्होंने हमें समझाई थी कि इस वक्त यदि हम अंग्रेजों की मदद करेंगे तो उनका हमारे प्रति जो अविश्वास है सो दूर हो जायेगा। साम्राज्य में हमारी प्रतिष्ठा बढ़ेगी और स्वराज्य-प्राप्ति के लिए यह एक उत्तम कदम होगा, इत्यादि।"

गांधीजी की बातें सुनकर मैंने कहा, "आप देश के याने हम सबके नेता हैं। हमारी ओर से आप वचन दे चुके हैं। उस वचन का पालन करना हमारा धर्म है। मैं फौज में दाखिल होने ले लिए तैयार हूं। यूरोप के युद्ध में अवश्य हिस्सा लूंगा।"

मेरे पीछे-पीछे हमारे नरहरिभाई परीख और पृथु शुक्ल नाम के एक युवा कवि तैयार हुए। इतने बड़े आश्रम में से तीन ही व्यक्ति तैयार हुए। यह संख्या उत्साहवर्धक नहीं थी, किन्तु तीन तैयार हुए यही शुभ शकुन था। गांधीजी ने हम तीनों के नाम सरकार के पास भेज दिये और वल्लभभाई को साथ लेकर स्वयं

गुजरात-भर में रंगरूट भरती के लिए घूमने लगे। उसमें उनको सफलता नहीं के बराबर मिली। एक दिन आश्रम में वापस आये तब कुछ चिढ़कर कहने लगे, ''इन 'वैष्णवों ने' और 'जैनियों ने' लोगों की तेजस्विता का हनन कर दिया है।''

जिस दिन फौज में भरती होना मैंने कबूल किया, उस दिन की बात सुनते ही काकी तो गुस्से से आग-बबूला हो गई।

''अंग्रेजों के पक्ष में लड़ने के लिए काकासाहेब उनके सैन्य में भरती हो जायं, यह मैं कभी पसन्द नहीं करूंगी। अंग्रेजों के खिलाफ लड़ने को तैयार हों तो मैं समझ सकती हूं। उसका विरोध मैं नहीं करूंगी, किन्तु यह बात तो मेरी कल्पना से परे है।''

महादेवभाई ने यह भूमिका सविस्तर गांधीजी को सुनायी। अपनी भूमिका काकी को समझाने के लिए बापूजी आये। आते ही काकी ने अपनी दृष्टि सुनायी, ''बापूजी, आप ऐसा न माने कि मैं कायर हूं। मेरा नाम लक्ष्मी है। झांसी की रानी का चरित्र मैंने पढ़ा है। जबसे काकासाहेब कालेज के दिनों में अंग्रेजों के विरुद्ध षड्यंत्र में शामिल हुए थे तब से मैं समझ गई हूं कि एक-न-एक दिन वे पकड़े जाएंगे और उनको फांसी की सजा भी हो सकेगी और मुझे विधवा का जीवन व्यतीत करना होगा। इसके लिए मैंने अपना मन तैयार कर रखा है। कल यदि आप अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध जाहिर करेंगे तो मैं काकासाहेब को लड़ने के लिए जरूर भेजूंगी। इतना ही नहीं, किन्तु मेरे दो बेटे यदि अंग्रेजों के खिलाफ लड़ते-लड़ते प्राण खो देंगे तब भी मैं नहीं रोकूंगी। अंग्रेजों के खिलाफ लड़ने को अपने बेटों को मैं हमेशा तैयार रखूंगी।

''किन्तु जिन अंग्रेजों का राज्य तोड़ने का काकासाहेब का निश्चय है, उनके ही पक्ष में जर्मनों के सामने लड़ने के लिए काकासाहेब को भेज रहे हैं, उसमें मेरी सम्मति कभी भी मिलनेवाली नहीं है। 'अंग्रेजों के पक्ष में काकासाहेब लड़ रहे हैं।' ये शब्द भी कैसे असह्य लगते हैं।'' बापूजी का जवाब सुनने को भी काकी तैयार नहीं थी इसलिए बात वहीं रह गई।

हम तीनों के नाम सरकार के पास गये ही थे। सरकार के आमंत्रण की हम राह देख ही रहे थे, किन्तु वह नहीं आया। परिस्थिति बदल गई। जर्मनों का पक्ष निर्बल बन गया।

११ :: सिंध के प्रति आत्मीयता

महाराष्ट्र के लोगों में जल्दी-जल्दी अपना अभिप्राय बनाने की आदत है। मनुष्य के दोष झट पहचान लेते हैं। उसमें भी गहरे निरीक्षण से अधिक छिछले अनुभवों पर जल्दी-जल्दी अभिप्राय बांध लेते हैं। ये सब देखकर कालेज के दिनों में इसके सामने मैं काफी चर्चा करता था। ऐसी भावना के कारण अलग-अलग बिरादरी के सम्बन्ध हम खूब बिगाड़ते हैं, इसकी बात तो मैं करता ही था साथ-साथ विद्यार्थी जगत के सामने मैं यह बात भी बार-बार कहता था कि अन्य प्रान्त के लोगों के साथ हमें सम्बन्ध बढ़ाने चाहिए। उनके कांजी बनने की वृति हमें छोड़ देनी चाहिए इत्यादि।

मैं बेलगांव कीतरफ का रहनेवाला इतना सुनकर लोगों ने मुझे 'कान डी अप्पा' मान लिया और तीसरे क्लब में भेज दिया। छः महीने के बाद उन लोगों को मालूम हुआ कि मैं तो महाराष्ट्री हूं मेरा जन्म सतारा का और प्राथमिक शिक्षा पूना में ली है। फिर उन लोगों ने मुझे दूसरे क्लब में ले लिया, जो उन दिनों ऐरिस्ट्रो-

क्रेटिक, सबसे उत्तम और प्रतिष्ठित मानी जाती थी।

मेरा दूसरा आग्रह यह था कि दूर प्रान्त के लोगों को हमें अधिक अपनाना चाहिए। बंग-भंग के आन्दोलन के बाद बंगाल में क्रान्तिकारी हिंसात्मक वृति बढ़ गई, तब महाराष्ट्र के मन में बंगाल के बारे में आदर एकदम बढ़ा। किन्तु हमारे यहां कोई बंगाली थे नहीं। उसी समय पांच-दस सिंधी लड़के फरग्युसन कालेज में आये। कइयों ने पहले से पत्र लिखकर फरग्युसन कालेज में जगह प्राप्त कर ली थी। कालेज में प्रवेश मिलते ही उन्होंने अपनी एक अलग क्लब शुरू की। हमारे लोग सिंधी लोगों की ईर्षा करने लगे, किन्तु उनसे मिलने-जुलने का कोई नाम नहीं लेते। मैंने सोचा, "जिस चीज का मैं उपदेश करता हूं, उसको अमल में लाने की जिम्मेदारी मेरी है।"

मैंने अपने आप आगे होकर दो-तीन सिंधी लड़कों का परिचय प्राप्त कर लिया। उनमें मुख्य थे—जीवतराम कृपालानी। उनको अपनाने का मैंने पूरा प्रयत्न किया और सफल हुआ। फिर देखा कि अन्य सिंधियों के जैसे ये नहीं हैं। उनको अन्त में शंका आई कि मैं गुप्त क्रान्तिकारी राजकारण में अन्दर तक पहुंचा हुआ हूं। मैंने इस बारे में उनको कोई दाद न दी किन्तु बाद में भाई साहब खुद भी क्रान्तिकारी मत के बन गये। आगे चलकर जब वे बिहार मुजफ्फरपुर के प्राइवेट कालेज में प्रोफेसर थे तब स्वामी आनन्द और मैं नेपाल यात्रा जाते मुजफ्फरपुर में कृपालानी के मेहमान होकर रहे। फिर तो हम तीनों नेपाल हो आये। उन्होंने अपने भतीजे गिरधारी को मेरे साथ रहने और पढ़ने के लिए भेज दिया। गिरधारी मेरा बेटा बनकर रहा था। बिहार में कृपालानी ने क्रान्तिकारी विचारों का खूब प्रचार किया था। उसी अर्से में मैंने ब्रह्मदेश की यात्रा की तब कृपालानी मेरे साथ थे।

पूज्य बापूजी जब हमेशा के लिए भारत आये तब उनके आश्रम के लोग शान्तिनिकेतन रहे थे। उनको मिलने बापूजी शान्तिनिकेतन आये। वहां बापूजी के साथ मेरा गहरा परिचय हुआ। तब मैंने तार करके कृपालानी को बापूजी से मिलने बुलाया। मुलाकात के उन दिनों में कृपालानी भी मेरी तरह बापूजी के हो गये। उस समय का बापूजी और कृपालानीजी का संभाषण मैंने अन्यत्र लिखा है।

आगे चलकर बापूजी जब बिहार गये तब कृपालानीजी ने उन्हें अपने यहां ठहराया। परिणामस्वरूप अपनी नौकरी का इस्तीफा देना पड़ा। कृपालानी चम्पारण के आन्दोलन में शामिल हुए, जेल गये और पूरे-पूरे बापूजी के बन बये।

कृपालानी ने देख लिया था कि क्रान्तिकारी काम करने के लिए विद्यार्थियों में जागृति लानी चाहिए और उसका प्रारम्भ धार्मिक वातावरण से करेंगे तो समाज की सहानुभूति हमें मिलेगी, इसलिए उन्होंने सिंध-हैदराबाद के पास एक ब्रह्मचर्य आश्रम खोला। उस आश्रम का भार मैं उठाऊं, ऐसी उन्होंने इच्छा की। हिमालय की यात्रा और साधना पूरी करके लौट आया था। कृपालानी के साथ का सम्बन्ध था ही इसलिए मैंने स्वीकार कर लिया और हैदराबाद के पास कोटरी नाम के गांव में सिंधु नदी के किनारे उस आश्रम में जाकर रहा। प्लेग के कारण उस आश्रम को वहां से हटाना पड़ा। तब उसे हम सक्कर ले गये। सक्कर शिकारपुर के पास ही है।

मैं थोड़े महीने सिंध में रहा, उस दरम्यान उस प्रान्त की स्थिति बहुत कुछ समझ सका।

१२ :: प्रारंभिक सार्वजनिक जीवन की परिणति

अंग्रेजों का राज्य तोड़कर देश को स्वतंत्र करने के लिए लड़ाई की तैयारी करनी चाहिए। यह काम कांग्रेस जैसी संस्था से हो नहीं सकेगा, और चोरी-चोरी से पुराने ढंग से करने जायं तो सारी प्रजा को न जाने कब तैयार कर सकेंगे ?

राष्ट्रीय शिक्षा के द्वारा क्रान्ति के विचार फैलाकर जनता में जागृति लाकर असंतोष बढ़ाना चाहिए और इस वायुमंडल की मदद लेकर हो सके, उतनी लश्करी तैयारी हमें करनी चाहिए। इसमें थोड़ा-सी विजय मिलते ही अंग्रेजों के शत्रुओं की सहायता भी हम प्राप्त कर सकेंगे।

इस तरह के विचार से प्रवृत्त होकर मैंने सार्वजनिक जीवन का प्रारंभ किया।

जनमानस पर धर्म का प्रभाव सबसे अधिक है इसलिए इस क्रांति के पीछे धर्म-भावना की सहायता भी होनी चाहिए, यह भी हमारा उस समय विचार था।

मित्रों के साथ विचार-विनिमय खानगी में चलता था। इतने में हमारे बेलगाम के नेता श्री गंगाधर-राव देशपांडे का संपर्क हुआ। उन्होंने प्रोत्साहन देकर बेलगाम के गणेश विद्यालय के साथ संबंध करवा दिया। वहां एक तरह की राष्ट्रीयता थी, धार्मिकता भी थी, किन्तु वह राष्ट्रीयता थी शिवाजी के समय की और धार्मिकता थी सनातनधर्मी व्रत-उत्सवों की, संतों के नाम संकीर्तन की और पुराने ढंग की धार्मिकता को पुनरुज्जीवन देने के रूप की थी। इससे मुझे उलझन हुई अतः उस संस्था को छोड़ दिया और बंबई गया।

उन दिनों बंग-भंग का आंदोलन पूरे जोश में था। लाल, बाल, पाल देश के सर्वोच्च नेता माने जाते थे। बंगाल में 'वन्दे मातरम्' नाम का एक अंग्रेजी दैनिक चलता था, उसमें वहां के नेताओं के उत्तम लेख, व्याख्यान इत्यादि दिये जाते थे। देखते-देखते उन सबमें अपनी उत्कट देशभक्ति और विचारों की तेजस्विता से श्री अरविन्द घोष आगे आये। स्वामी विवेकानन्द का प्रभाव तो हम पर पूरा-पूरा पड़ा था।

उसी अर्से में अमेरिका के एक नीग्रो शिक्षा-शास्त्री और नेता बुकर वाशिंगटन की आत्मकथा हमने पढ़ी। 'अप फ्रॉम स्लेवरी' तुरन्त उसका अनुवाद देशी भाषा में किया। उस आत्मकथा का उत्तर भाग 'माई लार्जर एजूकेशन' मंगवाकर उसका भी अनुवाद किया और हम को पूरा विश्वास हो गया कि राष्ट्रीय शिक्षण के लिए 'लिखने-पढ़ने का काम' और प्राचीन 'इतिहास का अभिमान' इतना बस नहीं है, किन्तु श्रमजीवन उद्योग-हुनर की कुशलता, सामाजिक स्वावलम्बन और स्वाभिमानी तेजस्विता का प्रचार करना चाहिए। संक्षेप में 'शिक्षण यानी कौटुम्बिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन कला में प्रवीण होना', यह नयी व्याख्या हमने स्वीकार ली।

किन्तु विशाल समाज रूढ़िवादी होता है। उसके अन्दर रही हुई धार्मिक भावना से ही प्रारम्भ करना चाहिए यह विचार भी हमने कुछ हद तक पकड़ा हुआ था।

ऐसे समय पर बड़ौदा के भारत-भक्त राजा सयाजीराव गायकवाड़ के राज्य में चलते हुए 'गंगनाथ विद्यालय' का आमंत्रण आया। मुझे मालूम था कि इस विद्यालय के पीछे श्रीअरविन्द घोष के खास स्नेही बैरिस्टर केशवराव देशपांडे की प्रेरणा है और बैरिस्टर देशपाण्डे बड़ौदा राज्य में सूबेदार (कलैक्टर) के उच्च स्थान पर हैं।

मेरे लिए इतना आकर्षण पर्याप्त था। मैं गंगनाथ विद्यालय से जुड़ गया। केशवराव में धार्मिकता तो थी ही, तदुपरांत यह भी आग्रह उनमें था कि समाजोद्धार के लिए उद्योग-हुनर विकसित करने चाहिए, लोगों की मुश्किलों में उनकी मदद करनी चाहिए इत्यादि।

अंग्रेज सरकार ने जब हमारे इस प्रयोग को अशक्य कर दिया तब पुत्र-कलत्र छोड़कर आध्यात्मिक साधना के लिए हिमालय गया, वहां अद्वैत-वेदान्त और माता की उपासना (शुद्ध दक्षिण मार्गी देवी उपासना) ये मेरे ध्यान-चिन्तन के विषय थे। तदुपरांत कुदरत में और मनुष्य-समाज में—परमेश्वर के दर्शन करने की मेरी साधना भी खूब जोश से चली।

काश्मीर से नेपाल तक हिमालय की यात्रा की। एक जगह बैठकर मंत्र-साधना की, खूब शान्ति मिली, किन्तु देश जबतक स्वतन्त्र नहीं हुआ है, उसके लिए मर-मिटना चाहिए, यह उत्कट भावना किसी तरह मुझे छोड़ती नहीं थी। राष्ट्रीय शिक्षण के द्वारा समस्त जनता को क्रान्ति के लिए तैयार करना ही चाहिए, यह विचार मुझे छोड़ता नहीं था।

हिमालय की यात्रा में अति श्रम के कारण बीमार होने से मैं थोड़े दिन देहरादून आकर रहा था, उस दौरान परिचित लोगों के साथ इसकी ही चर्चा मैं करता रहा। मुझे लगा कि उत्तर भारत में धर्म-सुधारक आर्य-समाजी लोगों ने गुरुकुल चलाये हैं, वे देखने चाहिए। उनकी इस प्रवृति को देख सनातनियों ने ऋषिकुल शुरू किये हैं, उसका भी अनुभव लेना चाहिए। मैंने यह भी सुना कि हाथरस की तरफ के एक राजा महेन्द्र प्रतापसिंह ने क्रान्तिकारी विचारों से प्रेरणा लेकर वृन्दावन में प्रेम-महाविद्यालय की स्थापना की है, वह भी देखना चाहिए। इस तरह क्रान्तिकारी शिक्षण-संस्थाएं देखने का अनुभव लेता हुआ घूमता रहा। कविवर रवीन्द्रनाथ की संस्था शान्तिनिकेतन के बारे में बहुत सुन रखा था, इसलिए वहां चार-पांच महीने रहा। संस्कृति की दृष्टि से रवीन्द्रनाथ के विचार मुझे ज्यादा ठोस और साथ-साथ पूरे आधुनिक लगे। मैंने देखा कि शान्तिनिकेतन में अनेक आदर्शों का आग्रहपूर्वक प्रयोग चलाते हुए भी अन्त में तो विद्यार्थी को कलकत्ता यूनिवर्सिटी की मैट्रिक के लिए तैयार करते हैं। यह बात मुझे चुभती थी। मैंने गुरुदेव रवीन्द्रनाथ से यह कहा भी। उन्होंने मुझे समझाया कि हमारे विधुशेखर शास्त्री 'विश्वभारती' नाम की एक विद्यापीठ की स्थापना करना चाहते हैं उसमें आप शामिल हो सकेंगे।

उस वक्त मुझे उस संस्था का पूरा ख्याल नहीं था, नहीं तो उसमें हमेशा के लिए शामिल हो जाता।

मन में यह विचार आता था कि यदि मैं शिक्षण द्वारा काम न कर सकूं तो स्वामी विवेकानन्द के रामकृष्ण मिशन द्वारा धर्म-क्रान्ति का काम क्यों न करूं?

श्री रामकृष्ण परमहंस के एक उत्तम शिष्य महेन्द्रनाथ गुप्त ने अपना पूरा नाम जाहिर किये बिना 'गॉस्पल ऑफ श्री रामकृष्ण बाई एम०' नाम की एक-दो किताबें प्रसिद्ध की थीं। मेरे मित्र ने उनका मराठी करके छापा था उसमें मेरा हाथ भी था, इसलिए मैं 'एम' से मिला। विवेकानन्द के कई अद्वैत आश्रम और सेवाश्रम मैंने देखे थे। उसमें दाखिल होने का विचार भी आया था, किन्तु निर्णय नहीं हो पाता था।

इतने में महात्माजी के दक्षिण अफ्रीका के आश्रम के लोग भारत में आकर कुछ दिन के लिए शान्ति-निकेतन में ठहरे थे। इतना तो मैं स्नेहियों से जान ही सका था कि गांधीजी में धार्मिकता भरी हुई है, राष्ट्र-भक्ति पूरी-पूरी है, क्रान्तिकारी शिक्षण उन्हें मान्य है। इसलिए मैं शान्तिनिकेतन में वर्ग लेता किन्तु भोजन करता गांधीजी की फीनिक्स पार्टी के साथ। फिर जब गांधीजी विलायत होकर भारत वापस आये तब प्रथम बार उनके दर्शन हुए शान्तिनिकेतन में ही। उन्होंने सूचित किया था कि "भारत में किसी अच्छे स्थान पर मैं एक आश्रम शुरू करनेवाला हूं यदि तुम चाहो तो उसमें दाखिल हो सकते हो।" गांधीजी के साथ मैंने आठ-दस दिन तक जी-भर चर्चा की थी। मुझे विश्वास हो चुका था कि उनकी अहिंसा दुर्बल या जीवन-विमुख नहीं है, उसके पीछे क्षात्र-तेज है, इसलिए कई पुराने सम्बन्धों की वफादारी की निष्ठा संभालने के बाद मैं गांधीजी के

आश्रम में दाखिल हो गया, अथवा जैसे मैं कह चुका हूं, केशवराव देशपाण्डे को पत्र लिखकर गांधीजी ने स्वयं मुझे अपने आश्रम में खींच लिया।

मेरे पूरे जीवन में इससे अधिक महत्व का कोई प्रसंग नहीं हो सकता।

१३ :: प्रान्तीयता और मेरा संकल्प

जब मैं शान्तिनिकेतन देखने प्रथम बार गया तब मुजफ्फरपुर में कृपालानी को मिलकर उनके भतीजे गिरधारीको देखने वहां (शान्तिनिकेतन) में गया था, ऐसा कुछ ख्याल है। उस समय जिस कमरे में मुझे रखा था, उसके सामने के रास्ते पर गुरुदेव टहलने लगे। मैं किस तरह मान लेता कि मुझसे मिलने गुरुदेव आये हैं, किन्तुसद्भाग्य से ध्यान में आया और मैं भी टहलने में शरीक हुआ। उस समय मैं हरिद्वार के ऋषि-कुल का अवैतनिक मुख्य-व्यवस्थापक था। गुरुदेव ने माना था कि मैं पंजाबी होऊंगा इसलिए उन्होंने उस ढंग से बातें शुरू कीं। विनय के खातिर एक-दो सवाल के जवाब मैंने दिये और फिर स्पष्ट किया, "मैं महाराष्ट्रीय हूं, ऋषि-कुल के संस्थापकों के हाथ में फंस गया हूं। मैं हूं तो सनातनी, किन्तु मुझे आप विवेकानन्दी मान सकते हैं।" वे हंस पड़े और फिर दिल खोलकर हमारी बातें हुईं। दूसरे दिन मैं वापस गया।

उसके बाद मैंने उनको पत्र लिखा :

"'गीताञ्जलि' के कवि को और 'मॉडर्न रिव्यू' के लेखक को मैं पहचानता हूं। शान्तिनिकेतन में आपसे यानी शिक्षण-शास्त्री टैगोर से मिला। स्वयं शिक्षण-शास्त्री होने के कारण आपकी संस्था देखकर आपके प्रति मेरा आकर्षण जागा है। आपकी संस्था में चार-पांच महीने रहे बिना आपका आदर्श अच्छी तरह ध्यान में नहीं आ सकेगा। इसलिए मुझे चार-छः महीने अपनी संस्था में शिक्षक के तौर पर काम करने दीजिए। मुझे पैसों की जरूरत नहीं। अतः मैं वेतन नहीं मांगता और मेरे पास पैसे हैं भी नहीं, इसलिए खाने का खर्चा नहीं दे सकूंगा। मुझे आपकी संस्था में रहने-खाने दीजिये और मैं विद्यार्थियों को पढ़ाऊंगा।"

इतना लिखने के बाद मैंने आगे लिखा, "राष्ट्रीय शिक्षक की दो-तीन संस्थाएं मैंने चलायी हैं। अवैतनिक शिक्षक कितने अव्यवस्थित और गैर-जिम्मेदार होते हैं, उसका मुझे ख्याल है। इसलिए मैं आपको विश्वास दिलाना चाहता हूं कि जितने दिन शांतिनिकेतन रहकर काम करूंगा, उतने दिन संस्था के आदर्शों और नियमों का निष्ठापूर्वक पालन करूंगा। केवल शाब्दिक पालन नहीं, बल्कि हार्दिक रूप से पालन करूंगा।"

मुझे यकीन था कि इतने आश्वासन के बाद मुझे आमंत्रण मिलेगा ही और आमंत्रण आ भी गया।

मैं वहां रहने गया तब गुरुदेव कलकत्ता थे मुझे रहने के लिए कमरा और सिखाने के लिए वर्ग मिलते देरी हुई। बड़ी संस्था में व्यवस्था ऐसी ही होती है। मैंने अपने मन को मना लिया। फिर गुरुदेव आये।

वातावरण में एकदम अंतर आ गया। डायरेक्ट मैथ्स से अंग्रेजी सिखाने का काम मुझे सौंपा गया। मुझे क्या पता था कि मि० ऐन्ड्रयूज यहां-वहां टहलते-टहलते मेरी शिक्षण की पद्धति को देखते और सुनते होंगे। उन्होंने गुरुदेव को मेरे बारे में अच्छी राय दी होगी। इस संस्था में मैं सफल हुआ, उसका लाभ लेकर शान्ति-निकेतन में मैंने एक छोटे-से मण्डल की स्थापना की। अलबत्ता मुख्य-व्यवस्थापक की अनुमति से। मण्डलका

नाम रक्खा—'सैल्फ हैल्पर्स फूड-रिफॉर्स लीग'। उसमें दो-तीन अध्यापक और आठ-दस विद्यार्थी थे। रसोई करने का और बर्तन मांजने का काम हम ही कर लेते थे। 'नौकर नहीं रखना' यह हमारा नियम था। स्वावलंबन हमारा सिद्धान्त और खुराक में भात के साथ रोटी भी खाते थे। सब्जी में सिर्फ हल्दी और नमक डालते थे, मिर्च-मसाला नहीं। यह था हमारा आहार-सुधार। हमारी इस लीग में एक अच्छी प्रतिष्ठावाला युवा अध्यापक शामिल हुआ—सन्तोष मजूमदार। हमारा काम पूरे वेग से चला। बाद में पूज्य बापूजी ने हमारे इस काम को देखकर हमारी इतनी अधिक कदर की कि सारा प्रयोग चौपट हो गया। दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह के विजयी वीर, गुरुदेव के नये-नये किन्तु अत्यन्त आदरणीय मेहमान, जिनकी प्रशंसा करते मि० एन्ड्रूयूज कभी थकते नहीं थे, ऐसे गांधीजी शान्तिनिकेतन आये। इतनी बड़ी संस्था के सारे अध्यापकों ने और विद्यार्थियों ने धार्मिक ढंग से उनका भव्य स्वागत किया। लोगों में आदर और उत्साह का ज्वार आया। गांधीजी के जैसे कसे हुये लोक-नेता ऐसे वायुमण्डल से फायदा उठाये बिना कैसे रहते? उन्होंने हमारी छोटी-सी लीग की प्रशंसा की "तुम्हारी इस छोटी-सी लीग को शान्तिनिकेतन-व्यापी बनाना चाहिए।" महाराष्ट्रीय स्पष्टवादिता के साथ मैंने अपना मतभेद व्यक्त किया, "बापूजी, आपकी संस्था के लोगों को इन लोगों ने आदरपूर्वक यहां रखा। यहां के लोग आदर के साथ आपके प्रयोग देखते हैं। उनमें से शान्तिनिकेतन के थोड़े उत्साही विद्यार्थी और अध्यापकों को लेकर मैंने अपना प्रयोग चलाया है। मुझे अपना यह छोटा-सा काम करने दीजिये। आप यहां आदरणीय अतिथि हैं। व्यवस्थापकों पर प्रभाव डालकर आप सारी संस्था में क्रान्ति कराना चाहता हैं। गुरुदेव भी जब यहां उपस्थित नहीं हैं, तब यह कहां तक उचित है?"

इतनी स्पष्ट चेतावनी का भी महात्माजी के मन पर कोई असर न हुआ। उन्होंने तो जगदानन्दबाबू शरदबाबू, संतोषबाबू आदि लोगों को बुलाकर संस्था में परिवर्तन करने की सूचना की। सूचना का आह्वान ही किया। बेचारे व्यवस्थापक दब गये, मान गये। संस्था के तमाम नौकरों को छुट्टी दी। भात के स्थान पर रोटियां खिलाने की प्रथा भी शुरू हुई। महात्माजी ने मुझसे पूछा, "इस नई व्यवस्था की जिम्मेदारी आप लेंगे?" मैंने साफ इन्कार किया। मैंने कहा, "ऐसी व्यवस्था का मुझे पूरा अनुभव है। यदि मैं जिम्मेदारी लूं, कहीं क्षति नहीं होने दूंगा, लेकिन मुझे तो यह अनाधिकार चेष्टा लगती है। मुझे जो वस्तु प्रिय है, उसमें मैं शामिल होऊंगा, पूरा सहयोग दूंगा, प्रयोग को निष्फल नहीं होने दूंगा, किन्तु पूरा भार सिर पर लेने की मेरी बिल्कुल तैयारी नहीं है। अंग्रेजी में एक कहावत है, 'नथिंग सकसीड्स लाइक सकसैस' मनुष्य को एक बार विजय मिली तो फिर विजय मिलती ही जाती है।" मैंने जहां जोर से 'ना' कहा, वहां गंगनाथ के मेरे ही पुराने साथी मद्रासी राजंगम पूरा भार लेने को तैयार हो गये। पूरी क्रान्ति अमल में लाते बापूजी को कोई मुश्किल नहीं हुई। प्रारंभ तो हमने उत्तम किया। रोटियां सेंकने का काम मेरे हाथ में आया। रोटियां अच्छी-से-अच्छी बनने लगीं। खाने वालों की संख्या बढ़ी। बंगालियों ने मोयन वाली रोटी कभी खायी ही न थी। उन्होंने तो चमड़े जैसी रोटी खाई थी।

अब गैर-जिम्मेदारी प्रकट हुई। महात्माजी रंगून जाने को निकले—डॉ० प्राण जीवन मेहता से मिलने। हमारे राजंगम ने डॉ० मेहता के यहां ट्यूटर का काम किया था। इसलिए वे भी बापूजी के साथ जाने को तैयार हो गये।

मैंने अपना आश्चर्य व्यक्त किया तब बापूजी ने बड़ी शान्ति से जवाब दिया, "मैंने देख लिया है कि आपमें पूरी सजगता है। आप ही सारा चला रहे हैं। राजंगम को नहीं रोक सकते। काम अच्छी तरह चलेगा; इसमें मुझे कोई शंका नहीं।"

राजंगम बापूजी के साथ चले गये। बाद में हम लोगों ने चालीस दिन तक उस प्रयोग को टिकाये रखा।

ईश्वर की कृपा से छुट्टियां आ गयीं। सबने छुटकारे का दम लिया और मैंने हमेशा के लिए शान्तिनिकेतन छोड़ा।

उसके पहले जन्मभर याद रहे, ऐसा एक प्रसंग बना। प्रसंग था तो सामान्य, किन्तु मेरे मन पर उसका गहरा प्रभाव पड़ा।

शान्तिनिकेतन के संचालकों ने गांधीजी को वचन दिया था कि स्वावलम्बी आदर्श को हम स्वीकार करते हैं, जिसको हम कार्यान्वित करेंगे। ऐसा निश्चय करनेवालों मि० एन्ड्रूयूज के साथी मि० पियरसन भी थे। उनके साथ मेरी गहरी दोस्ती हो गयी थी। बर्तन मांजने में पूरे उत्साह के साथ वे शामिल होते थे। सब मांजने वालों का उत्साह टिके, इसलिए कुछ विद्यार्थी उनके बीच बैठकर संगीत सुनाते थे। कई विद्यार्थी अच्छा साहित्य पढ़कर सुनाते। कभी-कभी हम अच्छी चर्चा छेड़ देते। इस तरह से बर्तन मांजने की प्रवृत्ति को कलामय करने की कोशिश हमारी थी।

फिर भी एक दिन मि० पियरसन ने एकान्त में मुझसे कहा, "बर्तन मांजने में कुछ कमी रहती है, ऐसा तो हमें किसी को भी नहीं लगता। आज तक उत्साह के साथ करते आये हैं, किन्तु इसके पीछे जो समय देना पड़ता है, वह हमें भारी पड़ता है, क्योंकि कई जरूरी काम रह जाते हैं। उनका विषाद मन को बेचैन करता है। काम जो हाथ में लिया है तो सत्र के अन्त तक चलायेंगे। गुरुदेव ने भी आशीर्वाद दिये हैं; लेकिन मैं नहीं मानता कि छुट्टी पूरी होने के बाद स्वावलम्बन की यह प्रवृत्ति आगे चल सकेगी।"

मुख्य बात यह थी कि वंश-परम्परा के भद्र लोग जो काम नहीं करते थे, उनकी भद्र-संस्कृति में श्रम-जीवन दाखिल करने के लिए जो शारीरिक तपश्चर्या चाहिए, वह इस समाज में विकसित नहीं हुई थी और सामाजिक असमानता का पाप धोने के लिए जिस तरह की श्रद्धा और उपरति चाहिए, वह इस समाज में उगी नहीं थी। इसलिए नयी श्रद्धा सच्ची होते हुए भी टिक न सकी।

मनुष्य जब अस्वस्थ होता है तब तरह-तरह के विचार उसके हृदय में बैठ जाते हैं। इस नयी प्रवृत्ति को चलाते हैं, तबतक उसका आदर्श ढीला नहीं होना चाहिए, ऐसा मेरा आग्रह था। इतने में एक घटना घटी। एक प्रौढ़ बंगाली भाई ने हमारे चिन्तामणि शास्त्री द्वारा मुझसे कहलवाया, "आप भूल जाते हैं कि आप महाराष्ट्रीय हैं, हमारे साथी नहीं, किन्तु मेहमान हैं। इस परिस्थिति को भूलकर बंगाली संस्था में एक महाराष्ट्रीय अपना राज्य चलाने का प्रयत्न करे, यह हम कैसे बर्दाश्त करें ?"

ऐसा सन्देशा सुनने के लिए मेरा मन तैयार नहीं था। मैं मानता था कि मैं प्रान्तीय भावना से परे हूं। प्रान्तीय भेद का मेरे मन में लवलेश भी नहीं था, इसलिए शान्तिनिकेतन के साथ इतना एकरूप बना हूं। और जो कुछ मैं करता हूं, बंगाली मुख्याध्यापक की इजाजत से ही करता हूं, बल्कि उनका सौंपा हुआ काम पूरी ईमानदारी से कर रहा हूं। तो फिर यहां के एक प्रौढ़ मनुष्य के मन में 'हम बंगाली आप बाहर के' ऐसा भेद उठ ही कैसे पाया ? सामान्य संस्था में यदि ऐसी टीका होती तो हम समझ सकते थे किन्तु शान्तिनिकेतन तो गुरुदेव की संस्था है, उसकी प्रतिष्ठा केवल राष्ट्रीय नहीं, अन्तर्राष्ट्रीय भी थी। इसीलिए तो मि० एन्ड्रूयूज तथा मि० पियरसन जैसे राज्य-कर्ता समाज के लोग यहां सबके साथ समान भाव से काम करते हैं।

और मैं तो प्रान्तातीत ठहरा। मेरा पूरा आचरण शंकातीत था, फिर भी बर्तन मांजकर थक गये, इसलिए मेरे जैसे में भी प्रान्तीयता देखते हैं ! और मैं राज्य चलाना चाहता हूं, ऐसी शंका मन में लाते हैं। तब मैं क्या समझूं ?

"मेरा जीवन, आचरण और व्यक्तित्व शंकातीत है, ऐसा अभिमान रखना ही नहीं, वह अभिमान आज से छोड़ देता हूं।" ऐसा मैंने निश्चय किया। और उसके बाद जहां-जहां गया, वहां "प्रान्त-भेद, धर्म-भेद और

राष्ट्र-भेद भी मन में न रखते हुये, मानवता मन में रखकर चलूंगा और ये सब होते हुए शंकातीत मनुष्य को जो अधिकार मिलने चाहिए, उसकी कोई भी लालसा नहीं रखूंगा, और लोगों को शंका का कोई कारण ही न रहे, इतनी सावधानी आज से जीवन भर रखूंगा।" यह निश्चय किया। उस दिन रात भर नींद नही आयी। गहरा चिन्तन चला और यकायक स्मरण हुआ कि शान्तिनिकेतन में प्रवेश मांगते समय मैंने गुरुदेव को लिखा था, "आपकी संस्था के लिए किसी तरह बाधा नहीं बनूंगा। इतना आश्वासन आपको देता हूं।" आज भी गुरुदेव के मन में कभी नहीं आयेगा कि दिया हुआ विश्वास मैंने तोड़ा है, फिर भी यदि शान्तिनिकेतन का एक भी सेवक चिन्तामन शास्त्री के द्वारा सन्देशा भेजता है, तब मुझे समझ लेना चाहिए कि दिये हुये वचन का मैंने पूर्ण अर्थ में पालन नहीं किया।

उसके बाद गांधीजी के आमंत्रण पर मैं उनके आश्रम में शामिल हुआ। उनके असंख्य कामों का जिम्मा उठा लिया और यथाशक्ति कर दिखाया। मेरी कल्पना में भी न आ सके, इतनी आत्मीयता से पूरे हृदय से, मुझे अपनाया—केवल आश्रमवाले या विद्यापीठवाले या गांधीवाले ही नहीं, किन्तु समस्त गुजरातियों ने मुझे पूरे हृदय से अपनाया है। अपने ही समाज का आदमी हूं। इसी तरह से गुजरातियों के गुण-दोष की चर्चा मेरे साथ की।

उनकी आत्मीयता और इतना व्यापक और अकृत्रिम प्रेम प्राप्त करके मैंने धन्यता का अनुभव किया है; लेकिन शान्तिनिकेतन में उस दिन मैंने जो संकल्प किया था कि लोगों की आत्मीयता पर खिंचाव नहीं आने दूंगा, और किसी भी अधिकार के स्थान को स्वीकार नहीं करूंगा, पूर्ण आत्मविश्वास से, किन्तु सब तरह से सचेत रहकर सेवा ही करता रहूंगा; इस संकल्प को भुलाने नहीं दिया। एक ही समय मेरी पूरी कसौटी हुयी।

अब पूज्य बाबूजी ने मुझे गुजरात विद्यापीठ की जिम्मेदारी लेने की सूचना की और कृपालानी को मेरठ वापस भेजा। उस समय, यानी जब विद्यापीठ की पुनर्रचना हुई, एक अखिल गुजरात की संस्था की जिम्मेदारी को मैं स्वीकार करूं या न करूं, यह शंका मेरे मन में आयी। आश्रम में या विद्यापीठ में या अन्य किसी जगह प्रथम स्थान लेने से मैंने हमेशा इन्कार किया था। पूज्य बापूजी कोई भी काम सौंपते तो तुरन्त श्री किशोरीलालभाई, महादेवभाई अथवा नरहरिभाई जैसों को साथ रख, अधिकारों को मैं बांट देता था। इतनी सावधानी रखते हुए भी जब विद्यापीठ की पुनर्रचना की गयी तो जिम्मेदारी मेरे ऊपर आयी। तब मैंने नरहरिभाई से कहा, "नरहरिभाई, हम दोनों के बीच कोई भेद नहीं। हम एकराग होकर काम करते आये हैं; तब विद्यापीठ के कुलनायक आप ही क्यों नहीं बनते। मेरी पूर्ण शक्ति आप ही के हाथ होंगी; आप कहोगे, उस स्थान को मैं स्वीकार करूंगा; किन्तु कुलनायक आप ही रहिये।"

मेरी भावना नरहरिभाई समझ गये। उन्होंने कहा, "आपके संतोष की खातिर मैं आपकी सूचना मान जाता; किन्तु अपनी मर्यादा भी मुझे समझनी चाहिये। मैं यदि कुलनायक बनूं तो मुझे कदम-कदम पर आपको पूछ-पूछकर ही काम करना पड़ेगा। मैं नाममात्र का कुलनायक बनूं और हर समय सलाह या निर्णय के लिए आपके पास दौड़ूं, यह स्थिति हो जाएगी और यह मुझे बिल्कुल ठीक नहीं लगेगा। जो वस्तुस्थिति है, उसको स्वीकार करके चलें। कुलनायक आप ही बनें। मैं रोज आपसे मिलूंगा और आपका सब काम आपको संतोष हो, इस तरह करूंगा। आप दोगे वह सब अधिकार भोगूंगा। लेकिन कुलनायक का पद तो आपको ही लेना होगा।"

लाचार होकर मैंने स्वीकार कर लिया। आगे मैंने अनुभव किया कि मेरी बात यदि नरहरिभाई मान जाते तो सरदार वल्लभभाई के लिए वह विशेष अनुकूल रहता।

किन्तु अवसर बीतने पर 'ऐसा होता' और 'वैसा होता' ऐसा विचार करना व्यर्थ है। जो होना था, सो हो गया, और कुछ हो भी नहीं सकता था, ऐसा माने बिना चारा नहीं।

१४ :: मेरा आश्रम-प्रवेश

१० अप्रैल १९१७ के दिन चम्पारण जाते हुए रास्ते में बड़ौदा स्टेशन पर पूज्य बापूजी मुझे मिले और बोले, "अभी-अभी मैंने आश्रम खोला है। इसलिए मुझे सारा समय आश्रम को देना चाहिए था, किन्तु सेवाकार्थ लिए बाहर से निमंत्रण आते हैं। उनको मना कैसे करूं ! इसलिए मैं चम्पारण जा रहा हूं। आप अनुभवी हैं। के शान्तिनिकेतन में आश्रमवासियों के साथ आप ठीक-ठीक मिल-जुल गए, इसलिए आप पूरे घर के ही हैं। आप यदि आश्रम जाकर रहें तो मैं निश्चिन्त रहूंगा।" मैं मान गया और आश्रम का हो गया और सब कामों में रस लेने लगा। खासकर शौचालय की और उसके आसपास की सफाई करने में, और रसोई करने में मैं पूरा सहयोग देता। परोसने में और बर्तन मांजने में औरों से मेरा उत्साह कुछ ज्यादा ही रहा होगा।

पढ़ाने में संस्कृत सिखाने का काम मेरे हिस्से में आया था। देवदास रामदास उसमें विशेष रस लेते थे, ऐसा याद है। प्रार्थना में मणिलाल गांधी और मैं ज्यादा रस लेते थे। उस समय आश्रम कोचरब में दो किराये के मकानों में चलता था। रास्ते के उस पार से एक कुएं में से पानी खींचकर लाना पड़ता, इसलिए हम सब पानी भरने के काम में निश्चित समय पर लग जाते।

उस समय का एक मजे का किस्सा याद आता है।

कुएं में से पानी खींचनेवाले हम दो-तीन लोग थे, बाकी के सब हम दें, उतना पानी उठाकर आश्रम में पहुंचाते। आश्रम के सारे बर्तन भर दिये, फिर २४ घंटों तक पानी की कोई चिन्ता नहीं रहती थी।

कहने की आवश्यकता नहीं कि इस काम में पूज्य बापूजी भी भाग लेते थे। एक दिन मैंने उनसे कहा, "हम छोटे-बड़े काफी लोग हैं, पानी की व्यवस्था ठीक तरह से बैठ गई है। आपके लिए दूसरे बहुत काम पड़े हैं, आप इसमें न आवें तो चलेगा।" किन्तु बापू नहीं माने, तो मैंने आश्रम के छोटे-बड़े बच्चों के साथ एक षड्यंत्र रचा। हम पानी खींचते जाते और जो कोई हाजिर हो, उसके बर्तन में पानी उंडेलते और बर्तन उसके सिर पर रख देते। पानी ले जाने के लिए जितने भी बर्तन थे, उतने लड़कों को मैंने बुला लिया। एक बर्तन में पानी भरूं और एक लड़के के सिर पर रख दूं। बापूजी वहां खड़े थे। उनको पानी मिले ही नहीं। एक-दो बार ऐसा हुआ और तुरन्त बापूजी के ध्यान में बात आ गई। एक भी बर्तन उनको मिलता नहीं था। बापू के मन में उलझन हुई—फिर क्या करूं? अपने लिए बर्तन ढूंढ़ने आश्रम गए, वहां एक भी बर्तन खाली न था। एक कमरे में से दूसरे में गए, बर्तन नहीं मिला, सो नहीं ही मिला। मैंने पक्का षड्यंत्र किया है, यह वे समझ गए, किन्तु पराजय कबूल करें तो बापूजी कैसे ? एक कमरे में छोटे बच्चों को नहलाने के लिए एक अच्छा सा टब था, उसमें पानी भर तो सकते थे; लेकिन भरा हुआ टब उठाकर घर में ले जाना मुश्किल था। इसलिए हमने उसे रहने दिया था। उसको खाली कर बापूजी ले आये और मेरे सामने रखकर बोले, "इसमें पानी भर दो।" मैंने दलील की, "इसमें पानी रहेगा तो सही, लेकिन इसे उठाकर ले कैसे जायेंगे ?" बड़े ठंडे दिमाग से बापूजी बोले, "यह काम मेरा है। आप तो इसमें पानी भर दीजिए।" मैं हारा। उत्साह-उमंग से पानी लेने दौड़ते आते बच्चे से मैंने एक अच्छा बर्तन मांग लिया। वह भरकर बापूजी को दिया। लेकिन बापूजी कहां मानने वाले थे ! कहने लगे,

"यह बर्तन मेरा नहीं। जिसका है,उसको दीजिए। मैं तो यह टब ही ले जाऊंगा।" क्या किया जाए ! तब टब उठाने में मैंने ही उनकी मदद की। बापूजी पानी ले गए। वापस आए तब मैंने कहा, "बापूजी, मैं हारा। आप तो सत्याग्रह के आचार्य हैं; आपके आगे हमारा कहां तक बस चलेगा और भगवान भी तो आपके ही पक्ष में हैं, इसीलिए आपको यह टब मिला। अब आप कहेंगे मैं वैसा ही करूंगा। आप इस टब को छोड़ दीजिए।" बापूजी हंस पड़े और मान गए। सब लड़के यह तमाशा देख रहे थे। बापूजी को हराने के लिए उन सबने हो सके उतना सब किया था। दौड़-दौड़कर जाते और दौड़-दौड़कर आते कि जिससे बापूजी की बारी आए ही नहीं।

मैं हारा; बापूजी जीते। उसमें हम सबको मजा आया था, लेकिन लड़कों की सहानुभूति पूरी मेरे साथ थी।

मैं जब शान्तिनिकेतन में था और बापूजी वहां आए तब बर्तन मांजने के लिए बंगाली लड़कों को मैंने राजी किया था, यह बापूजी ने देखा था, इसलिए आश्रम की प्रार्थना में उस बात का उल्लेख करके बापूजी ने कहा कि बर्तन मांजने की भी एकता है। काका के पास से सब आश्रमवासियों को सीख लेनी चाहिए। यह बात आश्रम के प्रारम्भ की नहीं, किन्तु आश्रम में एक छोटी-सी शाला शुरू होने के बाद की है।

आश्रम में पहले से बर्तन मांजने के लिए नौकर नहीं थे। सब बर्तन ही मांजते थे। हरेक आदमी अपनी अपनी थाली, कटोरी, लोटा इत्यादि अपने-आप साफ करते। रसोई के बर्तन हममें से अमुक लोग मांजकर रख देते। इसमें मैंने सुधार किया। सबको परोस लेने के बाद दाल-चावल के जूठे बर्तन सूखकर सख्त हो जाते थे। मैंने तय किया कि खाने के लिए सब एकत्र हो जायं, तब पकाने के बर्तन में से चावल दूसरे बर्तन में निकालकर उसे ढंक दिया जाय और पकाये गये बर्तन में पानी डालकर बाजू पर रख दिया जाय, दाल के बर्तन का भी वैसा ही किया जाय।

इस तरह बहुत-सी मेहनत कम हो गई। फिर बड़े-बड़े बर्तन मांजने का काम तो रहता ही था।

एक दिन प्रार्थना के बाद मैंने जाहिर किया, "आज से बर्तन मांजने की व्यवस्था को नाम दिया जाता है 'मार्जन मंडल। जब बर्तन मांजे जायेंगे तब शिक्षकों में से हम बारी-बारी से, किसी अच्छी पुस्तक में से कुछ रोचक चीजें सुनाते जायेंगे और यदि इसमें से चर्चा छिड़ जाय तो मांजने वाले उस चर्चा में शामिल हो सकेंगे।" फिर मैंने कहा, "कोई भाई या बहन जोश में आकर यदि जोर-शोर से दलील करेंगे तो उसी जोश से बर्तन भी साफ होते रहेंगे, इसलिए इसमें फायदा ही है। मैंने शान्तिनिकेतन में यह उपाय आजमाया था। इसलिए सब बारीकियां मैं जानता था।

फिर तो पूछना ही क्या था ! नरहरिभाई, किशोरलालभाई, देवदास इत्यादि सभी चर्चा में भाग लेने लगे। जिनकी बारी नहीं थी, वैसे लोग भी मांग-मांगकर बर्तन लेकर बैठ जाते। चर्चा करते जाते और राख या मिट्टी लेकर बरतन मांजने जाते, धोते जाते। सत्याग्रहियों के लिए चर्चा के विषय कभी कम नहीं पड़ते। 'मार्जन मंडल' का काम पूरे वेग से चला।

आगे चलकर पुराने लोगों को बाहर के नये-नये काम लेने पड़े। हम तितर-बितर हो गये, फिर 'मार्जन-मंडल' का क्या हुआ, मैं नहीं जानता। आश्रम में नौकर नहीं होते। इसलिए सब आश्रमवासी मिलकर ही सारे बरतन मांजते होंगे, किन्तु 'मार्जन मंडल' जैसा संस्कृति केन्द्र आगे चला नहीं, यह तो आश्रम-जीवन की एक न्यूनता ही ठहरी।

१५ :: आखिर हिन्दी मुझसे चिपकी

मैं आश्रम में दाखिल हुआ, उसके बाद थोड़े ही दिनों में भरुच (भड़ौच) में एक शिक्षण परिषद हुई। उसके अध्यक्ष होने के लिए गांधीजी को आमंत्रण था। गांधीजी ने कहा कि इस शिक्षण परिषद् में आप जरूर उपस्थित रहिए। उस परिषद् के लिए एक निबंध भी लिखिए—'हिन्दी ही इस देश की राष्ट्रभाषा हो सकती है।' मैंने हां भी भर ली, लेकिन इस विषय पर मैंने खास विचार नहीं किया था।

कॉलेज में सीखता था तब एक विद्यार्थी ने मुझसे कहा था, "लोकमान्य तिलक के 'केसरी' की हिन्दी आवृत्ति मैंने मंगवाई है। उत्तर भारत में सर्वत्र हिन्दी चलती है। उस भाषा का कुछ ज्ञान होना अच्छा है, इसलिए मैं 'हिन्दी-केसरी' मंगवाता हूं।"

इस भाषा के बारे में मेरे मन में यह सर्वप्रथम जागृति थी। मुझे उसका ख्याल उचित लगा। लेकिन उसका खास महत्त्व मन में उगा नहीं। कई महाराष्ट्रीय सन्तों ने कुछ कविताएं हिन्दी में की हैं, यह मैं जानता था। कई कविताएं मैंने पढ़ी थीं। कई बार हिन्दी में लोगों को बोलते सुना था। स्वराज्य होने पर सारे देश का राज्य कोई सर्वमान्य देशी भाषा में ही चलना चाहिए, ऐसा विचार अनेक बार मन में आया था। यह विषय मेरे लिए नया नहीं था, किन्तु उसपर मैंने चिन्तन नहीं किया था। सयाजीराव गायकवाड़ ने अपने राज्य में मराठी का महत्त्व कम करके उसको सिर्फ अपने निजी विभाग में ही चलाया था, बाकी का सारा सरकारी काम गुजराती में ही चलाया, क्योंकि "वही मेरी प्रजा की भाषा है और सारे देश के लिए हिन्दी को ही स्वीकार करना चाहिए।" इस ख्याल से उन्होंने हिन्दी को अपने राज्य में प्रोत्साहन दिया। यह भी मुझे मालूम था। किन्तु जब बापूजी ने शिक्षण परिषद् में पेश करने के लिए हिन्दी के बारे में निबन्ध लिखने को कहा तब इस विषय पर गुजरात के साक्षरों ने क्या-क्या लिखा है, यह सब ध्यानपूर्वक पढ़कर मैंने अपने विचार बना लिये। मूल लेख मराठी में लिखा था, बाद में उसका गुजराती किया। इसमें किसकी मदद ली थी, यह आज याद नहीं। उस लेख में मेरे विचार और गांधीजी के मुख से जो सुना, वह अच्छी तरह आ गया है। उस समय मुझे कल्पना भी नहीं थी कि यह निबन्ध मेरे भाग्य में महत्त्व का परिवर्तन करनेवाला है। यह लेख लिखा गया था १९१७ के आखिर के दिनों में।

भरुच की 'शिक्षण-परिषद' में बापूजी ने अपने भाषण में हिन्दी का महत्त्व समझाया ही था। उसे पढ़कर टंडनजी ने बापूजी को इन्दौर में होनेवाले हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष होने का आमन्त्रण दिया। इन्दौर यानी भाई कोतवाल का क्षेत्र। यह क्रान्तिकारी भाई दक्षिण अफ्रीका जाकर गांधीजी के आश्रम में रहे थे और गांधीजी पर उनका अच्छा प्रभाव था। इसलिए इन्दौर परिषद् के अध्यक्ष का स्थान बापूजी को दिलाने में भाई कोतवाल का हाथ मुख्य होना कोई आश्चर्य नहीं। खैर, बापूजी मुझे अपने साथ इन्दौर ले गए। उस सम्मेलन में मैंने भी भाग लिया होगा पर अब स्पष्ट याद नहीं है।

उसके बाद दूसरी बार १९३५ में उसी इन्दौर में हिन्दी साहित्य सम्मेलन हुआ। उसमें फिर से बापूजी अध्यक्ष चुने गए।

उसके पहले सन् १९३२ में स्वराज्य आन्दोलन ने जोर पकड़ा। मैं अनेक बार जेल गया। बापूजी ने साबरमती आश्रम का विसर्जन किया। मैंने गुजरात विद्यापीठ का काम छोड़ देने का विचार किया। इतना ही नहीं, किन्तु गुजरात भी छोड़ने का निश्चय किया, जिससे बापूजी बहुत नाराज हुए। अन्त में वे मेरी बात मान गए, और दक्षिण का हिन्दी प्रचार मजबूत करने के लिए उन्होंने मुझे वहां भेजा। इस तरह राष्ट्रभाषा हिन्दी के काम में मैं पूरा-पूरा जुड़ गया। उसी अर्से में (१९३५ में) इन्दौर का हिन्दी साहित्य सम्मेलन हुआ और

बापूजी उसके अध्यक्ष चुने गए। उस सम्मेलन में मैंने हिन्दी लिपि सुधार का प्रस्ताव रखा। इससे हिन्दीवाले कुछ दुखी हुए। टंडनजी मेरे प्रस्ताव का महत्त्व जानते थे किन्तु रूढ़िवादी हिन्दी लोग कहां मानने वाले थे ? उनको बहुत उलझन हुई। मैं था गांधीजी का आदमी और हिन्दी प्रचार के पीछे हाथ धोकर पड़ा हुआ था। वे लोग मुझे चाहते भी थे और मुझसे डरते भी थे। आगे चलकर सम्मेलन ने राष्ट्रभाषा प्रचार के लिए एक समिति नियुक्त की और उसका कार्यालय गांधीजी ने वर्धा में रखा। इस तरह राष्ट्रभाषा प्रचार मेरा जीवन-कार्य बन गया। मेरे जीवन के कितने ही उत्तमोत्तम वर्ष इस प्रचार को मैंने दिये, किन्तु गांधीजी के प्रगतिशील विचारों का महत्त्व हिन्दी जगत समझ न सका। देश के टुकड़े कबूल करने पड़े। हिन्दी-उर्दू मिली-जुली हिन्दुस्तानी शैली का प्रचार की बापूजी की प्रवृत्ति का बहुत विरोध हुआ। और हिन्दी प्रचार के मेरे जीवन-कार्य में भी बाधा उत्पन्न हुई।

इस समय तो मुझे इतना ही कहना है कि मेरा भाग्य हिन्दी के भाग्य के साथ जुड़ गया, उसका प्रारम्भ मेरे आश्रम-निवास के साथ ही सन् १९१७ में हुआ।

१६ :: हिन्दी यानी उत्तर का आक्रमण

हिन्दी प्रचार के साथ-साथ भाषा के व्यापक सवाल का अनुभव भी मुझे यहां देना चाहिए और हिन्दी प्रचार के बारे में जो अनुभव हुए, उनमें से कई प्रसंग भी यहां देना आवश्यक है।

न जाने किस तरह किन्तु भाषा का प्रश्न छुटपन से ही मुझे महत्त्व का लगा है। हमारे घर में हम हमेशा मराठी में बोलते थे, मराठी ही हमारी जन्मभाषा थी, उसमें कोई शंका नहीं। फिर भी घर में मेरी मां और मेरी भाभियां अचूक कोंकणी में बातें करती थीं। मैं बेलगांव शाहपुर जाता तब वहां भी हमारी बिरादरी के ज्यादातर लोग कोंकणी में ही बोलते थे, किन्तु वह कोंकणी थी मराठी-मिश्रित। इसलिए हम मानते थे कि कोंकणी तो मराठी की ही एक घरेलू बोली है। शुद्ध भाषा लिखने की, प्रतिष्ठित तरह से बोलने की और ग्रन्थ में आनेवाली भाषा तो मराठी ही है। कोंकणी उस मराठी का एक स्थानिक और मात्र बोलचाल का रूपान्तर है। ऐसा ही हम सब मानते थे। रत्नागिरी, मालवण, अलिबाग इत्यादि जिलों में जो कोंकणी बोली जाती है, वह मराठी मिश्रित है, इसलिए वहां के लोग भी कोंकणी को मराठी की एक बोली ही मानते हैं, यह बिलकुल स्वाभाविक है। बाद में जब हम गोवा गए, और कारवार की ओर गए, तब कोंकणी का शुद्ध रूप सुनने को मिला। धीमे-धीमे निश्चय हुआ कि कोंकणी मराठी के नजदीक की, किन्तु बिलकुल स्वतन्त्र भाषा है।

पिताजी के साथ यात्रा करते हुए कानड़ी भाषा का काफी परिचय हुआ। यह तो बिलकुल भिन्न भाषा, आर्य कुटुम्ब की नहीं द्रविड़ कुटुम्ब की। उसमें भी कुछ थोड़े मराठी शब्द दाखिल भले हुए हों। कन्नड़ भाषा की लिपि भी अलग और उसके संधि-नियम भी अलग। वह भाषा भी मैं थोड़ी सीखा था।

कर्नाटक में एक देशी राज्य है सावनूर। वह तो मुसलमानी राज्य था। वहां के राजवंशी लोग एक तरह की उर्दू बोलते थे, किन्तु आसपास की सार्वभौम भाषा कन्नड़ थी।

इस तरह अनेक भाषाओं का साहचर्य इस देश में है, इसका कोई इलाज नहीं। किसी भी भाषा का प्रचलन बन्द करके सर्वत्र एक ही भाषा चलाना (नेता कितना ही चाहें तो भी) जनता उसके लिए तैयार नहीं होगी। लोकव्यवहार के अनुसार भाषा का क्षेत्र बढ़ता है या घटता है। देश में भाषा की विविधता तो रहेगी

ही और आदान-प्रदान बढ़ने से भाषा का मिश्रण भी होता रहेगा यह बात मेरे ध्यान में आई।

मैंने यह भी देखा कि भाषा का सम्बन्ध धर्म के साथ भी जुड़ जाता है। एक उदाहरण लेंगे। मुसलमान भारत में कहीं भी रहते हों और वहां की भाषा उनकी जन्मभाषा भी हो तो भी वे उर्दू को मुसलमानों की खास भाषा समझकर घर में उसे चलाने की पूरी कोशिश जरूर करेंगे। उसका एक मजेदार अनुभव सुनिये।

मैं आसाम में हिन्दी प्रचार करने गया था। वहां के लोगों की भाषा है असमिया। उसकी लिपि करीब-करीब बंगाली ही है। असमिया भाषा तो बंगाली की ही एक बहुत खराब विकृति है। ऐसा कई अच्छे-अच्छे बंगाली मानते हैं। हिन्दी जब संस्कृत शब्द ज्यादा काम में लेती है, तब ज्यादातर हिन्दू उसे समझ जाते हैं। इस अनुभव से आसाम में क्योंकि वहां की भाषा मैं नहीं जानता था, हिन्दी में ही बोलता था। अधिकतर लोग समझ जाते थे। जब कुछ समझ में न आवे तब वहां वे अंग्रेजी में पूछते थे। जवाब में मैं कभी अंग्रेजी में और कभी हिन्दी में सविस्तर समझाता था। एक दिन मेरे व्याख्यान के लिए एक बड़े असमिया मुसलमान को अध्यक्ष बनाया था। मैंने उस भाई से पूछा, "आपकी जन्मभाषा कौन-सी है?" उसने गम्भीरता से और कुछ जोश से कहा, "ऑफ कोर्स, उर्दू।" मैंने स्वाभाविक तौर से पूछा, "तब तो आज आप उर्दू में ही बोलेंगे।" उस भाई का उत्तर सुनकर मैं तो आश्चर्यचकित रह गया। उसने कहा, "हमारी जन्मभाषा तो उर्दू ही है, किन्तु मैं उर्दू बिलकुल बोल नहीं सकता! मुझे असमिया बोलने की आदत है, इसलिए आज मैं असमिया में ही बोलूंगा।"

अपनी जन्मभाषा में मनुष्य बोल नहीं सकता, यह बात मैंने पहली बार सुनी! उसके बाद स्नेहियों को वह किस्सा सुनाकर मैं कहने लगा, "अपने देश में दो उर्दू हैं—एक मामूली उर्दू और दूसरी—"ऑफ कोर्स उर्दू।" यह ऑफ कोर्स उन असमिया मुसलमान भाई की जन्मभाषा थी!

स्वराज्य के आन्दोलन में बंगाली लोगों ने बड़ा योगदान दिया। बंग-भंग के खिलाफ उन्होंने जबरदस्त आन्दोलन करके बंग-भंग रद्द कराया।

उन दिनों बंगाल में अंग्रेजों के राज्य के खिलाफ जबर्दस्त क्रांतिकारी आन्दोलन भी चला। परिणाम-स्वरूप बंगाली लोगों के बारे में और उनकी भाषा के बारे में हमारे मन में बहुत आदर जागा। ऐसे संस्कारी और तेजस्वी लोगों की भाषा और साहित्य जानना ही चाहिए, इस विचार से बंगाली (और असमिया) भाषा अच्छी तरह से सीख ली थी। दक्षिण की कन्नड़ मैं बोल भी सकता था।

यह सब देखकर ही गांधीजी ने मुझे भाषा प्रचार में लिया होगा। काफी कम समय में मैंने गुजराती अपनाई और उसमें लिखने भी लगा। यह भी कारण होगा, जिससे बापूजी ने मुझे हिन्दी-प्रचार के लिए पसन्द किया।

मैं आश्रम में दाखिल हुआ, उसके थोड़े ही दिन बाद वे हिन्दी प्रचार के लिए मुझे मद्रास की ओर भेजने-वाले थे। मैंने हिम्मतपूर्वक 'ना' की। यह एक ही प्रसंग था कि जब बापूजी ने कहा हो, और मैंने सीधा इंकार किया हो। मैंने कहा, "मैं आपके पास आया हूं आपके विचार, आपकी कार्य-पद्धति और आपका व्यक्तित्व समझने के लिए आपके प्रधान कार्य के साथ सह-कार्य करने के लिए। मैं जानता हूं कि हिन्दी का प्रचार स्वराज्य की दृष्टि से और स्वदेशी सांस्कृतिक विकास की दृष्टि से आपके लिए बहुत महत्व का सवाल है। फिर भी इस समय आश्रम छोड़कर दूसरा काम लेने की बात मुझे सूझती नहीं। फिर भी आपकी आज्ञा ही होगी तो मैं उसे मान लूंगा।" बापूजी ने मेरी बात मान ली, और गुजराती समाज की सेवा करके उसको अपनाने का मुझे उत्तम-से-उत्तम मौका दिया। इसके लिए मैं आजन्म उनका ऋणी हूं। किन्तु आगे चलकर गुजरात छोड़ने की मैंने बात की और यह बात स्वीकार किए बिना चारा नहीं, ऐसा बापूजी ने देखा, तब उन्होंने राष्ट्रभाषा हिन्दी का प्रचार-कार्य आखिर मुझे पकड़ा ही दिया।

अब आसाम का थोड़ा अनुभव यहां दे रहा हूं।

हिन्दी प्रचार के लिए जब मैं आसाम गया तब मेरे पहले इस प्रदेश में हिन्दी प्रचार का कार्य बाबा राघवदास ने किया था। उनका आदर्श और उनकी पद्धति मुझसे बिलकुल अलग थी। उनके ढंग से आसाम में हिन्दी का प्रचार तो वहां हमेशा के लिए रहनेवाले मारवाड़ियों के बीच ही हो सके, ऐसा था।

उस जमाने में मणिपुर एक देशी राज्य था। राजा नाबालिग था। इस कारण से हो, अथवा और कोई भी कारण हो, मणिपुर में सारी सत्ता अंग्रेजों के एजेन्ट के हाथ में थी। मणिपुर जाने के लिए इजाजत लेने के लिए मैंने अनेक बार प्रयत्न किए, लेकिन सफलता नहीं मिली। आखिर मैंने ब्रिटिश एजेन्ट के नाम १५ रुपये का लम्बा-चौड़ा तार किया। गोरे एजेन्ट को लगा होगा कि यह कोई बड़ा नेता या अधिकारी होगा। इजाजत तार से मिली तो सही, किन्तु इतनी देर से मिली कि उस दिन की सब बसें जा चुकी थीं। अन्त में तेल के पीपे ले जानेवाले एक ट्रक में सुबह से शाम तक बैठकर मैं मणिपुर पहुंच सका। यह अनुभव भूल नहीं सकता। मैं मणिपुर पहुंचा। मणिपुर की राजधानी इम्फाल है। वहां किसी की पहचान नहीं थी, फिर कहीं से पहचान निकाली, एक व्याख्यान दिया, अनेक शंकाएं दूर कीं। दूसरे दिन मैं वापस आया। उसके बाद वर्षों तक मणिपुर जाना नहीं हुआ। दूसरी बार गया तब क्या आश्चर्य! वहां के स्थानिक लोगों ने हिन्दी के अनेक केन्द्र खोल रक्खे थे। साहित्य की तैयारी चल रही थी। जहां गया, वहां लोग कहने लगे, "बरसों पहले आप आए थे और हिन्दी के पक्ष में आपने एक व्याख्यान दिया था, उसका असर मारवाड़ी और असमिया लोगों पर भी अच्छा हुआ और दोनों के सहयोग से हम कितनी प्रगति कर सके हैं, यह आपको दिखाते हैं। आज हमें आनन्द भी है, और अभिमान भी होता है।"

हिन्दी प्रचार के सिलसिले में जब मैं पहली बार केरल गया तब वहां का एक मजेदार अनुभव भी संक्षेप में सुन लीजिये।

केरल में शाम को पहुंचा। लोगों से मिला। आगे का कार्यक्रम तय किया। सुबह केरल का एक अंग्रेजी दैनिक खोला। उसमें बड़े अक्षरों से मेरा इस तरह का स्वागत था, "एनअदर आर्यन इन्वेजन फ्रॉम दी नॉर्थ।" ऐसे बड़े शीर्षक के नीचे ही अंग्रेजी में लिखा था कि काकासाहेब के जैसे बड़े नेता हिन्दी प्रचार के लिए दक्षिण में घूमनेवाले हैं। आज केरल आयेंगे। मद्रास और तमिलनाडु के समाचार लोगों ने पढ़े ही थे, इसलिए केरल में इस तरह का स्वागत होगा, ऐसी मुझे कल्पना भी नहीं थी।

'उत्तर भारत से दक्षिण पर एक चढ़ाई लेकर आए हैं', ऐसा कहकर मेरा विरोधी स्वागत देखकर मुझे मजा आया। एक साथी ने पूछा, "अब क्या करेंगे।" उनकी आवाज में उलझन भरी हुई थी। मैंने कहा, "इसका मैं पूरा फायदा उठाऊंगा। आखिर मैं शिक्षण-शास्त्री तो हूं नहीं।"

मैंने तलाश की कि ये लोग हैं कौन, जिनको हिन्दी की इतनी भड़क है। उन लोगों को एकत्र लाने का मैंने प्रयत्न किया। उनको लगा कि इतना सख्त विरोध किया, फिर भी वह हमसे मिलना चाहते हैं! ठीक है, उनको कुछ सुनाएंगे, ऐसा सोचकर वे लोग अच्छी संख्या में एकत्र हुए। प्रारम्भ में ही मैंने कहा, "भाइयो, आपने भूल की है, मैं नहीं हूं उत्तर का, न दक्षिण का। मैं तो उत्तर और दक्षिण के बीच मध्य का (जरा पश्चिम की तरफ का) हूं। उत्तर के लोग यदि दक्षिण पर धावा बोलें तो बीच में हम ही उनको रोकेंगे। आप जानते हैं कि हम महाराष्ट्रियों को सब 'दक्षिणी' कहते हैं। हिन्दी राष्ट्र भाषा भले हो, किन्तु मेरी जन्म-भाषा तो 'महाराष्ट्री' है। उत्तर की फौज लेकर मैं धावा क्यों बोलूं! आपका ही नेतृत्व करके क्या मैं उत्तर के विरुद्ध नहीं लड़ूंगा?"

इतना विनोद करने के बाद मैंने कहा, "आपको समझना चाहिए कि आज तक सारे देश पर चन्द खास

प्रभावी लोग, स्वदेशी हों या विदेशी, सामान्य जनता पर राज्य करते आए हैं और जनता की भाषा को दबा देते हैं।

"प्राचीन काल में आर्य लोग उत्तर प्रदेश में सर्वत्र फैले, फिर दक्षिण में आए और उन्होंने यहां संस्कृत भाषा चलाई। मैं संस्कृत का भक्त हूं। दक्षिण में संस्कृत का प्रचार अच्छा हुआ। उसमें आप केरल-वासियों ने सबसे अधिक उत्साह दिखाया है।

" उसके बाद आए पठान और मुगल। उनकी धर्म-भाषा अरबी और संस्कृति की भाषा फारसी है, जिसको आज परशियन कहते हैं—उन भाषाओं का राज्य चला। वे दोनों भाषा उत्तर की देशी भाषा के साथ मिलीं और उर्दू पैदा हुई। उसके बाद पश्चिम के लोग आए। उसका इतिहास आप जानते हैं। उनकी भाषा अंग्रेजी। उनका राज्य हम पर चल रहा है। वह कुछ यहां की प्रजा की भाषा नहीं है।

" किन्तु यह भाषा का प्रश्न आपको सविस्तार समझा दूं, इससे पहले मैं अपनी ही बात आपको कहना चाहता हूं।

"आपके ऊपर कोई आक्रमण करे तो आप संगठित होकर अपने बचाव की तैयारी करते हैं। मैं आपको समझाने आया हूं कि केवल आत्मरक्षा, यह उत्तम लक्षण नहीं है।

" संकट देखकर, दीवार बांध कर, अन्दर रहकर आत्मरक्षा करने के बदले आक्रमणकारियों के विरुद्ध आप ही आक्रमण क्यों न करें !

" अब आप ही बताइए, पिछले दस हजार वर्षों में केरल का सबसे बड़ा आदमी कौन था ? बेशक वे आद्य शंकराचार्य थे। वे केरल के नाम्बुद्री ब्राह्मण। केरल के बचाव के लिए उन्होंने यहां पर सांस्कृतिक किले नहीं बांधे। उन्होंने तो उत्तर के लोगों की भाषा सीख ली और उन पर आक्रमण किया। यह अकेला छोटा केरल का ब्राह्मण सारे देश में, हर जगह जाता था और वाद-विवाद के लिए आह्वान देता था। उत्तर की भाषा सीखकर उत्तर के शास्त्रों में प्रवीण होकर उन्होंने दिग्विजय चलाया। सारा देश जीतकर उन्होंने चारों छोरों पर आध्यात्मिक मठों की स्थापना की। वे चार आध्यात्मिक छावनियां हैं, जो आज भी मजबूती से काम कर रहे हैं। पश्चिम में द्वारका के पास, पूर्व में जगन्नाथपुरी, उत्तर में हिमालय की गोद में जोशीमठ, और दक्षिश में शृंगेरी अथवा कन्याकुमारी। चार यात्राधामों में उन्होंने अपने मठों की स्थापना की और तब से इन सब स्थानों पर शंकराचार्य के शिष्यों ने धर्मप्रचार किया है।

" मैं आपको कहने आया हूं कि अब हम ब्राह्मणों का, मुल्लाओं का अथवा अंग्रेज आई०सी० एस० या मिशनरियों का राज्य नहीं चाहते। हम भारतीय प्रजा का राज्य चाहते हैं। यह राज्य प्रजा की भाषा में चलना चाहिए। केरल का राज्य न चलना चाहिए अंग्रेजी में, न चलना चाहिए हिन्दी में। वह तो मलयालय में ही चलना चाहिए।

"और भारत की एकता संभालनी है न ? वह शक्य होगा राष्ट्रभाषा द्वारा। बिना एकता के नहीं टिक सकेगी हमारी स्वतंत्रता, और न टिक सकता है हमारा सामर्थ्य। दुनिया में हमारे देश की प्रतिष्ठा भी नहीं जम पायेगी। और इस देश की भाषाओं में जिस भाषा को बोलनेवालों की संख्या सबसे अधिक होगी और जो भाषा समस्त जनता के लिए आसान होगी, ऐसी स्वदेशी भाषा ही राष्ट्रभाषा बन सकेगी। इसलिए मैं आपको कहने आया हूं कि मलयालम की मदद में, उत्तर भारत की जनता की भाषा हिन्दी 'एक जरूरी दूसरी भाषा' के तौर पर आप सीख लें और फिर शंकराचार्य की तरह उत्तर भारत पर धावा बोल दें। आपको सिर्फ आत्मरक्षा करनी है ? या सर्वसंग्राहक एकता का धावा लेकर सर्वत्र पहुंचना है ?

"आप संस्कृत उत्तम जानते हैं। संस्कृत उत्तम तरीके से सीख रहे हैं।

"उत्तर भारत से डर कर यदि आप दक्षिण भारत के लोग अलग रहेंगे और अंग्रेजों की छत्रछाया में रहना चाहेंगे तो देश के आप टुकड़े करेंगे। फिर एक-एक टुकड़ा भिन्न-भिन्न जबरदस्त राष्ट्र के हाथ में चला जायेगा। यह सब टालने के लिए उत्तर की प्रजाकीय भाषा सीख कर उसका प्रचार करने का काम आप ले लीजिये। जो काम एक समय श्री शंकराचार्य ने किया, वही आज आपको दूसरे ढंग से करने का है; किन्तु उसके लिए अखिल भारतीय एकता का आग्रह आपको संभालना होगा।"

यह मैंने उत्साहपूर्वक उनको कहा। उनका सारा विरोध तो पिघल ही गया; किन्तु केरल में हिन्दी प्रचार का काम उन लोगों की ही सहायता से, पूरे जोश में शुरू हो गया !

१७ :: राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी

(१)

भारत आते ही गांधीजी ने राष्ट्रभाषा हिन्दी का काम दक्षिण भारत में शुरू किया, फिर जब गांधीजी हिन्दी साहित्य सम्मेलन के दुबारा अध्यक्ष हुए तब बाकी के भारत के आठ प्रान्तों में राष्ट्रभाषा-प्रचार का काम शुरू किया और उसका भार मेरे ऊपर कैसे आया, सो सर्वविदित है।

उसके बाद राष्ट्रभाषा का नाम बदलकर 'हिन्दुस्तानी' नाम चलाने का और राष्ट्रभाषा के लिए नागरी के साथ-साथ उर्दू लिपि को भी स्वीकार करने की नीति गांधीजी ने चलाई, उसका इतिहास भी सब लोग जानते हैं। गांधीजी ने यह परिवर्तन किया उस समय अपने विचार स्पष्ट रूप से गांधीजी को मैंने कहे थे और यह भी सूचना उनके सामने रखी थी कि यदि यह नीति चलानी है तो वह अमुक क्रम से चलानी चाहिए। इस बात का उल्लेख मैंने संक्षेप में किया है। किन्तु उस नीति का अमल पूरी निष्ठा से किया, फिर भी उसमें सफलता क्यों न मिली और गांधीजी के देहान्त के बाद उस सारी योजना को छोड़कर राष्ट्रभाषा की नीति में मैंने व्यापक सुधार कैसे किया, उसकी कई बारीकियां बिलकुल स्पष्ट थीं। उसको अब विगतवार स्पष्ट कहने में कोई नुकसान नहीं है ऐसा देखकर उसे थोड़े में यहां दे रहा हूं। इस प्रकरण द्वारा मेरी मनोवृत्ति और मेरी नीति का स्पष्टीकरण भी होगा।

सन् १९७५ में गांधीजी स्थायी रूप से भारत आकर बसे और अहमदाबाद साबरमती में उन्होंने सत्याग्रह आश्रम की स्थापना की। थोड़े ही दिनों में मेरे जैसे अनेक साथी आश्रम में दाखिल हुए। गांधीजी ने राष्ट्र-सेवा का अपना कार्यक्रम देश के सामने पेश किया, उसमें राष्ट्रभाषा के तौर पर हिन्दी को स्वीकार करके अहिन्दी प्रान्तों में उस भाषा का प्रचार करने की योजना की थी।

गांधीजी के इस हिन्दी प्रचार के बारे में सविस्तार जानने के बाद इतना बड़ा समर्थन राष्ट्रभाषा को मिल रहा है, यह लाभ देखकर हिन्दी साहित्य के सर्वेसर्वा बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन ललचाए और उन्होंने 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' के सन् १९१८ के इन्दौर के वार्षिक सम्मेलन का अध्यक्ष-स्थान गांधीजी को सौंपा, तब से सम्मेलन के साथ गांधीजी का सम्बन्ध शुरू हुआ और गांधीजी का कार्य सम्मेलन के ही नाम से चले, यह स्वाभाविक नीति का आग्रह टन्डनजी का था।

मैं १९१६ में गांधीजी के आश्रम में दाखिल हुआ, उस अर्से में (१९१७ में) मसच—गुजरात में एक

शिक्षण परिषद् हुई, उसमें गांधीजी ने मुझसे कहा कि 'हिन्दी ही हिन्दुस्तान की राष्ट्रभाषा हो सकती है' इस विषय पर मैं एक निबन्ध लिखूं। उसके अनुसार मैंने एक लेख लिखा और उसे परिषद् में पढ़ा। बाद में कर्नाटक, केरल, तमिलनाडु और आन्ध्र — दक्षिण के इन चार प्रान्तों में राष्ट्रभाषा प्रचार के लिए मुझे वहां भेजने का विचार गांधीजी को तुरन्त आया।

बापूजी के कहने से भरुच परिषद् में मैंने हिन्दी प्रचार का पूरा समर्थन किया था। इसलिए इस काम के लिए दक्षिण में मुझे भेजने का विचार गांधीजी को आया, इसमें क्या आश्चर्य। किसी नेता को अपनी सेवा अर्पण करके उनकी संस्था में दाखिल होने के बाद, जिस अनन्य निष्ठा से लश्करी लोग सौंपा हुआ काम ले लेते हैं, वैसी निष्ठा के बिना राष्ट्र की उन्नति हो नहीं सकती, ऐसा मानने वाला और उसके अनुसार क्रान्ति कार्य में दाखिल होने वाला मैं अपने को सौंपे हुए कार्य से इन्कार कैसे कर सकता था!

फिर भी मैंने गांधीजी से कहा, "आपकी आज्ञा मानकर यह सारा उत्तरदायित्व मैं लेने को तैयार हूं, किन्तु इस समय आप मुझे दक्षिण की तरफ भेजें, यह ठीक नहीं लगता।

"आपके बारे में मैंने बहुत पढ़ा और बहुत सुना है। गुप्तरीति से सशस्त्र क्रान्ति का कार्य करने में विश्वास रखनेवाला मैं आपके पास आया हूं। आश्रम में रहकर सीधे आपके हाथ के नीचे रहकर काम करने का मौका मुझे मिलना चाहिए। आपके सिद्धान्त तो मैं जानता हूं, किन्तु उसके अनुसार काम करने की पद्धति मैं अच्छी तरह अपना सकूं, तभी मेरा मन पूर्ण रूप से तैयार हो पायेगा और मैं कार्य-समर्थ बनूंगा। इसलिए मैं आपके पास आया और तुरन्त आपने मुझे दूर भेज दिया, यह परिस्थिति मेरे लिए, मेरे स्वभाव के लिए अनुकूल नहीं है।

"बड़ौदा के मेरे एक पुराने साथी आश्रम में आए हैं, वे तमिलनाडु के ही हैं। उनको यह काम सौंप सकते हैं।"

मेरी बात गांधीजी को जंची और उन्होंने श्री राजंगम् को, जिनको हम 'अण्णा' करते थे और जिन्होंने आगे चलकर 'हरिहर शर्मा' नाम धारण किया था, दक्षिण में हिन्दी प्रचार का काम सौंपकर मद्रास भेज दिया।

दक्षिण के चार प्रान्तों का काम गांधीजी ने शुरू किया और गांधीजी हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष हुए तब दक्षिण का काम सम्मेलन की एक शाखा ही बन गया। इस तरह दक्षिण के काम पर सम्मेलन ने अपना राज्य चलाया।

सारा इतिहास मुझे यहां नहीं देना है, किन्तु थोड़े ही दिनों में गांधीजी को अनुभव हुआ कि सम्मेलन ऐसी प्रवृत्तियां उत्पन्न नहीं कर सकता, काम चलाने की कुशलता भी उसके पास पूरी नहीं, किन्तु वह अपना अधिकार लादने का आग्रह रखता है। इस स्थिति में दक्षिण का काम बिगड़ जाएगा। गांधीजी ने दृढ़ता-पूर्वक सम्मेलन से बातचीत की। दक्षिण का हिन्दी प्रचार का काम वापस लिया और उसे स्वतन्त्र रीति से चलाने लगे। उसके बाद यह काम अच्छा चला। राजस्थान के मारवाड़ी लोगों के नेता श्री जमनालाल बजाज ने इस काम के लिए भी गांधीजी को उत्तम से उत्तम सहायता दी। इसलिए पैसों की कोई चिन्ता न रही।

(२)

सन् १९३५ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने दूसरी बार गांधीजी को अध्यक्ष बनाया। वह अधिवेशन भी इन्दौर में था। उसमें गांधीजी ने एक प्रस्ताव पास कराया कि दक्षिण के चार प्रान्त छोड़कर बाकी के भारत के अहिन्दी प्रदेशों में हिन्दी का प्रचार करने की प्रवृत्ति शुरू करें। कश्मीर, सिंध, गुजरात, महाराष्ट्र, बंगाल, उड़ीसा, आसाम आदि प्रान्तों में राष्ट्रभाषा हिन्दी का प्रचार करने का काम मेरे सिर पर आया।

इन्दौर के दो अधिवेशन के बीच के १७ सालों में देश ने बहुत प्रगति की थी। गुजरात में सर्वप्रथम सत्याग्रह आश्रम में शिक्षण का काम मैंने लिया था। साथ-साथ गांधीजी के गुजराती साप्ताहिक 'नवजीवन' में मैं लिखने लगा था। देखते-देखते 'नवजीवन' की सारी प्रवृतियों के साथ मेरा सम्बन्ध बढ़ गया। गुजराती भाषा का मैं एक नियमित लेखक बना। साहित्य-सेवा करते-करते सारे प्रदेश के पूरे सार्वजनिक जीवन के साथ भी मेरा सम्बन्ध हो गया।

इतने में स्वराज्य के आन्दोलन में गांधीजी ने ब्रिटिश सरकार के साथ असहयोग की नीति की घोषणा की। उसमें सरकारी शिक्षण और सरकारी विश्वविद्यालय आदि का बहिष्कार मुख्य होने से गुजरात के लिए एक राष्ट्रीय विद्यापीठ की स्थापना करने का दायित्व हमें लेना पड़ा। साथ-साथ महाराष्ट्र, मद्रास, बिहार, बंगाल इत्यादि अनेक प्रान्तों के राष्ट्रीय शिक्षण में गांधी विचार समझाने की जिम्मेदारी मेरे सिर आ पड़ी। मैं गुजरात जाकर बसा हुआ एक महाराष्ट्रीय, फिर भी पूरे गुजराती के तौर पर जनता ने मुझे स्वीकार किया। इतना गुजरात के साथ मैं तद्रूप हो गया था।

मेरी साहित्य-सेवा की मानो कदर करने की दृष्टि से महात्माजी ने गुजराती भाषा की शुद्ध जोड़नी सिखाने वाला एक कोश बनाने का काम मुझे सौंपा। गुजरात की जनता ने गांधीजी की यह पसन्दगी सहर्ष स्वीकार कर ली। यह मेरे लिए जितना आश्चर्यकारक था, इतना ही धन्यता का भी विषय था।

मैंने तुरन्त विद्यापीठ की ओर से एक समिति नियुक्त की, इसके लिए गांधीजी की अनुमति भी ले ली और उसके लिए सतत एकाग्र मेहनत करके पांच वर्ष में गांधीजी को गुजराती भाषा का एक सम्पूर्ण जोड़नी-कोश दे दिया। गांधीजी ने भी हमारी इस प्रवृति को आशीर्वाद देते जाहिर किया, "अब से किसी भी गुजराती को गुजराती शब्दों की मनमानी जोड़नी चलाने का अधिकार नहीं है।" ऐसा आशीर्वाद मिलते ही उसी कोश की एक साथ विशाल आवृति तैयार करने का काम मैंने अपने साथियों को सौंपा, जो दो बरस के अन्दर सन्तोषकारक रीति से प्रकाशित हो गया।

इन सत्रह साल के दरमियान गांधीजी ने दो खास काम मुझे सौंपे। एक, गुजरात विद्यापीठ जैसे अत्यन्त महत्व की संस्था की सब मुश्किलें दूर करके उसका काम केन्द्रित करके सारी संस्था का कार्यभार गांधीजी ने सन् १६२८ में मुझे सौंपा। वह काम मैंने सात वर्ष तक किया।

विद्यापीठ का काम मेरी सारी जिन्दगी का सर्व समन्वयकारी काम हो गया! कम-से-कम तीस वर्ष मुझे यह काम करना ही चाहिए, ऐसी सूचना बापूजी की थी। तीस वर्ष का आंकड़ा पूज्य बापूजी ने अपनी कलम से लिखा था।

किन्तु परिस्थिति और मेरी मर्यादाएं आदि का विचार करके मैंने गुजरात छोड़कर सारे देश में अथवा कहीं भी बापूजी के रचनात्मक काम के लिए ही जीवन अर्पण करना तय किया। गुजरात छोड़ने का मेरा निश्चय बापूजी को बिलकुल पसन्द नहीं आया। उन्होंने आग्रह भी किया, किन्तु जब देखा कि वैसा नहीं हो सकेगा तब हिन्दी का काम मुझे सौंपने का उनका पुराना संकल्प जाग्रत हुआ। गांधीजी के विचार के मुझे दो महत्त्व के कार्य करने थे, प्रथम मुझे दक्षिण में जाकर वहां का हिन्दी प्रचार का काम अधिक व्यवस्थित और मजबूत तरीके से करना था। दूसरे, उसके लिए दक्षिण के स्थानीय लोगों से पैसे एकत्र करके राष्ट्र भाषा प्रवृत्ति की जड़ दक्षिण भारत के लोगों के जीवन में पहुंचाना था। सन् १६३४ के दिसम्बर के प्रारम्भ में उन्होंने यह काम मुझे सौंपा। दक्षिण में सर्वत्र घूमकर 'भारतीय संस्कृति को व्यक्त करनेवाली', और '१२ करोड़ लोगों की जन्म भाषा' हिन्दी को राष्ट्र भाषा स्वीकारने में भारतीय संस्कृति समर्थ और परिपुष्ट होगी, यह समझाने का काम दो महीने चलाया। पैसे भी ठीक-ठीक एकत्र किए। सन् १६३४ के अन्त में शुरू किए उस काम

को दो-एक महीने में पूरा करके मैं वर्धा वापस आया। तभी हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने इन्दौर के अधिवेशन का अध्यक्ष-स्थान दुबारा गांधीजी को सौंपा।

मद्रास की ओर के इस काम के कारण मैं हिन्दीमय हो गया था। यहां गांधीजी ने इन्दौर के सम्मेलन के सामने प्रस्ताव रखा कि दक्षिण के चार प्रान्त के उपरान्त बाकी देश में जहां हिन्दी भाषा बोली नहीं जाती वहां हिन्दी का प्रचार संगठित रीति से चलाना चाहिए। इस प्रस्ताव को टंडनजी ने पूरे उत्साह से स्वीकार किया और यह काम सम्मेलन की ओर से ही होना चाहिए, इसलिए मुझे भी सम्मेलन में ले लिया। अब तो यह मेरा जीवन-कार्य-सा बन गया। सन् १९३४ से १९४२ तक यानी आठ साल यह काम मैंने पूरी निष्ठा से और उत्साहपूर्वक किया। उसमें आशातीत सफलता मिली। यही काम यदि निर्विघ्न चला होता, तो देश का वायुमण्डल अलग ही हो गया होता। आज जो लिख रहा हूं उसके पीछे मेरा अनुभव, भारतीय इतिहास का मेरा अध्ययन और गांधीजी के पास से मिली जीवन-दृष्टि इन तीनों का समन्वय है।

(३)

उत्तर भारत में हिन्दी बोलनेवालों का मानस समझने की आवश्यकता है। उनकी संकुचितता ही हिन्दी प्रचार के लिए बाधा रूप हुई, यह बात सही है। फिर भी उनको अन्याय न हो, इसलिए उनकी दृष्टि सहानुभूतिपूर्वक समझने के लिए हमारे छुटपन की राष्ट्रीयवृति को लोगों का मानस समझाना पड़ेगा, जिससे हिन्दीवालों का मानस भी एक तरह से राष्ट्रीय था, ऐसा हम समझ सकेंगे।

अंग्रेजों का राज्य जब इस देश में मजबूत होने लगा और उसके खिलाफ हमारे राजाओं ने और सेना के नेताओं ने सन् १८५७ में अखिल भारतीय स्तर पर बगावत की। उसमें वे हार गए। उसके बाद का भारतीय वायु मण्डल समझ लेना चाहिए।

उस समय प्रतिष्ठित और देशप्रेमी लोगों का एक बड़ा पक्ष था, जिसके सर्वोपरि नेता न्यायमूर्ति रानाडे माने जाते थे।

महादेव गोविन्द रानाडे रूढ़िवादी हिन्दू समाज के दोषों से बहुत अकुलाए हुए, किन्तु अत्यन्त धर्मनिष्ठ एक बड़े विद्वान थे। उन्होंने पुरानी और नई विद्या के अपने जैसे ही निष्णात लोगों को एकत्र करके, बंगाल के ब्रह्म-समाज के जैसा ही एक प्रार्थना-समाज महाराष्ट्र में स्थापित किया। अच्छे चारित्र्य के कारण, विद्वत्ता के कारण और सरकारी नौकरी में अत्युच्च स्थान पर होने के कारण उनकी प्रतिष्ठा अत्यधिक थी। लोगों को वे समझाते थे कि अंग्रेजों का राज्य हुआ, यह ईश्वरीय योजना ही थी। हमारे लोग उनके खिलाफ लड़े, सफल न हुए। अंग्रेजों की विद्या में आधुनिकता है, सुधार का बल है। हमें भक्तिपूर्वक और निष्ठापूर्वक अंग्रेजों का राज्य मान्य करना चाहिए। उस राज्य को मजबूत करने में ही हमारा हित है, हमें जनता को भी ईश्वरीय योजना समझानी चाहिए। हमारे सामाजिक दोष हम दूर करेंगे। अन्दर की कमजोरियां निकाल देंगे, तब ये ही अंग्रेज लोग अपने पर खुश होकर 'ब्रिटिश साम्राज्य के अन्दर का स्वराज्य' हमको धीरे-धीरे देंगे। इसी में हमारा कल्याण है। राज्य-निष्ठा, संसार-सुधार, शिक्षण का प्रचार, उद्योग-हुनर फिर से सजीवन करने के लिए स्वदेशीवृत्ति का प्रचार यही हमारी अपनी राष्ट्र-नीति होनी चाहिए। ऐसे लोगों ने ही कई उदार दिल के अंग्रेजों की प्रेरणा और सलाह से कांग्रेस की स्थापना की (सन् १८८५ में) और उसके लिए अंग्रेजी राज्य के आशीर्वाद प्राप्त करने के प्रयत्न किए।

इस प्रतिष्ठित नेताओं के पक्ष के खिलाफ एक राष्ट्रीय पक्ष पैदा हुआ, जिनके नेता प्रथम विष्णु शास्त्री चिपकुलकर थे। आगे जाकर इसी राष्ट्रीय पक्ष के मुख्य नेता हुए बालगंगाधर तिलक। उनको प्रजा ने

वात्सल्य-मूर्ति

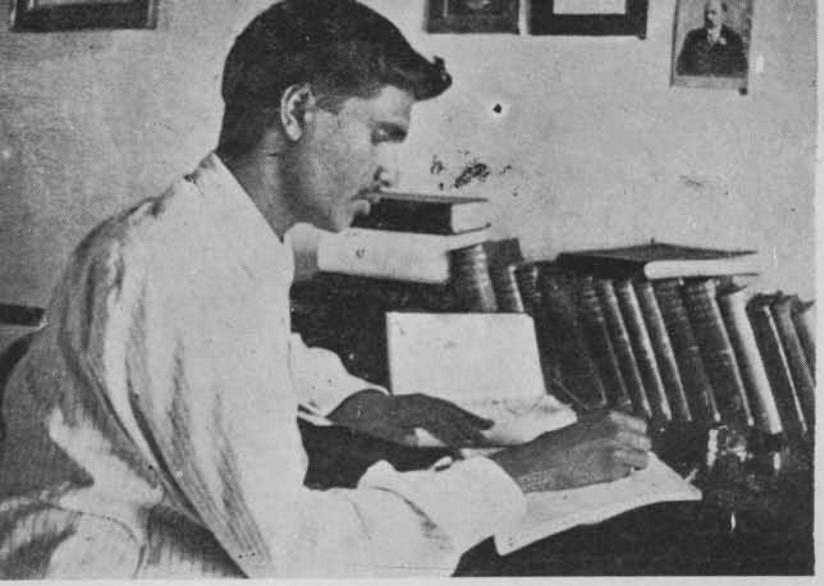

छात्र

हिमालय के यात्री

→
परिवार के साथ

गुजरात विद्यापीठ के कुलनायक

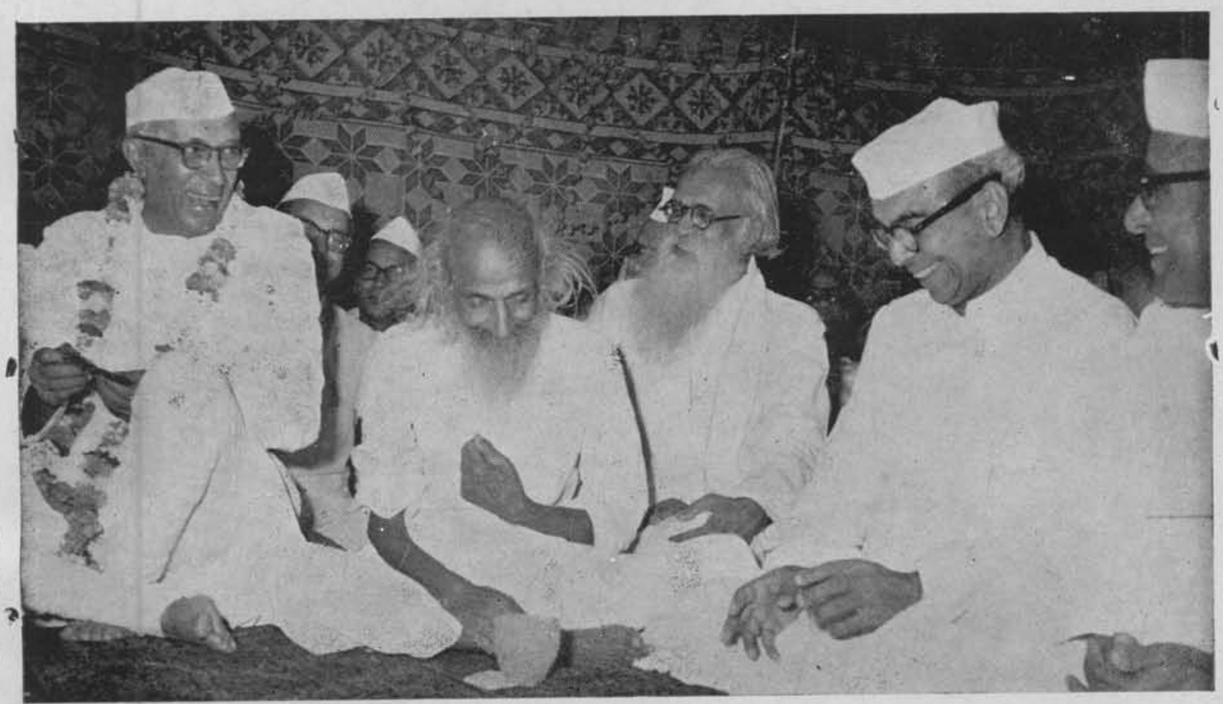

पं० जवाहरलाल नेहरू तथा राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन के साथ

मार्टिन लूथर किंग दम्पति आदि के समुदाय में

जैन विद्वान पं० सुखलाल से तात्विक चर्चा करते हु

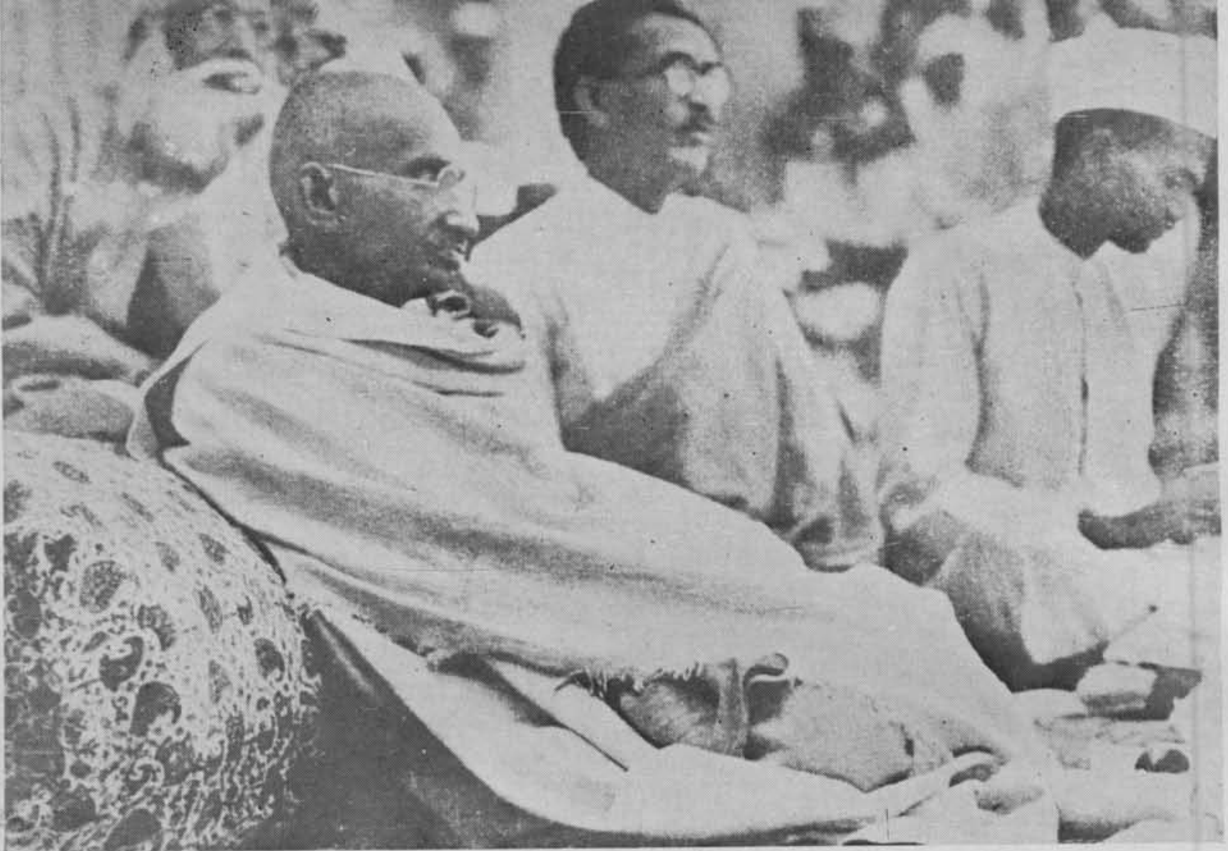

गांधीजी के निकट

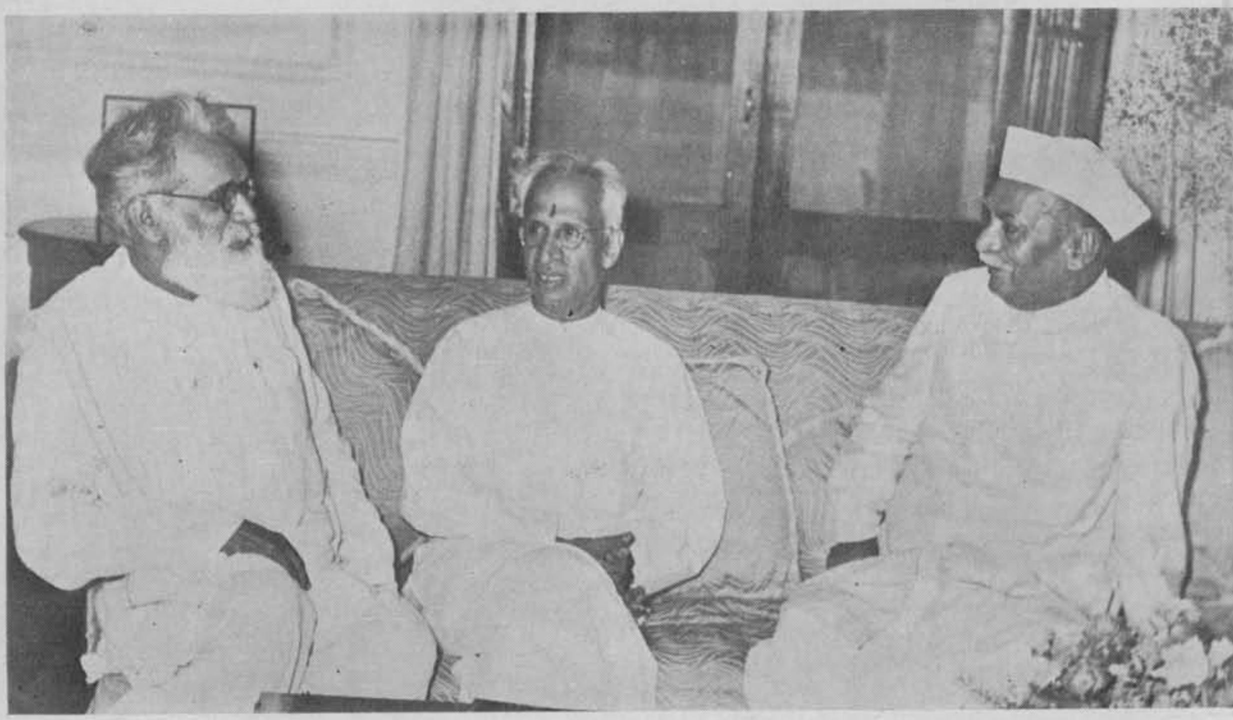

डॉ० राजेन्द्र प्रसाद तथा डॉ० राधाकृष्णन् के साथ

विविध रूप

←
मनीषी

चिंतक ↓

प्रकृति-प्रेमी

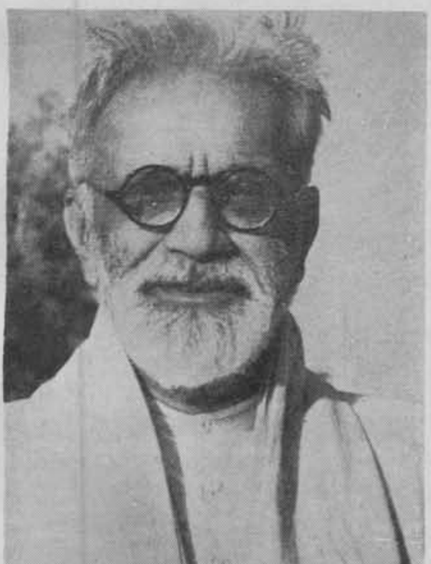

वत्सलल

बाबा विनोबा के साथ

आचार्य कृपालानी के साथ ↑

↓ सेंट जेवियर्स कालेज अहमदाबाद में

'लोक-मान्य' का नाम दिया ।

उस राष्ट्रीय पक्ष की भूमिका निम्नलिखित थी ।

''अंग्रेजों का राज्य भारत पर मजबूत हुआ । यह एक ईश्वरीय योजना है, भारत के पक्ष में है,'' इस तरह की भ्रांति का हम सख्त विरोध करते हैं ।' अंग्रेज लोगों का धर्म, उनकी संस्कृति, उनकी भाषा इन तीनों की अपने ऊपर जबर्दस्ती हो रही है । उसके सामने डटकर अंग्रेजी राज्य तोड़ने के प्रयत्न फिर से होने चाहिए। १८५७ के साल में हम हार गए उसके कारण ढूंढेंगे । देशद्रोही लोगों ने अपना स्वार्थ साधने के लिए अंग्रेजों को पहले से विप्लव होने की बात कह दी, देश को उन्होंने दगा दिया । और अब वे लोग अंग्रेजी राज्य में ऊंचे स्थान पर पहुंच गए हैं । उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा भी बहुत होगी । उसको हमें तोड़ना चाहिए । जीने के लिए कहीं तो नौकरी करनी ही पड़ेगी । सरकारी नौकरी खराब है । पर उसका त्याग कहां तक करेंगे । किन्तु नौकरी मिलती है इसलिए सरकार के प्रति निष्ठा किसलिए रखनी चाहिए ? ऊपर से राजनिष्ठ होने का दावा भले हम करें, किन्तु अन्दर से अंग्रेजों के प्रति दुश्मनी ही हमें फैलानी चाहिए ।

अंग्रेजी के और अंग्रेजी विद्या के ये भक्त अपनी सामाजिक कमजोरियों की बात रात दिन करते हैं । सामाजिक कमजोरी किस देश में नहीं है ? कमजोरी चला लेंगे । धीरे-धीरे दूर करेंगे । किन्तु जो सुधार हजारों बरस के बाद होनेवाला है, उसी को लेकर यदि हम जीवन की निन्दा करेंगे तो समाज में बड़ी-बड़ी दरार पड़ जायेंगी । समाज की निष्ठा हम खो बैठेंगे, प्रजा नेतृत्व-हीन हो जायगी । अंग्रेजों का राज्य मजबूत होगा । इसलिए संसार-सुधार की बात इस समय हम बाजू पर रहने दें । जाहिर करें कि प्रथम स्वराज्य हो, उसे प्राप्त किए बाद संसार सुधार तो करना ही है ।

हमें देखना चाहिए, ''जो लोग स्वराज्य चाहते हैं उनकी प्रतिष्ठा तोड़ने के लिए सरकार हर तरह की कोशिश करती है । स्वराज्य-द्रोही लोगों को बड़ी-बड़ी नौकरियां देती है । उनकी संस्थाओं को पैसे की मदद देती है, प्रतिष्ठा बढ़ा देती है, इस तरह समझा-समझाकर राष्ट्रीय पक्ष को मजबूत करनेवाले लोग अंग्रेजों का इतिहास हमें समझाते थे ।

उत्तर भारत में जब मुगलों का राज्य था, तब यहां के मुसलमान भी अपने को इस देश का मालिक मानते थे । उन दिनों मुसलमान अंग्रेजों की विद्या सीखते नहीं थे । इस देश पर राज करने का अधिकार मुसलमानों का, उसे छीनकर अंग्रेजों ने अपना राज मजबूत किया, ऐसे दुश्मनों की भाषा कौन सीखे ? उनकी नौकरी कौन करे ? ऐसा कहकर मुसलमान अलग रह गए ।

उस दरमियान हिन्दुओं ने अंग्रेजी विद्या सीखी, सरकारी नौकरियों में दाखिल हुए, उनको अंग्रेज लोग खानगी में कहते, ''देखो, यह देश है आपका, हिन्दुओं का । आप पर जबरदस्ती करके इन विदेशी पठान और मुगल लोगों ने आपके देश पर कब्जा जमाया । लोगों को जबरदस्ती मुसलमान बनाया । इस गुलामी में से ऊपर आने का मौका हम आपको दे रहे हैं । जैसे-जैसे हमारी भाषा सीखोगे वैसे-वैसे सरकारी नौकरी में आपको ऊंचा पद देंगे । राज्य चलाने का अधिकार आपके ही हाथ में आएगा इसलिए हमारे राज्य के-प्रति वफादार रहिए । हम किसी पर धर्म की कोई जबर्दस्ती नहीं करते, न करने देते हैं, इसलिए ब्रिटिश राज्य के प्रति आप वफादार रहिए ।''

यह परिस्थिति चली । जब हिन्दुओं को अंग्रेजी शिक्षण का लाभ मिला और उनकी महत्वाकांक्षा बढ़ी, तब इंग्लैंड का इतिहास पढ़कर वे स्वराज्य की बातें करने लगे । अच्छे अंग्रेजों ने उनको प्रोत्साहन दिया, कांग्रेस की स्थापना करने में मदद दी किन्तु राज्य करनेवाले अंग्रेजों को कांग्रेस की राष्ट्रीय पक्ष की मांग अच्छी न लगी । तब उन्होंने मुसलमानों को अपनाने की नीति अख्तियार की । कहने लगे, ''हमारा राज हुआ, उससे

पहले हिन्दुस्तान पर आपका ही राज था। अब यदि प्रजा-राज हो जायगा तो प्रचण्ड हिन्दू-बहुमत का राज होगा। उसमें आपको क्या मिलेगा। उससे बेहतर तो आप 'कांग्रेस का विरोध' कीजिए। हम आपको आपके शिक्षण में खास मदद करेंगे। ऊंची सरकारी नौकरियां देंगे।" मुसलमान ललचाए और उन्होंने कांग्रेस का विरोध शुरू किया।

हमें भूलना नहीं चाहिए कि उत्तर भारत के हिन्दुओं को पतन काल से विदेशी लोगों की जीहुकुमी का अनुभव था। आज जिस तरह अपने राष्ट्रीय नेता अंग्रेजी भाषा और शिक्षण का महत्व कुछ हद तक स्वीकार करते हुए भी वह शिक्षण 'स्वराज चाहनेवाली राष्ट्रीयता को बाधक है', ऐसा कहते हैं। उसी तरह उत्तर भारत के उस समय के नरम दल के लोग स्वदेशी संस्कृति का अभिमान रखकर हिन्दी को आगे लाना चाहते थे। आज की अपनी राष्ट्रीयता अखिल भारतीय है। उसे केवल अंग्रेजी राज्य का विरोध करना है। उसी तरह से सौ-डेढ़ सौ साल पहले उत्तर भारत की राष्ट्रीयता उर्दू का विरोध करके संस्कृतमयी हिन्दी का पुरस्कार करती थी।

ऐसी हालत में हिन्दीवालों को यह समझाने की आवश्यकता थी कि जबतक पठान-मुगलों का विदेशी राज था, उस समय जो राष्ट्रीयता आपने विकसित की वह आज राष्ट्रीय नहीं रही है। अब तो हमें हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, यहूदी, पारसी सबको एकत्र करके अंग्रेजों का राज तोड़ना है।

यह दृष्टि सर्वप्रथम गांधीजी ने आरंभ की। उत्तर भारत के हिन्दी लोगों के अन्दर उस समय की पुरानी राष्ट्रीयता के कारण उर्दू का सख्त विरोध था और अधिकतर मुसलमान तो स्वराज्य के ही विरोधी। उन्होंने तो अंग्रेजों के राज्य को और अंग्रेजी शिक्षण को वफादार रहने में ही भारतीय मुसलमानों का कल्याण देखा।

गांधीजी के हिन्दी प्रचार में उत्तर-भारत के हिन्दीभाषी आये तो सही, किन्तु उर्दू का विरोध वे नहीं छोड़ सके। जवाहरलाल नेहरू जैसे राष्ट्रीय वृत्ति के लोग अंग्रेजी साहित्य के प्रभाव में आ ही गये थे। अंग्रेजी राज्य से उन्हें द्वेष होते हुए भी पश्चिमी संस्कृति के वे भक्त थे और अंग्रेजी साहित्य के प्रेमी थे। अंग्रेजों का राज्य तो वे तोड़ना चाहते थे, बाद में स्वराज्य के लिए राज्य-भाषा के तौर पर उन्हें विदेशी अंग्रेजी भाषा ही चाहिए थी।

गांधीजी के नेतृत्व के प्रभाव से जवाहरलालजी तो गांधीजी के हिन्दी के पक्ष में आए, लेकिन नाममात्र को।

गांधीजी की हिन्दी में मुसलमान आते ही नहीं थे। राष्ट्रीय-वृत्तिवाले और गांधीजी का नेतृत्व करने वाले एक बड़े मुस्लिम नेता के साथ मेरी बातचीत हुई थी। अपनी भूमिका स्पष्ट करने के लिए अपने दिल की बात खुले दिल से समझाने की वृत्ति से उन्होंने मुझसे कहा :

"आप दक्षिण के लोग हमारी बात बराबर समझ नहीं पाते, इसलिए एक बार तो ध्यानपूर्वक सुन लीजिए। उत्तर भारत में हमारा राज था। आज जिस तरह इस देश पर अंग्रेजी का प्रभाव है। उसी तरह उस समय हिन्दू-मुसलमान सभी परशियन भाषा सीखते थे। संस्कारिता के लिए दुनिया-भर में मशहूर यही भाषा थी। हमारी धर्मभाषा अरबी भी एक समर्थ भाषा है। दोनों भाषाएं इस देश के लोग (हिन्दू और मुसलमान दोनों) निष्ठापूर्वक सीखने लगे थे, हमारा राज्य फारसी में चलता था।

"यह सब होते हुए भी प्रजा का महत्व पहचानकर अरबी और फारसी छोड़कर जनता की भाषा 'खड़ी बोली' को हमने राज-भाषा स्वीकार किया। आज जैसे भारत के सब देशी भाषाओं में अंग्रेजी के शब्द घुस गए हैं, उसी तरह खड़ीबोली में अरबी-फारसी शब्द प्रचुर मात्रा में घुसे। उस भाषा का नाम हुआ उर्दू। वह थी पूरी-पूरी प्रजा-भाषा। इस देश में रहकर राज्य करना है तो उर्दू जैसी प्रजाभाषा को ही राजभाषा बनाना चाहिए। ऐसा तय करके उर्दू को हमने राजभाषा करार दिया।

"अब लिपि का सवाल लीजिए। भारत में हरेक भाषा की अपनी अलग लिपि है। उसमें राजभाषा के लिए कौन सी लिपि पसन्द करनी है ? यह सवाल हमारे सामने आया। आज जैसे ज्यादातर संस्कारी लोग अंग्रेजी भाषा की रोमन लिपि को अंतर्राष्ट्रीय लिपि मानने को तैयार हैं, उसी तरह उन दिनों फारसी लिपि तीन खण्ड में—एशिया, दक्षिण यूरोप और अफ्रीका में चलती थी। उसी लिपि को हमने उर्दू के लिए पसन्द किया। उस लिपि को पूरी तरह स्वदेशी बनाने के लिए हमने उसमें थोड़े सुधार भी किए। राज्यकर्ता होते हुए, हमारा अधिकार और आग्रह छोड़कर राष्ट्रभाषा के लिए हमने प्रजामान्य उर्दू को स्वीकार किया और उसे चलाया। अब उस अखिल भारतीय राजभाषा को छोड़कर हिन्दुओं की खातिर हिन्दी स्वीकारने को आप कहते हैं, यह कहां तक योग्य है ? यह आप ही सोचिए जिसे आप उर्दू लिपि कहते हैं वह फारसी लिपि लिखने में आसान है। उस लिपि को छोड़कर रोमन लिपि लेने को आप कहें तो हम समझ सकते हैं, किन्तु नागरी लिपि हमारे माथे क्यों लाद रहे है ?"

यह थी एक सम्पूर्ण राष्ट्रीय मुस्लिम नेता की दलील और भूमिका। मैं समझ गया कि हिन्दी प्रचार में हम चाहें उतने सुधार करें और अरबी-फारसी शब्दों का बिलकुल विस्तार न होने चाहिए, ऐसी नीति चलाएं तो भी मुसलमान पूरे उत्साह से हिन्दी प्रचार में शामिल नहीं होंगे। अंग्रेजी का पक्ष वे छोड़ेंगे नहीं। चन्द मुसलमान गांधीजी के पक्ष में आएंगे। यहां की संस्थाओं में उनकी प्रतिष्ठा बढ़ेगी। मुसलमान होने से उनको अपने यहां कुछ लाभ भी मिलेगा। किन्तु राष्ट्रीय सवालों में समस्त मुसलमान कौम की ओर से हमें कोई सहायता मिलनेवाली नही है। भारत में रहनेवाले सामान्य मुसलमान परिस्थिति के अनुसार अनुकूल या प्रतिकूल होकर रहेंगे, लेकिन उनके हृदय तो कौमी मुसलमान नेताओं के पीछे ही जायेंगे।

राष्ट्रीयवृत्ति के एक नेता सुन्दरलालजी ने महात्माजी से कहा, "हिन्दी की व्याख्या आप चाहें जितनी व्यापक करें, उसमें सारे-के-सारे उर्दू शब्दों को स्वीकार करें, तो भी जब तक उनका नाम हिन्दी है तबतक आपकी राष्ट्रभाषा की प्रवृत्ति हिन्दू राज की प्रवृत्ति ही मानी जायगी। इसलिए हिन्दी और उर्दू दोनों नाम छोड़कर पूर्ण राष्ट्रीय व्याख्या की राष्ट्रभाषा को हिन्दुस्तानी नाम दीजिए और उसके लिए नागरी तथा उर्दू दोनों लिपि मान्य रखिए। तभी मुसलमानों की शंका दूर होगी।"

सुन्दरलालजी की बात महात्माजी को जंची और उन्होंने कुछ परिवर्तन करने का विचार किया।

अब राष्ट्रभाषा का सारा भार लेकर मैं देशभर में खूब घूमा था। लोगों की वृत्ति मैं समझ गया था। गांधीजी के विचारों का लोगों पर क्या और कितना प्रभाव पड़ता है, वह मैं जानता था और समय-समय पर उसकी रिपोर्ट भी गांधीजी को देता था। मैंने गांधीजी से कहा कि बहुत से मुसलमान उर्दू के लिए "हिन्दुस्तानी' शब्द काम में लेते हैं, इसलिए सामान्य जनता हिन्दुस्तानी का अर्थ उर्दू ही करती है। नागरी के साथ उर्दू को भी राष्ट्रीय लिपि मानेंगे तो सारे देश में उसका प्रचार नहीं हो सकेगा। संस्कृत के कारण कई बंगाली और मद्रासी लोग भी नागरी लिपि जानते हैं। राष्ट्रीय एकता की खातिर लोग मुश्किल से नागरी लिपि सीखने को तैयार होंगे, किन्तु दो लिपियों का बोझ स्वीकारने जितनी राष्ट्रीयता लोगों में विकसित नहीं हुई है। नागरी लिपि को ही सर्वमान्य करने के लिए उसमें कुछ जरूरी सुधार करने की कोशिश मैं कर रहा हूं, उसमें मेरी शक्ति का अन्त आ गया है। उर्दू लिपि का प्रचार करना आसान नहीं। वह लिपि अधूरी है। कई बार उसमें लिखने में गलतियां हो जाती हैं। उच्चारण के साथ लिपि का पूरा मेल नहीं, इसलिए यह लिपि सार्वत्रिक हो नहीं सकती।

कई मुसलमान साफ-साफ कहते हैं, "हिन्दुस्तानी की आड़ में गांधीजी हिन्दी ही चलाना चाहते हैं; इसलिए हमें उसमें शामिल नहीं होना चाहिए।"

उत्तर भारत के हिन्दीवाले कहते हैं कि हिन्दुस्तानी की आड़ में उर्दू ही चलेगी।

सारी परिस्थिति गांधीजी को पूरी तरह समझाने के बाद उनकी आज्ञा के अनुसार चलना, यह मेरी मनोवृत्ति थी। गांधीजी ने अपना आग्रह कायम रखा। उनकी नीति स्वीकार कर उसके अनुसार काम करने के लिए मेरे साथ चि० अमृतलाल नाणावटी रह गए। उन्होंने उर्दू लिपि सीखने के लिए एक बालपोथी तैयार की। स्वराज्य के आन्दोलन में जब हम जेल में थे तब अमृतलाल नाणावटी ने ही हिन्दुस्तानी का काम जीवन्त रखा और गांधीजी के आशीर्वाद प्राप्त किए। नागरी उर्दू लिपि-बोध जैसी एक किताब तैयार हुई और दोनों लिपियों में हिन्दुस्तानी की परीक्षाएं ली जाने लगी।

पूर्व-पश्चिम भारत के आठ प्रान्तों में राष्ट्र भाषा प्रचार का काम बरसों मैंने किया था। एक-एक प्रान्त में एक-एक संस्था स्थापित की थी। श्री पुरुषोत्तमदास टंडन के साथ मेरा सहयोग बढ़ा था, वे मुझ पर खुश थे। हिन्दुस्तानी शब्द और दो लिपि का स्वीकार दोनों का उनका विरोध था। मैंने कहा, "इतना मौलिक और मूलगामी विरोध हो तो गांधीजी की प्रवृत्ति सम्मेलन के हाथ में नहीं रखी जा सकती, उसको स्वतन्त्र करना होगा।" टंडनजी ने कहा कि सारी प्रवृत्ति आप ही ने संगठित की है। गांधीजी चाहें और पूरी प्रवृत्ति को सम्मेलन से अलग करें तो उसे मैं सहन करूंगा, किन्तु गांधीजी की नयी हिन्दुस्तानी नीति को हम कभी स्वीकार नहीं कर सकेंगे।

इतनी बात होने के बाद और टंडनजी की भले ही लाचारी से दी हुई सम्मति लेकर मैं गांधीजी के पास गया। मैंने उनसे कहा, "इस समय आप हिन्दुस्तानी प्रचार के बारे में मौन रहें तो अपनी आठ प्रान्तों की प्रवृत्ति सम्मेलन से स्वतन्त्र कर लेंगे। टंडनजी की सम्मति मैंने प्राप्त की है। वे सम्मेलन को समझायेंगे। स्वतन्त्र होने के बाद इतनी बड़ी संस्था द्वारा हिन्दुस्तानी का प्रचार हम क्रमानुसार चलायेंगे। यह सारी संस्था यदि सम्मेलन को सौंप देंगे तो फिर सारे भारत में हिन्दुस्तानी के नाम से दो लिपि का प्रचार अशक्य होगा। मैं तो देश भर में आपकी बात लोगों को समझाऊंगा। किन्तु देश में यह बात जड़ नहीं पकड़ सकेगी। उपरान्त भारत की तमाम प्रादेशिक भाषाओं के लिए नागरी लिपि स्वीकार की जाय, इस तरह का प्रयत्न मैं कर रहा हूं। कर्नाटक में उसका आरम्भ हुआ है। बंगाल में सख्त विरोध है; वहां नागरी लिपि में बंगाली साहित्य प्रकाशित करेंगे। रवीन्द्रनाथ ठाकुर से मैंने इजाजत भी ले रखी है। इस हालत में अखिल भारतीय एक लिपि प्रचार की जगह राष्ट्रभाषा के लिए दो लिपि का प्रचार शक्य हो, ऐसा मुझे नहीं लगता।" इतना सारा समझाने के बाद भी गांधीजी ने मेरी एक न मानी। आठ प्रान्त का राष्ट्रभाषा प्रचार का काम सम्मेलन से स्वतन्त्र करने की नीति को मैं प्रारम्भ करूं तब तक बापूजी वातावरण को अस्वस्थ न करें, यह मेरी विनती बापूजी ने सुनी नहीं। उनकी नीति का विरोध का वातावरण सारे देश में सुलग उठा। उसका लाभ लेकर टंडनजी ने गांधीजी को कहा, "आठ प्रान्त का संगठन आपने किया है, यह सब काकासाहेब के श्रम से हुआ है, यह मुझे मान्य है, किन्तु यह प्रवृत्ति आपने सम्मेलन के नाम से शुरू की, हिन्दी के नाम से आजतक काम किया; इसलिए यह प्रवृत्ति हमें सौंप दें, उसी में न्याय है।"

गांधीजी ने कहा, "वह सारी प्रवृत्ति आपको सौंप कर हिन्दुस्तानी के नाम से हम नई प्रवृत्ति खड़ी करें तो आपको कोई आपत्ति होगी?" टंडनजी ने खुश होकर कहा, "आप जरूर एक नयी संस्था खड़ी करें, उसको मैं आशीर्वाद दूंगा। हमारी प्रवृत्ति हमें वापस दे दीजिए तो काफी है।" गांधीजी ने वैसा किया। थोड़े ही दिनों में स्वराज्य के आन्दोलन में हम सब जेल गए। हिन्दुस्तानी प्रचार का काम चलाने वाले अकेले अमृतलाल नाणावटी बाहर रहे थे। बाहर आने के बाद मैं देखा कि सारे देश का वायुमण्डल बदल गया है। हिन्दी प्रचार के लिए भी कांग्रेस कुछ विशेष कर सके, ऐसा नहीं है। जवाहरलालजी तो गांधीजी कहें, ऐसा प्रस्ताव पास कर

देते थे। गांधी-निष्ठा के कारण मुझसे हो सका, उतना किया। एक मजे की बात यह कि मैंने पंडित सुन्दरलाल-जी की सूचना के अनुसार दो लिपिवाली हिन्दुस्तानी का प्रचार शुरू करने के बाद मैंने सुन्दरलालजी को मदद के लिए बुलाया। उन्होंने ठंडे दिल से कहा, "मैं तो अब दोनों लिपियां छोड़कर रोमन लिपि चलाने के पक्ष में हूं।" मैंने अपने मन को समझा कि सारी स्थिति समय-समय पर सविस्तार समझाने के बाद गांधीजी ने जो नीति चलाई है, वही देश के लिए हितकर होगी।

इसलिए मैंने अन्त में तय किया कि हिन्दुस्तानी प्रचार के नाम से हिन्दी-उर्दू शैली का मिश्रण और नागरी उर्दू लिपि का प्रचार इन दोनों बातों को मैं इनकार भी नहीं करूंगा और प्रचार भी नहीं करूंगा। किन्तु उसके पीछे रही हुई भारत की महान् नीति 'सर्वधर्म-समभाव' को अपना लूंगा और सारे देश में घूमकर सर्वधर्म-समभाव की जगह पर 'सर्व-धर्म-ममभाव' का प्रचार करूंगा। इसमें केवल इस्लाम ही नहीं, पारसी, यहूदी, ईसाई इन सब धर्मों के प्रति समभाव विकसित करने की बात देश के सामने रखूंगा।

गांधीजी के देहान्त के बाद संविधान में राष्ट्रभाषा का प्रस्ताव मंजूर होना मुझे बराबर याद नहीं। विनोबा ने राष्ट्रभाषा हिन्दी का प्रचार केवल नागरी लिपि द्वारा करने के लिए प्रोत्साहन दिया। अभी-अभी उन्होंने भारत की सभी भाषाओं के लिए एक नागरी लिपि चलानी चाहिए, ऐसा प्रचार शुरू किया है और साथ ही यह भी जाहिर किया है कि नागरी सुधार का काम इस समय हम व्यक्ति तक सीमित रखें। रूढ़ नागरी को भारत की सब भाषा स्वीकार करेंगी, उसके बाद नागरी सुधार की बात सोची जायगी।

भारत-भाग्य-विधाता हमारे पास से जो और जितनी सेवा मांगे, उतनी दे देना, ओर चित्त-वृत्ति को अलिप्त रखना और हाथ में लिए हुए कामों के पीछे पूरी शक्ति लगा देना, इतना ही अपने हाथ में है।

"कर्मण्ये वाधिकारस्ते मा फलेषु कदा च न।
मा कर्म फल हेतुर्भूर्या ते संगोस्तु अकर्मणिः॥"

१८ :: साहित्य-समृद्धि, भाव-शक्ति

सन् १९२० के २ अप्रैल की बात होगी। अहमदाबाद में गुजराती साहित्य सम्मेलन बड़ी धूम-धाम से चल रहा था। प्रख्यात साहित्यिक रा० ब० कांतवाला अध्यक्ष थे। रवीन्द्रनाथ का गांधीजी के साथ प्रेम संबंध गुजरात में सर्व-विदित था। इसलिए लोगों ने श्री रवीन्द्रनाथ को साहित्य सम्मेलन के आदरणीय अतिथि के रूप में आमंत्रित किया था। स्वाभाविक तौर पर वे गांधीजी के अतिथि होकर आश्रम में रहे थे। हम आश्रम-वासियों में से कई लोग कभी-न-कभी शान्तिनिकेतन में रहे हुए थे। इसलिए कविवर का और उनके साथियों का आतिथ्य करते हमें विशेष आनन्द था। रवि बाबू एक सुन्दर भाषण अंग्रेजी में लिखकर लाये थे। भाषण का नाम था—'एडवेन्ट ऑफ स्प्रिंग' (वसंत का आगमन) भाषण खुले में रखा था। अध्यक्ष स्थान पर साक्षर श्री नरसिंह राव भोलानाथ थे। रवीन्द्र की कोकिल कंठी वाणी—सारा भाषण उन्होंने इतने सुन्दर तरीके से पढ़कर सुनाया कि सुननेवाले सब मंत्र-मुग्ध हो गये। उनका शान्त उन्माद देखकर जिन लोगों को अंग्रेजी नहीं आती थी, वे अस्वस्थ हुए। सभा के अध्यक्ष से उन्होंने विनती की, "कविश्री ने क्या कहा, उसका सार तो हमें बताइए।" उत्साह मुग्ध बने हुए नरसिंहराव ने कहा, "इतनी सुन्दर भाषा और काव्यमय विचारों का सार

किस तरह दिया जा सकता है ? स्वयं अंग्रेजी सीखने के बाद ही ऐसा भाषण समझ में आ सकता है।"

योगानुयोग से उसी समय गांधीजी वहां आए। पहले से तय नहीं था कि वे सभा में आएंगे। गांधीजी के आने पर केवल गुजराती जानने-वालों की जान-में-जान आई। उन्होंने गांधीजी के सामने अपनी बात रखी। सारा भाषण मुद्रा लिखित तो था ही। बापूजी ने वह हाथ में लिया उसे देख गए और सारे भाषण में आए हुए विचार बापूजी ने अनुरूप शैली में सहज संक्षेप करके गुजराती में लोगों के सामने रख दिए और फिर अपना भाषण भी दिया। श्री नरसिंहराव खुश होकर कहने लगे, "अपना कितना भाग्य कि आज एक के बदले दो सुन्दर भाषाण हमें सुनने को मिले !"

इस सारे प्रसंग को लेकर मैंने एक लेख लिखा था, "अंग्रेजी भाषा के सामने देशी भाषाएं कमजोर हैं, ऐसा मानने का कोई कारण नहीं है।" इस विचार का मैं जोर-शोर से प्रचार करता था। मेरा कहना था कि अंग्रेज लोगों के पुरुषार्थ के कारण अंग्रेजी साहित्य समृद्ध है। दुनिया के सम्पूर्ण साहित्य जगत में सबसे आगे माना जाता है। उसके सामने अपनी देशी-भाषा साहित्य-सम्पत्ति नहीं के बराबर है। लेकिन उसपर से अपनी भाषा की शक्ति ही कमजोर है, ऐसा क्यों मानना चाहिए ? संस्कारी प्रजा हो, और अपने ढंग से अपनी भाषा का विकास किया हो तो भाषा-शक्ति कम दर्जे की नहीं मानी जाती। भाषा-शक्ति और साहित्य-समृद्धि दोनों को अलग करने की शक्ति हममें होनी चाहिए और यदि हममें पुरुषार्थ हो, तो प्रजा की सेवा करते-करते अपने साहित्य को भी हम चाहें उतना समृद्ध बना सकते हैं। अंग्रेजी साहित्य की समृद्धि देखकर हमें उसके दास क्यों बनना चाहिए। अंग्रेजों के जितना ही पुरुषार्थ करने की महत्त्वाकांक्षा हममें क्यों प्रकट न हो ?

एक महाराष्ट्रीय नया-नया गुजराती सीखता है और गुजरात की संस्कारिता के पक्ष में लिखता है, यह देखकर लोग खुश होने लगे, और उन्होंने मेरी साहित्य-सेवा की जी भर कर कदर की।

इसी अर्से में रवीन्द्रनाथ के स्वागत में, उनका परिचय देते मैंने एक लेख गुजराती में लिखा था। वही था मेरी कलम से लिखा हुआ सर्व-प्रथम गुजराती लेख। इससे पहले मैं मराठी में लिखता और आश्रमवासियों की मदद से उसका गुजराती कर लेता।

१६ :: 'नवजीवन'

पूज्य बापूजी सन् १९१५ में भारत लौटे। उनके गुरु गोखले के कहने से एक वर्ष सारे देश में घूमकर उन्होंने मात्र निरीक्षण किया। तब तक किसी सार्वजनिक काम में भाग नहीं लिया, न कोई काम शुरू ही किया। केवल अपना आश्रम आरंभ करके उसमें उन्होंने पूरा ध्यान केन्द्रित किया।

एक वर्ष के अन्त में उनको सार्वजनिक जीवन में खींचने का प्रयत्न किया श्री शंकर लाल बैंकर ने। बापूजी ने प्रथम 'यंग-इंडिया' हाथ में लिया।

उनका सिद्धान्त था कि नया अखबार निकालें तो उसके लिए नये वाचक उत्पन्न नहीं होते। पुराने अखबार के ग्राहक पुराना छोड़कर नया खरीदते हैं, इसलिए नया पत्र पुराने का प्रतिस्पर्धी बनता है। उससे तो कोई पुराना चलता हुआ अखबार हाथ में लेकर चलाना बेहतर है। उनका यह भी विचार होगा कि लोग पूरे पैसे देकर उसे खरीद लेंगे। उन्होंने यहां तक कहा कि यदि कोई विज्ञापन अत्यन्त महत्व का है तो जनता

का हित समझकर उसे बिना पैसे लिये अपने अखबार में छापेंगे। किन्तु विज्ञापन की आमदनी पर अखबार नहीं चलना चाहिए।

उन दिनों बापूजी की इस नीति की खूब चर्चा चली। मेरा अभिप्राय पूछा गया। मैंने कहा, "बापूजी का नियम व्यवहार्य है या नहीं, मैं नहीं जानता, किन्तु उनकी नीति मुझे सौ प्रतिशत मान्य है। उनकी जगह यदि मैं होता तो इतनी हिम्मत करता या नहीं, यह बात अलग है।"

बापूजी की नीति का समर्थन करने के लिये मैंने एक उदाहरण दिया, "समाज में धर्म, नीति, सदाचार, संस्कारिता, कला-विकास इत्यादि दाखिल करने के लिए एक मंदिर बनाया गया। मंदिर द्वारा इन सब कामों को उत्तम प्रोत्साहन दिया जाने लगा।

"मंदिर का चालू खर्च पूरा करने के लिए मंदिर के आसपास दुकानें बनाई गईं और उन दुकानों में अश्लील साहित्य बिकने लगा और आसपास भ्रष्टाचार फैला। विज्ञापन की आय से अखबार चलाने की बात भी वैसी ही है।"

ऐसा कड़ा उदाहरण सुनने के बाद टीकाकार चुप हो गए।

अब प्रश्न उठा एक गुजराती अखबार चलाने का। बापू ने कहा, "सरकार और उसके गोरे अधिकारी ध्यान दें, इसलिए हम अंग्रेजी में लिखते हैं। हर एक प्रान्त में अंग्रेजी जाननेवालों की संख्या केवल आठ-दस प्रतिशत होती है। उनके लिए हम अंग्रेजी अखबार चलाएं और जिनको अंग्रेजी की गंध भी नहीं है ऐसी नब्बे प्रतिशत जनता को हम भूखे रखते हैं—उनको शिक्षण नहीं देते, यह बहुत बड़ी खामी है।" मैंने बीच में कहा, "लोकमान्य तिलक का साप्ताहिक 'केसरी' मराठी द्वारा सारे महाराष्ट्र को शिक्षण देता है। लोकमान्य का दूसरा अंग्रेजी अखबार भी है 'मराठा' जो अब तक स्वावलम्बी नहीं हुआ है, क्योंकि 'अंग्रेजी जाननेवाले लोग लोकमान्य के तेजस्वी विचार सुनने को भी तैयार नहीं है," इत्यादि।

गांधीजी ने गुजराती साप्ताहिक चलाना तय किया। किन्तु वह भी उनको पुराना ही चाहिए था। यह बात सुनते ही इन्दुलाल याग्निक मदद को आ गए। 'नवजीवन और सत्य' नाम का उनका एक मासिक चल रहा था। मालिकों ने वह मासिक गांधीजी को सौंप दिया। उसी नाम को छोटा करके बापूजी ने उसे साप्ताहिक बनाया। शंकरलाल बैंकर ने एक प्रेस खरीद लिया, उसी प्रेस में 'नवजीवन' और 'यंग इंडिया' छापने का तय हुआ।

अब इस प्रेस और अखबार की व्यवस्था कौन संभाले? आश्रम में मुझसे मिलने को आनेवाले लोग गांधीजी से भी मिलते थे। ऐसे आने वालों में स्वामी आनन्द और जुगतरामभाई दवे के नाम अभी याद आते हैं। दूसरे कई लोग भी मेरे द्वारा बापूजी से परिचित हुए थे, उनमें अत्यन्त महत्व के एक थे बेलगांव के कर्नाटक-केसरी गंगाधरराव देशपाण्डे। इसका श्रेय लेते मुझे संकोच होता है, किन्तु गंगाधरराव ने स्वयं अपने लेख में उल्लेख किया है कि काकासाहेब द्वारा मैंने गांधीजी का परिचय प्राप्त किया।

इतनी छोटी उमर में भी स्वामी आनन्द ने अपनी कार्यशक्ति और सजगता का उत्तम परिचय दिया था। पूज्य बापूजी ने स्वामी आनन्द को प्रेस का और अखबार का काम सौंप दिया। स्वामी आनन्द ने कहा, "प्रेस लाये हैं शंकरलाल बैंकर। इसलिए उनका अधिकार उसमें चलेगा। उनके प्रति मेरे मन में कुछ नहीं है, किन्तु किसी का अधिकार चलाना मैं सहज नहीं कर सकूंगा। प्रेस के जितने पैसे लगे हों, वह कहीं से भी लाकर दूंगा, किन्तु प्रेस केवल गांधीजी का और उसकी व्यवस्था मेरे हाथ में होनी चाहिए।"

'नवजीवन' के पहले अंक में बापूजी ने आश्रम की महिलाओं के पास से एक-एक लेख मांगा। नरहरि भाई की पत्नी मणिबहन, किशोरलालभाई की पत्नी गोमतीबहन, आदि ने एक-एक लेख दिया। ये नाम इस-

लिए याद हैं, क्योंकि सारे जीवन म इन दो बहनों ने उसके बाद एक भी लेख लिखा हो, ऐसा मैं नहीं जानता। बापूजी तो मंगलाचरण के तौर पर बहनों के लेख खास लेना चाहते थे। अब स्वामी के साथ मेरा इतना निकट का सम्बन्ध था कि हममें से कोई एक जो प्रवृत्ति शुरू करे, तो वह दोनों की हो जाती ! बापूजी के पास से लेख आते, अंग्रेजी के अनुवाद भी आते। तब भी यदि 'नवजीवन' के लिए मसाला कम होता, तब स्वामी मेरे पास से लेख मांगते।

बापूजी का जीवन-तत्वज्ञान, उनकी नीति इत्यादि मैं सब विस्तार से जानता था। मराठी में अखबार चलाने का मुझे अच्छा अनुभव भी था, इसलिए लेख देने के बारे में मुझे सिर्फ भाषा की मुश्किल थी। मैं स्वामी को अपनी टूटी-फूटी गुजराती में लिखवाता जाता और वे अच्छे शब्द पसंद करके लेख लिखते जाते। इस तरह बहुत से अच्छे असल गुजराती शब्द मेरे लेखों में आने लगे। लेखों के विचार और निरूपण-शैली, मेरी और भाषा की करामत स्वामी की।

गांधीजी भारत आये, उससे पहले सूरत कांग्रेस के बाद लोकमान्य तिलक ने बम्बई में एक मराठी दैनिक 'राष्ट्रमत' शुरू किया था। इसमें श्री गंगाधरराव देशपाण्डे ने मुझे खींचा। और भी कई लेखक नागपुर यवतमाल की तरफ से आए हुए थे।

बाद में विचार हुआ कि लोकमान्य की नीति गुजरात के सामने भी पेश करनी चाहिए। गुजराती 'राष्ट्रमत' शुरू करने का तय हुआ। उसके लिए मराठी में से गुजराती में अनुवाद करनेवाला एक जवान लड़का उन्हें मिला जो गुजराती होते हुए वराड़ के तरफ की मराठी में व्याख्यान देता था। उनको मराठी से गुजराती करने के लिए बुलाया। वे थे अपने स्वामी आनन्द। 'राष्ट्रमत' में उनके साथ मेरी उत्तम मित्रता हुई थी। मैं गुजराती में लिखने लगा, उसका सारा श्रेय स्वामी आनन्द को है। फिर तो मेरा गुजराती लिखते-लिखते सुधारने का काम और लोग भी करने लगे और मैं स्वयं भी तैयार हुआ। स्वामी आनन्द के बाद जुगतराम दवे मेरे लेख लिख लेते थे। फिर नरहरि भाई, किशोरलाल भाई भी कभी-कभी मदद करते। बाद में आए मेरे विद्यार्थी चन्द्रशंकर शुक्ल। वे तो मेरे सचिव ही बन गए। महादेवभाई ने भी कई बार मुझे मदद दी।

एक बात आगे की है, फिर भी यहीं देता हूं।

१९३० के आसपास जब बापूजी यरवदा जेल में बन्दी थे और जेल नियमों के अनुसार उनको एक साथी देने की जरूरत सरकार ने महसूस की,। तब जेलों के इन्सपैक्टर जनरल कर्नल डॉयल ने मुझे पसन्द किया। साबरमती जेल से मुझे यरवदा भेजा तब की बात है। जाते ही मेरा स्वागत करके बापूजी ने मुझसे कहा, "तुम्हारी मुश्किल मैं जानता हूं। तुमको हाथ से लिखने की आदत नहीं है, यहां स्वामी आनन्द या चन्द्रशंकर शुक्ल कहां से मिलेंगे ? मैंने दिन-भर का मेरा हिसाब करके देखा है, तुम्हारे लिए मैं रोज आधा घंटा निकाल सकूंगा। गुजराती-अंग्रेजी जो कुछ लिखना हो, मुझसे कह सकते हो।"

उनके ये शब्द सुनकर मैं तो पानी-पानी हो गया ! मैंने इतना ही कहा, "बापूजी, मैं बुद्धू जरूर हूं, किन्तु इतना बुद्धू नहीं कि लिखने के लिए आपकी मदद मैं मागूं ?" तुरन्त बापूजी बोले, "नहीं-नहीं, जरा भी संकोच मत करो। बिना किसी मुश्किल के मैं आधा घन्टा दे सकता हूं।" मैंने कहा, "आपके हाथ से लिखवाने जैसा मेरे पास कुछ है ही नहीं।"

सच पूछो तो उसी दिन से मुझे अपने हाथ से लिखने की आदत डालनी चाहिए थी, जिससे मेरा परावलम्बन मिट जाता। लेकिन पुरानी आदत कैसे छूटे ? आज भी कोई लिखनेवाला मिले तो ही लिखना और ईश्वर की रचना ऐसी है कि कोई-न-कोई लिखनेवाले मुझे मिलते ही रहे हैं और वह भी अच्छे लिखनेवाले।

जब बापूजी स्वयं 'नवजीवन' चलाते थे, तब लेखों की कमी पड़ने पर मैं ही लिख देता था। जब बापूजी जेल गये तब सारा 'नवजीवन' अंक भरने का तथा अग्र-लेख लिखने का भार भी मेरे सिर पर आ गया। स्वामी की मदद से उसकी जिम्मेदारी निभाना मेरे लिए मुश्किल न था। सच तो यह है कि सारी जिम्मेदारी निभाने की शक्ति स्वामी के पास थी ही और मेरी मदद का उनको पूरा भरोसा था।

सरकार ने देखा कि गांधीजी को जेल भेजने पर भी उनके अखबार अच्छी तरह से चलते हैं, तब उन्होंने लेखक, सम्पादक, प्रकाशक और प्रेस-मैनेजर सभी को जेल भेज दिया। फिर भी अखबार तो चलता ही रहा। बाद में मेरे एक-दो लेखों के लिए सरकार ने मेरे ऊपर मुकदमा चलाया। अदालत में मैंने बयान देते कहा, "गांधीजी की गैर-हाजिरी में 'नवजीवन' चलाने की जिम्मेदारी ही मेरे सिर पर थी। मेरे लेखों में राजद्रोह है, यह सिद्ध करने की तकलीफ सरकारी वकील को उठाने की जरूरत नहीं है। आज की सरकार के खिलाफ असंतोष फैलाना हम अपना कर्तव्य समझते हैं। मात्र यह काम हम अहिंसक ढंग से करेंगे। गुनाह मैं कबूल करता हूं और सजा पाने को तैयार हूं।" मेरे बाद सरकारी वकील खड़े हुए। उन्होंने कौन से मुद्दे रक्खे, उसके साथ कुछ लेना--देना नहीं है। आखिर में उन्होंने कहा, "श्री कालेलकर अपनी सारी जिम्मेदारी कबूल करते हैं।"

'नवजीवन' का भाग्य ही अच्छा था। जब मैं जेल गया, उसी समय महादेवभाई जेल से छूटकर घर गये थे, इसलिए 'नवजीवन' की परम्परा में एक अंक की भी मुश्किल नहीं आयी। एक साल की सजा दस महीने में पूरी करके मैं छूट कर आया। उसी समय छः साल की सजा भोगते गांधीजी को बीमारी के कारण सरकार ने रिहा कर दिया। मैं तुरन्त पूना गया और कैदी गांधीजी से अस्पताल में मिल आया।

२० :: कांग्रेस की सेवा

'नवजीवन' द्वारा गुजरात के सार्वजनिक जीवन की और साथ-साथ गुजराती साहित्य की जो सेवा हुई, उसकी कदर करने का मन राजकीय नेताओं को हुआ। थोड़े ही दिनों में बोरसद में होने वाली गुजरात की राजनैतिक परिषद् के अध्यक्ष के लिए मेरा नाम सुझाया गया। गुजरात के राजकीय सार्वजनिक जीवन की दांव-पेच के बारे में कुछ जानता था, इसलिए मैंने महादेवभाई द्वारा पूज्य बापूजी का निर्णय मांगा। मैंने कहा कि राजकीय परिषद् का अध्यक्ष-पद स्वीकारने की मेरी योग्यता में मुझे शंका है, इसलिए बापूजी जैसा कहेंगे वैसा करूंगा।

अध्यक्ष-पद स्वीकारने की बापूजी ने सलाह दी। वैसा जब जाहिर हुआ तब उससे महाराष्ट्र और कर्नाटक के लोग बहुत खुश हुए। उन दिनों देश में एक जबर्दस्त मतभेद चल रहा था।

सरकार के कानून तोड़कर सत्याग्रह करने की गांधीजी की नीति नहीं चलानी चाहिए, ऐसा कहने-वाला एक जबर्दस्त पक्ष था। उस पक्ष के नेता थे सरदार वल्लभभाई पटेल के बड़े भाई श्री विट्ठलभाई पटेल। उन्होंने गांधीजी की 'कानून भंग' करने की नीति का फिर से विचार करने के लिए एक समिति नियुक्त की। लोग उसे 'कानून भंग समिति' कहने लगे। वल्लभभाई थे बापूजी के पक्ष में। उनके ही भाई विरोधी पक्ष के नेता ! मेरे अध्यक्षीय व्याख्यान में मुझे उस समिति का कुछ मजाक करना था ! इसलिए मैंने उसे 'उत्साह-

भंग-समिति' नाम दिया। लोगों को मजा आया। वल्लभभाई खुश हुए।

बोरसद-परिषद् का मैं अध्यक्ष हुआ, इसलिए आश्रम में मेरा अभिनन्दन करने का बापूजी का विचार था। मैंने बापूजी से कहा, "परिषद् का अध्यक्ष होते हुए भी मैं गुजरात प्रान्तीय कांग्रेस समिति का अध्यक्ष नहीं रहना चाहता हूं। वल्लभभाई जानें और उनकी नीति जाने। मैं तो सिर्फ परिषद् का तीन दिन का अध्यक्ष था, ऐसा मानकर अलिप्त ही रहनेवाला हूं।" और मैं अलिप्त ही रहा। हो सके तब तक वल्लभभाई को अनुकूल रहना और मेरा व्यक्तिगत स्वातंत्र्य संभालना यह थी, मेरी नीति।

उसके बाद की अखिल भारतीय कांग्रेस की बैठक बेलगांव में हुई। गांधीजी उसके अध्यक्ष चुने गए। श्री गंगाधरराव देशपाण्डे थे उसके स्वागताध्यक्ष। उन्होंने एक महीने के लिए बापूजी से मेरी सेवा मांग ली। बापूजी ने 'हां' कहा। गंगाधरराव ने मुझे सारे कांग्रेस कैम्प की स्वच्छता का काम सौंपा।

श्री गंगाधरराव हंसकर बोले, "काकासाहेब, आपकी सेवा मांगने में और आपको यह काम सौंपने में मेरी चतुराई है। गांधीजी के मन में रचनात्मक काम का बहुत आग्रह है, वह मैं जानता हूं, इसलिए कांग्रेस में उनके रहने के लिए एक सुन्दर खादी मण्डप बनानेवाला हूं। और सफाई का काम आपको सौंपा है, वह उत्तम होगा ही। मैंने सोच लिया है कि यदि आपका काम बहुत अच्छा हुआ तो मैं जाहिर में कहूंगा कि देखिये, बेल-गांव के हमारे काकासाहेब ने कैसी आदर्श सफाई रखी? और यदि उसमें गांधीजी को कोई कमी दिखाई दी और टीका हुई तो मैं कहूंगा कि मैंने तो सफाई का काम गांधीजी के अच्छे-से-अच्छे आदमी को सौंपा था, उससे ज्यादा हम क्या कर सकते हैं? यदि सफल हुए तो श्रेय मेरा, और कर्नाटक का। न हुए तो 'गांधीजी के आदमी सफल नहीं हुए' ऐसा मैं कहूंगा।" मैंने कहा, "मुझे मंजूर है।" दो शर्तें मैंने रखीं। मैंने कहा, "कांग्रेस के अधिवेशन के काम के लिए आपने डेढ़ हजार स्वयंसेवक एकत्र किए हैं और हर्डीकर जैसे विवेकशील आदमी को यह काम सौंपा है। उन डेढ़ हजार स्वयंसेवकों में से मेरे सफाई काम के लिए मुझे डेढ़-सौ स्वयंसेवक चाहिए। लेकिन इस काम के लिए मैं तो उनमें से मात्र ब्राह्मणों को ही पसन्द करनेवाला हूं। गंगाधरराव ने स्वीकृति दी।

स्वयंसेवकों की सभा में मैंने थोड़ा मजाक किया, "मैं गांधीजी के आश्रम का तो हूं, लेकिन मेरी जाति-निष्ठा कहां जायगी? मैं ब्राह्मण हूं, इसलिए कांग्रेस के लिए पाखाने खड़े करना, साफ करना, इस काम के लिए मुझे पवित्र ब्राह्मण ही पसन्द करने हैं। उनमें भी बेलगांव के और नजदीक के शाहपुर, इन दो शहरों के ब्राह्मण मिलें तो मैं ज्यादा खुश हूंगा। उनके सगे-सम्बन्धी और जातिवाले जब देखेंगे कि हमारे लड़के पाखाने साफ करने को तैयार हुए हैं, तब अभिमान से फूलने का मौका उनको मिलेगा!"

मेरी यह 'जाति-निष्ठा' सुनकर सब हंसे। उसके बाद सभा में से कई लिंगायत ब्राह्मणेत्तरों ने कहा, "आपकी जाति-निष्ठा हम समझे; आपको अभिनन्दन। किन्तु हम भी उस काम का थोड़ा पुण्य लेना चाहते हैं।" जवाब में सीधे मुंह से मैंने कहा, "ठीक है, ठीक है, बहुत ही उदारता से आपको भी पुण्य प्राप्त करने का थोड़ा मौका दूंगा। पच्चीस प्रतिशत ब्राह्मणेत्तरों को लेने को मैं तैयार हूं, उससे ज्यादा की मांग मत कीजिए।"

इस काम को लेते समय, मेरी एक दूसरी शर्त भी थी कि मेरे विभाग को 'कन्जरवैंटिव' जैसा अच्छा अंग्रेजी नाम न रखें। मेरे विभाग को सीधा देशी नाम दीजिए 'भंगी-विभाग'। हमने भंगी नाम अप्रतिष्ठित कर दिया है। गाली के तौर पर उसे काम में लेते हैं। पाखाने जाकर जगह को गन्दा करना, यह हम पवित्र मानते हैं और लोगों द्वारा गन्दी की हुई जगह को साफ करने का काम अपवित्र!" लोग समझ गए और मेरी इस बात को भी मान्य कर लिया।

इस साल कांग्रेस के सफाई-विभाग का काम उत्तम हुआ। "एक सुन्दर आदर्श का हमको उदाहरण मिला।" ऐसा लोग कहने लगे।

गंगाधरराव ने गांधीजी को बेलगांव कांग्रेस के लिए आमंत्रित किया, तभी तय कर रखा था कि सारे देश के लोग गांधीजी को मिलने आयेंगे तब उनके लिए कांग्रेस की भूमि पर ही रहने की व्यवस्था खादी के मकान में करनी है। गांधीजी जैसे अपने हृदयस्वामी और राष्ट्र के नेता, उनके लिए अच्छे-से-अच्छा एक मकान तैयार किया। उनके उस उत्साह की और कौशल की कदर करते गांधीजी ने अपने अनोखे तरीके से अखबार में लिखा था : "आई हैड बारगेंड फॉर खद्दर-हट, बट आई बास इंसल्टेड विद ए खद्दर पैलेस" (मैंने तो खादी की झोंपड़ी में रहने की बात की थी, किन्तु उन्होंने तो मेरे लिए खादी का राजमहल बनाकर मेरा अपमान किया।)

महात्माजी की कलम से तो इसी तरह कदर हो सकती है न ! उसे पढ़ने के बाद गंगाधरराव ने गांधीजी के पास जाकर कहा, "बापूजी, उस खादी के राजमहल का खर्च कितना हुआ, मालूम है ? पूरे साढ़े तीन सौ रुपये। कांग्रेस की समाप्ति के बाद उस महल का सामान बेच दिया, उसमें से ढाई सौ वापस मिल गये।"

इस तरह से मेरा काम बढ़ता चला। घर में पत्नी की बीमारी भी थी। मेरे शरीर में क्षयरोग के जन्तु थे ही। उस रोग ने मुझे फिर से घेर लिया।

डा० जीवराज मेहता ने जांच की। मेरे छाती के फोटो देखकर स्पष्ट अभिप्राय दिया कि क्षयरोग का प्रारम्भ है। बम्बई के एक वैद्य ने भी खूब ध्यानपूर्वक मेरी नाड़ी देखी और चार अक्षर बोले, "राज-यक्ष्मा।" सबको आश्चर्य हुआ। मुझे नहीं हुआ, उसका कारण यह था।

बेलगांव में डा० शिरगांवकर सबसे होशियार डाक्टर थे। बहुत-से परिवारों की दवा करते थे। बेलगांव और शाहपुर बिलकुल पड़ोस के दो शहर थे। इन दो शहरों में रहनेवाले हम सब लोगों की तबीयत के बारे में उनको पूरी जानकारी थी। मैं कालेज में पढ़ता था तब मैं एक बार अपनी तबीयत दिखाने को उनके पास गया था। भाई साहब और बहुत सी बातें भूल जाते हैं, बार-बार पूछते हैं, किन्तु रोग की सब बारीकियां उनको बरसों तक याद रहतीं। उन्होंने कहा, "आपके पिता का स्वास्थ्य बहुत अच्छा है। वयस्क होने पर भी उनका एक भी दांत नहीं गिरा, किन्तु आपके मां के मायके में क्षयरोग है।" फिर उन्होंने उस खानदान के अनेक लोगों के नाम लेकर हरेक आदमी कैसे गुजर गया, उसकी बात कही। आपके मामा के अन्दर भी क्षयरोग का असर था ही। इसलिए कहता हूं कि अभी से अपना स्वास्थ्य आपको सम्भालना चाहिए। यदि मांस खाने को कहूं तो आप मानेंगे नहीं। हालांकि मांस न खाना है तो मूर्खता ही, किन्तु अब से आप अण्डे खाना शुरू कर दें। मैंने यह सलाह शांति से सुनी किन्तु उसको माना नहीं।

ऐसे स्पष्ट वक्ता डाक्टर को उत्तर भी ऐसा ही देना चाहिए। मैंने शांति से कहा, "प्राणियों को मार-कर पुष्ट होने में मेरा विश्वास नहीं है।" और जोश लाने के लिए अंग्रेजी में कहा, "माई लाइफ इज वर्थ वन एग," आपने मुझे इतने विस्तार से सलाह दी है कि वह बेकार नहीं होगी। मैं अपना स्वास्थ्य खूब सम्भालूंगा। मरने का होगा तब मरूंगा ही, लेकिन आपको यकीन दिलाता हूं कि मैं क्षयरोग से नहीं मरूंगा।

मुझे क्षयरोग है, ऐसा तय हुआ तब डा० शिरगांवकर को दिया हुआ वचन मुझे याद आया। मैंने सोचा, "डाक्टर की चेतावनी सही निकली। क्षयरोग शरीर में घुसा है। अब मेरा संकल्प मुझे सिद्ध करना चाहिए। क्षयरोग को मैं अवश्य जीतूंगा।"

स्वामी आनन्द मेरे आत्मीय जन और सब तरह से मेरे हितकर्ता। उन्होंने मेरा केस हाथ में लिया।

न जाने कहां से पैसे ले आए ! मुझे नर्मदा के किनारे ले गए। वहां से पूना के पास नौ-दस मील पर चिंचवर्ड की राष्ट्रीयशाला में मेरी रहने की सारी व्यवस्था की। उसके बाद पूना के पास के इतिहास-प्रसिद्ध पहाड़ी किले सिंहगढ़ में मुझे रखा। वहां से समुद्र किनारे बोर्डी में रहने की व्यवस्था की। चिंचवर्ड में खेड़ा जिले के श्यामलभाई मेरी सेवा में थे। सिंहगढ़ में और बोर्डी में पूज्य गंगाबा ने मेरी बेहद सेवा की। बीच-बीच में स्वामी आते-जाते रहते थे। सारी व्यवस्था उत्तम करते थे। मैं नहीं मानता कि अत्यन्त नजदीक के कोई भी सगे-संबंधी भी स्वामी के जितनी चिन्ता और मेहनत कर सकते।

मेरे मन में एक ही शंका उठती रही, "क्या इतनी प्रेम-भक्ति और सेवा का पात्र मैं हूं ?"

उन दिनों पूज्य बापूजी कितने प्रेम से और चिन्ता से मुझे पत्र लिखते थे। स्वामी की सेवा से वे भी प्रसन्न होकर कहते थे, "कहां रहना, क्या इलाज करना इत्यादि सभी बातों में स्वामी आनन्द का ही निर्णय हमें मान्य करना चाहिए।"

मेरी तबीयत बहुत सुधरी, किन्तु मैं पूरा रोग-मुक्त नहीं हुआ। स्वामी मुझे अहमदाबाद ले आए और आराम के लिए आश्रमशाला में ही मुझे रखा और क्षयरोग के निष्णात डाक्टर तलवलकर के इन्जैक्शन लेना शुरू कर दिया।

प्राणिज वस्तु में से बने हुए इन्जैक्शन लेने का मुझे सख्त विरोध था। मैंने कहा, "रासायनिक द्रव्य के इन्जैक्शन लेने में मुझे कोई हर्ज नहीं है।" बापूजी ने भी सम्मति दी। मैंने दो-चार नहीं खासे २२ इन्जैक्शन लिये। उसका असर अच्छा हुआ। मैं क्षयरोग-मुक्त हुआ। उस अर्से में चि० सतीश और काकी (मेरी पत्नी) मेरे साथ रहे थे।

मैं स्वस्थ हुआ, काम करने लगा। बाद में मालूम हुआ कि उन इन्जैक्शनों में प्राणिज वस्तुओं का स्पर्श तो होता ही है। इन्जैक्शन ले लिये, स्वस्थ हो गया, बाद में सच्ची बात का पता चला। अब क्या कर सकता था ? नसीब में होना था, सो हो गया, ऐसा करके शान्त हो गया। संतोष इतना ही कि क्षयरोग से मरना न पड़ा। उसके बाद मैंने डाक्टर दिनशा मेहता के पास से नैसर्गिक उपचार का लाभ भी लिया। तबीयत कैसे सम्भालनी, उसका ज्ञान प्राप्त किया और विशेष तो शरीर के ऊपर मन का असर कैसे होता है, उसकी जानकारी होने से मन के ऊपर काबू रखकर सुख-दुख से अलिप्त रहने की कला विकसित की। 'मनुष्य को चिन्ता करने के बदले चिन्तन करना चाहिए,' यह मेरा जीवन-सूत्र बन गया। उसके बाद मैंने अपना स्वास्थ्य अच्छी तरह सम्भाला है।

मुझे कबूल करना चाहिए कि हिमालय हो या समुद्र का किनारा, रण हो या महा कांतार, कुदरत के साथ मैं एक हृदय हो सकता हूं और कुदरत के पास से आध्यात्मिक प्रेरणा और शारीरिक प्राण मुझे मिलते हैं। इसलिए कुदरत के प्रति—कुदरत के आधार पर जीनेवाले मनुष्य की हैसियत से—मेरी कृतज्ञता मुझे व्यक्त करनी ही चाहिए।

१६ :: 'मैं जाने को तैयार नहीं'

सन् १६२८ के बारडोली सत्याग्रह के दिन थे। सरदार वल्लभभाई ने लोगों को बड़ी अच्छी तरह तैयार किया था। 'सरकार ने भूमिकर बढ़ाया, वह गैरवाजिब है,' यह थी सत्याग्रह की भूमिका। सत्याग्रह शुरू हुआ तब उसमें काम करने के लिए विद्यापीठ के थोड़े विद्यार्थियों को पसन्द कर मैंने उन्हें बारडोली भेज दिया था। बाकी विद्यापीठ का काम हमेशा की तरह ठीक तरह से चल रहा था।

एक दिन किसीने आकर मुझसे कहा, "वल्लभभाई आपसे नाराज हैं। कहते हैं—हम यहां जान की बाजी लगाये बैठे हैं, और काका को तो अपनी विद्यापीठ की ही पड़ी है।"

मैंने पूरा विचार करके वल्लभभाई को जवाब भेजा, "वल्लभभाई, देश के लिए बारडोली की लड़ाई अत्यन्त महत्त्व की है, यह मैं जानता हूं। देश-भर में गमगीनी फैल गई थी। वह इस लड़ाई से दूर होने लगी है। इसीलिए तो इसमें मैंने चन्द विद्यार्थियों को भेजा है। विद्यापीठ बन्द करके इस सत्याग्रह में कूद पड़ने की आवश्यकता मुझे नहीं लगती। जिस दिन पूज्य बापूजी अथवा आप स्वराज्य के लिए आखिरी लड़ाई छेड़ेंगे, उस दिन सारी विद्यापीठ बन्द करके हम सब अध्यापक और विद्यार्थी अवश्य उसमें कूद पड़ेंगे; किन्तु आज वैसी स्थिति नहीं है। बारडोली का आन्दोलन चाहे उतना महत्त्व का हो, स्थानिक ही है। अमुक प्रदेश के किसानों पर होनेवाले अन्याय के विरुद्ध यह आन्दोलन है। उसकी खातिर विद्यापीठ जैसी संस्था बन्द नहीं करनी चाहिए। किन्तु मैं आपको विश्वास दिलाता हूं कि विद्यार्थी और अध्यापकों में से दस लोग बारडोली सत्याग्रह के लिए देने का तय किया है। इन दस में से जितने लोगों को सरकार जेल में बन्द करेगी, उतने नये सत्याग्रही आपको भेजता रहूंगा। किन्तु विद्यापीठ बन्द नहीं होगी। हमारे वर्ग बराबर चलेंगे और रोज के विषय सिखाये जाएंगे।

"मैं मानता हूं कि विद्यापीठ के इतने सहयोग से आपको सन्तोष होगा। और कुछ कहना हो तो मुझे सन्देशा भेज दीजिए। मैं स्वयं आपसे मिलने आऊंगा।"

मैं मानता हूं कि मेरे इस जवाब से वल्लभभाई को संतोष हुआ होगा। उनकी ओर से कोई सन्देशा नहीं आया, न असंतोष के वचन सुनने पड़े। मैंने अपने वचन का अच्छी तरह पालन किया।

इस सत्याग्रह के बारे में एक दूसरी बात भी महत्त्व की है।

बारडोली का आन्दोलन गुजरात के किसानों का था और सरदार वल्लभभाई थे किसानों के सरदार। इस आन्दोलन में वे पूज्य बापूजी को खींचना नहीं चाहते थे। बापूजी की नैतिक मदद तो है ही, किन्तु गुजरात की लड़ाई स्वयं लड़ लेंगे, ऐसा उन्हें विश्वास था। हम सबको उनका यह रुख पसन्द था। बापूजी सारे आन्दोलन का काम ध्यानपूर्वक देखते थे, लेकिन उसमें हस्तक्षेप करने का उनका कोई इरादा नहीं था।

किन्तु इस आन्दोलन के दरमियान अंग्रेज सरकार की चालाकी देखकर बापूजी को चिन्ता हुई। चतुर सरकार सरदार को मुश्किल में डालेगी, यह जोखिम बापू कैसे सहन कर सकते थे। उन्होंने सरदार को एकदम गुप्त सन्देशा भेजा, "वल्लभभाई, प्रसंग बड़ा कठिन है। आप खुल्लमखुल्ला बारडोली आने का आमन्त्रण मुझे भेजिये। मेरे वहां जाने से ही सरकार समझ जायगी।"

वल्लभभाई समझ गए। तुरन्त बापूजी को उन्होंने जाहिरा आमंत्रण दिया। बापूजी तत्काल बारडोली पहुंचे। सरकार ने भी देख लिया कि अब इस बनिए-सेनापति से काम पड़नेवाला है। सरकार ने फौरन अपना पैतरा बदला।

बारडोली आन्दोलन का इतिहास छपा हुआ है, और उस समय की बहुत-सी बातें मुझे याद नहीं,

इतना याद है :

सरकार ने देख लिया कि अब सरदार के साथ समझौता किये बिना चारा नहीं। इसलिए उसने ब्रुमफिल्ड और दूसरे एक गोरे अमलदार को विष्टि के लिए नियुक्त किया। उनके सामने किसानों का केस पेश करने के लिए वल्लभभाई की ओर से दो लोग नियुक्त हुए। उनमें एक थे मेरे सर्वोत्तम साथी नरहरिभाई। मैं था विद्यापीठ का आचार्य और कुलनायक (वाइस चासलर) और नरहरिभाई थे विद्यापीठ के महामात्र। मेरा सब काम नरहरिभाई संभालते थे। उनके बिना मैं अपंग-सा हो जाता। फिर भी आनाकानी किए बिना नरहरिभाई को इस काम के लिए मैंने जाने दिया।

नरहरिभाई ने किसानों की परिस्थिति, खेती के सब कानून, इत्यादि सारी चीजों का उत्तम अभ्यास करके प्रजा का केस सरकार के सामने ऐसी मजबूती से रखा कि ब्रुमफिल्ड तो आश्चर्यचकित रह गये। शास्त्रीय ढंग से किसानों की परिस्थिति का विचार करने के लिए नरहरिभाई ने एक 'एकम यूनिट' तैयार किया था। उसे ब्रुमफिल्ड 'मिस्टर पारीख का एकम' कहते थे। अन्त में नरहरिभाई की विजय हुई। किसानों को जो चाहिए था, सो मिल गया। सरकार की आबरू सम्भालने के लिए एक कलम उसमें लिखी गई कि 'जो किसान धनवान हैं उनको चाहिए कि वे स्वेच्छा से सरकार का बाकी महसूल अदा कर दें। इसमें सरकार कोई दबाव नहीं डालेगी' इत्यादि।

इसी सत्याग्रह के दरमियान नरहरिभाई के साथ मेरी बातचीत हुई थी, जो मुझे याद है।

एक समय ऐसा आया था कि समझौते के लिए नरहरिभाई की सेवा हमेशा के लिए दे देनी पड़े। तब मैंने उनसे कहा, "नरहरिभाई, आप जानते हैं कि आपके बिना मैं विद्यापीठ चला नहीं सकता। मेरा सारा आधार आप पर है। फिर भी यदि वल्लभभाईका आग्रह हो, और आपके बिना काम बिगड़ता ही हो तो आपको विद्यापीठ से मुक्त करने को तैयार हूं।"

एक क्षण नरहरिभाई ने मेरी ओर देखा, और निश्चयात्मक आवाज में कहा, "लेकिन मैं तो जाने को तैयार नहीं। मेरी प्रथम निष्ठा विद्यापीठ के प्रति है। आपके प्रति है। आप उदार होकर मुझे छोड़ने को तैयार हो जायें, किन्तु मैं छूटने को तैयार नहीं। यह मेरा निश्चय अचल है।"

ऐसा था नरहरिभाई का और मेरा सम्बन्ध। नरहरिभाई के शब्द मैं कभी भूल नहीं सकता, "मैं जाने को तैयार नहीं।"

२० :: नरम होते हुए भी तेजस्वी

गांधीजी भारत आए, तब अपने को 'नामदार गोखले के शिष्य होना' उन्होंने सबसे पहले जाहिर किया। इसलिए नरम दल के प्रतिष्ठित नेताओं के साथ उनका अच्छा मिलाप होने लगा। लेकिन हम क्रान्तिकारी लोग जानते थे कि सिद्धान्त के अनुसार सरकार की भी कदर करनी चाहिए, ऐसा मानने वाले गांधीजी, "सरकारी अन्याय कभी भी सहन नहीं करेंगे।" उनकी नरम फिलासॉफी जोशहीन नहीं थी, किन्तु उदार थी। 'विरोधी की भी कदर करनी चाहिए, उनके दृष्टि-बिन्दु से भी सोचना चाहिए।' ऐसी वृत्ति से, उदारता से वे चलते थे। लोकमान्य तिलक, बापूजी की यह खासियत अच्छी तरह समझ गए थे। एक दिन कहने लगे, "मि० गांधी, इस

नौकरशाही के आगे मैंने भी उदारता से हाथ बढ़ाया था, किन्तु यह उन्मत्त नौकरशाही केवल खुशामद ही चाहती है। उनके साथ सहकार करने में मेरी उंगलियां जली हैं। मेरे जैसा अनुभव आपको होगा, तब आप मुझसे भी आगे बढ़ेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है।"

पूरे एक वर्ष तक देश का निरीक्षण करने के बाद गांधीजी ने भारत की राजनीति में प्रवेश किया। 'सरकार की मदद करनी चाहिए, सरकार ने हाथ बढ़ाया है, सो पकड़ना चाहिए,' इत्यादि ढंग से उन्होंने प्रारंभ किया, लेकिन देखते-ही-देखते उनकी तेजस्विता प्रकट होने लगी।

एक दिन स्वर्गीय गोखले की 'सर्वेंट्स ऑफ इंडिया सोसायटी' के सदस्यों से बापूजी ने कहा था, "मैं आपका आदमी हूं, आपका पुराना साथी, आपके बीच रहकर मैंने यहां के जाहिर जीवन में प्रवेश किया, लेकिन आज आप मेरे साथ नहीं हैं। जहाल गिने जानेवाले लोग ही मेरे आसपास एकत्र हुए हैं। ऐसा कैसे हुआ। यह आप सोचिए। राजनीति में आपको ज्यादा गहराई में उतरना चाहिए। आखिर तो हमें जनता को ऊपर उठाना है।" इत्यादि।

देखने-देखते बापूजी कांग्रेस के नेता हुए। जनता में असाधारण जागृति आई। सारा राष्ट्र बोलने लगा, सरकार को ललकारने लगा।

गांधीजी अहिंसा में पूरा विश्वास करते थे। किन्तु अहिंसा यानी अशक्ति नहीं। सारे देश का स्वभाव वे जानते थे। हमारी संस्कृति की तेजस्विता, जो 'अहिंसा' में सोई हुए है, वह जाग्रत की जा सकती है, जाग्रत करनी चाहिए, यह बात उन्होंने देश को समझाई।

एक दिन हिंसा में विश्वास करनेवाले क्रांतिकारी युवक इकट्ठे हुए थे। मैं गांधीजी के पक्ष का हो गया, इसका उन्हें आश्चर्य हो रहा था! कई कहते होंगे, "कालेलकर धूर्त है। गांधीजी के साथ रहकर अहिंसा की बातें करने लगा है। इस तरह सरकार की नजर चुका रहा है। किन्तु अन्दर से तो वह अपना ही है। जैसे वह सरकार को बना रहा है, वैसे गांधीजी को भी भुलावे में डाल रहा है। सच्चे क्रांतिकारी ऐसे ही होने चाहिए।"

ऐसे युवक एकत्र हुए थे। सब थे मेरे पुराने साथी। हम सबने एकत्र होकर कितनी-कितनी योजनाएं तैयार की थीं और अमल में लेना चाहते थे। मुझपर उनका पूरा विश्वास था। मैंने उनसे साफ-साफ कहा, "भाइयो, मैं आपका ही आदमी हूं। क्रांति में मेरा पूर्ण विश्वास है। लेकिन नये अनुभव से अब गांधीवादी हुआ हूं। मैं गांधीजी को फंसाता नहीं हूं। गांधीजी के विचार समझकर हृदय से मैंने उन्हें स्वीकार किया है। सरकार को ठगने के लिए मैंने अहिंसा ओढ़ नहीं ली है। यकीन होने पर ही मैं गांधीवादी हुआ हूं। अब मेरी बात सुनिये :

"हम हिंसा में विश्वास करते थे, मुश्किल से हमने थोड़े शस्त्र एकत्र किये। बंगाल के हमारे भाइयों ने राजनैतिक हत्याएं कीं। परिणाम क्या आया? सरकार को मौका मिल गया। सरकार ने प्रजा को कुचल देने में कोई कसर बाकी न रखी।

"लोग हमारी कदर करते हैं। देशभक्ति को पूजते हैं। यदि हम संकट में पड़े तो अपने को बचाने के लिए कुछ जोखिम भी मोल लेते हैं। हमें गुप्तवास में रहना पड़े तो उसकी सहूलियत भी कर देते हैं। यह सारा सही है। किन्तु सामान्य प्रजा—विशाल प्रजा—हमारे रास्ते पर आनेवाली नहीं। मार-काट या खून-खराबे का तत्व अपनी प्रजा में है ही नहीं। उसे स्वभाव का ढीलापन कहें, या संस्कृति की ऊंचाई कहें, स्वभाव तो स्वभाव है ही। उसी स्वभाव के अन्दर गांधीजी सांस्कृतिक महत्ता देखते हैं। इसलिए अपनी प्रजा की संस्कृति के अनुरूप हो ऐसा लड़ाई का नया तरीका उन्होंने खोजा है। वह मार्ग श्रेष्ठ हो या न हो, हमारी जनता के लिए वह अनुकूल है, इसीलिए मैं कहता हूं :

" जहां हम क्रांतिकारी अंग्रेज राज्यकर्ता के खिलाफ जनता को उकसा नहीं सके, लड़ने को तैयार नहीं कर सके, वहां गांधीजी सफल हुए हैं। 'किसी को मारो मत, मकान जलाओ मत, रास्ते तोड़ो मत, और फिर भी सरकार का काम बिलकुल रुक जाय, ऐसा कदम उठाओ, और जनता के द्वारा उसका अमल कराओ,' यह नयी लश्करी लड़ाकू पद्धति क्या मामूली सी है ? जैन लोग अहिंसा का प्रचार करते हैं, वैष्णव भी अहिंसा को मानते हैं, किन्तु गांधीजी ने अहिंसा में जो क्षात्र-तेज दाखिल किया है, वह अनोखा ही है। यह सूझ उनको सौराष्ट्र के विद्रोही लोगों से मिली होगी; किन्तु उस कला को गांधीजी ने अध्यात्म और युद्धनीति दोनों की दीक्षा दी है। यह खूबी यदि हम न समझ सकें तो हम कैसे क्रान्तिकारी और युद्ध कला-विशारद भी कैसे ?

"गांधीजी की 'अहिंसक तेजस्वी मानव-संस्कृति' दुनिया में सफल हो या न हो, (यथा-समय सफल होगी ही, ऐसा मेरा विश्वास है) किन्तु यह गांधी-पद्धति की युद्ध-नीति हमारी संस्कृति के लिए अत्यन्त अनुकूल है और आज के युग में सफल होने योग्य है। इसलिए गांधीजी को स्वातन्त्र्य युद्ध के एक अद्भुत सेनापति मानकर उनके पीछे-पीछे जाना मैंने तय किया है।"

मेरी इस दलील का असर हुआ। कई लोगों के जीवन पर यह असर स्थाई हो गया।

और इसीलिए आप देखेंगे कि गांधीजी के सत्याग्रह में, असहयोग में और ऐसे सब लड़ाकू कार्यक्रमों में क्रान्तिकारी दल के लोग ही ज्यादातर आगे आने लगे।

गांधीजी ने देख लिया कि कानून-भंग जैसे उग्र सत्याग्रह के लिए लाखों लोगों को तैयार करना मुश्किल है, और आन्दोलन के दरमियान उनको अहिंसक रखना उससे भी ज्यादा कठिन है। तब उन्होंने सत्याग्रह को असहयोग का व्यापक रूप दिया।

सरकारी शिक्षण का त्याग, सरकारी इल्काबों का त्याग और सरकारी कामों का त्याग। इस तरह का विविध कार्यक्रम उन्होंने देश के सामने रखा। साथ-साथ कानून बनानेवाली और राज्य शासन के साथ गहरा सम्बन्ध रखने वाली कौंसिलों का बहिष्कार भी बापूजी ने सुझाया। उसमें उनको कल्पनातीत सफलता मिली। अंग्रेज सरकार तो सहम ही गई! जो देश-नेता कायदा कौंसिल में सरकार के सामने व्याख्यान देकर अपनी बुद्धि की चमक दिखाते थे वे ही देश के सामने लाखों की मेदनी को असहयोग के समर्थ सिद्धान्त समझाने में अपनी बुद्धि में नयी तेजस्विता विकसित करने लगे!

आखिर सरकार ने बापूजी को जेल में बन्द कर दिया, स्वराज्य के आन्दोलन में मंदी आई, और कौंसिलों में जाकर अपनी बुद्धि का तेज प्रकट करनेवाले लोग बेकाम हो गए।

मोतीलाल नेहरू, चित्तरंजनदास, विट्ठलभाई पटेल जैसे नेताओं ने कौंसिल में प्रवेश कर अन्दर से सरकार का विरोध करने की नयी नीति देश के सामने रखी। गया में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। दांडी-कूच में वे परिवर्तन नहीं करा सके। कौंसिल प्रवेश करने में पीछे हठ है ऐसा कहनेवाले दल के नेता श्री राजगोपालाचारी उस समय पहली बार देश के सामने झलक उठे।

फिर भी राजनैतिक जीवन के टुकड़े हुए सो हुए।

गया-कांग्रेस में मैं 'नवजीवन' का प्रतिनिधि होकर उपस्थित हुआ था, तबसे कांग्रेस के राजकरण में मुझे भाग लेना पड़ा। देश के चिन्तन में और स्वराज्य प्रवृत्ति में टुकड़े हुए, उसका मुझे दुःख था। मैं गांधीजी का आदमी कट्टर-से-कट्टर 'नाफेरवादी' था। उस भूमिका को छोड़ने की मुझे तनिक भी इच्छा नहीं थी।

यह होते हुए, जो लोग कौंसिल में जाना चाहते थे उनको 'गांधी-द्रोही, कांग्रेस-विरोधी, स्वराज्य-द्रोही' कहने की मेरी तैयारी नहीं थी। मैंने गहरा चिन्तन किया। मुझे एक रास्ता सूझा। गांधीवादी जगह-जगह कहते थे, "नरम दल के मॉडरेट लोग भले कौंसिलों में जायं, हम कांग्रेसवालों को कौंसिलों में नहीं जाना चाहिए।"

देश की परिस्थिति ऐसी थी कि मॉडरेट लोगों को कोई रोक नहीं रहा था। वे कौंसिलों में थे ही। देश पर या सरकार पर उनका कोई प्रभाव नहीं था। आज तक कांग्रेसवाले कौंसिलों का बहिष्कार करते थे, वे अब कौंसिलों में जाकर अन्दर से सरकार का विरोध करना चाहते थे।

मैंने देखा कि उत्तर भारत में राष्ट्र के हिन्दू समाज और मुस्लिम समाज ऐसे दो टुकड़े हुए थे, वैसे ही दो टुकड़े दक्षिण में ब्राह्मण और ब्राह्मणेत्तर के भी हुए थे। दक्षिण भारत के लिए यह सवाल बड़ा कठिन हो गया था। शिक्षण में, समाज-सुधार में, राजनीतिक जागृति में, अधिकतर नेता ब्राह्मण ही थे। उनकी बुद्धि और राजनीति दोनों तेजस्वी थे। किन्तु बहुजन-समाज तो ब्राह्मणेत्तर ही होगा। क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, हरिजन, हाथकारीगर, गांव के नेता, इत्यादि सब ब्राह्मणेत्तर ही होते थे। आगे जाकर ब्राह्मणेत्तरों में मुसलमान और ईसाइयों की भी गणना होने लगी। मैंने एक दिन मजाक में कहा था, "जो ब्राह्मण नहीं, सो घोड़ा हो, बैल हो या बन्दर हो, सभी ब्राह्मणेत्तर ही हैं।"

बापूजी जब जेल गए तब आन्ध्र, कर्नाटक, तमिलनाडु और केरल में मुझे अनेक बार जाना पड़ता था। तब मैंने देखा कि राजाजी जैसे तेजस्वी ब्राह्मण कांग्रेस के नेता हैं यह देखकर ब्राह्मणेत्तर नेता कांग्रेस के बाहर रहते थे। मैंने उनको जोर देकर कहा, "आप लोग विशाल ब्राह्मणेत्तर जनता के साथ अन्याय कर रहे हैं। कौन कहता है कि कांग्रेस ब्राह्मणों की संस्था है? अब देखिए, महात्मा गांधी बनिए ब्राह्मणेत्तर हैं, सरदार वल्लभभाई किसान हैं, चितरंजनदास कायस्थ हैं। कांग्रेस तो करोड़ों की संख्यावाले ब्राह्मणेत्तरों की प्रतिनिधि संस्था है। आपको उसमें हक का स्थान है उसमें दाखिल हो जाइए। उस संस्था पर कब्जा कर लीजिए। फिर उसमें चमकने वाले ब्राह्मण नेता या तो आपके सहायक साथी बनेंगे या निकल जायंगे। बहुमत आपका होते हुए कांग्रेस में आते आप डरते क्यों हैं?"

इसका असर अच्छा हुआ। के० सी० रेड्डी, दासप्पा इत्यादि कर्नाटक के नेता कांग्रेस में आए और चमकने लगे।

बापूजी जेल में होने से देश में मन्दी आई थी और कौंसिल-बहिष्कार का कार्यक्रम तोड़कर कौंसिल के के अन्दर ही लड़ाई ले जानी चाहिए, ऐसा कहने वाले लोग उतावले बने थे। तब कर्नाटक की एक राजनैतिक परिषद् के अध्यक्ष को मैंने सूचित किया कि अपनी प्रमुख नीति तो 'नाफेरवादी, यानी कौंसिल-बहिष्कार की ही होनी चाहिए, किन्तु उस सख्त नीति का अमल सिर्फ ब्राह्मण नेता करें। यदि कोई ब्राह्मणेत्तर नेता कौंसिल में प्रवेश करके सरकार का विरोध करना चाहे तो कांग्रेसवालों को उनकी मदद करनी चाहिए। अपने मतदाताओं के मत उनको दिलवाने चाहिए।

मेरी यह नीति दक्षिण के लोगों को बहुत अनुकूल सिद्ध हुई। ब्राह्मणेत्तर पक्ष में तेजस्विता आई। अच्छे अच्छे प्रतिभावान नेता उनको मिले और कांग्रेस में दो दल होने की जो नौबत आई थी, वह टल गई। कौंसिल के बाहर और कौंसिल के अन्दर दोनों तरीकों से अंग्रेज सरकार का जोरदार विरोध हुआ और जनता के उत्साह में कमी आना रुक गया। अन्दर-अन्दर की परस्पर विरोधी चर्चा भी रुकी। अंग्रेज सरकार के प्रति विरोध मजबूत होने लगा और उसके साथ-ही-साथ ब्राह्मण और ब्राह्मणेत्तरों के बीच जो थोड़ी कटुता थी, वह भी दूर हुई।

२३ :: गुजरात विद्यापीठ की स्थापना और पुनर्रचना

अपने जीवन में जिन महत्वपूर्ण प्रवृत्तियों में मैंने भाग लिया है, उनमें मेरे मन में सबसे अधिक महत्व की प्रवृत्ति गुजरात विद्यापीठ की थी।

अंग्रेज राज्य के साथ और उनकी पश्चिमी शिक्षा के साथ असहयोग करने की इच्छा जिनको नहीं थी, उनमें भी ऐसे काफी लोग थे, जिनको अंग्रेज सरकार की चलाये हुए और उनके विश्वविद्यालयों में चलने वाली शिक्षा के बारे में असन्तोष था। और अपने देश की आवश्यकता तथा संस्कृति के प्रति वफादार रहकर सारे देश में राष्ट्रीय शिक्षण का एक स्वतन्त्र तन्त्र खड़ा करने की उनकी इच्छा थी।

उनमें भी आर्यसमाज का विचार था कि वैदिक धर्म और वेदकाल की संस्कृति को फिर से जागृत करके उसके अनुकूल शिक्षातन्त्र खड़ा करना चाहिए। वैसे प्रयत्न भी उन्होंने किये। उत्तर भारत में ऐसे लोगों की पुरानी संस्कृति का ज्यादा महत्व देने वाला गुरुकुल पक्ष था और इस जमाने की अंग्रेजी शिक्षा का महत्व पहचानने वाला डी० ए० वी० (दयानन्द एंग्लो वैदिक) कॉलिज का पक्ष भी था। ऐसे दो पक्ष हो गए थे। मुस्लिमों ने इस्लाम और उसकी संस्कृति को महत्व देनेवाली नयी शिक्षण पद्धति चलाने के लिए जो संस्थाएं खड़ी की उसका केन्द्र था अलीगढ़ युनिवर्सिटी।

इसी तरह हिन्दू संस्कृति को केन्द्र में रखकर सारा शिक्षा-तन्त्र देशव्यापी करने के हेतु से पंडित मालवीयजी जैसों ने हिन्दू-विश्वविद्यालय की स्थापना की। पं० मालवीयजी की उस संस्था को अखिल भारतीय रूप देने की उत्कट इच्छा थी, किन्तु अंग्रेज सरकार ने उस विश्वविद्यालय को स्थानिक बनाने की शर्त पर ही खड़ा होने दिया था। यह था 'बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय'। यह सारी प्रवृत्ति एक-एक धर्म समाज की होने के कारण उनकी राष्ट्रीयता के बारे में लोग शंका व्यक्त करते थे।

भारत के सार्वजनिक जीवन में और सरकारी तंत्र में भी बंगाली लोगों का महत्व बहुत बड़ा होने से यह अंग्रेजी राज्य के लिए जोखिमकारक है, ऐसा मानकर भारत की अंग्रेज सरकार ने बंगाल के दो भाग करना तय किया। इससे समस्त बंगाल की जनता बिगड़ उठी। उन्होंने बंग-भंग के खिलाफ जबरदस्त आन्दोलन चलाया। उसी समय देश भर में राष्ट्रीयता का अच्छा जोश था। इसलिए महाराष्ट्र, मद्रास इत्यादि प्रदेश के लोगों ने बंगालियों को पूरे दिल से प्रोत्साहन दिया। और सारे देश में स्वराज्य के आन्दोलन द्वारा असाधारण प्राणवान प्रजा-जागृति देखने को मिली।

उस स्वराज्य-आन्दोलन में देशी उद्योगों को प्रोत्साहन देना, देश में आने वाले विदेशी माल का, खासकर विलायती कपड़े का, बहिष्कार करना देश की सारी शिक्षा अपने हाथ में रहे, इस दृष्टि से सरकार से स्वतन्त्र राष्ट्रीय शिक्षण चलाना, इस किस्म के तीन-चार महत्त्व के मुद्दे लेकर सारे देश में खूब प्रचार हुआ। लोकमान्य तिलक की प्रेरणा से पुणे-बम्बई के बीच तलेगांव में समर्थ-विद्यालय की स्थापना हुई। सुबोधचन्द्र मलिक, विपिनचन्द्र पाल और अरविन्द घोष जैसे बंगाली नेताओं ने बंगाल नेशनल 'कौंसिल ऑफ एजुकेशन' की स्थापना की। इस तरह शुद्ध राष्ट्रीय दृष्टि से और किसी एक धर्म को आगे न करके सब धर्मों का आदर रखकर भारतीय संस्कृति को पोषक ऐसी राष्ट्रीय शिक्षा के अनेक प्रयोग शुरू हुए।

मैसूर राज्य में भी ऐसा ही एक प्रयोग शुरू हुआ था।

पंजाब में सिख लोगों ने ऐसे ही प्रयोग चलाये थे। उन सब का इतिहास यहां देना नहीं हैं। केवल उस समय का वायुमण्डल समझाने का ही उद्देश्य है। "केवल कांग्रेस को ही नहीं, किन्तु शुद्ध स्वातन्त्र्य प्राप्त करने की दृष्टि से अंग्रेजी राज्य तोड़ने के लिए सारे राष्ट्र को तैयार करना चाहिए। ऐसी तैयारी करनेवाला शिक्षण

वही सच्चा राष्ट्रीय शिक्षण," ऐसा माननेवाला एक पक्ष इस विशाल प्रवृत्ति के अन्दर अपना वातावरण जमाने की कोशिश कर रहा था। इस पक्ष में से ही मैंने अपना सार्वजनिक जीवन का प्रारम्भ किया था। इस-लिए प्रथम बेलगांव में और उसके बाद बड़ौदा में राष्ट्रीय शिक्षा की संस्था में दाखिल हुआ। वहां मेरे विचार आजमाने का और उन्हें परिपक्व करने का प्रयोग मैंने किया। उसमें क्रान्तिकारी विचार के शिक्षकों को ही लेना और विद्यार्थियों में उस तरह का तेजस्वी वायुमण्डल उत्पन्न करना और फिर भी अंग्रेजोंकी दमननीति से बच जाना, यह हमारी कार्य-पद्धति थी।

इसके अनुसंधान में हम शिक्षक सार्वजनिक जीवन में अच्छा भाग लेते थे। 'पुराने धार्मिक, सांस्कृतिक और नये राजनैतिक त्योहार मनाने', यह भी हमारी राष्ट्रीय शिक्षा का एक महत्व का अंग था।

इसी विचार से हम देश में कौन-कौन कहां काम करते हैं, उसकी तलाश रखते। हम एक-दूसरे को मिलते भी रहते थे। जैसे हम एक-दूसरे को ढूंढते रहते थे, उसी तरह अंग्रेजी सरकार भी हम सबको पहचान कर हम पर कम-ज्यादा दबाव डालने की कोशिश करती थी। यह वातावरण समाज के लिए बहुत प्रेरणादायी साबित हुआ। हम राष्ट्र-सेवकों के लिए तो त्यागमय, सेवामय, सादा और नम्र तथापि तेजस्वी जीवन अच्छी प्रेरणा और दीक्षा देने-वाला था ही। हमारा आपस का भाईचारा चरित्र की दृष्टि से उन्नत और आत्मीयता की दृष्टि से अत्यन्त सन्तोषकारक था।

जगह-जगह पर अंग्रेज सरकार सफल हो रही है, हमारी एक भी संस्था टिक नहीं रही है। ऐसा अनुभव हुआ। अन्तिम शक्ति अध्यात्म में ही मिलनेवाली है, इस विश्वास से पश्चिम भारत को हमेशा के लिए छोड़कर मैं हिमालय की यात्रा को गया। वहां कोई एक स्नेही राम की उपासना करे, दूसरा कोई वेदान्त में से प्रेरणा प्राप्त करे; अध्यात्म-शक्ति की उपासना करने के लिए कई लोग देवी की उपासना करते। आसन प्राणायाम, ध्यान और समाधिवाली यौगिक साधना में भी कितने लोग संलग्न हुए, किन्तु सबके मन में एक बात समान थी कि "अध्यात्म-शक्ति विकसित करके जनता में जागृति लानी है।" सब धर्मों में आज चलने वाली स्पर्धा को तोड़कर उसमें सहयोग का वातावरण लाकर गांवों में भी चल सके, ऐसे उद्योगों को पुन: जीवित करके राष्ट्र का उत्थान करना चाहिए। पहले मौके से देश को स्वतंत्र करने की उत्कट अभिलाषा सब में समान भाव से काम करती थी। अध्यात्म का मोक्ष और भारतीय स्वतंत्रतारूपी राजनैतिक मोक्ष—दोनों का समन्वय यही थी हमारी सर्वोपरि प्रेरणा। इसीलिए 'सा विद्या या विमुक्तये', यही हमारा जीवन-सूत्र बन गया। आगे की बात का यहां जरा-सा उल्लेख कर दूं। गुजरात विद्यापीठ की जब हमने स्थापना की तब साथियों ने विद्यापीठ के लिए मेरे पास से ध्यानमंत्र 'मोटो' मांगा। मैंने तुरन्त उनको "सा विद्या या विमुक्तये" दिया और उसके लिए एक पुराना सुभाषित ढूंढ़कर उनको समझा दिया। महात्माजी को भी यह मोटो बहुत पसन्द आया। आज अनेक संस्थाएं इसी मोटो को स्वीकार करके अपना काम चला रही हैं।

मैं हिमालय गया तब मेरे मन में ऐसा कोई संकल्प न था कि वापस आकर सार्वजनिक जीवन के काम में मुझे पड़ना है। केवल अध्यात्म साधना करनी और भारत-सेवा से लिए परमात्मा जो प्रेरणा दे उसको शेष जीवन अर्पण करना इतना ही संकल्प था।

हिमालय में एक स्थान पर बैठने के बदले अपनी पवित्र नदियों के उद्गम स्थान और पहाड़ों के शिखर देखने, यात्रा करते-करते उत्कट धार्मिक पुरुषों के दर्शन करने और साधना के साथ चिन्तन चलाते रहना, यही हमने ज्यादा पसन्द किया। गंगोत्री, जमनोत्री, केदार, बद्री— ये चार स्थान तो अखिल भारत के यात्रियों का मानो पीहर थे। वहां की यात्रा पूरी करके कश्मीर से लेकर नेपाल तक हिमालय के सब प्रदेशों को 'पदाक्रान्त किया और फिर गंगा के किनारे बैठकर ध्यान लगाया।

यात्रा करते-करते अनेक संस्था देखते और तरह-तरह के विचार-विनियम करते हमारे विचार और संकल्प सुदृढ़ होने लगे। स्वामी विवेकानन्द का रामकृष्ण मिशन, श्री अरविन्द घोष की प्रवृत्ति और रवीन्द्रनाथ का शान्तिनिकेतन इन तीन संस्थाओं का काम देखने को जी चाहा।

शान्तिनिकेतन में ही पूज्य गांधीजी से भेंट हुई। मुझे उन्होंने अपने आश्रम में बुलाया और आश्रम के शिक्षण-विभाग को विकसित करने का मौका दिया।

इतनी तैयारी के साथ गुजरात जैसे कार्य-कुशल प्रदेश में राष्ट्रीय शिक्षा संगठित करने की दृष्टि से गुजरात विद्यापीठ का काम मैंने सम्भाला। शान्तिनिकेतन के आखिरी अनुभव के बाद मैंने तय किया था कि जहां काम करूंगा, वहां के स्थानिक लोगों को साथ लेकर उन्हीं को आगे करके काम करने से ही वह काम स्थायी और मजबूत होता है।

सन् १९२० के अगस्त के अन्त में अहमदाबाद में चौथी गुजरात राज्य परिषद् ने राष्ट्रीय शिक्षण के बारे में एक प्रस्ताव पास किया था।

गुजरात विद्यापीठ का आरम्भ श्री इन्दुलाल यागनिक के आग्रह से हुआ था। श्री किशोरलालभाई, नरहरिभाई और मैं ऐसा मानते थे कि धीरे-धीरे नीचे से काम करते-करते ऊपर तक पहुंचकर शिखर के रूप में सारे गुजरात के लिए यथासमय एक विद्यापीठ स्थापित करनी चाहिए। किन्तु अमुकभाई इतने लाख रुपये देने को तैयार हैं, इसलिए विद्यापीठ की स्थापना तुरन्त ही कर दें। ऐसा आग्रह श्री इन्दुलालजी का था।

चौथी राजकीय परिषद् में इन्दुलालभाई का प्रस्ताव पास हुआ। हम—आश्रमशाला के कोई भी व्यक्ति उस परिषद् के सदस्य नहीं थे। इसलिए हमारी बात परिषद् के सामने आई ही नहीं। परिषद् ने बारह लोगों की समिति नियुक्त की। केवल विचार करके योजना पेश करने के लिए नहीं, किन्तु योजना तैयार करके उसको कार्यान्वित करने की सत्ता भी उस समिति को दी गई थी। उस समिति में हम दो-तीन आश्रमवाले भी थे।

जनता में जब इतना उत्साह हो और परिषद् सर्वानुमति से समिति नियुक्त करे और बारह सदस्यों में आश्रम के भी तीन भाइयों को रखे, तब पीछे हठ करना यह हमारे स्वभाव में नहीं था। किशोरलालभाई और मैं गुजरात-भर में घूमे और दो-तीन महीनों के अन्दर गुजरात विद्यापीठ की स्थापना की। उसके कॉलेज का प्रारम्भ भी कर दिया। चरोत्तर एजुकेशन सोसायटी, सूरत के कल्याणजी भाई और दयातजीभाई और भावनगर के दक्षिणा मूर्ति वाले उसमें शामिल हुए। किन्तु सारे गुजरात में सबसे अधिक प्रतिष्ठावाली लेकिन केवल मैंट्रिक के लिए विद्यार्थियों को तैयार करनेवाली अहमदाबाद की प्रापराइटरी हाई स्कूल का क्या ? इतनी बड़ी संस्था, विद्यापीठ में आ जाए तो विद्यापीठ की प्रतिष्ठा बढ़ेगी। मेरे ऊपर चारों ओर से दबाव आया।

देश ने असहकार की नीति को स्वीकार किया। उसके अनुसार एक पूरी स्वतंत्र यूनिवर्सिटी स्थापित करने का काम सर्वप्रथम गुजरात ने किया। इसलिए देश के जिन-जिन विद्यार्थियों ने सरकारी शिक्षा के साथ का सम्बन्ध तोड़ा था वे सब गुजरात विद्यापीठ में आने लगे।

विशेष तो यह था कि असहयोग करनेवाले विद्यार्थियों की परीक्षा लेकर गुजरात विद्यापीठ की ओर से उनको बी० ए०, एम० ए० इत्यादि उपाधि देने की जिम्मेदारी गुजरात विद्यापीठ पर आ गयी। अब अनेक भाषा के और अनेक प्रदेश के विद्यार्थियों की परीक्षा किस तरह ली जाए अथवा क्या उनकी राष्ट्रसेवा देखकर मानद उपाधि दी जाय, ऐसी चर्चा चली। केवल परीक्षा के लिए ही हमारे पास आए विद्यार्थियों के लिए कुछ करना अनिवार्य था। हमने एक समिति नियुक्त की और उन सब विद्यार्थियों की जांच करके उनको उपाधियां

दीं। साथ एक बात स्पष्ट हुई कि सारे देश के लिए जब गुजरात विद्यापीठ एकमात्र संस्था है तब उसका स्वरूप अखिल भारतीय होना चाहिए। इसलिए शिक्षा का वाहन, गांधी जी के सिद्धान्तों के अनुसार हिन्दी ही हो सकता है। गुजरात विद्यापीठ अखिल भारतीय संस्था हो और उसकी सारी शिक्षा हिन्दी द्वारा दी जाए, इस नीति का सभी असहयोगी नेताओं ने उत्साहपूर्वक पुरस्कार किया।

किन्तु गांधीजी के आश्रम के प्रतिनिधियों में गांधी सिद्धान्त समझनेवाला और राष्ट्रीय शिक्षण भी पूरा समझने वाला मैं ही था। मैंने आग्रह किया कि सारे देश में भाषावार प्रान्त होंगे और उस-उस प्रदेश में उस-उस भाषा द्वारा शिक्षा दी जाएगी। गुजरात विद्यापीठ के शिक्षा विषयक आदर्श अखिल भारतीय हैं, किन्तु गुजरात विद्यापीठ विशाल गुजरात की ही सेवा करेगी। उसमें अंग्रेजी का बहिष्कार नहीं हो सकता। वह एक उपयोगी और सर्वत्र फैली हुई समर्थ भाषा है, इसलिए एक कोने में उसको स्थान तो होगा।

सारे देश की राष्ट्रभाषा हिन्दी ही हो सकती है, इसलिए सारे गुजरात विद्यापीठ के तन्त्र में नीचे से ऊपर तक द्वितीय भाषा के रूप में हिन्दी के लिए अत्यन्त आदर का स्थान रहेगा। किन्तु गुजरात विद्यापीठ की शिक्षा का वाहन तो नीचे से लेकर शिखर तक गुजराती ही रहेगा। इस नीति में मैं अडिग रहा। मेरे विरुद्ध प्रचण्ड बहुमत होते हुए मैंने एक न सुनी। लोग अकुलाए, लेकिन करते क्या ? प्रस्ताव राजकीय परिषद् के हों या किसी भी संस्था के हों, अमल में लानेवाले तो हम ही थे। हमारे खिलाफ शिकायत नहीं चल सकी। लोग गांधीजी के पास गये। उन्होंने कह दिया, "काका का आग्रह उचित है।" तब सारा वातावरण मेरे लिए अनुकूल हुआ।

किन्तु कॉलेज में अंग्रेजी सिखाएगा कौन ? उस कॉलेज का आचार्य कौन बनेगा ?

मैं सीधा बापूजी के पास गया। मैंने कहा, बात यहां तक आई है। अब बलूभाई और दीवान को राजी किए बिना चारा नहीं। मुझे एक आचार्य (प्रिंसिपल) चाहिए। आप ला देंगे तभी बात बनेगी।

थोड़े ही दिनों में बापूजी ने कहा कि दिल्ली के रामजस कॉलिज के एक प्रोफेसर या आचार्य वहां से मुक्त होनेवाले हैं। वे सिंधी है—असूदमल गिदवानी। उनके साथ मेरी बात हो चुकी है, वे तुरन्त आयेंगे। मुझे लगा, ठीक है अब विद्यालय चलेगा। असूदमल गिदवानी अंग्रेजी में अच्छे व्याख्यान दे सकते थे। लोगों पर उनका अच्छा प्रभाव पड़ा, खासकर वल्लभभाई और अम्बालाल साराभाई नये आचार्य से प्रभावित हुए। आरम्भ में गिदवानी हरेक काम मुझसे पूछकर करने लगे। सभा के अन्त में वक्ता और अध्यक्ष को धन्यवाद देने का काम अचूक मुझे सौंपते। हमारा सहयोग अच्छा चला, किन्तु आगे चलकर जब अम्बालाल साराभाई और वल्लभभाई जैसे दो बड़े आदमियों का उनको सहारा मिला तब मेरा महत्त्व कम हो गया। मेरा सारा उत्साह महाविद्यालय के भाषा-विभाग में—आर्य विद्या मंदिर में केन्द्रित होता चला। रामनारायण पाठक, रसिकलाल परीख इत्यादि लोगों की सिफारिश से मैं पंडित सुखलालजी, पंडित जिनविजयजी, पं० बेचरदास जी जैसे जैन पंडितों को विद्यापीठ में ले आया था। लेकिन इस बात का पूरा महत्त्व राजकीय नेता समझ नहीं पाए।

मेरे ही आग्रह से बापूजी जिनको लाये थे, उन गिदवानीजी के साथ रोज की खींचातानी के बदले विद्यापीठ में से मैं निकल ही जाऊं, यह ठीक होगा, ऐसा सोचकर मैंने अपना निर्णय बापूजी को कहा। "मेरा मुख्य काम तो आश्रम में ही है। गुजराज की जनता ने मेरी सेवा मांगी, इसलिए गुजरात विद्यापीठ की स्थापना मेंमैं पड़ा। अब वह काम मेरे बिना अच्छी तरह चल सकेगा इसलिए विद्यापीठ छोड़कर आश्रमशाला चलाने की इजाजत मुझे दीजिए।" बापूजी मान गए।

गिदवानी ने अपने ढंग से विद्यापीठ का काम अच्छा चलाया।

किन्तु—किन्तु उन्हें राजनैतिक बातों से ज्यादा लगाव था। व्याख्यान अच्छे देते थे। पहले-पहल तो वल्लभभाई के साथ गिदवानी की अच्छी बनती थी, किन्तु आगे चलकर वल्लभभाई उनपर नाराज हुए। मेरे मित्र जीवतराम कृपालानी भी सिंधी थे। बीच-बीच में पूज्य बापूजी को और मुझे मिलने आया करते थे। एक दिन वल्लभभाई ने कहा, "विद्यापीठ के लिए मैं कृपालानी को लाना चाहता हूं। काका चाहें तो कल ही कृपालानी को ला सकते हैं।"

वल्लभभाई को राजी करने की मेरी नीति तो थी ही। मैंने कृपालानी को बुलाया। वे तुरन्त आ गए। उन्होंने आते ही गिदवानी से कहा, "भले आदमी, काका को खोकर आपने बड़ी भारी भूल की है। काका हैं गांधीजी के भरोसे के आदमी और गुजराती समाज में उनकी जड़ें मजबूत हैं। ऐसा स्थान कभी भी आपको मिल नहीं सकेगा।" यह बात कृपालानी ने खुद मुझे उस वक्त कही थी।

उसके बाद विद्यापीठ में कृपालानी का स्थान कितना और गिदवानी का कितना, यह बात चली। वल्लभभाई का पूरा सहारा कृपालानी को था, इसलिए गिदवानीजी को थोड़े ही दिनों में विद्यापीठ छोड़नी पड़ी। कृपालानी की अपेक्षा ऐसी थी कि मैं फिर से विद्यापीठ में जाऊं। किन्तु उसी अर्से में मुझे क्षयरोग हो गया और स्वामी ने मुझे दो-तीन जगह ले जाने के बाद पूना के पास सिंहगढ़ में रखा।

गुजरात विद्यापीठ का सारा भार कृपालानी के सिर पर आ गया। दक्षिणा मूर्ति के नानाभाई भट्ट भी विद्यापीठ में पूरा रस लेते थे। सम्भव है कि उसी अर्से में नानाभाई विद्यापीठ के कुलनायक नियुक्त हुए हों।

भारतीय संस्कृति का गहरा अध्ययन करने के लिए हमने पुरातत्व मंदिर की स्थापना की थी। इसके लिए गांधीजी के अनन्य भक्त श्री पूजाभाई हीराचन्द ने श्रीमद् राजचन्द्र के स्मरणार्थ बड़ा दान दिया।

श्री राजचन्द्र एक जैन आध्यात्मिक साधक थे। गांधीजी के मन पर उनका अच्छा प्रभाव था। गांधीजी उनसे प्रभावित हुए। कई लोग तो उनको गांधीजी का गुरु मानते थे। तब गांधीजी को जाहिर करना पड़ा कि यह बात सही नहीं है। श्री पूजाभाई भी जैन थे। हमारे अध्यापक मण्डल में श्री रसिकभाई परीख भी जैन थे। इसलिए कोई आश्चर्य नहीं था कि पुरातत्व मंदिर में जैन धर्म के अध्ययन को सबसे महत्व का स्थान था। इस तरह पुरातत्व मंदिर में पंडित सुखलाल जी संधवी, मुनि जिनविजयजी, बेचरदास दोशी इत्यादि जैन विद्वानों को हम आकर्षित कर सके। मैंने सोचा कि सनातनी हिन्दू धर्म से अलग होनेवाले जैन धर्म के साथ-साथ बोद्धधर्म का अध्ययन भी चलना चाहिए। बौद्धधर्म के साधारण विद्वान् धर्मानन्द कौसाम्बी को मैं खींच लाया। वे मूल गोवा के थे। छुटपन में खास शिक्षा नहीं पाई थी। किसी की मदद के बिना सिलोन (श्रीलंका), ब्रह्मदेश और तिब्बत जाकर बौद्धधर्म का उन्होंने उत्तम अध्ययन किया था। आगे जाकर उनको रूस से आमंत्रण आया। अमरीका से आमंत्रण आया और वे प्रकांड पंडित माने गये। बौद्धधर्म समझाने के लिए उन्होंने मराठी में बहुत कीमती किताबें लिखी हैं, जिनका अनुवाद गुजराती, हिन्दी, बंगाली आदि अनेक भाषाओं में हुआ है।

कृपालानी के और मेरे एक मित्र थे—नारायण मलकानी। उनको कृपालानी विद्यापीठ में ले आये। मालूम नहीं, क्यों, किन्तु गिदवानी, कृपालानी और मलकानी तीनों सिंधी थे, उनका गुजराती प्रोफेसरों के साथ पूरा मेल नहीं था। रामनारायण पाठक, रसिकलाल परीख जैसे साथी, खानगी तौर से मेरे पास आकर चर्चा करते थे। मैंने उनसे कहा, "कृपालानी और मलकानी—दोनों मेरे पुराने अंतरंग मित्र हैं। उनमें अपने-अपने स्वभाव की खासियत होगी, किन्तु उनमें 'सिंधीपन' बिल्कुल नहीं है। उनके साथ दिल खोलकर बातें करनी चाहिए। सब ठीक हो जायेगा।" वे कहने लगे, "आप विद्यापीठ में आयेंगे तभी कुछ हो सकेगा।" मेरी तैयारी नहीं थी।

बीमारी से बचकर मैं आश्रम में जब काम करने लगा तब बापूजी ने कहा, "विद्यापीठ का मामला उलझन में पड़ा है। विद्यापीठ का भार संभालकर तुम्हें ही सब सुलझाना होगा। विद्यापीठ है तो आखिर तुम्हारी ही कृति।"

मैंने बापूजी से कहा, "विद्यापीठ में कितना बिगाड़ हुआ है, वह आप जानते हैं। उससे भी अधिक मुझे मालूम है। फिर भी, केवल आपको निश्चिंत करने के लिए मैं विद्यापीठ का बोझ संभालने को तैयार हूं। कृपालानी मेरे अंतरंग मित्र हैं। हमारे बीच गलतफहमी होने की संभावना ही नहीं है। किसको कौन-सा स्थान लेना, वह हम आपस में देख लेंगे।

इसके जवाब में बापूजी ने जो कहा उसके लिए मैं तैयार न था। उन्होंने कहा, "कृपालानी को मैं विद्यापीठ से बाहर खींचना चाहता हूं। उत्तर भारत में वे खादी का काम बहुत अच्छा चला रहे हैं। उस काम के लिए कृपालानी ही उत्तम हैं।"

मैंने कहा, "कृपालानी और मैं कालेज के दिनों से घनिष्ठ मित्र हैं। मेरे ही द्वारा महाराष्ट्र की क्रान्तिकारी प्रवृत्ति के साथ उनका कुछ-कुछ संबंध हुआ था। मैं विद्यापीठ में जाऊं और कृपालानी को छोड़ना पड़े तो हमारे बीच भारी गलतफहमी पैदा होगी।"

बापूजी ने कहा, "यह मुझपर छोड़ दो। ऐसा कुछ न हो पाये, यह देखना मेरा काम है। आम जनता की सेवा के लिए ही तो हम हैं। जो काम आ पड़े सो करना है।"

बापूजी का रुख मुझे अच्छा तो नहीं लगा, किन्तु मैं रहा आज्ञाधारी सेवक। बापूजी ने स्पष्ट कहा कि कृपालानी और मेरे बीच गलतफहमी वे होने नहीं देंगे। मेरी बड़ी उलझन तो वही थी। बापूजी का आश्वासन स्वीकारना अनिवार्य था। लेकिन अफसोस है कि मेरी ही बात सही साबित हुई। कृपालानी गुजरात छोड़ना नहीं चाहते थे। बापूजी ने उनको बुलाकर पूछा, "मैंने तो आपको मेरठ की ओर आपके खादी काम में भेजने का सोचा है। क्या फिर भी आपको गुजरात में रहने का ही आग्रह है?" ऐसे प्रश्न का उत्तर कोई क्या दे? (बापूजी ने ही मुझे बाद में बताया था कि किन शब्दों में उन्होंने कृपालानी से सवाल पूछा था। इसीलिए मैंने उनके शब्द यहां उद्धृत किये हैं।)

कृपालानी ने मुझसे कहा, "बापूजी का यह रुख तुम जानते थे तो पहले ही मुझे चेतावनी देने का तुम्हारा धर्म था। इस मित्र-धर्म का तुमने पालन नहीं किया, यह सचमुच आश्चर्य की बात है।"

मैंने कहा, "बापूजी जब मेरे साथ खानगी में बात करते हैं तब मैं कैसे वह बात किसीको भी कह सकता हूं? बापूजी ने मुझे विश्वास दिलाया था कि कृपालानी को मैं संभाल लूंगा। इसलिए मैं निश्चिंत था।"

कृपालानी के दिल को चोट पहुंची थी। हमारा हार्दिक संबंध उन्होंने समेट-सा लिया। मेरे जीवन का यह एक भारी विषाद है।

विद्यापीठ की जिम्मेदारी लेने के बाद मैंने बापूजी से कहा, "आप कुलपति हैं, मुझे कुलनायक नियुक्त करते हैं तो मैं आपको वचन देता हूं कि छोटी-से-छोटी बारीकियां मैं आपको बताता रहूंगा। जो भी कदम उठाना हो, उसकी जानकारी आपको पहले से देकर आपकी सलाह के अनुसार ही काम करूंगा। किन्तु विद्यापीठ के काम के संबंध में और किसी को भी आपके पास आकर बात नहीं करनी चाहिए। सब अधिकार मेरा है। आपकी सलाह लेकर मैंने काम किया हो तो भी उसकी जिम्मेदारी मैं आपके सिर पर नहीं डालूंगा, क्योंकि विरोधी दलील सुनने का मौका मैं आपको नहीं दे रहा हूं। आपकी सलाह मैं लूंगा, केवल मेरे अंतरात्मा के संतोष के खातिर, किन्तु यदि दोष देखना हो तो जनता मेरा ही दोष देख सकेगी। आपका आधार नहीं लेना है।" बापूजी ने मेरी बात मान ली।

उस समय बापूजी के मुख से मुझे 'सवाई गुजराती' की अत्यंत प्रिय उपाधि मिली।

पुरातत्त्व मंदिर की ओर से कई बहुत ही अच्छी पुस्तकें प्रकाशित हुईं। उनमें से कई तो आज की दृष्टि से भी महत्त्व की हैं। और कई पुस्तकों की कदर पुराने ढंग के पंडित ही कर सकेंगे। सब मिलकर यह काम अच्छा हुआ। विद्यापीठ के सिद्धांत, यदि आ ही पड़े तो उन्हें मानने के लिए हमारे विद्वान् तैयार थे किन्तु उसके पीछे जो जीवन-दृष्टि थी, उसे पूरा अपनानेवाले नहीं थे। इसलिए जब स्वराज्य के आंदोलन को उत्कट और एकाग्र करने की आवश्यकता महसूस हुई, तब ऐसी विद्वद् भोग्य प्रवृत्तिओं का, कुछ समय के लिए, संकुचित करना पड़ा।

अच्छे-अच्छे विद्वानों को आकर्षित करके ले आने जितनी पांडित्य की कदर मेरे पास थी और स्वयं ले आये हुए, अच्छे-अच्छे विद्वानों की सेवा से वंचित रहने की जिम्मेदारी भी कभी-कभी मुझे ही उठानी पड़ी। ज्ञान और विद्या की उपासना बढ़ाने की प्रवृत्ति शुरू की तब ज्ञान का सारा श्रेय गांधीजी को और उनकी संस्था को मिले, यह तो यथायोग्य था, किन्तु गांधीजी की नीति का पूरी ईमानदारी से स्वीकार करके जब संस्था का वातावरण मैंने एकाग्र किया तब लोग कहने लगे, "काकासाहेब के हाथ में सुकान आने से विद्यापीठ अब टूट रही है।"

ऐसे श्रमविभाग के लिए मैं हमेशा तैयार ही रहता हूं, किन्तु बापू को कहना पड़ा, "यदि विद्यापीठ टूटी है तो इसका कारण काकासाहेब नहीं, मैं हूं। जब तक जनता को मेरे लिए मोह या प्रेम है और ज्यादातर मेरी सलाह मानती है तब तक जो भी परिवर्तन होते हैं उनका प्रेरक मैं ही हूं।"

जीवन-भर की मेरी प्रवृत्तियों में किसी-न-किसी संस्था के साथ मैंने संबंध रखा ही है—ज्यादातर शिक्षण संस्था के साथ। इसलिए चंदा इकट्ठा करने का काम अधिक नहीं तो थोड़ा-थोड़ा मुझे करना ही पड़ा है।

किन्तु समाज में उदारतापूर्वक चंदा दे सकें, ऐसे कौन-कौन हैं? उनको किन विषयों में, कार्यों में रस है, उनपर प्रभाव डालनेवाले कौन हैं—ये सारी जानकारी प्राप्त करके उसके अनुसार चंदा एकत्र करने की जो कला है, वह मैंने कभी विकसित नहीं की। संस्था की उपयोगिता, उसके आदर्श, राष्ट्रीय उत्थान में उस आदर्श का महत्त्व इत्यादि बातें जनता को समझाने का काम जीवन-भर किया है। ऐसे प्रचार के परिणाम-स्वरूप जो पैसे मिले, उसका स्वीकार किया है और मुझे यह भी कहना चाहिए कि संस्था को विकसित करने की मेरी शक्ति के अनुसार और संस्था की जरूरत के अनुसार मुझे पैसे देनेवाले मिलते ही रहे हैं। मैं उनको ढूंढ़ने नहीं गया। कार्य के लिए पैसे मिलने की अपेक्षा रखनी, यह था मेरा काम। किन्तु पैसे प्राप्त करने के लिए अनुकूल प्रवृत्तियां पैदा करने की कला से मैं बिलकुल अनभिज्ञ हूं।

जिन सार्वजनिक संस्थाओं में देश के नेता हैं, उन संस्थाओं के लिए वित्त की चिंता नेता करते हैं। मेरे जैसों का काम तो मिले हुए पैसों का अच्छे-से-अच्छा उपयोग कैसे हो सके, यह देखने का है और पैसों का दुरुपयोग न हो, इसकी सावधानी रखने का है।

जब गांधीजी को विद्यापीठ की पुनर्रचना करनी पड़ी, तब उन्होंने वह काम मुझे सौंपा। किसी सामान्य विज्ञप्ति में मैंने सरदार वल्लभभाई के हस्ताक्षर लेकर, उसके बाद मेरे हस्ताक्षर किये। तब गांधीजी ने मुझे खानगी में कहा, "फिर से कभी इस तरह की विज्ञप्ति तुम निकालना चाहो तो उसमें केवल अपने हस्ताक्षर ही करना ठीक होगा।" ऐसी विलक्षण सलाह गांधीजी ने किसलिए दी होगी, इसकी कल्पना मैं कर सका। उसके अनुसार बहुत-सा काम मैं अपने अकेले के हस्ताक्षर से ही करने लगा।

जब द्रव्य एकत्र करने का समय आया, तब दान देनेवाले वर्ग को मैंने कहा:

"गांधीजी ने विद्यापीठ का भार मेरे सिर पर रखा है, इसलिए विद्यापीठ के आदर्श, इस संस्था की खूबियां और संस्था के द्वारा चलनेवाली प्रवृत्तियों के बारे में आप जानना चाहे तब, चाहे बार-बार आप मुझे बुलाइये, मैं खुशी से आऊंगा, मुझमें कोई हठ या बड़प्पन नहीं है।

"विद्यापीठ के बारे में आपने कुछ प्रतिकूल सुना हो, विद्यापीठ की प्रवृत्ति के बारे में कोई असंतोष हो तो मेरी ओर से जवाब मांगने का आपको पूरा हक है। आप कहेंगे तब मैं आपके पास आऊंगा, किन्तु केवल पैसे मांगने के लिए मैं आपके पास आनेवाला नहीं हूं, क्योंकि यह संस्था मेरी नहीं है। वह सारे गुजरात की है। गांधीजी ने वह स्थापित की है। उसके कर्णधार स्वयं गांधीजी हैं। उनकी चलाई हुई इस संस्था की प्रतिष्ठा कम तो नहीं है। ऐसी संस्था चलाने के लिए आपको अपने आप मेरे पास पैसे भेज देने चाहिए। संस्था का साल-भर का खर्च पैंसठ या सत्तर हजार का है। यदि आपको विश्वास हो कि इतने पैसों में हम अधिक-से-अधिक सेवा देते हैं, तो इतने पैसे, बिना मांगे मुझे भेजते जाइये।

"यदि आप देखें कि इससे कम पैसों में अन्य कोई संस्था हमसे अच्छी सेवा दे रही है तो अपने पैसे आप अवश्य उस संस्था को दें। किन्तु यदि आपको पूरा विश्वास हो जाय कि कम खर्च में अधिक सेवा देनेवाली यह संस्था है और वह सेवा संतोषकारक है तो आप हमको पैसे दें। मैं मांगने को नहीं आऊंगा। आप ही पैसे भेजकर बाकायदा रसीद लें। हमारे काम का विवरण हम आपको नियमित भेजते रहेंगे।"

मेरी इस नीति का प्रभाव अच्छा हुआ और जबतक विद्यापीठ मेरे हाथ में थी, तबतक मुझे कभी पैसों की चिंता नहीं करनी पड़ी।

एक दिन एक भाई मिलने आये। उन्होंने मुझे सौ-दो सौ रुपये दिये होंगे। मैंने कहा, "संस्था चला रहा हूं, इसलिए मिले सो पैसे लेने को बंधा हुआ हूं, किन्तु आपका मुझे परिचय है, इसलिए कहता हूं कि यह रकम न आपको, न मुझे, और न तो संस्था को, शोभा देती है।"

दूसरी बार चंदे के लिए मैंने अपील की तो वही सज्जन दुबारा आये। उस समय उनकी सहायता चार आंकड़ों की थी।

२४ :: प्रान्तीयता

प्रान्तीयता का स्मरण हो जाय, ऐसा एक प्रसंग अनायास बन गया।

गुजरात विद्यापीठ की पुनर्रचना जब बापूजी ने की, तब आदर्श यह रखा था कि जो शहरी विद्यार्थी विद्यापीठ में आयंगे, उनको केवल अच्छी विद्या और संस्कारिता देकर उत्तम नागरिक बनावे, इतना ही पर्याप्त नहीं है, उनको उत्तम स्वराज्य-सेवक बनाकर गांव की सेवा के लिए जगह-जगह भेज देना है, इस आदर्श को कार्यान्वित करने के लिए उन्होंने विद्यापीठ का कार्यभार मुझे सौंपा, तब की यह बात है। ग्रामोद्योग का महत्त्व विद्यापीठ ने मान्य किया था। बाकी के सब उद्योग आकाश के ग्रह जैसे थे, और खादी को उन ग्रहों के बीच सूर्य समझा जाय। इतना आग्रह खादी के लिए देश के सामने रखते हुए भी अपने घर की विद्यापीठ में खादी की स्वीकृति नहीं हुई थी। विद्यार्थी खादी पहनते थे, क्योंकि वह विद्यापीठ की वर्दी थी। मैं जानता था कि केवल कड़े नियम करने से और उन नियमों को सख्ती से लागू करने से खादी-भक्ति बढ़नेवाली नहीं है। मैं अपनी सारी शक्ति अपने प्रार्थना-प्रवचनों में बहा देता था, और नयी पीढ़ी के युवा हृदयों में जो स्वराज्य-

भक्ति जागी थी, उसका सम्पूर्ण स्वरूप विद्यार्थियों को पूरे उत्साह से समझाता था।

परिणामस्वरूप विद्यार्थी चरखा चलाने लगे और पूनियां बनाने के लिए धुनाई की कला सीखने लगे।

कताई-धुनाई सीखने और सिखाने के लिए मैंने दो-तीन अच्छे विद्यार्थी तैयार किये थे।

बीमार होकर जब मैं पूना के नजदीक चिंचवड के स्वावलम्बन राष्ट्रीय विद्यालय में जाकर रहा था, तब वहीं से दो-तीन विद्यार्थियों को खादी का महत्त्व समझाकर उनको साबरमती आश्रम भेज दिया था। उन लड़कों के पीछे मैंने अच्छी मेहनत की थी। इसलिए उन्हीं को विद्यापीठ में कताई-धुनाई सिखाने के लिए रखा। उसमें से एक प्रकरण खड़ा हुआ।

महाराष्ट्रियों में स्वार्थी प्रान्तीयता नहीं है, किन्तु अभिमान भरपूर है। जहां जाते हैं, वहां महाराष्ट्रपन की चर्चा करते हैं। चिंचवड़ के वे विद्यार्थी महाराष्ट्र के हैं उसका तो ख्याल भी मुझे रहा नहीं था। इस कला में ये प्रवीण हुए हैं, ठीक प्रकार से सिखा सकेंगे, इतना ही सोचकर मैंने उनको विद्यापीठ में लिया था।

थोड़े ही दिनों में विद्यापीठ के विद्यार्थियों में महाराष्ट्रीय-गुजराती की चर्चा शुरू हो गई। "काका महाराष्ट्रीय हैं, इसलिए दो-तीन महाराष्ट्रियों को लाकर रखा है।" ऐसे उद्‌गार सुने तब मेरे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। मेरे बारे में जो बात गुजरात के मन में कभी भी आई नहीं थी, आने की सम्भावना भी नहीं थी, वैसी बात सुनकर मैं तो सहम ही गया। मैंने पूज्य बापूजी को यह बात सुनाई। उन्होंने कहा, "गुजरात में या कहीं भी किसी के मन में आपके बारे में शंका उठ ही नहीं सकती। किन्तु आप जिन महाराष्ट्रियों को ले आए, उनको लाने से पहले उनके स्वभाव का विचार करना चाहिए था। आपके आसपास महाराष्ट्रीय एकत्र न हो जायं, यही इस देश के लिए सुरक्षित नीति होगी। आपमें प्रान्तीयता या अभिमान नहीं है। किन्तु सारे देश का यह दोष तो दूर नहीं हो गया है।" इतना कहते बापूजी को एक अच्छा उदाहरण याद आया। उन्होंने कहा, "आप जानते ही हैं कि बम्बई का दैनिक अखबार 'बोम्बे क्रॉनिकल' कांग्रेस का ही है। उसके मुख्य सम्पादक मि० ब्रेल्वी अंग्रेजी दैनिक बढ़िया चलाते हैं। उन्होंने अपने आसपास एक भी मुसलमान को रखा नहीं है। अपने देश में यह सब बहुत सम्भालना पड़ता है।"

बापूजी की बात मुझे पूरी जंच गई। इतनी सावधानी मुझे सिखानी पड़ी, उसकी लज्जा से मैं पानी-पानी हो गया। मैंने तुरन्त जरूरी कार्यवाही कर ली। प्रान्तीयता का सवाल जरा-सा उठा था, फैला नहीं था। किसी के मन में मेरे बारे में कुछ शक नहीं था। मैंने जो करना था सो चुपचाप कर लिया और सारा वातावरण साफ हो गया।

मेरे लिए जीवन का यह एक कीमती अनुभव था।

२५ :: विकास का मौका और क्रान्ति की झड़प

मेरे जीवन के पहलू चाहे जितने हों, मुख्य तो मैं शिक्षक हूं। मैं गांव में रहूं, कोई विद्यालय चलाऊं या किसी विद्यापीठ की स्थापना करके उसका व्यापक संगठन करूं, उसमें मेरा पूरा हृदय और पूरा जीवन उंडेले बिना मुझसे रहा नहीं जाता। अखबार चलाऊं तो भी दृष्टि शिक्षण की ही रहेगी। सभा सम्मेलन में भाग लूं तो उसमें भी काम तो शिक्षक का ही करूंगा। जब जेल गया तब वहां जिन कैदियों का सहवास मिला उन सब के साथ मानो मैं शिक्षण की संस्था चलाता हूं, ऐसा ही सम्बन्ध हो गया। सभा में भाषण दूं, रवानगी पत्र

लिखूं या मुलाकातियों को समय दूं। मेरा दिल और विभाग शिक्षण-शास्त्री की हैसियत से ही काम करेंगे।

जब विद्यापीठ चलाने में मुश्किलें आईं, उस संस्था को बचाने का भार मुझे सौंपकर पूज्य बापूजी ने दो बार विद्यापीठ में भेजा तब मेरे लिए जीवन का वह उत्तम-से-उत्तम अवसर था। एक आदर्श विद्यापीठ केवल विद्यार्थियों के लिए ही नहीं, किन्तु समस्त जनता के लिए शिक्षण का काम किस तरह कर सकती है, यह बताने का मुझे मौका मिला। जन-जीवन के प्रत्येक अंग के उत्कर्ष के लिए विद्यापीठ क्या-क्या कर सकती है, उसके नमूने दिखाने का मैंने मन में संकल्प किया। मैं मानता था कि गुजरात विद्यापीठ का विकास और उसकी सर्वांगीण जन-सेवा ही मेरा सर्वश्रेष्ठ जीवन-कार्य माना जायगा।

किन्तु भवितव्यता अलग थी। सन् १९२८ में पू० बापूजी ने विद्यापीठ मुझे सौंपी और वर्ष-डेढ़ वर्ष के अन्दर ही बापूजी ने स्वराज्य की आखिरी लड़ाई शुरू की और मुझे गांधीजी की उस उत्तमोत्तम संस्था को 'स्वराज्य युद्ध की एक छावनी' में परिवर्तित करना पड़ा।

और उसी समय, शिक्षण-शास्त्री के रूप में मेरी कदर करने का गुजरात के बाहरवालों को सूझा।

सन् १९३९ में महाराष्ट्र की समस्त राष्ट्रीय-शिक्षण-संस्थाओं ने तलेगांव में 'राष्ट्रीय-शिक्षा-परिषद्' बुलाई और अध्यक्ष बनने का मुझे आमंत्रण दिया।

जब से मैं गुजरात रहने गया तब से महाराष्ट्र के लोगों ने सद्भाग्य से मुझे गुजराती मान लिया। कैसा मेरा सद्भाग्य कि महाराष्ट्रीय मेरा अस्वीकार करें और 'सवाई गुजराती' कहकर गुजरात के लोग मुझे अपना लें। यह थी १९१५ से मेरी स्थिति। उसी महाराष्ट्र को एक शिक्षण-शास्त्री के तौर पर मेरी कदर करने की सूझी और सातवीं परिषद् का मुझे अध्यक्ष चुना। यदि शान्ति के दिन होते तो राष्ट्रीय शिक्षा की अखिल भारतीय योजना मैंने वहां पेश की होती, और अच्छे शिक्षण-शास्त्री को शोभा दे सके ऐसा एक बड़ा व्याख्यान भी तैयार किया होता, जिसमें 'स्वतन्त्र भारत अब शिक्षा-द्वारा विश्व-सेवा कैसे कर सकता है' उसका व्यापक आदर्श मैंने राष्ट्र के सामने रखा होता। किन्तु १९३० में मैं शिक्षण-शास्त्री मिटकर जगत के सामने 'युद्ध की एक नयी कला' पेश करनेवाले युद्ध-ऋषि महात्मा का एक सेनानायक बन गया था। तलेगांव राष्ट्रीय शिक्षा परिषद् के परिणामस्वरूप बहुत से महाराष्ट्रीय (विद्यार्थी और शिक्षक) स्वराज्य की लड़ाई में कूद पड़े, इसलिए मेरा तलेगांव जाना सफल हुआ। किन्तु मुझमें रहा हुआ शिक्षण-शास्त्री वहां फीका पड़ गया।

यह तो हो गई पड़ोस के प्रान्त की बात और मेरे जन्मभाषा के प्रदेश की बात। किन्तु विद्यापीठ द्वारा मैंने एक राष्ट्रीय-शिक्षा-सम्मेलन की योजना की थी। उसमें गुजरात की विशेष खूबी का विकास करने के लिए एक छात्रालय सम्मेलन भी रखा था। मुझे राष्ट्रीय शिक्षण का उत्तम-से-उत्तम काम शुरू करना था। किन्तु वह १९३० की साल थी, यह मैं कैसे भूल सकता ? इसलिए वहां भी मुझमें आधा शिक्षण शास्त्री और आधा सेनापति काम करता रहा।

इस छात्रालय सम्मेलन के बारे में दो शब्द कहना आवश्यक है।

भारतीय संस्कृति में शिक्षण के साथ-साथ 'विद्यार्थियों का गुरु-गृह-वास में रहना,' स्वाभाविक था। विद्यार्थी गुरू को फीस नहीं देते। गरीब विद्यार्थी दक्षिणा भी कहां से लाते ? किन्तु वे आश्रित भी नहीं रहना चाहते थे। गुरु के घर में रहकर अत्यन्त पवित्रता से गुरु के घर का सब काम करते थे। शिष्य-वत्सल गुरु अपना सारा समय शिष्यों को देते और गुरु-गृह में मिले हुए संस्कार विद्यार्थी सारे समाज में यथासमय पहुंचा दें, ऐसी यह राष्ट्र-मान्य व्यवस्था थी।

धनी और गरीब ऐसा भेद तो गुरु-गृह में हो ही नहीं सकता, लेकिन सब विद्यार्थी सरीखे, जातिभेद भी गुरु के घर से नहीं जैसा। 'समानता की शिक्षा' इस तरह से विद्यार्थी-अवस्था में जीवन में उतारकर, समाज

व्यापी की जाती थी। यह थी भारतीय संस्कृति की सामान्य स्थिति।

गुरु-गृह-वास में अधिकतर ब्राह्मण विद्यार्थी ही रहते होंगे, थोड़े वैश्य और क्षत्रिय भी होते थे। कारीगर अपनी-अपनी कला सीखने गुरू के घर पर रहने नहीं जाते, किन्तु उसकी देखरेख में उसके कारखाने में काम करते थे।

विद्यार्थियों के लिए खास सहूलियत अपने यहां थी। ऐसा न होता तो भाषा में आवसथ जैसा पारिवारिक शब्द नहीं आता। (आवसथ यानी छात्र-गृह)।

फिर अपने यहां अंग्रेजी राज्य आया, अंग्रेजी शिक्षा आई, उसके बाद ही अंग्रेज-विद्यार्थियों के होस्टेल का अनुकरण हुआ। लेकिन उसमें अधिकतर अपने बच्चों को पश्चिम के फैशन के अनुसार तैयार करना चाहनेवाले धनिक लोगों की ही यह प्रवृत्ति मानी जाती थी।

गुजरात की बात अलग थी। बहुत से गुजराती लोग व्यापारार्थ अफ्रीका में, या किसी और देश में, जाकर रहते थे। वहां अपने बच्चों की पढ़ाई के लिए सहूलियत न थी, और घर के सब लोगों को परदेश ले जाने की सहूलियत भी नहीं थी, इसलिए अपने बच्चों को स्वदेश में ही पढ़ने के लिए रखते थे। फलतः परदेश जाकर व्यापार करनेवालों के बच्चों के लिए गुजरात में जगह-जगह-पर छात्रालय चलने लगे।

जातिवार छात्रालय शुरू हुए, यह गुजरात की विशेषता थी। (विशेषता तो सारे भारत की है, गुजरात ने उसका व्यवस्थित संगठन किया।) अपनी जाति के सब लड़कों को साथ रहकर पढ़ने की सहूलियत मिले, ऐसी व्यवस्था जाति-मानस को अत्यन्त जरूरी लगती है, यह एक बात है। और दूसरी यह कि सार्वजनिक जीवन के लिए हम पैसा खर्च करें तो उसका लाभ अपनी जाति को ही मिलना चाहिए, इस तरह का आग्रह है, यह है दूसरा तत्व। इस तरह गुजरात में 'कौमी छात्रालय' शुरू हो गए, जो आज भी चलते हैं। गुजरात में यह प्रकार स्वाभाविक है और सुविधाजनक है। लेकिन समस्त देश के सांस्कृतिक-विकास के लिए यह व्यवस्था जोखिमकारक ही नहीं, विनाशकारक भी है। गुजरात के लोगों के जीवन में जाति-व्यवस्था ने ऐसी जड़ पकड़ ली है कि जातिवार कौमी छात्रालय स्थापित करने में राष्ट्रीय संस्कृति को हम नुकसान पहुंचाते हैं, ऐसी शंका भी किसी के मन में नहीं आती।

मनुष्य को जो बात ठीक लगी वह सभी को ठीक लगेगी; इस विश्वास से ही समाज-व्यवस्था गढ़ी जाती है।

विदेश में बसनेवाले गुजराती मां-बाप ने गुजरात में जाति के अनुसार कौमी छात्रालयों की स्थापना की। इस व्यवस्था को तोड़ने की जरूरत है, यह बात लोगों को रचनात्मक ढंग से समझाने की जरूरत देखकर हमने छात्रालय-परिषद् का प्रारम्भ किया था। उसके द्वारा सामाजिक और सांस्कृतिक क्रान्ति अमल में लाने का हमारा लक्ष्य था।

स्वराज्य के आन्दोलन में हम सब फंस गए। दूसरे भी महत्व के काम आ गए; इसलिए छात्रालय सम्मेलन की प्रवृत्ति आगे नहीं बढ़ी, किन्तु उसके पीछे का हेतु धार्मिक सुधार का, सामाजिक न्याय का और सांस्कृतिक विकास का होने के कारण उसका उल्लेख यहां जरूरी था।

छात्रालय में ब्राह्मण से लेकर हरिजन तक सब जाति के हिन्दू विद्यार्थियों के साथ ईसाई, मुसलमान और पारसी विद्यार्थी भी पास रहते थे। आहार के नियमों के बारे में बीच का रास्ता अमल में आता। और अन्तरजातीय तथा अन्तरधार्मिक विवाह होने की अनुकूलता पैदा हो, ऐसी भी अपेक्षा रखी थी। राष्ट्रीयता का प्रचार केवल राजद्वारी क्षेत्र में हो, यह बस नहीं। ऐसा प्रचार टिकने वाला भी नहीं; ऐसे विश्वास से हम अपनी रचनात्मक प्रवृत्ति चलाते थे। गांधीजी के आश्रम के जैसे 'उदार किन्तु संयमी जीवन की संस्था चलावें,

और अपने पढ़ाई के दिनों में ही विद्यार्थी उसके आदी हो जायं तो सामाजिक क्रान्ति बिना विरोध के हो सके; ऐसा विश्वास इस प्रवृत्ति के पीछे था। 'राष्ट्रीय शिक्षण' यानी केवल राजनैतिक एकता का शिक्षण, ऐसा संकुचित अर्थ हमारे मन में कभी नहीं था।

२६ :: पहली जेल-यात्रा और कुरानशरीफ़ का अध्ययन

जब मनुष्य कोई गुनाह करता है यानी 'समाज की नीति के विरुद्ध कुछ करता है,' तब समाज की ओर से सरकार उसे कुछ-न-कुछ सजा देती है। सजा में दुःख और नुकसान के उपरांत सामाजिक अप्रतिष्ठा का भी महत्त्व रहता है। इसीलिए मनुष्य सजा से डरता है। समाज की ओर से उसकी प्रतिनिधि-सरकार सजा देती है। समाज का सबसे बड़ा प्रतिनिधि राजा, राजा की शक्ति का संगठन, सरकार अथवा 'राज्यशासन' नामक संस्था द्वारा होता है।

अब कई बार राजा अथवा सरकार अपने विरुद्ध किए गए कामों के लिए भी सजा कर सकती है और उसमें समाज की अप्रत्यक्ष सहानुभूति और मान्यता होती है। सरकार के विरुद्ध कुछ काम किया तो सरकार खूब चिढ़ जाती है और कड़ी-से-कड़ी सजा देती है। सजा पाये हुए आदमी की प्रतिष्ठा भी समाज उससे छीन लेता है। किन्तु जब सरकार जैसी संस्था ही अन्याय करती है, अत्याचार करती है, समाज-हित का द्रोह करती है, तब उस सरकार को अपमानित करने का अहिंसक इलाज गांधीजी ने ढूंढ़ निकाला। यदि सरकार का काम अन्यायी हो, अत्याचारी हो, प्रजा-हित के लिए बाधक हो, तब उस सरकार को जाहिरा तौर से फटकारना, उसकी निन्दा करना और सरकार के प्रति अपना असंतोष तीव्रता से व्यक्त करने के लिए कोई ऐसा कानून-विरोधी काम करना जिसमें अनीति या पाप न हो।

ऐसा कुछ करने से सरकार सजा करेगी, और सजा के लिए हमें अदालत में पेश करेगी, उस समय यदि खुल्लमखुल्ला जाहिर किया जाय कि मैं इनकार नहीं करता। मैंने खुल्लेआम 'इस पापी सरकार, के खिलाफ उसका गुनाह किया है और उसके लिए सरकार जो कुछ सजा करेगी, उसे मैं खुशी से भोगने को तैयार हूं, तो सरकार क्या कर सकेगी? सजा कुछ बढ़ा देगी, इससे 'गुनहगार' को नुकसान तो होगा, किन्तु उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा टूटेगी नहीं, बल्कि सरकार स्वयं अप्रतिष्ठित हो जाएगी। इस तरह सजा करने में सरकार को ही सजा होती है। इसका कोई इलाज सरकार के पास नहीं होता। जब अपनी गलती स्वीकार कर अपनी नीति बदले तभी सरकार की आबरू टिक सकेगी।

सरकार पैसों का दण्ड करे वह हम न दें, तो सरकार हमारी वस्तु या जमीन छीनकर उसमें से दण्ड वसूल करेगी, इसके लिए तैयार रहना चाहिए। सरकार जेल में बन्द कर दे, तब वहां घूमने-फिरने की छूट नहीं, और सख्त काम भी करना पड़े, इसके लिए हम तैयार रहे तो विजय अपनी ही है।

इस तरह सरकार का सामना करके नैतिक विजय प्राप्त करने की अहिंसक पद्धति को गांधीजी ने सुन्दर नाम दिया—सत्याग्रह। तब सत्याग्रही को सजा करनेवाली सरकार को लोग हत्याग्रही कहने लगे। यह एक अनोखा इलाज था—बिलकुल अहिंसक और पूर्ण नीतियुक्त।

यूरोप में और अन्यत्र लाचार लोग सरकार का कानून तोड़कर सरकार के खिलाफ सशस्त्र विप्लव करने की ताकत न होने से किसी भी तरह से सामना करके सरकार की सजा अपने पर ले लेते हैं। उसको वहां

के लोग पेसिव रिजिस्टेन्स—निशस्त्र-प्रतिकार कहते हैं। गांधीजी का सत्याग्रह और यह निःशस्त्र प्रतिकार दीखते एक-से हैं, किन्तु उसमें मौलिक भेद है। गांधीजी ने इस विषय में अच्छी स्पष्टता की है। हरेक नागरिक को और समाज-सेवक को यह साहित्य पढ़ना ही चाहिए।

गांधीजी का यह सत्याग्रह हमारे देश में एक बिलकुल नया नैतिक हथियार जनता के हाथ में आया। गांधीजी ने उसका उपयोग करके दिखाया।

इससे पहले जेल जाना अत्यन्त बदनामी का काम माना जाता था। समाज का मानस गांधीजी ने बदल दिया। सत्याग्रह करके जेल जानेवालों की प्रतिष्ठा समाज में बढ़ने लगी और सरकार की नजर में भी ऐसे आदमी की प्रतिष्ठा एकदम टूट नहीं जाती थी। सरकार अपने दिये हुए मान, इल्काब, उपाधि छीन सकती है, किन्तु ऐसे आदमी की नैतिक प्रतिष्ठा सरकार को भी मान्य करनी पड़ती है।

दक्षिण अफ्रीका का काम समाप्त करके गांधीजी स्थायी रूप से भारत आए। प्रारम्भ में राज्य-निष्ठ नागरिक होकर रहने लगे। संकट के समय सरकार को मदद देने को तैयार, सरकारी कानूनों का ईमानदारी से पालन करते, सरकार की इज्जत भी करते, फिर जब सरकार की ओर से अन्याय होता अथवा प्रजाहित का द्रोह होता तब गांधीजी सरकार के सामने अपनी नाराजगी जाहिर करते। इतने से सुधार न हुआ तो सरकार का विरोध करते और इतने से भी कुछ न बने तो सत्याग्रह करते थे। इसमें सरकार के प्रति अप्रसन्नता जाहिर करते हुए भी निष्ठा का इन्कार नहीं होता। यह बात तत्वतः समझ लेनी चाहिए। सरकार जब कहती है कि "आप अमुक काम नहीं कर सकते। हमारी यह आज्ञा यदि आप न मानेंगे तो सजा भोगनी पड़ेगी," तब यदि मैं सरकार को कहूं कि आपने मुझे दो आज्ञा दी हैं; मैं आज्ञाधारक नागरिक रहना चाहता हूं। आपकी पहली आज्ञा का पालन मैं कर नहीं सकता, इसलिए जेल जाने की आपकी दूसरी आज्ञा मैं शिरोधार्य करता हूं। यदि राजी-खुशी से मैं जेल सहन करूंगा तो सरकार कैसे यह कह सकती है कि इस आदमी ने आज्ञा का पालन नहीं किया है, राजनिष्ठा का द्रोह किया है, जब दो आज्ञा में से एक आज्ञा मान ली तब सरकार-निष्ठा तो टूटी नहीं!

यह हो गई सत्याग्रह की मीमांसा। 'जब सरकार को ही अमान्य करने का वक्त आ जाए' तब अहिंसक आदमी क्या कर सकता है? इसके लिए भी गांधीजी ने इलाज बताया है। वह है असहयोग का। उस समय असहयोग करने वाला नागरिक तत्वतः ऐसा कहता है, "हे सरकार! तुम्हारा अन्याय असह्य है। इसलिए तुम्हारे प्रति जो मेरी निष्ठा थी सो मैं वापस खींच लेता हूं। सत्ता तुम्हारी है, ठीक लगे, सो कर लो। किन्तु मैं तो हृदय से तुमको सरकार मानने को तैयार नहीं हूं, इसलिए आज से मैं अपना सहयोग बन्द करता हूं।" यह भी एक तेजस्वी अहिंसक इलाज है।

(२)

मैं पहली बार जेल गया। गांधीजी के गुजराती अखबार 'नवजीवन' के प्रमुख-लेखक के रूप में।

इस जेल के दौरान अद्भुत तरीके से एक मुस्लिम नेता और धर्म-पंडित से मेरा घनिष्ठ परिचय हुआ।

जब हम साबरमती जेल में थे तब हरिद्वार के नजदीक की एक मुस्लिम संस्था के विद्वान आचार्य मौलाना हुसैन अहमद मदनी खिलाफत आन्दोलन में सजा पाकर उसी जेल में रखे गये थे। अपने रिवाज के अनुसार वे लोग पांच बार दिन में नमाज पढ़ते थे। और उस नमाज में आमंत्रण देने के लिए जोर से अजान बोलते थे। जेलवालों ने उनको अजान पुकारने को मना किया। उसके खिलाफ सत्याग्रह करके उन्होंने उपवास शुरू किया। मुसलमानों के धार्मिक अधिकार के रक्षण में हिन्दुओं की मदद होनी चाहिए, यह मेरा सिद्धांत होने से मैंने सहानुभूतिपूर्वक उस उपवास में भाग लिया। फलस्वरूप मुझे भी सजा हुई। इस तरह

से मौलाना साहब को और मुझे जेल के एक अलग विभाग में साथ रखा। वहां हमारी अच्छी दोस्ती हुई। सजा के तौर पर मेरी सारी किताबें मुझसे ले ली गईं, और जेलर के पास रख दी गईं। केवल एक धार्मिक पुस्तक रखने की छूट थी। "सब धर्म मेरे हैं। किसी भी एक धर्म की पुस्तक पसन्द करने का मुझे अधिकार है। गीता की जगह मैं कुरानशरीफ़ मांगूं तो आप मना नहीं कर सकते," ऐसा झगड़ा करके कुरानशरीफ़ रखने की इजाजत मैंने प्राप्त कर ली। वह था कुरानशरीफ़ का मराठी अनुवाद। रोज मैं उसे पढ़ता और मौलाना साहब के पास से इस्लाम धर्म की बारीकी समझ लेता। मेरे मन जीवन का यह एक बड़े-से-बड़ा फायदा था। मदनी साहब अपनी विद्वता के कारण मक्का-मदीना तक अध्यापक होकर पहुंचे थे। वहां भी इस्लाम के एक निष्णात के तौर पर उनकी प्रतिष्ठा फैली हुई थी। इसीलिए उनके नाम के साथ 'मदनी' जुड़ा हुआ था। ऐसे धर्मनिष्ठ विद्वान के पास से इस्लाम की जानकारी मैं प्राप्त कर सका; यह खुदाताला की बड़ी मेहरबानी थी।

पहली जेल-यात्रा का वर्णन मैंने एक छोटी-सी किताब 'उत्तर की दीवारें' में किया है। मुझे संतोष है कि यह पुस्तक गुजराती समाज को बहुत पसन्द आई। इसका हिन्दी अनुवाद गांधी हिन्दुस्तानी साहित्य सभा, राजघाट, नई दिल्ली ने प्रकाशित किया है।

२७ :: चर्खे की उपासना

सन् १९३० में जेलों के इंस्पेक्टर जनरल ने राजबंदी गांधीजी के साथ यरवदा में मुझे उनके साथी के तौर पर रखने का निश्चय किया। उसके बारे में जब अलग-अलग भावनाएं मन में उठीं तब मन का अस्वस्थ हो जाना स्वाभाविक था।

पूज्य गांधीजी के साथ मैं अकेला पांच महीने रह सकूं, यह धन्यभाग्य तो था ही, किन्तु उस सद्‌भाग्य के लिए मुझमें किसी भी तरह की योग्यता थी, ऐसा न मैंने उस वक्त माना था, न आज ही मानता हूं।

यरवदा जेल में पूज्य बापूजी के साथ करीब पांच महीने मैंने बिताए। उन दिनों की सारी बातें मेरे लिए महत्त्व की हैं। वे सब मैंने एक पुस्तक में लिखी हैं। उस समय की हमारी जेल नमक का कानून तोड़ने से हमें मिली थी, इसलिए उस पुस्तक का नाम मैंने रखा 'नमक के प्रभाव से'। यह नाम पूरी तरह से सार्थक था फिर भी इस नाम के कारण ही इस किताब का प्रचार बहुत कम हुआ। यदि सीधा नाम रखा होता कि 'गांधीजी के साथ जेल-जीवन', तो अब तक उस किताब की कई आवृत्तियां हुई होतीं। उस किताब के पन्ने-पन्ने में गांधीजी का चरित्र-कीर्तन और मेरी प्रसन्नता भरी हुई है।

जो व्यक्ति अपना जीवन गांधी-कार्य को अर्पण करता है, गांधीजी के विचारों के साथ जिसकी तद्‌रूपता है उसकी कसौटी दो-तीन रूप से हो सकती है। एक, उसका जीवन धर्म-प्रधान होना चाहिए। दो, अस्पृश्यता-निवारण के लिए अपनी पूरी शक्ति उसे लगानी चाहिए और तीन, वह खादीधारी तो होना ही चाहिए।

मेरी खादी-भक्ति, चर्खा चलाने के बारे में मेरा आग्रह और चर्खे में छोटे-बड़े सुधार करने की मेरी यन्त्र-बुद्धि की कसौटी यरवदा जेल में बापूजी के सामने हुई थी।

आगे चलकर जब महाराष्ट्र के एक यन्त्र-विशारद श्री काले ने एक नया चर्खा तैयार किया और पूज्य बापूजी ने जाहिर किये हुए एक लाख रुपये के इनाम के लिए अर्जी भेजी तब वह चर्खा उपयोगी है या नहीं, उसे एक लाख का इनाम दिया जाय या नहीं, यह तय करने के लिए पूज्य बापूजी ने जानकारों की एक समिति

नियुक्त थी। उसमें केवल दो व्यक्ति थे—श्री विनोबा और मैं।

एक लाख रुपये के इनाम की चर्चा देश-भर में हो चुकी थी, इसलिए ग्रामोद्योगी यन्त्र-विद्या के सर्वोच्च जानकार के तौर पर हम दोनों के नाम की चर्चा भी उस समय बहुत चली। लोगों को आश्चर्य हुआ कि नव-जीवन में, विद्यापीठ में और अन्य असंख्य कामों में देश-भर घूमने वाला मैं ग्रामोद्योगी यन्त्रों का ऐसा जानकार कैसे बना ?

पूज्य गांधीजी जब राजबंदी होकर यरवदा पहुंचे उस समय समस्त देश की और कांग्रेस की राजनैतिक स्थिति नाजुक थी। देश के सर्वोच्च नेताओं को सरकार ने कैद में बन्द कर दिया था। उनके साथ विचार-विनिमय किए बिना चारा नहीं था। ऐसी परिस्थिति जेल के इतिहास में सरकार को देखकर स्वीकार करनी पड़ी। यरवदा जेल में गांधीजी को मिलकर देश-भर का भविष्य तय करने के लिए सरकार ने अलग-अलग जेलों में से मोतीलालजी, जवाहरलालजी, सरदारवल्लभभाई, श्रीमती सरोजिनी नायडू, श्री सैयद महमूद और श्री जयरामदास दौलतराम इतने राजनैतिक कैदियों को यरवदा में एकत्र ला दिया और उनके साथ मिलकर चर्चा करने की सहूलियत डाक्टर सप्रू और जयकर इन दोनों को कर दी।

इतने महत्त्व की परिस्थिति में भी चौबीसों घण्टे पूज्य बापूजी का ध्यान चर्खे में ही ज्यादा रहा था।

पूज्य बापूजी की यह चर्खा-भक्ति देखकर मैं भी यरवदा में अपना बहुत-सा समय चर्खे को देने लगा। खादी का अर्थशास्त्र तो हमारी चर्चा का विषय था ही। किन्तु शोषणरहित अहिंसक संस्कृति में गांव का महत्व, ग्रामोद्योग की आवश्यकता ग्रामोद्योग, द्वारा हस्त-उद्योगों की कला का विकास करने का महत्व, इन सब चीजों की चर्चा हम दिन-रात करते थे। एक दिन मैंने बापूजी से कहा, "बापूजी, आप तो मेरी गुजराती भाषा की भक्ति, साहित्य का विकास करने की वृति के बारे में सब जानते हैं, किन्तु मुझमें यंत्रोद्योग का दिमाग भी है और उसमें भी मैं सहयोग दे सकता हूं, यह मैं कहना चाहता हूं।"

मेरा यह दावा सुनकर वह हंसे नहीं, यह उनका विवेक था। उन्होंने कहा, "आपको अपना दावा साबित करना पड़ेगा। आज की ही मेरी उलझन मैं आपके सामना रखता हूं। तकुओं पर से सूत उतारने के लिए मुझे एक हाथ में तकुआ पकड़ना पड़ता है और दूसरे हाथ से चर्खे का चक्र घुमाता हूं। अब यदि दो में से एक हाथ छूटा रह सके तो बड़ी सहूलियत हो जाय। उसके लिए कोई यन्त्र ढूंढ़ निकालो।

"शर्त यह है कि उसके लिए जरूरी सब साधन जेल के अन्दर से ही आप इकट्ठा कर लीजिए। बाहर से कुछ मंगवाना नहीं। ऐसी सहूलियत आप निकाल सकें तो मैं मानूंगा कि आप में यन्त्र-बुद्धि है।"

मैंने तुरन्त कहा, "मंजूर है। जेल में अपनी सेवा के लिए सरकार ने एक यूरोपियन कैदी को रखा है, उस ह्वीलर के पास से ही एल्यूमिनियम के एक-दो टुकड़े ले लूंगा। जेल में मिलनेवाले औजारों से मेरा काम चल जायगा। यह काम मुश्किल नहीं है। आप देखेंगे कि इस काम में कोई उलझन नहीं।"

हमारा करार हो गया। ह्वीलर को बुलाकर मैंने अपनी बात समझा दी। सूत से भरा हुआ तकुआ जिसमें टिक सके ऐसी रोमन लिपि के 'यू' जैसी छोटी-सी चीज एक एल्युमिनियम के टुकड़े में से बना दी। उसको बापूजी के चर्खे पर स्क्रू से बिठा दिया। इतना आसान और सहूलियत-भरा उपाय देखकर बापूजी खुश हुए। कहने लगे, "तुम्हारी यन्त्र-बुद्धि के लिए अब एक सर्टीफिकेट लिख देना पड़ेगा।" उस दिन से चर्खे की रचना, तकुआ बिठाने का कोण इत्यादि बारीक-से-बारीक बातों की हमारी चर्चा चलने लगी। स्वयं बापूजी ने जेल में एक नया चर्खा तैयार किया। हम उसको गांधी-चर्खा कहना चाहते थे, किन्तु बापूजी ने उसे नाम दिया यरवदा चक्र। उसकी पूरी कल्पना में शुरू से अन्त तक मेरा साथ और विचार-सहयोग थे ही।

यरवदा के थोड़े महीनों के अनुभव से बापूजी को यकीन हो गया कि मुझमें खादी के अर्थशास्त्र के

गणित में उतरने के जैसी कुशलता और उत्साह है, उसी तरह से यन्त्र-बुद्धि में भी मेरा दिमाग अच्छा चलता है। तदुपरान्त खादी ग्रामोद्योग में रही सौन्दर्य-कला में भी देश को मेरा कुछ सहयोग मिल सकेगा।

इसीलिए तो श्री काले के चर्खे को एक लाख रुपये का इनाम दिया जाय या नहीं, उसके निर्णय के लिए समिति नियुक्त की, उस समय बापूजी को मेरा नाम तुरन्त याद आया। उसके बाद भी चर्खे के बारे में जब भी बापूजी को कोई नया विचार सूझता था अथवा कोई नयी उलझन खड़ी होती थी तब बापूजी मुझे प्रेम से बुला लेते थे। यरवदा-निवास के कारण बापूजी मेरे दिमाग का एक पहलू समझ सके, इसलिए भी यरवदा जेल के प्रति मेरे मन में कृतज्ञ-बुद्धि है।

२८ :: आकाश-दर्शन और पूज्य बापूजी

सन् १९३० में पूज्य बापूजी के साथ मैं यरवदा जेल में था। जेल में हमको कमरे में बन्द रखने के बदले रात को खुले में सोने की इजाजत थी, उसका लाभ लेकर मैंने अपना प्यारा उद्योग अथवा विनोद चालू किया। आकाश के तारे शाम से दिखाई देते थे। पूर्व में नए-नए उगते रहते थे। सारी रात आकाश की मुसाफिरी करके सुबह अस्त होते थे। यह देखने में मुझे बहुत आनन्द आता था। २७ नक्षत्र, उनके आकार इत्यादि मैं अच्छी तरह जानता था। आकाश के बारह विभाग की कल्पना करके हरेक विभाग को राशि कहते हैं। उनमें वृश्चिक् जैसी राशि के आकार मेरा ध्यान आकर्षित करते थे। आकाश में दिन को सूरज और रात को चन्द्र और ग्रहों की गति देखने में मुझे बहुत आनन्द आता था।

ऐसा आनन्द पूज्य बापूजी को दिये बिना मैं कैसे रह सकता था ? इसलिए रात को सोने से पहले और सुबह प्रकाश होने से पहले उन ग्रहों और नक्षत्रों की ओर बापूजी का ध्यान मैं खींचता था। मुझे निराश न करने के हेतु से बापूजी वह सब देखते, किन्तु उनको उसमें उत्कट रस सचमुच पैदा नहीं हुआ था।

दिन में जब बापूजी को फारिग देखता, तो पंचांग में चन्द्र और ग्रह उस दिन कौन से नक्षत्र में हैं, वह बापूजी को समझाता। उसके बाद पूना के हमारे स्नेही प्रो० त्रिवेदी के पास से पश्चिम के ज्योतिष-शास्त्र की किताबें मैंने मंगवाईं। आकाश के ताराओं के नक्शे मंगवाए। वह भी सब बापूजी को दिखाने लगा। मैं मानता था कि राजनैतिक परिस्थिति और चर्खा-सुधार के चिन्तन में से निकालने के लिए बापूजी को थोड़ा-सा प्रयत्न करूं तो वह अच्छा ही रहेगा। बापूजी को लगता होगा कि 'अपना साथी इतने उत्साह से समझाता है तो उसमें कुछ तो रस दिखाना ही चाहिए।'

फिर मैं जेल से छूट गया, अपने काम में लग गया। बापूजी भी छूटे और फिर से पकड़े गए। १९३२ की साल में न जाने कैसे आकाश के तारों के बारे में दिलचस्पी बापूजी को यकायक जाग्रत हो उठी। फिर तो पूछना ही क्या था ! तरह-तरह की किताबें उन्होंने मंगवाईं। स्वयं उन्हें पढ़ते। मैं जिस जेल में रहता, वहां मेरे लिए भेज देते। पत्र लिखने की सहूलियत होती तब आकाश के तारों के बारे में अपना आनन्द व्यक्त करते और कभी-कभी कुछ जानकारी भी लेते। सन् १९३२ के संघर्ष में मुझे अनेक जेलों में जाना पड़ा था। वहां आकाश के तारों का आनन्द तो मुझे मिलता ही था, किन्तु बापूजी के साथ उस आनन्द के लेन-देन का हर्ष तो अनोखा और अनेक गुना होता था।

जेल से छूटने के बाद बापूजी ने आकाश-दर्शन के आनन्द विषयक एक लेख लिखा था, जिसमें मेरे सह-वास का उल्लेख किया। उसके लिए बापूजी ने 'सत्संग' शब्द काम में लिया। मैं तो उसको विनय ही मानता हूं,

किन्तु बापूजी के साथ अखण्ड रहनेवाले महादेवभाई को 'सत्संग' शब्द के पीछे गहरी भावना दिखाई दी। महादेवभाई की डायरी में जब यह बात मैंने पढ़ी तब मुझे इतना समाधान हुआ कि मेरे साथ जो पांच महीने बापूजी को बिताने पड़े, उसमें उनको कुछ सन्तोष मिला। इसके लिए मैं सदा आकाश के तारों का कृतज्ञ रहूंगा।

२६ :: ग्रामोद्धार की भूमिका

मैं शाहपुर बेलगाम का रहनेवाला। मेरी दिलचस्पी गुप्त क्रान्तिकारी प्रवृत्ति में और राष्ट्रीय शिक्षण में। इन दोनों कामों में दिलचस्पी रखनेवाले प्रान्तीय राजनैतिक नेता श्री गंगाधरराव देशपाण्डे लोकमान्य तिलक के विश्वास के आदमी थे। उनके साथ मेरा परिचय स्वाभाविक रीति से था ही।

उनके सब कामों में बाहोशी से मदद करनेवाले एक नवयुवक थे—गोविन्दराव मालगी और उनके परिवार के लोग। गोविन्दराव और मैं हाईस्कूल में एक ही वर्ग में पढ़ते हुए हमारी दोस्ती नाम की ही थी। गंगाधरराव के अंगत मंत्री थे श्री पुण्डलीकजी कातगड़े। इन सबके साथ मेरा परिचय बढ़ता गया। स्वराज्य-आन्दोलन में हिस्सा लेने के गुनाह में सरकार ने मुझे पकड़कर अनेक जेलों में रखा था। उसमें बेलगाम के नजदीक की बड़ी जेल में, जिसको हिंड़लगा जेल करते थे, मुझे भेज दिया। वहां सूत कातने की सहूलियत नहीं दी। तब मैंने सात दिन का उपवास किया। बाद में इजाजत मिली। उपवास करनेवाले शरारती कैदी माने जाते थे; इसलिए शरारती गिने जानेवाले पुण्डलीकजी का साथ मुझे मिला। हमारी पुरानी दोस्ती थी, इसलिए हम दुनिया-भर के सवालों की चर्चा करने लगे। पुण्डलीक को लगा कि इन चर्चाओं के परिणामस्वरूप लेख लिखें तो अच्छा होगा। हमने बीस-पच्चीस विषय पसन्द किए और उनपर लिखना शुरू किया।

स्वराज्य के आन्दोलन को गांवों तक पहुंचाना हो, तो ग्रामोद्धार की कोई योजना होनी चाहिए। पुरानी संस्कृति में से निकलनेवाले भले-बुरे रिवाज और उनके बारे में बंधी हुई मान्यताएं, वही थी ग्राम लोगों की संस्कारिता। उसमें वे लोग अच्छे दृढ़ रहते थे। ग्राम-सेवा करनेवाले पुराने सन्तों की वह प्रसादी थी।

इन सारे पुराने रिवाजों और विचारों को सुधारकर उन्हें ताजे भविष्योपयोगी और प्राणवान् किये बिना स्वराज्य का आन्दोलन गांवों तक नहीं पहुंच पायगा, और ग्रामीण जनता क्रान्ति के लिए तैयार नहीं होगी, ऐसे निर्णय पर आने के बाद उसी प्रवृत्ति के पीछे कैसा तत्वज्ञान होना चाहिए, उसका चिन्तन हमने लिखना शुरू किया। उसमें धर्म-विचार तो आना ही था।

जेल के बाहर आए, उसके बाद किताब हिन्डलग्याचा प्रसाद १९३५-३६ की पांडुलिपि अनेक लोगों ने देखी। उसका महत्व और उपयोगिता ध्यान में लेकर श्री गंगाधरराव ने उसे पुरस्कृत किया। मराठी में लिखी हुई इस किताब का गुजराती और हिन्दी में अनुवाद हुआ। कुल मिलाकर इस किताब का अच्छा असर हुआ। कार्यकर्ताओं के विचार क्रान्ति के अनुकूल हुए, और जनता भी उस दिशा में सोचने लगी।

३० :: अस्पृश्यता-निवारण के लिए बापू का अनशन

राज्यकर्त्ता और साम्राज्य-संस्थापक के लिए अंग्रेजी में एक बहुत अच्छी कहावत है, "भेद करके जीत लो।" अंग्रेज तो इस कला में अत्यन्त प्रवीण थे। वे जहां जाते वहां के लोगों की 'रहन-सहन और विचार-प्रणाली, को समझ लेते हैं। लोगों की कमजोरी कहां है सो पहचान लेते हैं और उसका लाभ लेकर आपस में लोगों को लड़ने को प्रोत्साहित करते हैं।

भारत की हिन्दू प्रजा और मुसलमान राज्यकर्ता के बीच का झगड़ा समाजव्यापी हुआ था। दबे हुए दलित-हीन-जाति के कई हिन्दू अपनी स्थिति सुधारने के लिए मुसलमान हुए। उनकी हालत सुधरी, किन्तु पुराने झगड़े ज्यादा तीव्र हुए। इसका इलाज हिन्दू समाज के नेता ढूंढ़ते नहीं थे। मात्र धर्म-ग्रन्थों को पूछते थे। वहां तो कड़ी सजाएं ही मिलती थीं। फलस्वरूप इन दो समाजों के बीच खींचातानी चली। इस्लाम के सिद्धान्तानुसार ईश्वर की मूर्ति बनानी यह ईश्वर का अपमान, और मनुष्य के लिए महापाप, इसलिए मंदिर तोड़ने को वे पुण्य मानते हैं।

ऐसी परिस्थितियों का लाभ अंग्रेजों ने उठाया। हिन्दुओं को एक तरह से उकसाते, मुसलमानों को दूसरी तरह से। और ये दो भी भड़कने को हमेशा तैयार रहते।

इस परिस्थिति को समझकर कांग्रेस ने हिन्दू-मुसलमान ऐक्य के लिए प्रयास किये। हिन्दू-सभा को यह ठीक नहीं लगा। अखिल भारतीय राजभाषा के पद से अंग्रेजी को हटाकर उसकी जगह हिन्दी लाने का प्रयत्न गांधीजी ने किया। अंग्रेजों ने मुसलमानों को उत्तेजित करते हुए कहा, "आपका राज था तब इन्हीं हिन्दुओं ने उर्दू को राजभाषा मान्य किया था।" हिन्दू कहने लगे, "इसीलिए तो हम उर्दू के खिलाफ अब विशुद्ध हिन्दी चलाते हैं।" ऐसे झगड़ों से अंग्रेजी भाषा का स्थान मजबूत हुआ। हमें पाकिस्तान मान्य करना पड़ा।

ऐसे झगड़ों से सचेत होकर अपना घर सुधारें तो वे हिन्दू कैसे ? अस्पृश्यता-निवारण करके अछूतों को हिन्दू समाज में सम्मान का स्थान देने का प्रयत्न गांधीजी ने किया। गांव के और शहर के भी अनेक हिन्दुओं ने धर्म के नाम से गांधीजी का विरोध किया।

इस परिस्थिति का लाभ लेकर भारत में अंग्रेज सरकार ने प्रजा को थोड़े से अधिकार देते समय जाहिर किया कि सवर्ण हिन्दुओं का अलग समाज मानेंगे। अछूतों के अधिकार हिन्दुओं के हाथ में सुरक्षित नहीं, इसलिए उनको गैर-हिन्दू मान उन्हें स्वतन्त्र अधिकार देंगे। जैसे मुसलमान, ईसाई हिन्दू नहीं हैं, इसलिए उन्हें अलग अधिकार हैं। उसी तरह अछूत कौमों को भी गैर-हिन्दू मानकर अलग अधिकार देंगे।

अमुक जातियों को अछूत माननेवाले सवर्ण हिन्दू लोग सरकार की चालबाजी समझ तो गए, किन्तु अपना स्वभाव छोड़ नहीं सके। समाज-सुधार पूरा करते नहीं थे और राजद्वारी कमजोरी बढ़ती जाय तो उसे लाचारी से अथवा लापरवाही से मान्य रखते।

लेकिन गांधीजी यह कैसे सहन कर सकते थे ! अस्पृश्यता दूर करने की बात समझाने में जमाने भले बीत जायं, लेकिन हिन्दू समाज पर यह राजनैतिक आघात एक क्षण के लिए भी कैसे सहन किया जाय। इसलिए सरकार के इस कार्य के खिलाफ गांधीजी ने आमरण उपवास शुरू किया। सरकार और प्रजा दोनों सहम गए। हिन्दू नेता गांधीजी के पास दौड़े आए और उन्होंने गांधीजी को वचन दिया कि हिन्दू धर्म में और समाज में अस्पृश्यता को रहने नहीं देंगे। इसी समय गांधीजी ने अछूत कौम के लोगों को 'हरिजन' नाम दिया। सन्तों ने एक जगह इस वचन को काम में लिया था, उसका लाभ लेकर गांधीजी ने जाहिर किया कि अछूत कौमों की अस्पृश्यता दूर करते हैं और उनको हरिजन का आदर का नाम देते हैं।

उस समय का एक विनोद कहने योग्य है। जो हिन्दू हरिजन नहीं हैं, उनके लिए कौन-सा शब्द काम में लिया जाय। ऐसा किसी ने पूछा। तुरन्त कोई बोले, "हरिजनों को जो न अपनाए वह हरि को और धर्म को भी नहीं अपनाते। उनको हरि से और शुद्ध धर्म से दूर गए हुए दुरिजन कहना चाहिए।" यह विनोद उस समय बहुत चला था।

इन उपवास के दिनों में सरकार के साथ बातचीत चल रही थी। हिन्दू नेताओं ने वचन दिए, किन्तु हरिजनों के उस समय के जबर्दस्त नेता डा० अम्बेडकर आगे आए। उन्होंने सीधा कहा, "ये हिन्दू आज वचन देंगे, कल तोड़ेंगे। उनका भरोसा क्या? सरकारी कानून के अनुसार हमें हमारे हक मिलने ही चाहिए।" दिन जाने लगे, बापूजी के प्राण बचाने की आवश्यकता बढ़ने लगी। लोग अम्बेडकर पर दबाव डालने लगे, पर वे तो अपनी बात पर अड़े रहे। यह सारा एक ऐतिहासिक किस्सा था। आज के हरेक युवक को यह याद रखने लायक है।

अन्त में करोड़ों हरिजन हिन्दू समाज के अन्दर ही रह सके और कम-से-कम कायदे में तो हिन्दू धर्म का एक बड़ा पाप धुल गया। उस समय के हिन्दू नेताओं ने जो वचन दिए, उन्हें पालने की जिम्मेदारी पीढ़ी-दर-पीढ़ी स्वीकारनी चाहिए। उस प्रसंग पर गांधीजी ने, हिन्दू नेताओं ने और उस समय की सरकार ने जो निर्णय किए, वे 'यरवदा पैक्ट' के नाम से पहचाने जाते हैं।

३१ :: आरोग्य और दीर्घायु

आज मेरी उम्र करीब ६० के नजदीक है। स्वास्थ्य अच्छा है। कई नये-नये स्नेहियों को आनन्द के साथ आश्चर्य भी होता है, और जब वे सुनते हैं कि गांधीजी के आश्रम में रहते मुझे क्षयरोग हुआ था और गांधीजी ने मुझे इलाज के लिए चाहे वहां जाकर रहने के लिए इजाजत भी दी थी तब उनका आश्चर्य और भी बढ़ता है और वे पूछते हैं, "भारतवासियों की आयु सर्वसामान्य ४० के करीब गिनी जाती है, आदमी ६० वर्ष का हुआ तो वह आराम के योग्य, पेंशन के योग्य गिना जाता है और आप तो इस उम्र में नया-नया साहित्य पढ़ते हैं, अपने साहित्य में नये-नये विचार देते हैं और देश-देशांतर में मुसाफिरी भी करते हैं। इसका हमें आश्चर्य होता है। जानने की इच्छा होती है कि ऐसा स्वास्थ्य आपने कैसे सम्भाला?

"और आप कहते हैं कि आश्रम के दिनों में आपको क्षयरोग भी हुआ था तो उस रोग पर भी विजय कैसे पायी?"

मैं कहता हूं, आश्चर्य के लिए और भी थोड़ी बातें कहूंगा।

हम छः भाई और एक बहन में मैं सबसे छोटा था। मेरा जन्म हुआ तब पिताजी की उम्र पचास से अधिक होगी। लेकिन उनका स्वास्थ्य अच्छा था। मेरी मां के भाई-बहन बीमार और कमजोर रहते थे, उस खानदान के लोग जल्दी गुजर गये। क्षयरोग मुझे उस खानदान से मिला होगा। बचपन में मैं कमजोर ही रहता था।

हिमालय जाकर थोड़ी साधना की, लेकिन स्वास्थ्य की दृष्टि से उसका कुछ महत्त्व नहीं था। हिमालय में हजारों मील की पैदल मुसाफिरी की। इससे कष्ट-सहन करने की शक्ति तो आ गयी, किन्तु हिमालय से लौटने के बाद ही मैं गांधीजी के आश्रम में पहुंचा। वहां का जीवन व्यवस्थित होते हुए भी मुझे क्षयरोग हुआ, यही बताता है कि रोग के बीज खून में सुप्त रूप से दीर्घकाल तक रह सकते हैं।

अब रही मेरे स्वास्थ्य और दीर्घायु की बात।

सबसे प्रथम कह दूं कि मैंने बीच-बीच में आसन-प्राणायाम आदि थोड़ी योगसाधना करके देखी है, किन्तु मैं उसका महत्त्व नहीं गिनता हूं। मैंने जो पैदल मुसाफिरी की उसका महत्त्व मुझे जरूर मान्य करना चाहिए। आश्रम में आने के बाद मैंने (पैदल नहीं) भारत के अन्यान्य प्रदेशों की और चारों खंड के अनेक देशों की मुसाफिरी की है। इसको मैं जरूर महत्त्व देता हूं। इसका कारण मैं कहूं तो आपको आश्चर्य होगा।

मुसाफिरी करने से भिन्न-भिन्न वंश के और भिन्न-भिन्न संस्कृति के अनेक लोगों को मिलने से मेरा मानसिक यौवन कायम रहा। शरीर पर भी इसका असर हो सका। इससे भी अधिक महत्त्व मैं देता हूं अपनी आध्यात्मिक साधना को।

जब मैं संयम की साधना करता था तब खान-पान के संयम के कई प्रयोग मैंने किये हैं। चार-चार, सात-सात दिन के उपवास, घी-दूध छोड़ देना, मसाला और नमक नहीं खाना इत्यादि; लेकिन ये सारे प्रयोग ही थे। बुद्ध भगवान का मध्यम मार्ग अच्छा लगा। और महात्माजी की साधना तो सर्वांग-सुन्दर साबित हुई।

मुख्य बात है मेरी वेदान्त की साधना।

एक बात बता दूं। हिमालय के दिनों में ही एक दफा मैंने हाथ में गंगाजल लेकर भगवान से प्रार्थना की, "मेरी साधना भले ही सन्त-साधना हो, किन्तु लोग मुझे सन्त मानें अथवा कहें, यह मैं नहीं चाहता, क्योंकि लोग सन्तों की पूजा करते हैं, उनकी दी हुई साधना नहीं चलाते। मैं चाहता हूं कि लोग मुझे शिक्षा-शास्त्री मानें, तभी तो मेरी सेवा उग सकेगी।"

मेरी मुख्य साधना है—वेदान्त के ध्यान की, खास तौर पर विश्वात्मैक्यभावना की।

सबके साथ मैं ऐसा ऐक्य अनुभव करूं कि राग-द्वेष आप-ही-आप नरम हो जायें। जहां आत्मीयता है, वहां बुरे आदमी का भी द्वेष नहीं हो सकता। और जहां पूर्ण आत्मैक्य है, वहां हमसे किसी का आत्मिक अकल्याण भी नहीं हो सकता। न स्वयं मैं गिरूं, न किसी को गिरने में मददगार बनूं। यही है आत्मैक्यभावना की स्थायी साधना।

सब वंशों के, अनेक देशों के, अनेक धर्मी लोगों के प्रति आत्मीयता का सम्बन्ध सोचना, यही है विशुद्ध प्रेम की साधना।

इस आत्ममैक्य की उत्कटता जब बढ़ती है, तब अहंता और ममता, राग और द्वेष नरम हो जाते हैं, आप पर भाव क्षीण होता है, इन्द्रिय-जय आसान बनता है। इसका असर आरोग्य पर बहुत अच्छा होता है। अन्न-पचन, नींद और शौच तीनों क्रियाएं सन्तोषजनक चलती हैं। स्वास्थ्य के लिए और क्या चाहिए?

ऐसी साधना उत्कटता से किन्तु स्वाभाविकता से चलायी तो ऐसे आदमी को लोग आदर से चाहेंगे जरूर, किन्तु सन्त नहीं कहेंगे। सन्त और योगी बनना अच्छा है, किन्तु कहलाना अच्छा नहीं। दस अच्छे आदमी जैसे रहते हैं, वैसे रहने से साधना में कोई बाधा नहीं आती।

और मुख्य बात एक शब्द में कह दूं, ऐसी उत्तम साधना भगवान की कृपा से ही चल सकती है। इसलिए सारा श्रेय उसी की कृपा को है।

३२ :: विश्व-समन्वय-संघ की स्थापना

साहित्य कहते हैं तरह-तरह के ऐसे विचारों के संग्रहों को, जो किसी भी भाषा का सहारा लेकर अनुकूल और आकर्षक शैली में व्यक्त किये गये हों। साहित्य में मनुष्य के अनुभवों का, चिंतनात्मक विचारों का, कल्पनाओं का अथवा संकल्पों का संग्रह होता है। मनुष्य के सामने फैली हुई विशाल भौतिक सृष्टि, कल्पना-सृष्टि और उसके अंदर मानवी जीवन ने जो पुरुषार्थ किया हो उसका वर्णन, चिंतन और खोज का बयान होता है। मनुष्य-जीवन के जितने भी पहलू हैं उन सबको साहित्य में उद्दीपित किया जाता है। भाषा और शैली तो साहित्य का केवल सहारा ही हैं। साहित्य में प्रधानता तो चिंतनात्मक या वर्णनात्मक और प्रेरणात्मक विचारों की ही होती है। साहित्य सचमुच मनुष्य जाति को संस्कारी, संपन्न और समर्थ बनाने का एक अद्भुत साधन है।

ऐसे साहित्य की सेवा करना और उससे सेवा लेना जीवन को उन्नत करने का एक महान साधन है। ऐसे साधन के द्वारा हम समाज के वर्तमानकालीन सब व्यक्तियों से, भूतकाल के सब पुश्तों से और जमाने से अपना घनिष्ठ संबन्ध स्थापित कर सकते हैं और भविष्य में आनेवाली जनता की भी थोड़ी-बहुत सेवा कर सकते हैं।

साहित्यसेवा सचमुच त्रिकालव्यापी संस्कृति की सेवा है। साहित्य-सेवा के लिए स्थापित संस्थाओं का प्रधान उद्देश्य संस्कृति की सेवा ही हो सकता है। ऐसी सेवा साहित्य के द्वारा करना यह उसकी अपनी मर्यादा होती है, किंतु ऐसी संस्था एक क्षण के लिए भी संस्कृति-सेवा को गौण नहीं बना सकती, बाजू पर नहीं रख सकती।

और आज तो देश की और दुनिया की ऐसी विचित्र हालत हो गई है और ऐसे विकट और जटिल सवाल खड़े हुए हैं कि समाज को बचाना हो, प्रगति के रास्ते पर लाना हो तो संस्कृति के क्षेत्र में प्रत्यक्ष रूप से कार्य किये बिना चारा ही नहीं।

जीवन की इस महान आवश्यकता का दर्शन जैसे-जैसे अधिक होता जाता है, संकल्प दृढ़ होता जाता है कि अब उत्तम सेवा तो संस्कृति-समन्वय द्वारा ही हो सकती है। भारत में आकर बसी हुईं और पनपी हुईं सब संस्कृतियों का एकसाथ विचार करना, आदर के साथ सब की सेवा करना और उनके अन्दर का संघर्ष टालकर समन्वय स्थापित करने के उपायों को ढूंढ़ना और उनका प्रचार करना यह मिशनरी काम किये बिना हम जी नहीं सकते, आगे बढ़ नहीं सकते।

महात्मा गांधी की स्थापित आखिरी संस्था का असली उद्देश संस्कृति-समन्वय ही है। समूचे हिन्दुस्तान की संमिश्र अथवा संगम संस्कृति को व्यक्त करने के लिए ही हिन्दुस्तानी शब्द का प्रयोग आग्रह के साथ किया है। इसमें विविधता और एकता का समन्वय ही व्यक्त होता है।

विचार-प्रचार के द्वारा भारत की सारी जनता परस्पर ओतप्रोत हो जाय और विराट् आत्मीयता का अनुभव करके अपने जीवन को सफल करे और विश्व-सेवा के लिए अपने को योग्य बनावे, यही है इस गांधी प्रवृत्ति का उद्देश्य। स्वयं गांधीजी इसे सर्व-धर्म-समभाव, अस्पृश्यता-निवारण, सर्वोदय आदि अनेक शब्दों के द्वारा व्यक्त करते थे। उनकी सारी सेवाएं आत्मशक्ति बढ़ाकर सब को एकत्र लाने के लिए ही थी। इसी सार्वभौम उद्देश्य को दुनिया के सामने रखकर इस दिशा में संस्कृति-समन्वय का काम करना, यही हमारा प्रधान कार्य होगा। संस्था के संचालकों ने इस बात का महत्त्व समझकर प्रस्ताव किया कि 'विश्व-समन्वय संघ'

नामक एक विशाल, व्यापक, एकता-साधक संगठन इस संस्था के अंतर्गत कायम किया जाय और इस कार्य को शुरू करके उसे संगठित रूप देने का सारा भार मेरे सिर पर डाल दिया है। कार्य का महत्त्व ध्यान में लेकर इसका स्वीकार करते समय न मैंने अपनी उम्र का विचार किया, न आज के जमाने की प्रतिकूल परिस्थिति का। काम किसी एक व्यक्ति का नहीं है, सबका है अथवा यों कहें इतिहास-विधाता का ही यह काम है, जो हमसे करवाता है।

आज के लोग कहते हैं कि धर्म का खयाल ही क्यों करते हैं? धर्म तो कालग्रस्त पुरानी चीज हो गई है। उन्नति कराने का कोई माद्दा उसमें रहा नहीं। जिन्हें अपनी संकुचितता, अपना स्वार्थ और अपनी सत्ता संभाल के बैठना है वैसे लोग ही मौका देखकर धर्म का नाम लेते हैं और अज्ञान जनता को बहकाकर सब तरह की बुराइयां पैदा करते हैं। ऐसे धर्म का नाम ही छोड़कर सबकी आर्थिक स्थिति सुधारने का प्रयत्न क्यों न किया जाय? और सामाजिक न्याय को स्थापित करने के लिए हम प्रयत्नशील क्यों न बनें?

हम नहीं मानते कि हजारों वर्षों से चलते आये धर्मों में मानवता की और भविष्यकाल की सेवा करने का कोई उच्च-उज्ज्वल तत्त्व रहा ही नहीं। संत-महंतों ने, धर्म-सुधारकों ने और महात्माओं ने धर्मों को सुधारकर आज तक उससे सेवा ली है, आगे भी हम ले सकते हैं।

लेकिन अगर मान भी लिया कि धर्मों में किसी भी समाज का भला करने का माद्दा रहा ही नहीं तो भी यह बात तो रहती ही है कि धर्म का नाम लेकर उसका दुरुपयोग करके हजारों और लाखों लोगों को उत्तेजित करने की शक्ति धर्मों में है। ऐसा दुरुपयोग रोकने की जिम्मेवारी तो किसी की होनी चाहिए। धर्मों की उपेक्षा हम कर सकते हैं, लेकिन इतना बस नहीं है। धर्मों के नाम से जो खराब काम दुनिया में किये जाते हैं उनको दूर करने के लिए धर्मों के अंदर रहे हुए अच्छे तत्त्वों का सहारा लेना जरूरी है। मान लिया कि सब धर्मों में प्रकाश और अंधेरा दोनों तत्त्व हैं, तो प्रकाश की मदद से ही हम अंधकार को और अंधकार के सहारे होनेवाले बुरे कामों को हटा सकते हैं।

हमारे इस प्रयत्न में किसी एक धर्म की श्रेष्ठता लेकर काम करने का हमारा उद्देश्य नहीं है। एक धर्म बढ़े और बाकी के धर्म दब जाएं, ऐसी प्रवृत्तियां दुनिया में चलती हैं। उस ढंग की प्रवृत्तियां चाहे जितनी खूबियों से चलायी जाएं, पहचानी जाती ही हैं। हमारी प्रवृत्ति इनसे भिन्न है। लेकिन हमारा प्रयत्न यह रहेगा कि वैसे लोगों को भी हम बतावें कि दूसरे धर्मों के दोष दिखाकर उनका विरोध और निंदा करने में उनका हित नहीं है। किंतु हर एक धर्म में ईश्वर की कृपा से जो अच्छाइयां रहती हैं उनका स्वीकार किया जाय, उनका कीर्तन किया जाय और उसको लेकर लोग अपने-अपने धर्मों को समृद्ध और एकता के लिए अनुकूल बनावें। भारत का यही मिशन है। राजनैतिक स्थिति प्रतिकूल होने से यह काम रुक गया था। अब प्रजा का स्वराज्य होने से इसके लिए अनुकूल स्थिति पैदा हुई है।

पश्चिम के लोगों ने और भारत के लोगों ने भी सब धर्मों के धर्मग्रन्थों का अध्ययन या तो आदर से या तटस्थ बुद्धि से काफी मात्रा में किया है। उससे हमें लाभ उठाना है और समन्वय की दृष्टि से उसे आगे बढ़ाना है। हमारी मिशनरी प्रवृत्ति का यह एक प्रधान अंग होगा। इसके द्वारा हम विद्यार्थी-विद्यार्थिनियों को प्रेरित करेंगे और उनसे समन्वय का काम मिशनरी उत्साह से करनेवाले लोगों को पसंद करेंगे। हमारा सारा प्रयत्न ही समन्वय-मिशन को समर्थ और समृद्ध करने का होगा।

इसके अलावा भिन्नधर्मी समाज को माननेवाले समाजों में प्रवेश करके आत्मीयता से उनका परिचय पाकर सेवा की लेन-देन के द्वारा उनको समन्वय के लिए अनुकूल बनाने की कोशिश करेंगे।

इसमें एक नीति विशेष आग्रह के साथ संभाली जायेगी।

अध्ययन करेंगे सब धर्मों का। इसमें उनके धर्म-संस्थापक और प्रचारकों के जीवन का अध्ययन, धर्म-ग्रन्थों का गहरा परिचय, धर्म का और धार्मिक संस्थाओं का इतिहास इत्यादि सब विषय आयेंगे ही। लेकिन धर्म-सुधार का काम (जो अत्यंत आवश्यक है) उस धर्म के लोगों को ही करना पड़ेगा। बाहर के लोग धर्म वालों से परिचय प्राप्त करेंगे, जो बात जंचती नहीं। उसके बारे में प्रश्न पूछेंगे, अपने धर्म की दृष्टि समझायेंगे, लेकिन हरेक धर्म के सुधार का काम उस धर्म के अवलंबियों पर ही छोड़ देंगे। ऐसा नहीं किया तो धर्म-समन्वय की जगह धर्म-संघर्ष ही होगा। हरएक धर्म में धर्म-समन्वय के लिए जो अनुकूल बातें होंगी उनपर भार देना और उनका प्रचार करना, यही होगा हमारा प्रधान कार्य।

इसी तरह से जब अनेक धर्म एक-दूसरे के नजदीक आयेंगे तब भेदों को सहन करना हम सीखेंगे। कई भेद ऐसे होते हैं जो मानवी संस्कृति को समृद्ध ही करते हैं। जहां प्रेमादर का संबंध है, आत्मीयता का संबंध है वहां भेदों के कारण विरोध या तिरस्कार खड़ा नहीं होता, खूबियों की ओर ही सब ध्यान केन्द्रित होता है।

इसमें शक नहीं कि जिन पुराने रिवाजों में समस्त मानव जाति को आघात पहुंचे ऐसे बुरे तत्त्व रह गये हैं। उनका विरोध तो सब मिलकर ही करेंगे। लेकिन यह सारा काम समन्वयवृत्ति के लिए पोषक बने, इसका आग्रह रहेगा ही।

सबसे बड़ी आवश्यकता है—सार्वभौम समन्वय तत्त्व को उसके शुद्ध रूप में समझने की और समझाने की। संस्कृति के पहलुओं के अध्ययन के द्वारा परिपक्वता लाये बिना हमारे मिशनरी समन्वय का काम अच्छी तरह से कर नहीं सकेंगे। उनको तैयार करने में जितने भी प्रयत्न जरूरी हों, पूरी निष्ठा से किये जायेंगे। प्रारम्भ अगर शुद्ध रूप में हुआ तो उसका विकास और प्रचार कालबल से होगा। हमारा काम बुनियाद को शुद्ध और मजबूत करने का ही रहेगा।

धर्मसमन्वय का काम केवल दार्शनिक नहीं है। वह सामाजिक और सांस्कृतिक भी है। धर्मों की सच्ची शक्ति उनकी दार्शनिक बुनियाद पर ही अवलंबित होती है। इसलिए उसका गहरा अध्ययन होना ही चाहिए। किंतु जहां मिशनरी कार्य करना है, वहां भावनाओं, रस्म-रिवाजों और परम्परा का महत्त्व स्वीकारना ही पड़ता है। इसीलिए हमारे काम में दार्शनिक की एक बाजू रहेगी, तो दूसरी बाजू समाजविज्ञान की भी रहेगी। इसलिए हमारा एक प्रयत्न यह रहेगा कि हरएक धर्म के त्योहारों में दूसरे धर्म के लोगों को शरीक होने के लिए आदरयुक्त आमन्त्रण दिया जाय और उनके लिए वायुमण्डल भी अनुकूल किया जाय। त्योहारों में, उत्सवों में और सामाजिक आमोद-प्रमोद में घुलमिल जाने के बाद संकट के समय एक-दूसरे की सेवा करने की बात आ ही जाती है। भिन्न-भिन्न समाज के युवक-युवतियों को छात्रवृत्तियां देकर समन्वय कार्य के लिए तैयार करना, यह भी एक प्रधान कार्य रहेगा।

विश्व-समन्वय-संघ का काम केवल अध्ययन और संशोधन का नहीं, किंतु देश में और बाहर भी धर्म-प्रेमी जनता में प्रचार करने का है। यह काम विशाय, व्यापक प्रचारक के द्वारा होगा। एक संस्था द्वारा नहीं, किंतु संघ की अनेक शाखाओं के द्वारा, दूसरी स्वतन्त्र संस्थाओं के द्वारा और निष्ठावान असंख्य छोटे-बड़े व्यक्तियों के द्वारा यह आंदोलन चलेगा।

मैं मानता हूं कि मेरा काम भगवान की इच्छा के अनुसार प्रारम्भ करने का ही है। बाद में इसका रहस्य और महत्त्व समझकर इसे फैलाने का कार्य असंख्य लोग करेंगे। कुदरत से निवृत्ति मिलने के पहले देश के अनेकानेक नवयुवकों और युवतियों से मेरी हार्दिक प्रार्थना है कि इस काम को वे उठायें और इसी को अपना जीवनकार्य समझकर इसे सर्वत्र फैलावें। विभिन्न समाजों के पास जाकर उन्हें समझाया जाय कि युगधर्म कहता है कि भेदों को गौण समझकर सब लोग परस्पर प्रेम द्वारा विश्व-सहयोग स्थापित करें।

विचार

इस खण्ड में विभिन्न विषयों पर काका-साहेब की चुनी हुई रचनाएं दी गई हैं। काकासाहेब की रुचि अनेक विषयों में रही है और उन्होंने प्रचुर साहित्य की रचना की है। यह साहित्य सुपाठ्य, रोचक तथा उद्बोधक है। इस खण्ड के सीमित पृष्ठों में उनके कुछ ही लेखों का समावेश किया जा सका है।

चुनी हुई रचनाएं

१. प्रकृति-दर्शन

अर्णव का आमंत्रण

समुद्र या सागर जैसा परिचित शब्द छोड़कर मैंने अर्णव शब्द केवल आमंत्रण के साथ अनुप्रास के लोभ से ही नहीं पसन्द किया। अर्णव शब्द के पीछे ऊंची-ऊंची लहरों का अखंड तांडव सूचित है। तूफान, अस्वस्थता, अशान्ति, वेग, प्रवाह और हर तरह के बंधन के प्रति अमर्ष आदि सारे भाव अर्णव शब्द में आ जाते हैं। अर्णव शब्द का धात्वर्थ और उसका उच्चारण दोनों इन भावों में मदद करते हैं। इसलिए वेदों में कई बार अर्णव शब्द का उपयोग समुद्र के विशेषण के तौर पर किया गया है। खास तौर से वेद के विख्यात अघमर्षण सूत्र में जो अर्णव-समुद्र का जिक्र है, वह उसकी भव्यता को सूचित करता है।

ऐसे अर्णव का संदेश आज के हमारे संसार के सामने पेश करने की शक्ति मुझे प्राप्त हो, इसलिए वैदिक देवता सागर सम्राट वरुण की मैं वंदना करता हूं।

जहां रास्ता नहीं है वहां रास्ता बनानेवाला देव है वरुण। प्रभंजन तांडव से जब रेगिस्तान की बालू की लहरें उछलती हैं, तब वहां भी यात्रियों को दिशा-दर्शन करानेवाला वरुण ही है। और अनंत आकाश में अपने पंखों की शक्ति आजमानेवाले त्रिखंड के यात्री पक्षियों को व्योम मार्ग दिखानेवाला भी वरुण ही है। और वेदकाल के भुज्यु से लेकर कल ही जिसकी मूछें उगी हैं, ऐसे खलासी तक हरेक को समुद्र का रास्ता दिखानेवाला जैसे वरुण है, वैसे ही नये-नये अज्ञात क्षेत्रों में प्रवेश करके नये-नये रास्ते बनानेवाले यमराज या अगस्ति को हिम्मत और प्रेरणा देनेवाला दीक्षागुरु भी वरुण ही है।

वरुण जिस प्रकार यात्रियों का पथ-प्रदर्शक है, उसी प्रकार वह मनुष्य-जाति के लिए न्याय और व्यवस्था का देवता है। 'ऋतम्' और 'सत्यम्' का पूर्ण साक्षात्कार उसे हुआ है, इसलिए वह हरेक आत्मा को सत्य के रास्ते पर जाने की प्रेरणा देता है। न्याय के अनुसार चलने में जो सौंदर्य है, समाधान है और जो अंतिम सफलता है, वह वरुण से सीख लीजिए। और यदि कोई लोभी, अदूरदृष्टी मनुष्य वरुण की इस न्यायनिष्ठा का अनादर करता है, तो वरुण उसको जलोदर से सताता है, जिससे मनुष्य समझ ले कि लोभ का फल कभी भी अच्छा नहीं होता।

अपना मूल्य घट न जाये इस ख्याल से जिस प्रकार परम-मंगल कल्याणकारी, सदाशिव रुद्ररूप धारण करते हैं, उसी प्रकार रत्नाकर समुद्र भी डरपोक मनुष्य को अट्टहास करनेवाली लहरों से दूर रखता है। कोमल वनस्पति और ग्रह-लंपट मनुष्य उसके किनारे पर आकर स्थिर न हो जायें, इसलिए ज्वार-भाटा चलाकर वह सब लोगों को समझाता है कि तुम लोगों को मुझसे अमुक अन्तर पर ही रहना चाहिए।

समुद्र के किनारे खड़े रहकर जब लहरों को आते और जाते देखा, अमावस्या और पूर्णिमा के ज्वार को आते और जाते देखा, और बुद्धि कोई जवाब नहीं दे सकी, तब दिल बोल उठा, 'क्या इतना भी समझ में नहीं आता ? तुम्हारे श्वासोच्छ्वास की वजह से जिस प्रकार तुम्हारी छाती फूलती है और बैठती है, उसी प्रकार विराट सागर के श्वासोच्छ्वास की यह धड़कन है, उसका यह आवेग है। जमीन पर रहनेवाले मनुष्य

ने जो पाप किये और उत्पात मचाये हैं, उनको क्षमा करने की शक्ति प्राप्त हो; इसलिए महासागर को इतना हृदय का व्यायाम करना पड़ता है।'

जो लहरें दुर्बल लोगों को डराकर दूर रखती हैं, वही लहरें विक्रम के रसियों को स्नेहपूर्ण और फेनिल निमंत्रण देती हैं और कहती हैं : 'चलिए ! इस स्थिर जमीन पर क्यों खड़े हैं ? इस तरह खड़े रहेंगे तो आप पर जंग चढ़ने लगेगा। लीजिये, एक नाव, हो जाइये उस पर सवार, फैला दीजिये उसके पाल और चलिये वहां, जहां पवन का प्राण आपको ले जाये। हम सब हैं तो सागर के बच्चे, किन्तु हमारा शिक्षागुरु है पवन। वह जैसे नचाये वैसे हम नाचते हैं। आप भी यही व्रत लीजिये, और चलिये हमारे साथ।' जिस दिल में उमंग होती है, वह ऐसे निमंत्रण को अस्वीकार नहीं कर सकता।

बचपन में सिंदवाद की कहानी आपने नहीं पढ़ी ? सिंदबाद के पास विपुल धन था, जमीन-जागीर आदि सब कुछ था। अपने प्रेम से उसका जीवन भर देनेवाले स्वजन भी उसके आसपास बहुत थे। फिर भी जब समुद्र की गर्जना वह सुनता था तब उससे घर में रहा नहीं जाता था। लहरों के झूले को छोड़कर पलंग पर सोनेवाला पामर है। दिल ने कहा 'चलो !' और सिंदबाद समुद्र की यात्रा के लिए चल पड़ा। उसमें काफी हैरान हुआ। उसे मीठे अनुभवों की अपेक्षा कड़वे अनुभव अधिक हुए। अतः सही-सलामत वापस लौटने पर उसने सौगंध खाई कि अब मैं समुद्र यात्रा का नाम तक नहीं लूंगा।

किन्तु अन्त में यह था तो मानवी संकल्प। इस संकल्प को सम्राट वरुण का आशीर्वाद थोड़े ही मिला था ! कुछ दिन बीते। गृहस्थी जीवन उसे फीका मालूम होने लगा। रात को वह सोता था, किन्तु नींद नहीं आती थी। लहरें उसके साथ लगातार बातें किया करती थीं। उत्तर-रात्रि में जरा नींद का झोंका आ जाता तो स्वप्न में भी लहरें ही उछलतीं और अपनी उंगलियां हिलाकर उसे पुकारतीं। बेचारा कहां तक जिद पकड़-कर रहे ? अनमना होकर जरा-सा घूमने जाता, तो उसके पैर उसे बगीचे का रास्ता छोड़कर समुद्र की सफेद और चमकीली बालू की ओर ही ले जाते। अंत में उसने अच्छे-अच्छे जहाज खरीदे, मजबूत दिलवाले खलासियों को नौकरी पर रखा, तरह-तरह का माल साथ में लिया और 'जय दरिया पीर' कहकर सब जहाज समुद्र में आगे बढ़ा दिये।

यह तो हुई काल्पनिक सिंदबाद की कहानी। किन्तु हमारे यहां का सिंहपुत्र विजय तो ऐतिहासिक पुरुष था। पिता उसे कहीं जाने नहीं देता था। उसने बहुत आजिजी की, किन्तु सफल नहीं हुआ। अन्त में ऊबकर उसने शरारत शुरू की। प्रजा त्रस्त हुई और राजा के पास जाकर कहने लगी, "राजन् या तो अपने लड़के को देशनिकाला दे दीजिये या हम आपका देश छोड़कर बाहर चले जाते हैं।" पिता बड़े-बड़े जहाज लाया। उनमें अपने लड़के को और उसके शरारती साथियों को बिठा दिया और कहा, "अब जहां जा सकते हो, जाओ। फिर यहां अपना मुंह नहीं दिखाना।" वे चले। उन्होंने सौराष्ट्र का किनारा छोड़ा, भृगुकच्छ छोड़ा, सोपारा छोड़ा, दामोल छोड़ा, ठेठ मंगलापुरी तक गये। वहां पर भी वे रह नहीं सके। अतः हिम्मत के साथ आगे बढ़े और ताम्रद्वीप में जाकर बसे। वहां के राजा बने। विजय के पिता ने अपने लड़के को वापस आने के लिए मना किया था; किन्तु उसके पीछे कोई न जाये, ऐसा हुक्म नहीं निकाला था। अतः अनेक समुद्र वीर विजय के रास्ते जाकर नई-नई विजय प्राप्त करने लगे। वे जावा और बालीद्वीप तक गये। वहां की समृद्धि, वहां की आबहवा और वहां का प्राकृतिक सौंदर्य देखने के बाद लौटने की इच्छा भला किसे होती ? फिर तो घोघा का लड़का सारा पश्चिम किनारा पार करके लंका की कन्या से विवाह करे यह लगभग नियम-सा बन गया।

जिधर बंगाल के नदी पुत्र नदी-मुखेन समुद्र में प्रवेश करने लगे, जिस बन्दरगाह से निकलकर ताम्रद्वीप

जाया जा सकता था, उस बन्दरगाह का नाम ही उन लोगों ने ताम्रलिप्ति रख दिया। इस प्रकार ताम्रद्वीप लंका में अंग-वंग के बंगाली, उड़ीसा के कलिंग और पश्चिम के गुजराती एकत्र हुए। मद्रास की ओर से द्रविड़ तो वहां कब के पहुंच चुके थे। इस प्रकार पूर्व, पश्चिम और दक्षिण भारत अब अपने-अपने अर्णवों के आमंत्रण से लंका में एक हुआ।

भगवान बुद्ध ने निर्वाण का रास्ता ढूंढ़ निकाला और अपने शिष्यों को आदेश दिया कि 'इस अष्टांगिक धर्मतत्व का प्रचार दसों दिशाओं में करो।' खुद उन्होंने उत्तर भारत में चालीस साल तक प्रचार कार्य किया। अपना राज्य आसेतु-हिमाचल फैलाने के लिये निकले हुये सम्राट अशोक को दिग्विजय छोड़कर धर्म विजय करने की सूझी। धर्म विजय का मतलब आज की तरह धर्म के नाम पर देश-देशान्तर की प्रजा को लूटकर, गुलाम बनाकर भ्रष्ट करना नहीं था, बल्कि लोगों को कल्याण का मार्ग दिखाकर अपना जीवन कृतार्थ करने का अष्टांगिक मार्ग दिखाना था। जो भगवान बुद्ध खुद अकुतोभय गैंडे की तरह जंगल में घूमते थे, उनके साहसिक शिष्य अर्णव का आमंत्रण सुनकर देश-विदेश में जाने लगे। कुछ पूर्व की ओर गये, कुछ पश्चिम की ओर, आज भी पूर्व और पश्चिम समुद्र के किनारों पर इन भिक्षुओं के बिहार पहाड़ों में खुदे हुए मिलते हैं। सोपारा, कान्हेरी, धारापुरी आदि स्थल बौद्ध मिशनरियों की विदेश यात्रा के सूचक हैं। उड़ीसा की खंड-गिरि, उदयगिरि की गुफाएं भी आज इसी बात का सबूत दे रही हैं।

इन्हीं बौद्धधर्मी प्रचारकों से प्रेरणा पाकर प्राचीन काल के ईसाई भी अर्णव-मार्ग से चले और उन्होंने अनेक देशों में भगवद्भक्त ब्रह्मचारी यीशु का संदेश फैलाया।

जो स्वार्थवश समुद्र-यात्रा करते हैं, उन्हें भी अर्णव सहायता देता है। किन्तु वरुण कहता है, "स्वार्थी लोगों को मेरी मनाही है, निषेध है। किन्तु जो केवल शुद्ध धर्म-प्रचार के लिए निकलेंगे, उन्हें तो मेरे आशीर्वाद ही मिलेंगे। फिर वे महिन्द या संघमित्रा हों या विवेकानन्द हों। सेंट फ्रान्सिस जेवियर हों या उनके गुरु इग्नेशियस लोयला हों।"

अब अर्णव की मदद लेनेवाले स्वार्थी लोगों के हाल देखें। मकरानी लोग बलूचिस्तान दक्षिण में रहकर पश्चिम सागर के तट की यात्रा करते थे। इसलिए हिन्दुस्तान की तिजारत उन्हीं के हाथ में थी। आग्रह के साथ वे उसको अपने ही हाथों में रखना चाहते थे। अतः एक वरुण पुत्र को लगा कि हमें दूसरा दरियायी रास्ता ढूंढ निकालना चाहिए। वरुण ने उससे कहा कि अमुक महीने में अरबस्तान से तुम्हारा जहाज भर-समुद्र में छोड़ेंगे तो सीधे कालीकट तक पहुंच जाओगे। एक-दो महीनों तक तुम हिन्दुस्तान में व्यापार करना और वापस लौटने के लिए तैयार रहना, इतने में मैं अपने पवन को उलटा बहाकर जिस रास्ते तुम आये उसी रास्ते से तुम्हें वापस स्वदेश में पहुंचा दूंगा। यह किस्सा ई० पू० ५० साल का है।

प्राचीन काल में दूर-दूर पश्चिम में वाइकिंग नामक समुद्री डाकू रहते थे। वे वरुण के प्यारे थे। ग्रीन-लैंड, आइसलैंड, ब्रिटेन और स्कैन्डिनेविया के बीच के ठंडे और शरारती समुद्र में वे यात्रा करते थे। आज के अंग्रेज लोग उन्हीं के वंशज हैं। समुद्र किनारे पर स्थित नॉर्वे ब्रिटेन, फ्रांस, स्पेन और पुर्तगाल देशों ने बारी-बारी से समुद्र की यात्रा की। इन सब लोगों को हिन्दुस्तान आना था। बीच में पूर्व की ओर मुसलमानों के राज्य थे। उन्हें पारकर या टालकर हिन्दुस्तान का रास्ता ढूंढ़ना था। सबने वरुण की उपासना शुरू की और अर्णव के रास्ते से चले। कोई गये उत्तर ध्रुव की ओर, कोई गये अमरीका की ओर। चन्द लोगों ने अफ्रीका की उलटी प्रदक्षिणा की और अन्त में सब हिन्दुस्तान पहुंचे। समुद्र यानी लक्ष्मी का पिता। उसमें जो यात्रा करे वह लक्ष्मी का कृपापात्र अवश्य होगा। इन सब लोगों ने नये-नये देश जीत लिये, धन दौलत जमा की। किन्तु वरुणदेव का न्यायासन वे भूल गये। वरुणदेव न्याय के देवता हैं। उसके पास धीरज भी है, पुण्यप्रकोप

भी है। जब उसने देखा कि मैंने इनको समुद्र का राज्य दिया, किन्तु इन लोगों ने राजा के उचित न्याय-धर्म का पालन नहीं किया तब वरुण राजा ने अपना आशीर्वाद वापस ले लिया और इन सब लोगों को जलोदर की सजा दी। अब ये हिन्दुस्तान और अफ्रीका से जो संपत्ति लाये थे, उसका उपयोग आपस में लड़ने के लिये करने लगे हैं और अपने प्राणों के साथ वह सारी संपत्ति जल के उदर में पहुंचा रहे हैं। समुद्र-यान हो या आकाश-यान हो, अन्त में उसे समुद्र के जल के उदर में पहुंचना ही है। अब वरुण राजा क्रुद्ध हुए हैं। उन्हें अब विश्वास हो गया है कि सागर से सेवा लेनेवालों में यदि सात्विकता न हो तो वे संसार में उत्पात मचानेवाले हो जाते हैं। अब तक उन्होंने विज्ञान-शास्त्रियों और ज्योतिष शास्त्रियों को, विद्यार्थियों और लोकसेवकों को समुद्र-यात्रा की प्रेरणा दी थी। अब वे हिन्दुस्तान को नये ही किस्म की प्रेरणा देना चाहते हैं : हिन्दुस्तान के सामने एक नया 'मिशन' रखना चाहते हैं। क्या उसे सुनने के लिए हम तैयार हैं ?

हम पश्चिम समुद्र के किनारे पर रहते हैं। दिन-रात पश्चिम सागर[1] का निमंत्रण सुनते हैं। अब तक बहरे थे। यह संदेश हमारे कानों पर जरूर पड़ता था; किन्तु अन्दर तक नहीं पहुंच पाता था। अब यह हालत नहीं रही है। यूरोप की महाप्रजा ने हमारे ऊपर राज्य जमाकर हमें मोहिनी में डाल रखा था। अब यह मोहिनी उतर गयी है। अब हमारे कान खुल गये हैं। संसार के नक्शे की ओर हम नई दृष्टि से देखने लगे हैं। अब हम समझने लगे हैं कि महासागर भूखंडों को तोड़ते नहीं बल्कि जोड़ते हैं। अफ्रीका का सारा पूर्व किनारा और कलकत्ता से लेकर सिंगापुर आल्बनी (आस्ट्रेलिया) तक का पूर्व की ओर का पश्चिम किनारा हमें निमंत्रण देता कि 'ईश्वर ने तुम्हें जो ज्ञान, चरित्र और वैभव दिया है, उसका लाभ यहां के लोगों को भी पहुंचाओ।' एक ओर अफ्रीका है, दूसरी ओर जावा है, बाली है, आस्ट्रेलिया है, उस्मानिया है और प्रशान्त महासागर के असंख्य टापू हैं। ये सब अर्णव की वाणी से हमें पुकार रहे हैं। इन सब स्थानों में सागर से प्रेरणा लेकर अनेक मिशनरी गये थे। किन्तु वे अपने साथ सब जगह शराब ले गये, वंश-वंश के बीच का ऊंच-नीच भाव ले गये, ईसा मसीह को भूलकर सिर्फ उनका बाईबिल ले गये। और इस बाईबिल के साथ उन्होंने अपने-अपने देश का व्यापार चलाया। अर्णव उन्हें जरूर ले गया था। किन्तु वरुण उन पर नाराज हुआ है। हम भारतवासी प्राचीन काल में चीन गये, भवनों के देश ग्रीस तक गये, जावा और बाली की ओर गये। हमने 'सर्वे सन्तु निरामयाः' की संस्कृति का विस्तार किया। किन्तु हमने उन स्थानों में अपने साम्राज्य की स्थापना करने की दुर्बुद्धि नहीं रखी। दूसरों के मुकाबले में हमारे हाथ साफ हैं। अतः वरुण का हमें आदेश हुआ है। अर्णव हमें आमंत्रण दे रहा है और कह रहा है, "दूसरे लोग विजय-पताका लेकर गये; तुम अहिंसा धर्म की तिरंगी अभय-पताका लेकर जाओ और जहां जाओ वहां सेवा की सुगन्ध फैलाते रहो। शोषण के लिए नहीं, बल्कि पिछड़े हुए लोगों के पोषण और शिक्षण के लिए जाओ। अफ्रीका के शालिग्राम वर्ण के तुम्हारे भाई तुम्हें पुकार रहे हैं। पूर्व की ओर के केतकी सुवर्ण वर्ण के तुम्हारे भाई तुम्हारी राह देख रहे हैं। इन सब लोगों की सेवा करने के लिए जाओ और सब लोगों से कहो कि अहिंसा ही परम धर्म है। ऊंच-नीच-भाव, अभिमान, अहंकार जैसी हीन वृत्तियों को इस धर्म है स्थान नहीं हो सकता। भोग और ऐश्वर्य, दोनों जीवन के जंग है (जीवन को दूषित करने वाले हैं)। संयम और सेवा, त्याग और बलिदान, यही जीवन की कृतार्थता है। यह धर्म जिन लोगों ने समझा है, वे सब निकल पढ़ो। पूर्व सागर और पश्चिम सागर के बीच में दक्षिण की ओर घुसनेवाला हजारों मील का किनारा तैयार

१. हमारे इस पड़ोसी को हम 'अरबी समुद्र' के नाम से पहचानते हैं, यह विचित्र बात है। विलायत से आने वाले गोरे लोग उसे 'अरबी समुद्र' भले कहें। हमारे लिये तो यह बम्बई समुद्र या पश्चिम सागर है। यही नाम हमें चलाना चाहिये।

करके हिन्दुस्तान को हिन्द महासागर में जो स्थान दिया गया है, वह समुद्र-विमुख होने के लिए हरगिज नहीं हैं। वह तो अहिंसा के विश्व धर्म का परिचय सारे विश्व को कराने के लिए हैं।"

यूरोप के महायुद्ध के अन्त में दुनिया का रूप जैसा बदलनेवाला होगा वैसा बदलेगा। किन्तु असंख्य भारतीय प्रवास-वीर अर्णव का आमंत्रण सुनकर, वरुण से दीक्षा लेकर, धीरे-धीरे देश-विदेश में फैलेंगे, इसमें कोई संदेह नहीं है। सागर के पृष्ठ पर हमारे अनेकानेक जहाज डोलते हुए देख रहा हूं। उनकी अभय-पताकाओं को आकाश में लहराते देख रहा हूं और मेरा दिल उछल रहा है। अर्णव के आमंत्रण को अब मैं खुद शायद स्वीकार नहीं कर सकता, फिर भी नौजवानों के दिलों तक उसे पहुंचा सकता हूं, यही मेरा अहोभाग्य है। वरुण-राजा को मेरा नमस्कार है। जय वरुण राज्य की जय।[1]

१. 'जीवन लीला' से

सुर-धनु का मनन

मंत्री से रहा न गया। सचमुच दृश्य ही ऐसा था कि रहा नहीं जा सकता था। इतना अधिक आनन्द किसी एक के दिल में कैसे समाता ? वे बोल उठे, "पश्चिम में इन्द्र-धनुष शान से तना है। कितना सुन्दर ! देखने लायक !"

हम प्रातः प्रार्थना के बाद साधना-क्रम के बारे में कुछ लिख रहे थे; इसी बीच मंत्रीजी का आमंत्रण मिला। हम समझ गए कि बात कुछ असाधारण है। उन्होंने पश्चिम की ओर का द्वार खोला और प्रकृति का नाट्य एकदम दृष्टि के सामने फैल गया। धनुष के दोनों छोर क्षितिज को छू रहे थे और पूरा धनुष अर्धवर्तुल-सा गीली राख जैसे बादल पर उभरा हुआ था।

सबसे पहले मेरा ध्यान उसके ऊपरी भाग पर गया। नीचे लटकती हुई उसकी जामुनी रंग की आड़ी पट्टी की ओर। इतनी सजीवता से निखरी हुई पट्टी हमेशा देखने को नहीं मिलती।

जब कभी पूरा इन्द्र-धनुष देखने को मिलता है, सारा-का-सारा एक समान उभरा हुआ दिखाई नहीं पड़ता। आज के इन्द्र-धनुष में बादलों की पृष्ठ-भूमि अच्छी थी; इसलिए वह सारा-का-सारा एक समान उभरा हुआ था। निचले सिरों में लाल और पीला रंग अधिक निखरा था। जरा-सा ऊपर आने पर हरा रंग ध्यान को अपनी ओर खींच लेता था। शायद इसका कारण यह था कि दक्षिणी छोर के इर्द-गिर्द पेड़ों का हरा रंग छाया हुआ था। वह इन्द्र-धनुष के हरे रंग को खा जाता होगा और इसलिए उसका प्रतियोगी लाल और पड़ोसी पीला दोनों रंग अधिक खिले हुए होंगे। ऊपर के भाग में ये तीनों रंग कुछ सौम्य हुए और जामुनी रंग का गहरापन बढ़ा।

जिस तरह राम के साथ लक्ष्मण के और भगवान बुद्ध के साथ भिक्षु आनन्द के होने की आशा की जाती है उसी तरह इन्द्र-धनुष के साथ उसके प्रति-धनुष को खोजने के लिए भी नजर दौड़ती है। धनुष के बाहर दोनों छोरों पर प्रति-धनुष के रंग उल्टे क्रम में दिखलाई पड़ते थे। जितना भाग दीखता था उतना स्पष्ट था; परन्तु मूल धनुष का आकर्षण कम करने की शक्ति उसमें नहीं थी।

पुराने लोग लिख गये हैं कि धनुष निकले तो उसे देखने के लिए दूसरों को निमंत्रण मत दो। इस सीख के पीछे हेतु क्या होगा, सो हमें नहीं मालूम। परन्तु सम्भव यह है कि हम धनुष देखने के लिए किसी को बुलायें और उसके आते-आते धनुष गायब हो जाये तो दोनों को हाथ मलकर रह जाना पड़ेगा। और यदि निमंत्रित व्यक्ति शंकाशील हुआ तो उसे यह भी लग सकता है कि धनुष-जैसी कोई चीज थी ही नहीं, मुझे झूठ-मूठ बुलाकर बनाया गया है।

आज के धनुष को लुप्त होने की उतावली नही थी। हम उसे देर तक देखते रहे। उसका नशा चढ़ता ही गया। इस प्रकार बहुत समय बीत गया और स्वाभाविक था कि इस बीच पहले देखे हुए अनेक सुन्दर धनुषों का स्मरण हो। स्मरण के साथ-साथ वर्णन भी होने लगा। परन्तु जितने प्रसंग याद आए उन सभी का वर्णन कैसे हो सकता था ?

प्रकृति के स्वामी ने इस तरह की रंगीन कमान क्यों खड़ी की होगी ? यह कल्पना तो अनपढ़ आदमी के दिमाग में भी उठती है कि भगवान ने स्वर्ग तक चढ़ने के लिए यह सीढ़ी खड़ी की है। और इस तरह का वर्णन देश-देशान्तर के कवियों ने भी किया है। इसके जरिये मनुष्य स्वर्ग तक चढ़ सकता है या नहीं कौन जाने ? लेकिन इतना तो सच है कि हमारी दृष्टि उसकी दोनों ओर से बार-बार चढ़ती-उतरती है और धन्यता महसूस करती है कि मैं एक पावन यात्रा कर रही हूं।

थोड़ा समय बीता और धीमे-धीमे—एकदम मालूम न पड़े इतने धीमे—इन्द्रधनुष थोड़ा उत्तर की ओर खिसकता जान पड़ा। इसका कारण क्या होगा ? बात इतनी ही थी कि पूर्व की ओर से चढ़ता हुआ सूर्य सहज दक्षिण की ओर ढल रहा था। फलतः इन्द्र धनुष अपना आसन उत्तर की ओर खींच रहा था। इसी अनुपात में धनुष की कमान नीचे दब रही होगी; क्योंकि पूर्व की ओर सूर्य ऊपर चढ़ रहा था। परन्तु इस प्रकार का कोई फेरफार हमारी नजर में नहीं आया।

बहुत देर तक हम धनुष की यह अद्भुत शोभा देखते रहे। बाद में ऐसा लगा कि जब तक यह धनुष दिखाई देता है तब तक यहां से हटना नहीं चाहिए। इतना निश्चय किया ही था कि इसके रंग फीके पड़ने लगे। देखते-देखते वह गायब हो गया। सारा-का-सारा तो एकदम गायब नहीं हुआ, उसके रंग फीके होते गए। और जब वह बिल्कुल गायब हो गया तब भी कल्पना 'तस्मिन् एव आकाशे' उस धनुष को और उसके रंगों को देखती रही। मूल धनुष के बाद उसके स्थान पर यह जो काल्पनिक धनुष दिखाई देता है उसके रंग वही-के-वही होते हैं या प्रतियोगी होते हैं, यह शंका उसी समय उठी होती तो कितना अच्छा होता !

इन्द्र-धनुष तो गया, परन्तु उसकी खुशबू मन में कायम रही। उसकी गूंज सारे दिन सुनाई पड़ती रही। उसका स्पर्श दीर्घकाल तक आह्लाद देता रहा। उसका संगीत दिमाग में गूंजता रहा और उसका माधुर्य प्रत्येक स्मरण को रसपूर्ण बनाता रहा।

चाहे जिस इन्द्रिय के द्वारा अनुभव किया हुआ आनन्द हो, जिस प्रकार वह एक ही आनन्द का अवतार होता है, उसी प्रकार, यदि हृदय की उत्कटता से किसी एक-आध आनन्द का अनुभव किया गया हो तो उसके अनेक अवतार, एक के बाद एक भिन्न-भिन्न इन्द्रियों को जाग्रत करते हैं और तृप्त करते हैं। इस प्रकार वे सिद्ध करते हैं कि हमारी सब इन्द्रियां एक ही आनंद की भिन्न-भिन्न कुंजियां हैं।

इन्द्र-धनुष बालक से लेकर वृद्ध तक प्रत्येक को आनन्द देता है। मनुष्य की जैसी और जितनी उम्र होगी उसके अनुसार ही उसे आनन्द मिलेगा। पकी हुई उम्र का आनन्द भी पका हुआ होता है, परन्तु यहां पके हुए का अर्थ बासी या चीमड़ नहीं बल्कि गहरा, उत्कट और बहुविध है।

हम मानते हैं कि पृथक्करण विश्लेषण अथवा एनालिसेस बुद्धि का वैज्ञानिक व्यापार है, इसलिए उसमें

समाधान अधिक होता है, आनन्द कम। इसी प्रकार संगठन, संश्लेषण अथवा सिंथेसिस सर्जनात्मक है इसलिए वह आनन्ददायक होता है। परन्तु सूर्य-किरणों की बात इससे उलटी ही है। सच पूछा जाय तो, इन्द्र-धनुष का परम आह्लाद, उसकी कोमलता, उसकी ताजगी और उसके कारण हृदय में उत्पन्न होनेवाली गुदगुदी है; और वह तो सूर्य-किरणों के विश्लेषण से ही पैदा होती है। और जब हमें पता चलता है कि आकाश के असंख्य तारों के सूक्ष्म किरणों का पृथक्करण करने से प्रत्येक का इन्द्र-धनुष भिन्न-भिन्न प्रमाण का और भिन्न-भिन्न रंगों का होता है, और जब हमें बताया जाता है कि ये भांति-भांति के रंग अपने-अपने तारे में चांदी, तांबा, लोहा, सोना आदि जलती हुई धातुओं के कारण पैदा होते हैं, तो हमारी कल्पनाशक्ति दंग रह जाती है! "विज्ञान काव्य को मार डालता है," कहनेवाले जानते नहीं कि विज्ञान के पास अपना कितना अद्भुत काव्य मौजूद है।

आज इन्द्र-धनुष को देखते हुए मन में विचार उठा कि इन्द्र-धनुष देखने से मुझे जो आनंद मिलता है, क्या वैसा ही या किसी अन्य प्रकार का आनन्द इस इन्द्र-धनुष को भी होता होगा? मन में कुछ विचार-मंथन हुआ और तुरन्त उत्तर निकल पड़ा—"क्यों नहीं?" मैं समझ गया कि यह उत्तर आस्तिकता की ओर से मिला है; और इसे प्रश्न-रूप देकर आस्तिकता अधिक मजबूत हुई है।[1]

१. 'उड़ते फूल' से

वर्षा-गान

कालिदास का एक श्लोक मुझे बहुत ही प्रिय है। उर्वशी के अंतर्धान होने पर वियोग-विह्वल राजा पुरुरवा वर्षा-ऋतु के प्रारम्भ में आकाश की ओर देखता है। उसको भ्रान्ति हो जाती है कि एक राक्षस उर्वशी का अपहरण कर रहा है। कवि ने इस भ्रम का वर्णन नहीं किया; किन्तु वह भ्रम महज भ्रम ही है, इस बात को पहचानने के बाद, उस भ्रम की जड़ में असली स्थिति कौन-सी थी, उसका वर्णन किया है। पुरुरवा कहता है—"आकाश में जो भीमकाय काला-कलूटा दिखाई देता है, वह कोई उन्मत्त राक्षस नहीं; किन्तु वर्षा के पानी से लबालब भरा हुआ एक बादल ही है। और यह जो सामने दिखाई देता है वह उस राक्षस का धनुष नहीं, प्रकृति का इन्द्र धनुष ही है। यह जो बौछार है, वह बाणों की वर्षा नहीं, अपितु जल की धाराएं हैं और बीच में यह जो अपने तेज से चमकती हुई नजर आती है, वह मेरी प्रिया उर्वशी नहीं, किन्तु कसौटी के पत्थर पर सोने की लकीर के समान विद्युल्लता है।"

कल्पना की उड़ान के साथ आकाश में उड़ना तो कवियों का स्वभाव ही है। किन्तु आकाश में स्वच्छन्द विहार करने के बाद पंछी जब नीचे अपने घोंसले में आकर इत्मीनान के साथ बैठता है, तब उसकी उस अनुभूति की मधुरिमा कुछ और ही होती है। दुनिया-भर के अनेकानेक प्रदेश घूमकर स्वदेश लौटने के बाद मन को जो अनेक प्रकार का सन्तोष मिलता है, स्थैर्य का जो लाभ होता है और निश्चिन्तता का जो आनन्द मिलता है, वह एक चिरप्रवासी ही बता सकता है। मुझे इस बात का भी संतोष है कि कल्पना की उड़ान के बाद जल धाराओं के समान नीचे उतरने का संतोष व्यक्त करने के लिए कालिदास ने वर्षा-ऋतु को ही पसन्द किया।

○

आजकल जैसे यात्रा के साधन जब नहीं थे और प्रकृति को परास्त करके उस पर विजय पाने का आनन्द भी मनुष्य नहीं मानते थे, तब लोग जाड़े के आखिर में यात्रा को निकल पड़ते थे और देश-देशान्तर की संस्कृतियों का निरीक्षण करके और सभी प्रकार के पुरुषार्थ साधकर वर्षा ऋतु के पहले ही घर लौट आते थे।

उस युग में संस्कृति-समन्वय का 'मिशन' अपने हृदय पर वहन करनेवाले रास्ते अनेक खण्डों को एक-दूसरे से मिलाते थे। जीवन-प्रवाह को परास्त करनेवाले पुलों की संख्या बहुत कम थी, जो थे वे सेतु ही थे। उन सेतुओं का काम था, जीवन-प्रवाह को रोक लेना और मनुष्यों के लिए रास्ता कर देना। लेकिन जब जीवन को यह बंधन असह्य-सा मालूम होने लगता था तब सेतुओं को तोड़ डालना और पानी के बहाव के लिए रास्ता मुक्त कर देना प्रवाह का काम होता था। यह था पुराना क्रम। यही कारण था कि नदी-नालों का बढ़ा हुआ पानी रास्तों और सेतुओं को तोड़े, उसके पहले ही मुसाफिर अपने-अपने घर लौट आते थे। इसलिए वर्षा ऋतु को वर्ष की 'महिमामयी ऋतु' माना है।

असल में 'वर्ष' नाम ही वर्षा से पड़ा है। "हमने कुछ नहीं तो पचास बरसातें देखी हैं।" इन शब्दों से ही हमारे बुजुर्ग प्राय: अपने अनुभवों का दम भरते हैं।

○

बचपन से ही वर्षा ऋतु के प्रति मुझे असाधारण आकर्षण रहा है। गरमी के दिनों में ठण्डे-ठण्डे ओले बरसानेवाली वर्षा सबको प्रिय होती है। लेकिन बादलों के ढेरों से लदी हुई हवाएं जब बहने लगती हैं, बिजलियां कड़कती हैं, और यह महसूस होने लगता है कि अब आकाश तड़ककर नीचे गिर पड़ेगा, तब की वर्षा की चढ़ाई मुझे बचपन से ही अत्यन्त प्रिय है। वर्षा के इस आनन्द से हृदय आकण्ठ भरा हुआ होने पर भी उसे वाणी के द्वारा व्यक्त न कर पाऊंगा और व्यक्त करने जाऊंगा तो भी उसकी तरफ हमदर्दी से कोई ध्यान न देगा, इस खयाल से मेरा दम घुटता था।

○

आसपास की टेकरियों पर से हनुमान के समान आकाश में दौड़नेवाले बादल जब आकाश को घेर लेते थे, तब उसे देखकर मेरा सीना मानो भार से दब जाता था। लेकिन सीने पर का यह बोझ भी सुखद मालूम होता था। देखते-देखते विशाल आकाश संकुचित हो गया, दिशाएं भी दौड़ती-दौड़ती पास आकर खड़ी हो गईं और आसपास की सृष्टि ने एक छोटे से घोंसले का रूप धारण किया। इस अनुभूति से मुझे वह खुशी होती थी जो पक्षी अपने घोंसले का आश्रय लेने पर अनुभव करता है।

लेकिन जब हम कारवार गये और पहली बार ही समुद्र-तट पर की वर्षा का मैंने अनुभव किया, तब के आनन्द की तुलना तो नई सृष्टि में पहुंचने के आनन्द के साथ ही हो सकती है।

○

बरसात की बौछारों को मैंने जमीन को पीटते बचपन से देखा था। लेकिन उसी वर्षा को मानों बेंत से समुद्र को पीटते देखकर और समुद्र पर उसके सांट उठे देखकर इतने बड़े समुद्र के बारे में भी मेरा दिल दया और सहानुभूति से भर जाता था। बादल और बर्षा की धाराएं जब भीड़ करके आकाश की हस्ती को मिटाना चाहती थीं तो उसका मुझे विशेष कुछ नहीं लगता था, क्योंकि बचपन से ही मैं इसका अनुभव करता आया था। लेकिन वर्षा की धाराएं और उनके सहायक बादल जब समुद्र को काटने लगते थे तब मैं बेचैन हो जाता था। रोना नहीं आता था, लेकिन जो कुछ अनुभव करता था उसे व्यक्त करने के लिए "फूट-फूटकर'

यह शब्द काम में लेने की इच्छा होती है। वर्षा चाहे तो पहाड़ों पर धावा बोल सकती है, चाहे खेतों को तालाब और रास्तों को नाले बना सकती है; लेकिन समुद्र को अपनी दरी समेटने के लिए बाध्य करना मर्यादा का अतिक्रमण-सा मालूम होता था। अवज्ञा के इस दृश्य को देखने में भी मुझे कुछ अनुचित-सा प्रतीत होता था।

○

अपनी यह वेदना मैंने भूगोल विज्ञान से दूर की। मैं समझने लगा कि सूर्यनारायण समुद्र से लगान लेते हैं और इसलिए तप्त हवा में पानी भी छिपकर बैठती है। यही नमी भाप के रूप में ऊपर जाकर ठण्डी हुई कि उसके बादल बन जाते हैं, और अन्त में इन्हीं बादलों से कृतज्ञता की धाराएं बहने लगती हैं, और समुद्र को फिर से मिलती हैं।

गीता में कहा गया है कि यह जीवन चक्र प्रवर्तित है इसलिए जीवसृष्टि भी कायम है। इसी जीवन चक्र को गीता ने 'यज्ञ' कहा है। यह यज्ञ-चक्र यदि न होता तो सृष्टि का बोझ भगवान के लिए भी असाह्य हो जाता। यज्ञ-चक्र के मानी ही हैं परम्परावलम्बन द्वारा सधा हुआ स्वाश्रय। पहाड़ों पर से नदियों का बहना, उनके द्वारा समुद्र का भर जाना, फिर समुद्र के द्वारा हवा का आर्द्र होना; सुखी हवा के तृप्त होते ही उसका अपनी समृद्धि को बादलों के रूप में प्रवाहित करना और फिर उनका अपने जीवन का अवतार-कृत्य प्रारम्भ करना—इस भव्य रचना का ज्ञान होने पर जो संतोष हुआ, वह इस विशाल पृथ्वी से तनिक भी कम नहीं था।

तब से हर बारिश मेरे लिए जीवन-धर्म की पुनर्दीक्षा बन चुकी है।

○

वर्षा ऋतु इस तरह सृष्टि का रूप बदल देती है, उसी तरह मेरे हृदय पर भी एक नया मुलम्मा चढ़ाती है। वर्षा के बाद मैं नया आदमी बनता हूं। दूसरों के हृदय पर वसन्त-ऋतु का जो असर होना है, वह असर मुझ पर वर्षा से होता है। (यह लिखते-लिखते स्मरण हुआ कि साबरमती जेल में था तब वर्षा के अन्त में कोकिला को गाते हुए सुनकर वर्षान्ते शीर्षक से एक लेख मैंने गुजराती में लिखा था।)

⊙

गर्मी की ऋतु भूमाता की तपस्या है। जमीन के फटने तक पृथ्वी गर्मी की तपस्या करती है और आकाश से जीवन दान की प्रार्थना करती है। वैदिक ऋषियों ने आकाश को 'पिता' और पृथ्वी को 'माता' कहा है। पृथ्वी की तपश्चर्या को देखकर आकाश पिता का दिल पिघलता है। वह उसे कृतार्थ करता है। पृथ्वी बालतृणों से सिहर उठती है और लक्षावधि जीवसृष्टि चारों ओर कूदने-विचरने लगती है। पहले से ही सृष्टि के इस आविर्भाव के साथ मेरा हृदय एकरूप होता है। दीमक के पंख फूटते हैं और दूसरे दिन सुबह होने से पहले ही सबकी सब मर जाती हैं। उनके जमीन पर बिखरे हुए पंख देखकर मुझे कुरुक्षेत्र याद आता है। मखमल के कीड़े जमीन से पैदा होकर अपने लाल रंग की दोहरी शोभा दिखाकर लुप्त हुए कि मुझे उनकी जीवन-श्रद्धा का कौतुक होता है। फूलों की विविधता को लजानेवाले तितलियों के परों को देखकर में प्रकृति से कला की दीक्षा लेता हूं। प्रेमल लताएं जमीन पर विचरने लगीं, पेड़ पर चढ़ने लगीं और कुएं की थाह लेने लगीं कि मेरा मन भी उनके जैसा ही कोमल और 'लागृती' (लगौहां) बन जाता है, इसलिए बरसात में जिस तरह बाह्य सृष्टि में जीवन समृद्धि दिखाई देती है, उसी तरह की हृदय-समृद्धि मुझे भी मिलती है। और बारिश शेष होकर आकाश के स्वच्छ होने तक मुझे एक प्रकार की हृदय-सिद्धि का भी लाभ होता है। यही

कारण है कि मेरे लिए वर्षा ऋतु सब ऋतुओं में उत्तम ऋतु है। इन चार महीनों में आकाश के देव भले ही सो जाएं, मेरा हृदय तो सतर्क होकर जीता है, जागता है और इन चार महीनों के साथ मैं तन्मय हो जाता हूं।

'मधुरेणं समापयेत्' के न्याय से वसन्त ऋतु का अन्त में वर्णन करने के लिए कालिदास ने 'ऋतु-संहार' का प्रारम्भ ग्रीष्म ऋतु से किया। मैं यदि 'ऋतुम्यः' की दीक्षा लूं और अपनी जीवन निष्ठा व्यक्त करने लगूं, तो वर्षा ऋतु से एक प्रकार से प्रारम्भ करके फिर और ढंग से वर्षा ऋतु में ही समाप्ति करूंगा।[1]

१. 'जीवन-लीला' पुस्तक से

उंचल्ली का प्रपात

जोग के बिलकुल ही सूखे प्रपात के इस बार के दर्शन का गम हलका करने के लिए दूसरा एकाध भव्य और प्रसन्न दृश्य देखने की आवश्यकता थी ही। कारबार जिले के सर्व संग्रह—गजेटियर—के पन्ने उलटते-उलटते पता चला कि जोग से थोड़ा ही घटिया उंचल्ली नामक एक सुन्दर प्रपात सिरसी से बहुत दूर नहीं है। लशिंगटन नामक एक अंग्रेज ने सन् १८४५ में खोज की थी, मानो उसके पहले किसी ने इसे देखा ही न हो! अंग्रेजों की आंखों पर वह चढ़ा कि दुनिया में उसकी शोहरत हो गयी!

यह उंचल्ली कहां है? वहां किस ओर से जाया जा सकता है? हम कैसे जायं? हमारे कार्यक्रम में वह बैठ सकता है या नहीं? आदि पूछताछ मैंने शुरू कर दी। श्री शंकरराव गुलवाडीजी ने देखा की अब उंचल्ली का कार्यक्रम तय किये बिना शांति या स्वास्थ्य मिलने वाला नहीं है। वे खुद भी मुझसे कम उत्साही नहीं थे। उन्होंने बताया कि जब बिजली पैदा करने की दृष्टि से कारवार जिले के प्रपातों की जांच-सर्वे की गई थी, तब इंजीनियर लोगों ने उंचल्ली के प्रपात को प्रथम स्थान पर रखा था; और गिर सप्पा यानी जोग के प्रपात को दूसरे स्थान पर; मागोड़ा को तीसरा और सूपा के नजदीक के स्थान को चौथा स्थान दिया था।

समुद्र के साथ कारवार जिले की दोस्ती जोड़नेवाली मुख्य चार नदियां हैं—काली नदी, गंगावली, अघनाशिनी और शरावती। इनमें से शरावती या बाल नदी होन्नावर के पास समुद्र से मिलती है। दस साल पहले जब हमने जोग का प्रपात दूसरी बार देखा था, तब इस शरावती नदी पर नाव में बैठ कर होन्नावर से हम ऊपर की ओर गये थे। शरावती का किनारा तो मानो वनश्री का साम्राज्य है।

अबकी बार जब हम हुबली से अकोला और कारवार गये तब आरवेल घाटी में से 'नाग मोड़ी' रास्ता निकालनेवाली गंगावली को देखा था। और अंकोला से गोकर्ण जाते समय उसके पृष्ठ भाग पर नौका क्रीड़ा भी की थी। काली नदी के दर्शन तो मैंने बचपन में ही कारवार में किये थे। पचास साल पहले के ये संस्मरण दस साल पहले ताजे भी किये थे और अबकी बार भी कारवार पहुंचते ही काली नदी के दो बार दर्शन किये। किन्तु इतने से सन्तोष न होने के कारण कारवार से हलगा तक की दस मील तक की यात्रा-आना-जाना-नाव में की।

चौथी है अघनाशिनी। उसका नाम ही कितना पावन । गोकर्ण के दक्षिण की ओर तदड़ी बंदर के पास वह टेढ़ी-मेढ़ी होकर खूब फैलती है। किन्तु समुद्र तक पहुंचने के लिये उसको जो रास्ता मिलता है वह

बिलकुल छोटा है। यह अघनाशिनी जहां समुद्र से मिलने के लिये उतावली होकर सह्याद्रि के पहाड़ पर से नीचे कूदती है, वही स्थान उंचल्ली प्रपात के नाम से पहचाना जाता है।

हमने सिद्धापुर से शिरसी का रास्ता लिया। किन्तु शिरसी तक जाने के बदले एक रास्ता पश्चिम की ओर फूटता था, उससे हम नीलकुंद पहुंचे। वहां श्री गोपाल माडगांवकर के चाचा रहते थे। वे बड़े प्रतिष्ठित जमींदार थे। उनके आतिथ्य का स्वीकार करके हम उंचल्ली की खोज में निकल पड़े। नीलकुंद से होस-तोट (नया बगीचा) जाना था। फौजी जीप का प्रबन्ध होने से जंगल का रास्ता कैसे तय करेंगे, यह चिंता करीब-करीब मिट गयी थी। होस-तोट से होन्ने कोंब (सोने का सींग) की ओरका रास्ता हमें लेना था। किंतु इस रास्ते से मोटर तो क्या, बैलगाड़ी या पालकी भी नहीं जा सकती थी। इसे तो बाघ का रास्ता कहना चाहिये। मनुष्य भी बाघ के जैसा बनकर ही ऐसे रास्ते से जा सकता है। हमने अपनी जीप को आराम करने के लिये एक पेड़ की छांह में छोड़ दिया और 'अथाऽतो प्रपात-जिज्ञासा' कहकर जंगल में रास्ता तय करना शुरू किया। होस तोट से एक स्थानिक नौजवान हाथ में एक बड़ा 'कोयता' लेकर हमें रास्ता दिखाने के लिये हमारे आगे चला। इस बेचारे को धीरे चलने की आदत नहीं थी, न सृष्टि-सौंदर्य निहारने की लत ! वह तो आगे ही आगे चलने लगा। हमें उसका बहुत ही कम लाभ मिला। हम कुछ आगे गये। ऊपर चढ़े, नीचे उतरे, फिर चढ़े और फिर उतरे। इतने में जंगल घना होने लगा। थोड़े समय के बाद वहीं घनघोर हो गया।

सो स्टीप दि पाथ, दि फूट वाज फेन,
एसिस्टैन्स फ्रॉम दि हैण्ड टु गेन।

हमारी मुख्य कठिनाई तो पगडंडी की थी। वहां सूखे पत्ते इतने जमा हो गये थे कि पांव न फिसले तो ही गनीमत समझिये ! मेहरबानी मालिक की कि इन पत्तों में से सरसराता हुआ कोई सांप न निकला। वरना हमारी उंचल्ली वहीं की वहीं रह जाती। जहां सख्त उतार होता था वहां लाठी से पत्तों को हटाकर देखना पड़ता था कि कोई मजबूत पत्थर या किसी दरख्त की एकाध चीमड़ जड़ है या नहीं।

दोपहर के बारह का समय था। किन्तु पेड़ों की 'स्निग्ध-छाया' के अन्दर धूप आये तभी न ? चलकर यदि गरम न हो गये होते तो सर्दी ही लगती। जरा आगे बढ़ते और एक-दूसरे से पूछते, "हमने कितना रास्ता तय किया होगा ? अब कितना बाकी होगा ?" सभी अज्ञान ! किन्तु सिद्धापुर से एक आयुर्वेदिक डॉक्टर कैमरा लेकर हमारे साथ आये थे ! ये सज्जन एक साल पहले दूसरे किसी रास्ते से उंचल्ली गये थे। अपने पुराने अनुभव के आधार पर वे रास्ते का अंदाज हमें बताते थे। बीच-बीच में तो हमारा यह नाम मात्र का रास्ता भी बन्द हो जाता था। आगे अंदाज से ही चलना पड़ता था। किन्तु सच्ची मुसीबत रास्ता बन्द हो जाने पर नहीं, बल्कि तब होती है जब एक पगडंडी फूटकर दो पगडंडियां बन जाती हैं। जब सही रास्ता दिखाने वाला कोई नहीं होता और अंधा अंदाज करनेवाले एक साथी की राय से दूसरे का अंधा अंदाज मेल नहीं खाता, तब 'यद भावि तद् भवतु'—जो होने वाला होगा सो होगा—कहकर किस्मत के भरोसे किसी एक पगडंडी को पकड़ लेना पड़ता है।

किसी ने कहा कि दूर से प्रपात की आवाज सुनाई देती है। मेरे कान बहुत तीक्ष्ण नहीं हैं। एक ने तो कभी का इस्तीफा दे दिया है और दूसरा काम-भर की बात सुनता है। किन्तु अपनी कल्पना शक्ति के बारे में मैं ऐसा नहीं कहूंगा। मैंने कान और कल्पना, दोनों के सहारे सुनने की कोशिश की। किन्तु जिसे प्रपात की आवाज कहें वैसी कोई आवाज सुनाई न दी। कहीं मधु मक्खियां भनभनाती होतीं तो भी मैं कहता, "हां-हां, प्रपात की आवाज सचमुच सुनाई देती है।" कठिन यात्रा में साथियों के साथ झट सहमत हो जाने के यात्रा-धर्म में मेरा पूर्ण विश्वास है। किन्तु यहां मैं लाचार था।

एक ओर यदि जंगल की भीषण सुन्दरता का मैं रसास्वादन कर रहा था, तो दूसरी ओर चि० सरोज के कितने बेहाल हो रहे होंगे इस चिन्ता से उसकी ओर देखता था। जब सरोज ने कहा, "जंगल की ऐसी यात्रा के अंत में अगर कोई प्रपात देखने को न मिले तो भी कहना होगा कि यहां आना सार्थक ही हुआ है। कैसा मजे का जंगल है! ये बड़े-बड़े पेड़, उन्हें एक-दूसरे से बांधनेवाली ये लतायें—सब सुन्दर हैं।" तब मुझे बहुत संतोष हुआ।

आगे जब रास्ता लगभग असंभव-सा मालूम हुआ, और एक हाथ में लकड़ी तथा दूसरे से किसी का कंधा पकड़कर उतरना भी सन्देहप्रद प्रतीत हुआ, तब भी सरोज कहने लगी, "मेरा उत्साह कम नहीं हुआ है। किन्तु दूसरों को अड़चन में डाल रही हूं, इस खयाल से ही हताश हो रही हूं। यह उतार लौटते समय चढ़ना होगा—इसका भी खयाल रखना है।"

मैंने कहा, "एक बार उंचल्ली के दर्शन करने के बाद किसी-न-किसी तरह वापस तो लौटना होगा ही। किन्तु हम पूरा आराम लेकर ही लौटेंगे। यहां तक तो आ ही गये हैं, और प्रपात की आवाज भी सुनाई दे रही है। इसलिए अब तो आगे बढ़ना ही चाहिए।"

हमारे मार्ग-दर्शक ने नीचे जाकर आवाज दी। डाक्टर ने कहा, "शायद उसने पानी देखा होगा।" हमारा उत्साह बढ़ा। हम फिर उतरे। आगे बढ़े। फिर दाहिनी ओर मुड़े और आखिर जिसके लिए आंखें तरस रही थीं उस प्रपात का सिर नजर आया।

एक तंग घाटी के इस ओर हम खड़े थे और सामने अघनाशिनी का पानी, जिसे सुबह जीप की यात्रा के दरम्यान हमने तीन-चार बार लांघा था, यहां एक बड़े पत्थर के तिरछे पट पर से नीचे पहुंचने की तैयारी कर रहा था। गीत जिस प्रकार तम्बूरे के ताल के साथ ही सुना जाता है उसी प्रकार प्रपात के दर्शन भी नगारे के समान घब-घब आवाज के साथ ही किये जाते हैं।

उंचल्ली के प्रपात जोग का राजा की तरह एक ही छलांग में नीचे नहीं पहुंचता है। सुबह की पतली नींद के हरेक अंश का जिस प्रकार हम अर्ध-जाग्रत स्थिति में अनुभव लेते हैं, उसी प्रकार अघनाशिनी का पानी एक-एक सीढ़ी से कूदकर सफेद रंग का अनेक आकारों का परदा बनाता है। इतने शुभ्र पानी में संसार का काले से काला 'अघ'—पाप भी सहज ही धुल सकता है।

जिस प्रकार धान पछोरने पर सूप के दाने नाचते-कूदते दाहिनी ओर के कोने पर दौड़ते आते हैं, और साथ-साथ आगे भी बढ़ते हैं, उसी प्रकार यहां का पानी पहाड़ के पत्थर पर से उतरते समय तिरछा भी दौड़ता है और फेन के वलय बनाकर नीचे भी कूदता है। पानी एक जगह अवतीर्ण हुआ कि वह फौरन घूमकर अंग-रखे के घेर की तरह या धोती के घुमाव की तरह फैलने लगता है और अनुकूल दिशा ढूंढ़कर फिर नीचे कूदता है।

अब तो बिना यह जाने कि यह पानी इस प्रकार कितने नखरे करनेवाला और अंत में कहां तक पहुंचने वाला है, संतोष मिलनेवाला न था। हममें से चंद लोग बढ़े। फिर उतरे। और भी उतरे। पेड़ की लचीली डालियों को पकड़कर उतरे। ऐसा करते-करते पूरे प्रपात का अखंड साक्षात्कार करानेवाले एक बड़े पत्थर पर हम जा पहुंचे। उसपर खड़े होकर सामने की बड़ी ऊंची चट्टान से गिरते हुए पानी का पदक्रम देखना जीवन का अनोखा आनन्द था। हम टकटकी लगाकर पानी को देखते थे।

मगर हम लोगों को देखने के लिए पानी के पास फुरसत न थी। वह अपनी मस्ती में चूर था। कपूर के चूर्ण में शुभ्र रंग का जो उत्कर्ष होता है, वही इस जीवनावतार में था।

भगवान सूर्यनारायण माथे पर से हमें अपने आशीर्वाद देते थे। पसीने के रेले हमारे गालों पर से चाहे उतने उतरें, सामने के प्रपात के आगे वे किसी का ध्यान थोड़े ही खींच सकते थे। सूर्यनारायण के आशीर्वाद झेलने की जैसी शक्ति उंचळ्ळी के प्रपात में थी, वैसी मुझमें न थी। पानी चमककर सफेद रेशम या साटिन की शोभा दिखाने लगा—ए मूविंग टेपेस्ट्री ऑव ह्वाइट सैटिन एण्ड सिल्वर फिलिग्री।

कटक में चांदी के बारीक तार खींचकर उसके अत्यंत नाजुक और अत्यन्त मोहक फूल, कमल, करंड आदि अनेक प्रकार की चीजें मैंने उड़ीसा में मन भरकर देखी हैं और कहा है, इन गहनों ने बेशक कटक का नाम सार्थक किया है।

प्रकृति के हाथों से बननेवाले और क्षण-क्षण में बदलनेवाले चांदी के सुन्दर और सजीव गहने यहां फिर से देखकर कटक का स्मरण हो आया। सोने के ढक्कन से सत्य का रूप शायद ढक जाता होगा, किन्तु चांदी के सजीव तार-काम से प्रकृति का सत्य अद्भुत ढंग से प्रकट होता था। "अब इस सत्य का क्या करूं ? किस तरह उसे पी लूं ? उसे कहां रखूं ? किस तरह उठाकर ले चलूं ?" ऐसी मधुर परेशानी मैं महसूस कर रहा था, इतने में पुरानी आदत के कारण, अनायास, कंठ से ईशावास्य का मंत्र जोरों से गूंजने लगा। हां, सच-मुच इस जगत को उसके ईश से ढंकना ही चाहिए—जिस तरह सामने का तिरछा पत्थर पानी के परदे से ढंक जाता है और वह परदा चैतन्य की चमक से छा जाता है। जो-जो दिखाई देता है—फिर वह चाहे चर्म चक्षु की दृष्टि हो या कल्पना की दृष्टि हो—सबको आत्मत्व से ढंक देना चाहिए। तभी अलिप्त भाव से अखंड जीवन का आनन्द अन्त तक पाया जा सकता है। मनुष्य के लिए दूसरा कोई रास्ता नहीं है।

दृष्टि नीचे गई। वहां एक शीतल कुंड अपनी हरी नीलिमा में प्रपात का पानी झेलता था और यह जानने के कारण कि परिग्रह अच्छा नहीं है, थोड़ी ही देर में एक सुन्दर प्रवाह में उस सारी जलराशि को बहा देता था। अघनाशिनी अपने टेढ़े-मेढ़े प्रवाह के द्वारा आसपास की सारी भूमि को पावन करने का और मानव-जाती के टेढ़े-मेढ़े (जुहुराण) पाप (एनस्) को धो डालने का अपना व्रत अविरत चलाती थी। मैंने अन्त में उसीसे प्रार्थना की :

युयोधि अस्मत् जुहुराणम् एनः
यूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम।

हे अघनाशिनी ! हमारा टेढ़ा-मेढ़ा कुटिल पाप नष्ट कर दे। हम तेरे लिए अनेकों नमस्कार के वचन रचेंगे।[1]

जून १९४७

१. 'जीवनलीला' से

'दिवसा आद्यन्त-रमणीया'

ये गर्मी के दिन हैं। दिन-पर-दिन गर्मी जोरों से बढ़ रही है। लेकिन गर्म हवा की लू अभी तक शुरू नहीं हुई है। महीन-रेती की आंधी भी नहीं है। इसलिए आजकल के दिन सुहावने मालूम होते हैं। हमारे प्राचीन कवियों ने ग्रीष्म का वर्णन उत्साह से किया है। सौंदर्य-रसिकों के सम्राट् कालिदास ने अपने ऋतुसंहार में छः ऋतुओं का वर्णन करते हुए ग्रीष्म से ही प्रारम्भ किया है। मालूम होता है 'मधुरेणा समापयेत्' वाले

न्याय का आश्रय करके वसंत ऋतु के वर्णन से उन्हें अपना कार्य पूरा करना था। इसलिए ग्रीष्म से प्रारम्भ किया होगा।

मैंने जब 'मध्याह्न का काव्य' वाला लेख लिखा और ग्रीष्म के सौंदर्य को अंजलि अर्पण की तब मेरे मन में हमारी सनातन राष्ट्रीय प्रेरणा ही काम करती थी। 'शाकुन्तल' के प्रारम्भ में ही कालिदास ने ग्रीष्मावतार का वर्णन दिया है। स्वच्छ, प्रसन्न, ठंडे जल में नहाते रहने का आनन्द होता है। सुगन्धी फूलों पर से आती बयार की महक सुख देती। दोपहर को घने वृक्ष की गहरी छाया में जरा लेटते ही तुरन्त सुखकर निद्रा आती है और सारे दिन का ताप खत्म होने पर दिवस की आखिरी घड़ियां इतनी तो रमणीय होती हैं कि एक दिन का आनन्द पूरा वसूल होने का समाधान मिलता है।

कुदरत की रचना ही ऐसी है कि धूप जितनी तेज उतनी ही भारतीय फूलों की सुगन्ध उत्कट। आम्र-मंजरी, रात की रानी, गुलछड़ी, चम्पक आदि सुगंधी फूलों का उन्माद धूप से ही बढ़ता है और स्वच्छ आकाश भी अनन्त तारों के द्वारा आंखें खोलकर यह सारा साध्य सौंदर्य पीने लगता है।

मैं यहां बड़े तड़के लिख रहा हूं, इतने में चि० सरोज आकर कहती है, "आपका कालिदास कभी सुबह जल्दी उठकर प्रकृति का सौन्दर्य नहीं देखता होगा। ये पुराने विलासी कवि रात का दिन करके देरी से सोते होंगे। इसलिए उषाकाल का सात्विक और रमणीय आनन्द उन्हें देखने को नहीं मिलता होता। बात सही है कि 'दिवसाः परिणाम-रमणीयाः' होते हैं; लेकिन ग्रीष्मकाल में अगर कवि ब्रह्म मुहूर्त को उठकर आकाश के तारों का और उषाकाल के आगमन का दर्शन करते जो जरूर कहते :

दिवसाः प्रारम्भ-रमणीयाः।

सच है, मैंने किसी समय ग्रीष्म के प्रारम्भ के दिन हरिद्वार में व्यतीत किये थे। हरि की पैड़ी के पास विशाल घाट पर घूमते या नदी के प्रवाह में पांव छोड़कर ध्यान करते ब्रह्म-मुहूर्त के जितने क्षण मैंने वहां व्यतीत किये थे, उनका सात्विक आनन्द मैं कभी भूल नहीं सकता !

इसी तरह जब गर्मी के प्रारम्भ में ही पूना के पास सिंहगढ़ जाकर रहा था और सुबह चार बजे उठकर पूरब की ओर देखता था कि एक पहाड़ी के पीछे दूसरी पहाड़ी उसके पीछे तीसरी पहाड़ी ऐसे सात परदों के पीछे से उषारानी का आगमन हो रहा है तब उसकी धन्यता सारे दिन हृदय में भरी रहती।

प्रकृति माता ने गर्मी के दिनों में जिस तरह फूलों की और मंजरियों की सुगन्धी बढ़ाने का कार्यक्रम बनाया है, उसी तरह अमृतफल देने के लिए भी यही ऋतु पसन्द की है। भारत का राष्ट्रीयफल तो आम ही है। कच्चे छोटे-छोटे आम की चटनी बनाकर हम ग्रीष्म ऋतु का प्रारम्भ करते हैं और पके हुए आम के स्वादिष्ट-तम इसके साथ ग्रीष्म की विदाई लेते हैं।

ऐसे रमणीय ऋतु के असर में आकर तार्किक लोग भी दलील कर सकते हैं कि 'आदौ चान्ते च यद् रम्यं, मध्यभागेऽपि तत् तथा' जिसका प्रारम्भ रमणीय है, और परिणाम भी रमणीय हो ही सकता है। उसका आनंद लेने की दृष्टि, वृत्ति और संवेदना शक्ति होनी चाहिए। 'मध्याह्न का काव्य' इसी वृत्ति से मैंने लिखा था और सन्तोष की बात यह है कि भिन्न-भिन्न प्रदेशों के अनेक स्नेहियों को वह पूरा-पूरा प्रत्यय दे सकी।[1]

१. 'उड़ते फूल' से

छूटे हुए स्वच्छंद पत्ते[1]

पतझड़, फतझार या खिजा आदि अलग-अलग नामों से पहचानी जानेवाली हेमन्त ऋतु किसका ध्यान आकर्षित नहीं करती ? जवानी जब बुढ़ापे को देखकर हंसती है तब बुढ़ापा उसे जवाब देता है, "पीपल पान खरंतां हंसती कूंपलियां, मुज वीती तुज वीतशे धीरी बापुडियां"— झड़ते हुए पीपल के पत्तों को देखकर नई उगने वाली कोंपले हंसने लगीं, तब वे शुष्क पर्ण कहने लगे, "यारो धीरज रखो। जो हमारी गत हुई है, वही वक्त आने पर, तुम्हारी भी होने वाली है।"

पतझड़ ऋतु आने पर जिस प्रकार पत्ते झड़ने लगने लगते हैं, उसी प्रकार पेड़ सूखने लगता है। उस समय भी पत्ते झड़ने लगते हैं। इसलिए कभी-कभी मन में चिंता होने लगती है कि पेड़ का यह काल आया है या उसका केवल कायापलट हो रहा है ? पतझड़ कहें या सूखना ? कायापलट है या काल है ?

आज अगहन पूनम का दिन है। जेल के हमारे आंगन में नीम का एक ही पेड़ है और आजकल वह लगातार पत्ते गिराता रहता है। सूरज दक्षिणायन होने के कारण पेड़ की दक्षिण बाजू जल्दी साफ हो गई। पवन भी सांप्रत दक्षिण का ही है। चुनांचे वे सारे पत्ते मेरे सामने वाले आंगन में आ गिरते हैं।

यों तो इन पत्तों को गिरते देखकर मन में विषाद का भाव पैदा होना चाहिए। लेकिन वैसा बिल्कुल नहीं होता, उल्टा इन पत्तों को देखते हुए मजा आता है। पत्ते झड़ने लगते हैं तो इतने झड़ते हैं कि मानो आसमान में टिड्डी-दल फैल गया हो। मालूम होता है, इन पत्तों को नीचे उतरने की थोड़ी भी जल्दी नहीं होती। गिरते-गिरते कितने ही गोल-गोल चक्कर काटते रहते हैं। मुझे कोई प्रसन्न हास्य का चित्र उतारने को कहें, तो मैं इन गोल-गोल चक्कर काटते, हंसते,फुदकते और आराम से नीचे गिरते पत्तों का ही चित्र उतारूंगा।

और फिर जमीन पर गिरने के बाद क्या आप मानते हैं, ये पत्ते चुपचाप पड़े रहेंगे ? बिलकुल नहीं। छोटे बच्चे जिस प्रकार दौड़ने का और एक-दूसरे को पकड़ने का खेल खेलते हैं, उसी प्रकार ये पत्ते भी यहां से वहां और वहां से यहां, तो कभी चक्कर काटते गोल-गोल दौड़ते हैं। चारों ओर जेल की दीवार होने के कारण ऊपर से उतरने वाला पवन आंगन में चक्कर काटने लगता है और इससे स्वच्छंद क्रीड़ाप्रिय पर्रों को उसके साथ खेलने का अवसर मिलता है। कभी-कभी जब उत्तर तरफ के दरवाजे में से हवा का झोंका आता है तब कई एक पत्ते हंसते-कूदते मेरी ओर दौड़ आते हैं—'इन बच्चों ने तो नाक में दम कर रखा है,' कहकर जब बाप कुछ अपनी नाराजगी जाहिर करता है तब जिस तरह तुरन्त 'भागो, भागे, पिताजी हमें पकड़ने आते हैं जान लेकर भागो, वरना खैरियत नहीं !' कहते हुए बच्चे मां के पास दौड़ आते हैं और उसके पास फरियाद पेश करते हैं कि 'देखो न मां, पिताजी हमें पकड़ने आते हैं, हमें थोड़ा भी खेलने नहीं देते !' उसे लिपट जाते हैं, वैसे ही ये पत्ते दरवाजे की ओर से मेरी ओर दौड़ आते हों, ऐसा मालूम होता है।

यह दृश्य देखकर पेड़ पर के हरे पत्तों को क्या लगता होगा ? मौत के डर से जड़मूढ़ बने हुए मनुष्य के समान ये पत्ते सोचते नहीं होंगे ? पेड़ से छूटे हुए पत्ते जब हंसते-हंसते और गोल-गोल चक्कर काटते नीचे गिरते हैं, तब जिनकी झड़ने की बारी अब तक नहीं आई उनके लिए दुःखी होने का कारण ही क्या है ? जेल से छूटनेवाले कैदियों को देखकर अन्य कैदियों को अपने साथियों के चले जाने से जैसा लगता होगा, ठीक वैसा ही इन पत्तों को भी होता होगा।

मुझे लगता है कि पत्तों को तो थोड़ी देर बाद पेड़ को फूटनेवाली फुनगियों के लिए झटपट जगह कर

१. 'भारत छोड़ो' आंदोलन के संदर्भ में बंदी-वास की डायरी के कुछ पृष्ठ

देने की ही अधिक जल्दी होती होगी। सांप जिस प्रकार अपनी केंचुली उतारकर फिर से जवान बनता है, उसी प्रकार पुराने पत्ते त्यागकर पेड़ भी वसंत ऋतु का स्वागत करने के लिए फिर से जवान बनने की तैयारी करता होगा, इसलिए यह कहने का दिल नहीं होता कि ये पत्ते टूटते हैं या गिरते हैं। ये पत्ते तो छूट जाते हैं। हाथ में पकड़ रखा हुआ कोई पक्षी जैसे मुट्ठी कुछ ढीली होते ही चकमा देकर उड़ जाता है उसी प्रकार ये पत्ते तेजी से छूट जाते हैं।

गर्मी के ताप से झुलसकर खाकी रंग के बने हुए पत्ते देखकर मेरे मन में प्रसन्न हास्य की कल्पना नहीं आ सकती। लेकिन इन पत्तों का रंग तो कसदार जुवार की कड़वी का-सा सुनहरा होता है। धूप से उनका आकार टेढ़ा-मेढ़ा होता है सही, लेकिन उसे उपमा ही देनी हो तो सेके हुए पापड़ की देनी चाहिए। यह पत्ते गमगीन या मुरझाये हुए बिलकुल नहीं मालूम होते। इसलिए उनकी सर-सर ध्वनि को मुक्त हास्य कहने का मन होता है।

पेड़ पर के पत्तों को क्या लगता होगा, यह सोच रहा था कि 'बॉबी' नाम के एक अंग्रेजी मृग-चरित्र का एक छोटा-सा पर्ण-युगल-संवाद पढ़ने में आया। मरणोत्तर जीवन कैसा होना चाहिए, इसकी कल्पना करने के लिए दो ऋषि आपस में चर्चा करते हों, ऐसा ही संवाद है। लेकिन बुढ़ापे के आसार देखकर पैदा हुई अस्वस्थता छिपाने के लिए 'मैं कुछ उतना विशेष बूढ़ा तो नहीं हुआ हूं।' कहकर अपने मन को ढाढ़स बंधाने वाला और 'ना जी, आपको बूढ़ा कौन कहेगा? आप तो अच्छे मोटे-ताजे हैं और यह जो सफेद नुक्ते सिर पर कहीं-कहीं नजर आते हैं उससे आपका सौन्दर्य और ही खिल उठता है।' कहकर एक-दूसरे को दिलासा देनेवाला मगरीबी लोगों के स्वभाव की कुछ छटा भी इस संवाद में उतरी हुई है। यह संवाद बहुत मजे का है। लेकिन उसे पढ़कर भी इस नाम के पत्तों के सुन्दर खेल से निर्माण हुई प्रसन्नता किसी भी तरह कम न हुई। झड़ने वाले हरे पत्तों के पीछे उसी क्षण फूट निकलनेवाली कूंपलों के अंकुर मुझे अपने मनश्चक्षु के सामने दिखाई देने लगे हैं। ये पत्ते बुढ़ापे के प्रतिनिधि नहीं, किन्तु नवयौवन के अग्रदूत मालूम होते हैं। उनके चेहरे पर किसी प्रकार का विषाद दिखाई नहीं देता। तो फिर देखनेवाले मातमी चेहरा बनाकर इन वेदान्ती पत्तों का अपमान किसलिए करें ?

आज तक सूखे हुए पीले पत्ते ही गिरते थे। लेकिन दो दिन से बारिश की दो-चार बूंदे गिरनी शुरू हो गई हैं। परसों तड़के एक अच्छी बौछार आई और उसके कारण कई एक बिलकुल हरे पत्ते भी हिम्मत हारकार नीचे आये। तिसपर बीच में हवा के जोरदार झोंकों के कारण 'गिरें या न गिरें' का निर्णय न कर सकने वाले पत्तों की ओर से पवन ने अपना कास्टिंग वोट (निर्णायक मत) दिया और वे भी सब नीचे गिर गए।

इस प्रकार असमय हुआ, उनका यह अधःपात देखकर तो मुझे दुःख होना चाहिए था, मगर वैसा भी नहीं हुआ। मेरे मन में हमेशा एक प्रकार की उतावली रहती है। कोई मेहमान आनेवाले हों तो जल्दी क्यों नहीं आते, ऐसी अधीरता का मैं अनुभव करता हूं। मासिकों के अंकों का भी वैसा ही होता है। हमेशा यह लगा हुआ करता है कि अपने निश्चित दिन के पहले वे आयें तो कैसा ? यह हुई एक बाजू। दूसरी तरफ से मन में यह भी हुआ करता है कि "जानेवाले मेहमान तो हैं ही, तो फिर बहुत दिन तक जाने की बातें छेड़कर बेचैन क्यों कर देते हैं ? आखिर जाने ही वाले हैं तो भले जल्दी जायें !" ये पत्ते गिरनेवाले तो हैं ही, तो फिर सबके-सब एक साथ क्यों नहीं गिरते ? पर्णहीन वृक्ष की मुक्त शोभा तो देखने को मिलेगी ! जिस पेड़ पर एक भी पत्ता नहीं रहा और अंगुलियां टेढ़ी-मेढ़ी करके जो पागल के समान खड़ा है और जो आकाश के पर्दे पर सांझी या कालीन के चित्र के समान मालूम हो रहा है, उसकी शोभा कभी आपने ध्यान देकर निहारी है? पर्णहीन टहनियों की जाली सचमुच ही बहुत सुन्दर दिखाई देती है।

ऐसी शोभा देखने के लिए सिर ऊंचा उठाकर पेड़ की ओर देखा तो वहां नग्न-क्षपक्षणक नजर आने के बदले अल्पमात्रा में किन्तु बिलकुल हरे पत्ते नजर आने से बहुत आश्चर्य हुआ। यकीन हुआ कि वसंत का अब प्रारम्भ हो गया है। पेड़ पर एक भी पीला या अधपीला पत्ता नहीं रहा। बूढ़े और नीरस बने हुए पत्ते भी नहीं रहे। पवन से डरने वाले पत्ते भी नहीं रहे। उनके स्थान पर 'हवा का कैसा भी झोंका आए तो हमें उसका डर नहीं है।' ऐसा आत्मविश्वास रखने वाले रूआबदार जवान पत्ते काफी संख्या में नाचते दिखाई देते हैं। उन्हें देखकर उनका अभिनन्दन करने का दिल होता है। हवा में नमी होने के कारण ये पत्ते दो-चार दिन तो निश्चित टिके रहेंगे। लेकिन उसके बाद ? उसके बाद तो सख्त गर्मी पड़ेगी और फिर जोर की हवा चलने लगेगी। उसकी आर्द्रता टहनियों द्वारा पत्तों तक नहीं पहुंच सकेगी और फिर ये सब पत्ते जौहर की तैयारी करके एक ही समय नीचे गिरेंगे। इन सब पत्तों को विदा करने के बाद ही वृक्ष की शाखाओं को नवसृजन की प्रेरणा होगी। हरएक शाखा को एक तरह की गुदगुदी होने लगी। 'कहां फूटूं ? कहां फटूं ?' कहकर अंकुर सर्वत्र बंधमुक्त होने के लिए चकमा देने की चाल चलने लगेंगे।

उसके बाद ही धूप, पवन, बारिश, सरदी, किसी से भी न दबनेवाली सच्ची यौवन-दृष्टि प्रकट होगी।

मेरी इच्छा और अपेक्षा थी कि पुराने पत्ते सब झड़ जाने के बाद पेड़ कुछ दिन के लिए पर्णविहीन नग्नावस्था धारण करे और थोड़ी बहुत तपस्या के बाद ही उसे नई कुंपलें फूटें। लेकिन सर्दी की एकांगी धूप और एकलहरी हवा दोनों ने मिलकर पेड़ के दक्षिण तरफ के पत्ते बहुत जल्दी गिरा दिए। चुनांचे उत्तर तरफ का और निचला भाग खुला होने से पहले ही दक्षिणी शाखाओं की तपस्या पूरी हुई और हरे रंग की पतली फुनगियों में कंवली-कंवली लाल पत्तियां बड़े जोश से फूटते लगी हैं। एक अंग्रेज कवि ने 'न्यू मून इन दी आर्म्स आफ दी ओल्ड मून' (पुराने चन्द्र की भुजाओं में नया चन्द्र) का वर्णन किया है। उसी प्रकार नीम आज शोभा दे रहा है। हरी फुनगियों के वृद्ध बाहु फैले हुए हैं और उनके साथ में नूतन लाल-लाल रंग निरोगी और हृष्ट-पुष्ट बालक खेल रहा हैं। पत्तों का यह कोमल ताम्र-वर्ण मुझे ठेठ बचपन से भाता है। आम को कंवले-कंवले पत्ते फूटने लगते तब उन्हें मुंह में पकड़कर हम उसमें से पी-पी आवाज निकालते। उन पत्तों को कषाय मधुर गंध, मुलायम कोमल स्पर्श और उनमें से निकलती बकरी के बच्चों की-सी आवाज—यह सारा अचानक याद आया और छुटपन के दोपहर के सैर-सपाटे फिर से ताजा हो गये। लेकिन लाखी रंग के ये कोमल पत्ते देखकर मुझे दो समर्थ भारतीय कवियों का स्मरण होता है और यह जानकर कि उन्हें भी ये ताम्र-पर्ण आकर्षक मालूम होते थे, मैं बिलकुल पोला ही सही, लेकिन सचमुच अभिमान अनुभव करता हूं। महाकवि बाणभट्ट ने इन पत्तों का वर्णन बहुत ही तन्मयता से किया हुआ है और बाण के उस वर्णन की तरफ ध्यान देने की आवश्यकता रवि बाबू ने अपने 'प्राचीन साहित्य' में ग्रंथित की है। इतने द्विविध स्मरण के कारण भी इन कोमल पत्तों के प्रति मेरे मन में कृतज्ञता की भावना पैदा होना सम्भव था। लेकिन उन्होंने देखते-देखते मुझे अपने बचपन के पी-पी युग में पहुंचा दिया। चुनांचे ये पत्ते तो मेरे अब दोस्त ही बन गये हैं। नया साल उन्हे मुबारक हो।

आठ दिन हो गये हैं। अब पेड़ के ऊपरी हिस्से पर गहरा लाल रंग और निचली बाजू पर सेवाल का सा हरा रंग, ऐसी शोभा उस पर पड़ती धूप के कारण चमकने लगी है। दक्षिण तरफ की दीवाल की छाया में बैठकर कई एक मिनट मैं यह शोभा निहार रहा हूं। आगरे में अकबर का रोजा देखा था उसका स्मरण होता है। नीचे की मंजिलें लाल पत्थर की और सबसे ऊपर पीले रंग के कलश, यह शोभा बहुत ही आकर्षक लगी थी। और यहां गलितपर्ण वृद्ध वृक्ष पर रहे-सहे ताजे हरे पत्ते और उन पर नये फूटने वाले लाल नुकीले अंकुरों

के भाले सूर्य-प्रकाश से उज्ज्वल बनकर कैसे चमक रहे हैं ! उज्ज्वल कहने के बजाय सजीव बने हुए कहना ही ठीक होगा। रत्न देखकर जैसा आनन्द होता है अथवा धातु के बरतन देखकर जैसा आह्लाद होता है उसी प्रकार इन हरे और लाल पत्तों की लाल लावण्य देखकर मेरे मन में प्रसन्नता उमड़ने लगी।

और कुछ दिन गुजरे। अब पत्तों के दोनों स्तरों ने नया ही खेल आरम्भ किया है। लाल पत्तों ने हरे रंग की छटा धारण करना प्रारम्भ किया है और नीचे के हरे पत्तों ने सुनहरा रंग हम गा सकते हैं या नहीं, यह आजमाने का प्रयोग शुरू किया है। ऊपर और नीचे दोनों तरफ हरा रंग समान है, इसलिए तांबे और सोने के बीच का उभयान्वयी रंग विशेष निखरने लगा है। लाल रंग की तुलना में हरे रंग में एक तरह की खुमारी आती तो पीले के पास उसी हरे रंग में प्रौढ़ मार्दव व्यक्त होता। और इन तीनों रंगों के सुन्दर संगम के कारण सारे वृक्ष पर खानदानी भरे वैभव की छटा फैली हुई देखकर आंखों को तथा मन को स्वस्थता और संतोष होने लगा। किसी प्राचीन कुटुम्ब की पुरुषार्थी पीढ़ी का जीवनक्रम देखते समय और उसकी परम्परा ढूंढ़ते समय जिस प्रकार का अनुभवानन्द होता है उसी प्रकार का आनन्द इन ऋतुनिष्ठ पत्तों ने दिया है।

१२-१-४३

हरे रंग में लाल रंग मिलाया जाय—मिलाया नहीं, किन्तु बुना जाय तो अंजीरी रंग बनता है, यह बात सही है, लेकिन लाल में थोड़ी-सी हरे रंग की छटा आने से वह रंग उतना नहीं खिलता। हरे रंग में जान आई, वह मगरूरी से आगे बढ़ा तो लाल रंग भी अमर्ष से अधिक लाल होता है और तभी इन दोनों की स्पर्धा में अंजीरी रंग अपनी सोलह कलाओं का प्रदर्शन करता है। और इस स्पर्धा को अगर ताजगी और चमक की मदद मिली तो फिर पूछना ही क्या ? ऐसा मजा आता है कि मारे खुशी के दिल दब जाता है। इस शोभा का अब क्या करूं, उसे कहां सुरक्षित रखूं, ऐसा हो जाता है। दूसरा कुछ न सूझा तो भगवान ने वाणी बख्शी हुई है उसे याद करके हम उसका कीर्तन शुरू कर देते हैं।

उसका याने किसका ? यह वाचाशक्ति देने वाले प्रभु का ? मैं कहना चाहता था—रंग का कीर्तन। लेकिन फिर ख्याल आया कि किसी भी सुंदर कृति के पीछे पागल होने के बाद हम जो कीर्तन करते हैं, उसमें भगवान का कीर्तन आ ही जाता है।[1]

१. 'उड़ते फूल' से

इण्टरलॉकन में

आज मैं इण्टरलॉकन के बारे में लिखूंगा। लेकिन उसके पहले एक बात लिखनी ही चाहिए। भूतकाल में जब किसी स्थान को देखने के लिए जाता था, तब उसका इतिहास, उसके सम्बन्धी पौराणिक कथाएं साहित्य में आया हुआ उस स्थान का उल्लेख वगैरा सब प्रयत्न-पूर्वक जान लेता था। और इस तरह उस स्थान-संबंधी अपने संस्कार समृद्ध कर लेता था। लोगों को भी इन सब चीजों से, अपनी दृष्टि द्वारा, थोड़े ही में परि-

चित होने की दिलचस्पी रहती थी। भूतकाल को जीवित किए बिना मुझसे रहा नहीं जाता था और लोग भी मेरी इस शक्ति से सन्तोष पाते थे।

अब इन चीजों के प्रति न मालूम क्यों, मैं उदासीन हुआ हूं। मुझे लगता है कि यह काम अब और कोई करेगा और ज्यादा ठीक ढंग से करेगा। ऐसा थोड़ा-बहुत काम दूसरों ने किया भी होगा, और न किया हो, तो भी क्या ? पुराणों में, साहित्य में और इतिहास में जितनी मानवता प्रतिबिंबित हुई है, उससे भी बहुत-कुछ विशाल मानवता प्रतिबिम्बित होने को बाकी है। इस भविष्य की मानवता का अब मैं उपासक बना हूं।

आज यहां के ऐतिहासिक संग्रहालय में गया था। इस छोटे-से स्विट्जरलैंड ने एक खासा सुन्दर संग्रहालय बनाया है। उसकी रचना भी सुन्दर है। दीवार पर बड़े-बड़े गलीचे जैसे कपड़े पर पुराने ऐतिहासिक युद्ध और बलिदान के चित्र बने हुए हैं। उसमें स्विट्जरलैंड का उज्ज्वल-से-उज्ज्वल इतिहास चित्रित हुआ है। यह सब कला और इतिहास की दृष्टि से देखकर प्रभावित होते हुए भी मेरे मन में एक विचार आया कि मनुष्य-मनुष्य को इस तरह अगर हैरान न करता, तो न चलता ? किसलिए युद्ध और 'धार्मिक' छल होना चाहिए ? ईसा के क्रुसिफिकेशन (सूली) के चित्र तो जहां-तहां नजर आते थे। यह देखकर मुझे उस वचन का स्मरण हुआ कि "यूरोप के लोगों ने एशिया के एक सत्पुरुष का अपने गुरु के तौर पर स्वीकार किया और माना कि इस प्रकार उन्हें एशिया के दूसरे सब लोगों को गुलाम बनाने का अधिकार मिला।" लेकिन उस बचन का महत्व अब कम हुआ है। अब तो यूरोप अंदरूनी झगड़ों से ही पीड़ित है और भविष्य के बारे में बेचैन हुआ है। दो महायुद्धों के अनुभव से यहां की जनता त्रस्त हुई है और अब युद्ध कैसे टाला जाय, इसीका चिन्तन कर रही है। और फिर भी, यहां की जनता के मुंह पर कहीं भी गमगीनी नजर नहीं आती। जीवन का आनन्द हमेशा अनुभव करते रहना, यही उनका प्रधान धर्म है।

स्विट्जरलैंड में जब से पांव रखा, तब से आज तक कहीं पर भी गंदगी, कचरा या अव्यवस्था नजर नहीं आई। कहीं पर भी परती जैसा नहीं लगता। कोई भी चीज अनुपयोगी नहीं लगती। स्वच्छता, व्यवस्था और सुघड़ता का यह देश है। हवा में न धूल है, न धुआं। सैकड़ों मील लम्बे रास्ते देखे। लेकिन ये सब रास्ते सत्पुरुषों के चारित्र्य जैसे स्वच्छ, सीधे और प्रसन्न दिखाई दिये।

इस देश की भूमि का अधिकांश हिस्सा पहाड़ और सरोवरों से व्याप्त है। जो थोड़ी-सी जमीन बची है, उसका यहां के लोग अच्छे-से-अच्छा उपयोग करते हैं। हम बोलते समय फल और फूलों की बातें करते हैं, लेकिन हमारे देश में फूल तो देखने को भी नहीं मिलते। यहां पर ऐसा नहीं है। यहां के खेत और बगीचे तो क्या, बड़े-बड़े मकान और हवेलियां भी नीचे से ऊपर तक फूलों से लदी हुई हैं।

इस देश में पांव रखने से पहले ही साढ़े दस हजार फुट की ऊंचाई से आल्प्स के शिखरों का और जिनेवा जैसे सरोवरों का दर्शन किया था। उस जिनेवा सरोवर के किनारे के एक पहाड़ पर के आलीशान मकान में रहकर इस सरोवर का दिन-रात दर्शन, मनन और ध्यान किया था और इस प्रकार आखों की तृप्ति का समाधान पाया था।

आज हम इण्टरलॉकन देखने गए। बम्बई में ही हमारे रामकृष्ण बजाज ने सिफारिश की थी कि स्विट्जरलैंड देखने के बाद इण्टरलॉकन देखे बिना नहीं आना। चि० सतीश ने भी यही सिफारिश की थी। कल रात को यहां आते ही भारत के राजदूत श्री आसफअली साहब से मैंने कहा कि इण्टरलॉकन देखना ही है। स्विट्जरलैंड की राजधानी बर्न से पैंतालीस किलोमीटर यानी तीस मील की दूरी पर यह स्थान है।

थून और ब्रिरान्ज नाम के दो विशाल और लम्बायमान सरोवर के बीच की काव्यमय संयोग-भूमि पर इण्टरलॉकन शहर है और यहां से बर्फ की गांधी-टोपियां पहने हुए अनेक सुन्दर शिखर दिखाई देते हैं। थून

शहर से इण्टरलॉकन तक फैले हुए थूनरसी सरोवर के दक्षिण किनारे से हम गए और उत्तर किनारे से वापस आये। इससे सरोवर की एक उलटी प्रदक्षिणा पूरी हुई और इतना रमणीय दृश्य देखने को मिला कि मेरे जैसे को भी कहने का मन हुआ कि "आज का दिन धन्य है !"

बर्न राजधानी का नाम रीछ पर से पड़ा है, और सचमुच इन लोगों ने राजधानी के बीच में ही एक जगह पर कई रीछ पाले हैं। बर्न से थून तक दोनों ओर खेती, बगीचे, उपवन और पहाड़ों की शोभा अनोखी है। २८ किलोमीटर का यह प्रदेश सचमुच आह्लादक है। यहां की नदी के कारण इस प्रदेश की शोभा में वृद्धि हुई है, ऐसा कहने के बदले यह कहना चाहिए कि यहां के लोगों ने अपने रसिक पुरुषार्थ से गरीब-सी आर नदी को सौन्दर्यवाहिनी बनाया है !

सौन्दर्य की इतनी उत्कटता पहुंचने के बाद ही उसके आधार-रूप कुदरत ने थूनरसी सरोवर की शोभा उठाई। पानी का रंग इतना गहरा, शीतल और चमकीला नीला है, मानो वाल्मीकि की प्रतिमा ही छलकती हो। हमने दक्षिण का रास्ता लिया। सरोवर के उस पार की टेकरियां और उसपर चढ़ते फर्न के पौधे देखते-देखते हम आगे बढ़े। हमारे सामने यानी आग्नेय दिशा से ऊंचे-ऊंचे पहाड़ भय दिखाते थे। शिखर इतने ऊंचे कि वहां कुछ उगे ही नहीं, और पहाड़ की बाजू भी दीवार की तरह इतनी सीधी और ऊंची है कि वहां भी अमुक जगह पर पेड़ टिके ही नहीं। हमारा स्थानिक सारथी फ्रेन्च, जर्मन और इटालिन भाषाएं जानता था। लेकिन अंग्रेजी से उसका परिचय नहीं के बराबर था। हमने उससे पूछा, "क्या वह युंग फ्रौ का शिखर दिखाई दे रहा है ?" उसने कहा, "सामने जो सुन्दर हिमाच्छादित शिखर दिखाई देता है, वह नहीं, किन्तु वहां से बाईं ओर, उन बादलों के पीछे युंग फ्रौ का शिखर है। आगे आकाश को भी बींधनेवाला एक दूसरा शिखर नजर आया। हमने पूछा, "क्या यह युंग फ्रौ है ?" उसने कहा, "एक तरह से कहा जा सकता है, क्योंकि युंग फ्रौ के तीन शिखर हैं। उनमें से यह ठेठ पूरब की ओर का है। जिस शिखर पर मुसाफिर आफीन (मुग्ध) हो जाते हैं, वह उस बादल से पीछे है।" अब तो इस अवगुंठनवती प्रार्वती का दर्शन करने के लिए हमारा मन बेचैन हो उठा। बाकी के सब शिखर प्रसन्नता से दर्शन देते हैं। और यही प्रमदा घूंघट खींचकर क्यों खड़ी है ? ऐसा सोचते-सोचते हम इण्टरलॉकन पहुंच गए।

चि० सरोज बीस साल पहले अपने पिता के साथ यहां आई थी और उसने दो टेकरियों के बीच से युंग फ्रौ के दर्शन किये थे। उसकी सूचना के अनुसार हमारा सारथी हमको ठीक उसी जगह पर ले गया। अब युंग फ्रौ ने अपना घूंघट इधर-उधर खिसकाना शुरू किया, और अन्त में हमें दर्शन का आनन्द दिया ही। यहां के बहुत-से शिखर १० से १२ हजार फुट की ऊंचाई के हैं। सूरज की किरणों के साथ खेलनेवाले बादल हर वक्त इन शिखरों पर नया-नया प्रकाश डालते हैं। इसलिए, इस सनातन स्थावर शिखरों की शोभा में नित्य नूतन लावण्य दिखाई देता है। कभी लगता है कि यहां बरफ का एक किला है। कभी लगता है वहां गंधर्वों का एक राजमहल है। यहां के कवियों ने इन पहाड़ों की शोभा को अनेक तरह से गाया होगा। लेकिन हम उनकी भाषा नहीं जानते। मैंने तो सर वॉल्टर स्कॉट के वर्णन ही पढ़े हैं, जिसमें उसने स्कॉटलैंड के पहाड़, सरोवर और वहां की दन्त-कथाओं को संभालकर रखनेवाली गुफाओं को अमर किया है, लेकिन कवियों ने जिस वस्तु का वर्णन किया है, वह प्रत्यक्ष वस्तु ही मेरे हृदय में काव्यवृत्ति जमा रही थी। उसका वर्णन मैं न कर सका, तो क्या ? उससे मेरा आनन्द कुछ छिछला नहीं होता।

सरोवर के दोनों किनारे पर मनुष्यों ने असंख्य घर बनाये हैं, किन्तु वे इस तरह बनाये हैं कि सरोवर की शोभा जरा-सी भी बिगड़ती नहीं। इतना ही नहीं, अपितु यह घर यहां जगह-जगह पर उगे न होते, तो सरोवर की शोभा में कुछ कमी ही रह जाती, ऐसा महसूस हुए बिना नहीं रहता।

जिस तरह थून और इण्टरलॉकन के बीच थूनरसो सरोवर लंबित हुआ है, उसी तरह इण्टरलॉकन और ब्रियेएज के बीच दूसरा एक सरोवर बना हुआ है। उसका नाम है 'ब्रियेएन्जसी' 'सी' के माने हैं सरोवर। इन्टरलॉकन का गौरव ही इसमें है कि उसके दोनों बगल में गंधर्व-प्रदेश है।

बम्बई, मद्रास, नई दिल्ली वगैरा शहरों की आधुनिक व्यवस्था को देखने के बाद भी कहना पड़ता है कि स्विट्जरलैंड के शहरों की स्वच्छता और घरों को सुचारु ढंग से व्यवस्थित बनाने की अभिरुचि हमारे लिए अनुकरणीय है।

इण्टरलॉकन के आसपास की सृष्टि-शोभा अघाकर देखने के बाद हमने उत्तर की ओर का रास्ता लिया। क्या दक्षिण, क्या उत्तर, हमारा रास्ता तो सरोवर के साथ खेलता-खेलता चलता था। कभी लगता, मानो आचमन करने के लिए सरोवर की सपाटी तक वह नीचे उतरा है। कभी ऊंचाई से, सरोवर की शोभा दूर तक निहारने के लिए ऊपर चढ़ जाता था। एक जगह पर बतखों का एक काफिला पानी में आगे बढ़ रहा था, मानो कोई बड़े महत्व के काम के लिए निकल पड़ा हो। दूसरी जगह पर दस-बीस नावें अपने पाल सकेल-कर और लंगर पानी में उतारकर कुंभकर्ण की तरह डोलती थीं और आसपास के रंग-बिरंगे फूल 'क्या मजा', 'क्या मजा' कहलाकर सबकी प्रसन्नता बढ़ाते थे। यद्यपि हमारा रास्ता सरोवर के किनारे-किनारे से जाता था, फिर भी पहाड़ की कई उंगलियां सरोवर के पानी के साथ खेलने के लिए आगे आई होने से उसमें सूराख करके ही हमारा रास्ता आगे बढ़ सकता था। यह छोटे-छोटे 'टनल' सारे काव्य की गंभीरता और गहराई बढ़ाते थे। इतने में रास्ते में एक छोटा-सा प्रपात उतावला-उतावला कूदता-कूदता सरोवर में स्वात्मार्पण करता दिखाई दिया।

हमारा रास्ता उसपर पुल की मर्यादा बांधकर आगे बढ़ा।

सूरज दिखाई नहीं देता था, लेकिन बादलों ने एक खिड़की खोलकर थोड़ी सूर्यकिरणें सरोवर पर बरसाईं, और सरोवर तुरन्त ही चमक उठा। सरोवर का रंग, उसपर की झुर्रियों का डिजाइन और उसकी विविध प्रकार की कांति—सब मिलकर हर क्षण हमको नया-नया आनन्द देते थे। एक बड़ी नाव पर पत्थर ले जाने का बोझा आ पड़ा था। यह नाव सरोवर की इजाजत लेकर आगे बढ़ रही थी और उसकी नाक के सामने सरोवर का पानी कोहरा उड़ाकर उसका स्वागत कर रहा था। रास्ते की तरफ की दीवारें सुन्दर बेलों से ढकी हुई थीं। भड़कीले रंग के कपड़े पहने हुए सुन्दर बालक फूलों के साथ होड़ लगा रहे थे। जहां जगह मिली, वहां लोगों के सरोवर के किनारे पर फूल-झाड़ों के बीच आराम करने के लिए कुर्सियां रखी हैं। कुदरत की भव्यता दिन-रात नजर के सामने होने से कई लोगों की नजरें जड़ हो जाती हैं, सड़ जाती हैं। उन्हें उसमें कोई मजा नहीं आता, यहां के लोग ऐसे दुर्दैवी नहीं हैं। वे मानो कुदरत के सौन्दर्य पर ही जीते हों और बढ़ते हों, ऐसा लगता है।

२. जीवन-दर्शन

ओश्म् नमो नारायणाय पुरुषोत्तमाय

भगवान के नाम अनन्त हैं, लेकिन भक्तों ने अपने आनंद के लिए दस, एक सौ आठ या हजार नाम इकट्ठा करके उनके स्तोत्र बनाकर गाया या जाप करना शुरू किया।

मैंने अपने ध्यान और जप के लिए दो नाम विशेष रूप से पसंद किये हैं—नारायण और पुरुषोत्तम।

'नारायण' शब्द का अर्थ मैंने एक ढंग से किया है, मनु भगवान ने दूसरे व्यापक ढंग से। दोनों अच्छे हैं और सच्चे हैं। दोनों को मिलाना चाहिए। "नराणाम् समूह :।। नारम्"। भूतकाल, वर्तमान और भविष्य के समस्त नर-नारी के समूह को संस्कृत में 'नार' कहते हैं। नार यानी सम्पूर्ण मानव-जाति। यह नार, जिसका अयन यानी 'रहने का स्थान' बन गया है, वह है 'नारायण (गॉड ऑफ ह्यूमेनिटी।)'

अब मनु भगवान की व्युत्पत्ति समझाता हूं :

पृथ्वी, आप, तेज, वायु, आकाश इन पंच महाभूतों की सृष्टि जिस मूल तत्त्व से बनी है, उसे संस्कृत में 'आप' अथवा 'अप्' कहते हैं। संस्कृत में 'आप' का मामूली अर्थ है पानी; लेकिन समस्त सृष्टि के मूल तत्त्व को भी 'आप' या 'अप्' कहते हैं। परमात्मा को 'नर' कहते हैं। 'नर' में से 'अप्' तत्त्व बना, इसलिए उसे 'नार' कहने लगे। मनु भगवान समझाते हैं, "आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नर-सूनवः।" अप् शब्द यहां बहुवचन में आया है। 'नर' में से उत्पन्न मूल तत्त्व—'नार'—जिसका रहने का स्थान हुआ—वह है नारायण।

ताः यद् अस्य अयनं जातम् इति नारायण स्मृतः। (गॉड इज ऑफ दी यूनिवर्स)।

ये दोनों अर्थ एकत्र करके हम नारायण का ध्यान करें और जाप भी करें।

दूसरा शब्द है पुरुषोत्तम। इसका अर्थ स्पष्ट है। संस्कृत में 'पुर' यानी शरीर। "पुरिशेते इति पुरुषः।" इस शरीर में सुप्त रूप में जो रहता है, वह जीवात्मा पुरुष कहा जाता है। हम सब पुरुष हैं। पुरुष में जो सुप्त तत्त्व है, उसे जाग्रत करके सर्व गुण सम्पन्न करने से वही उत्तम पुरुष अथवा पुरुषोत्तम बनता है। पुरुष का भाव चढ़ाते-चढ़ाते जब हम ऊपर तक पहुंच जाते हैं तब वही पुरुषोत्तम बनता है (उत्, उत्तर, उत्तम)।

'नारायण' शब्द में समस्त मानव-जाति का विचार जाग्रत होता है और 'पुरुषोत्तम' शब्द से मानवता के गुणोत्कर्ष का विचार केन्द्रित होता है, इसलिए ये दो नाम मैंने अपने ध्यान भजन के लिए पसंद किये हैं।

'नारायण' शब्द की एक व्याख्या महाभारत से मिली है :

समः सर्वेषु भूतेषु, ईश्वरः सुखदुःखयोः।
महान् महात्मा सर्वात्मा नारायण इति श्रुतिः।। (शान्तिपर्व ३५५/२७)

श्लोक का अर्थ स्पष्ट है। परमात्मा सब प्राणियों में भूतों में समान है, सबके सुख-दुःख का वह ईश्वर

(मालिक) है। महान होने से उसे 'महात्मा' कहते हैं। 'सर्वात्मा' भी कहते हैं। वेद के अनुसार वह नारायण है।

"ईश्वरः सुख दुःखयोः" इसका, संक्षेप में, भाव यह है :

सुख-दुःख का अनुभव सबको है। इन शब्दों का अर्थ संकुचित भी है और व्यापक भी है। इन्द्रियों को अनुकूल सो सुख और इन्द्रियों के प्रतिकूल सो दुःख—यह है उनका संकुचित अर्थ।

लेकिन केवल इन्द्रियों को नहीं, किन्तु सब तरह के आनंद को हम सुख कहते हैं। दुःख का भी ऐसा ही व्यापक अर्थ है।

यह सुख और दुःख प्राणियों को अथवा मनुष्यों को कहां, कब, कितना मिले, यह हमारे हाथ में नहीं है। इसका कोई नियम भी हम नहीं बना सकते। सुख-दुःख का सारा तन्त्र भगवान के ही अधीन है। इसीलिए ऋषि ने कहा, "नारायणः सुख दुःखयोः ईश्वरः।" परमात्मा ही सुख-दुःख का ईश्वर यानी मालिक है। उसी को 'नारायण' कहते हैं।

मनुष्य के सुख-दुःख उसके अधीन नहीं हैं, किन्तु सुख-दुःख का सदुपयोग कर लेना उसके हाथों में है। सुख और दुःख से मनुष्य अगर अपना अधःपात होने दे, अपनी साधना के द्वारा दोनों का सदुपयोग करे, और उन्नति साध ले तो एक ढंग से (अर्थात् नम्र अर्थ में) वह भी सुख-दुःख का ईश्वर बन सकता है।[1]

१. 'उपनिषदों का बोध' से

ब्रह्मविद्या के बाद भी जीवन विद्या

आहार में हम दूध पियें या दूध का सार निकालकर घी का सेवन करें? यह एक जीवन-व्यवहार का महत्त्व का सवाल है। हम भारत के लोग दूध में से मक्खन निकालकर उसका भी घी बनाने लगे, ताकि वह जल्दी बिगड़ न जाय। दूसरे लोगों ने दूध को उबालकर उसमें से खोवा तैयार किया, ताकि वह थोड़े में दूध की पुष्टि दे सके और काफी दिन तक टिक सके, और दूसरे लोगों ने दूध का पनीर बनाया, जिसे अंग्रेजी में 'चीज' कहते हैं। उद्देश्य एक ही था कि दूध का सार हमें मिले। दूध का बोझा उठाना न पड़े। घर में या सफर में दूध जैसा पौष्टिक आहार बिना बिगड़े बहुत दिन तक काम आ सके।

कुदरत ने अथवा भगवान ने तरह-तरह के फूल पैदा किए। फूलों में रंग और आकृति की विविधता, कोमलता, ताजगी और यौवन के उपरान्त सुगन्ध भी आ बढ़ी, जिसके कारण हमको न केवल आनन्द मिलने लगा, बल्कि दिमाग को उससे पुष्टि भी मिलने लगी और चन्द लोगों के लिए उसमें से किसी रोग का इलाज भी मिला। फूलों की यह उपयोगिता और फूलों का आकर्षण देखकर मनुष्य ने बगीचे बनाए। फूलों को तोड़कर इकट्ठा करके उसके गुच्छे बना दिए। आगे जाकर मनुष्य इन फूलों में से इत्र भी बनाने लगा। इत्र में फूलों का सार आ गया, ऐसा मानकर इत्र बनाने का एक पेशा शुरू हुआ और ये इत्रवाले फूलों को उबालकर या और ढंग से फूलों की सुगन्ध को तेल के अन्दर सुरक्षित बनाने लगे। राज-दरबार में और अतिथि-सत्कार में गुलाब-जल का और तरह-तरह के इत्रों का व्यवहार होने लगा। बड़ी प्रगति हुई और संस्कृति आगे बढ़ी।

लेकिन अब हम देख सकते हैं कि दूध में जो-जो जीवन-तत्व हैं, वे सब घी में, खोवे में और पनीर में नहीं आ सकते। छोटी-छोटी और असंख्य सूक्ष्म चीजें, जो जीवन के लिए अत्यावश्यक हैं, घी आदि सार-पदार्थों में गायब होती हैं। बच्चों से लेकर बूढ़ों तक जीवन-पोषण का जो काम दूध करता है, वह घी, पनीर अथवा खोवा नहीं कर सकता। इनमें भी घी तो केवल चरबीमात्र है। इससे तो खोवा और 'चीज' अच्छा। लेकिन दूध तो दूध ही है। दूध को हम जीवन-सर्वस्व कह सकते हैं।

फूलों की भी यही बात है। फूलों के बगीचे में बैठना, घूमना, फूलों का दर्शन करना, उनसे वार्तालाप करना, उनकी बातें सुनना—इसमें जो शारीरिक, मानसिक, कलात्मक, भावनात्मक और आध्यात्मिक लाभ है, वह इत्र का फायदा कान में रखने से और गुलाब-जल कपड़े पर छिड़कने से प्राप्त नहीं होता। फूलों के बगीचे में बैठकर फूलों के साथ जीवन-विनिमय करना आध्यात्मिक साधन बन सकता है। जीवन-साधना का वह एक प्रकार ही है। गुलाब-जल और इत्र-व्यवहार करना या तो विलासिता का ढंग है अथवा शारीरिक, मौखिक दुर्गन्ध को ढक देने का एक उपाय है। घर के आस-पास अथवा शहर के और गांव के कोने-कोने में जो दुर्गन्ध इकट्ठा होती है, उसे दूर करने की अपेक्षा उसे ढक देने के लिए, छिपाने के लिए, सुगन्धित द्रव्यों का उपयोग करना जीवन के साथ ठगी चलाना है।

जो हो, सार के नाम से जो चीज हम इकट्ठा करते हैं, वह अत्यंत महत्त्व की होते हुए भी उसमें जीवन के कई सूक्ष्म और अत्यन्त महत्व के तत्व नष्ट हो जाते हैं। आज के आहारशास्त्री कहते ही हैं कि गन्ने के रस में जितने पोषकतत्व और प्राणतत्व होते हैं, उनमें से बहुत कुछ चीनी में नहीं आते। चीनी पौष्टिक पदार्थ है सही, शुद्ध भी है, स्वच्छ है, दीर्घकाल तक टिक सकती है। थोड़े में बहुत-सा आहार-मूल्य समाया जा सकता है। लेकिन जो जीवन-तत्व गन्ने के रस में हैं, उसका प्रधान अंश चीनी में नहीं आ सकता।

अब ऐसे भी प्रयास होने लगे हैं कि दूध में से मक्खन और घी निकालकर बाकी के दूध को बेचना। पहले उसे कहते थे 'स्किम्ड मिल्क'। आजकल उसे कहते हैं 'टोण्ड मिल्क'। ऐसा दूध सस्ते में मिलता है। जिन बीमारों को दूध नहीं मिलता, वहां ऐसे 'टोण्ड मिल्क' की छाछ भी मिले तो उनका स्वास्थ्य सुधर सकता है। कसरत-मेहनत न करनेवाले बिठाऊ लोग घी खाकर भले ही मानें कि हमें दूध का सार मिल गया। अच्छे-अच्छे तत्व 'टोण्ड मिल्क' की छाछ में ही पाये जाते हैं। और गरीब लोगों के पास प्राणतत्व चूसने की हाजमा-शक्ति होने से वे निःसत्व दूध की छाछ से भी काफी प्राणतत्व पा जाते हैं।

केवल उपमा के लिए दूध और फूल की उपयोगिता का विस्तार यहां तक किया; क्योंकि हमें एक महान जीवनोपयोगी बात समझानी है।

सब कोई जानते हैं कि मनुष्य-जीवन में शरीर की अपेक्षा प्राण का महत्व अधिक है। प्राण से भी बढ़कर है मन अथवा चित्त। इस मन और चित्त का सार है बुद्धि। और परमात्मा तो बुद्धि से भी परे है। गीता ने एक श्लोक में यही कहा है कि शरीर में इन्द्रियों की प्रधानता है। उनसे बढ़कर है मन। उनसे दूर है बुद्धि और उसके भी परे है आत्मा।

"इन्द्रियाणि पराणि आहुः। इन्द्रियेभ्यः परम् मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिः यो बुद्धेः परतः तु सः॥"

इसलिए तो आत्मा को 'अन्तरात्मा' कहते है और उसकी उपासना बताई गई है।

लेकिन जीवन का उत्तम रस भले ही आत्मा में हो, हमारे हृदय में भले ही परमात्मा, पर ब्रह्म का निवास हो; उनके बिना हमारा जीना अशक्य, निःसत्व, असम्भव ही क्यों न हो, केवल आत्मा, परमात्मा जीवन-सर्वस्व नहीं है। जीवन का सार आत्मा में आ जाता है। इसलिए आत्मा को खोकर जीना 'महत् हानि'

ही है, 'महती विनष्टि' ही है। लेकिन केवल आत्मा में जीवन का सम्पूर्ण रस नहीं आ सकता। जीवन के बिना आत्मा को स्वानुभव का आनन्द भी नहीं मिलता। आज अगर कोई मुझसे पूछे कि आत्म-दर्शन श्रेष्ठ है या जीवन-दर्शन तो मैं कहूंगा कि आत्म-दर्शन के बिना जीवन-दर्शन अपूर्ण है, निःसत्व है, निस्सार है। लेकिन 'केवल आत्म-दर्शन' की अपेक्षा 'आत्म-दर्शन-युक्त जीवन-दर्शन' ही सर्वश्रेष्ठ है, इसमें तनिक भी शंका के लिए अवकाश नहीं है।

ब्रह्मविद्या अथवा आत्म-दर्शन भले ही सर्वश्रेष्ठ विद्या हो, अध्यात्म-विद्या तमाम विद्याओं की शिरोमणि क्यों न हो, मनुष्य को सम्पूर्ण विकास की दीक्षा देने की सामर्थ्य उसीमें क्यों न हो, ब्रह्मविद्या को आखिरकार जीवन की और जीवन-दर्शन की ही सेवा करनी है।

हमारा मतलब किसी श्रेष्ठ मानव-नेता का आतिथ्य करने का क्यों न हो, उसके परिचय का पूर्ण लाभ हम तभी उठा सकते हैं जब हम उस नेता के साथ उसकी जीवन-संगिनी पत्नी, उसके बाल-बच्चे, उसके रहस्य-मन्त्री और उसके अन्तेवासी सेवकों को भी आमन्त्रण दें; क्योंकि उस नेता का व्यक्तित्व और उसका अध्यात्म उन सबको साथ लेकर ही प्रकट होता है।

अध्यात्म-विद्या, आत्मविद्या, वैराग्य-विद्या, वैराग्य-साधना, धारणा-ध्यान-समाधि आदि आत्मयोग के पीछे हजारों बरस व्यतीत करने के बाद उसी सिद्धि के बल पर अब हमें जीवन-साधना करनी है, जीवन-योग को पाना है।

और वह भी केवल व्यक्तिगत जीवन का नहीं, केवल पारिवारिक और राष्ट्रीय जीवन का भी नहीं, समस्त मानव-जीवन का, विश्वव्यापी, इतिहासव्यापी मानव-जीवन का दर्शन और योग हमें प्राप्त करना है। इसके लिए हमें विश्वात्मा, विश्व-जीवन, विश्वमोक्ष और विश्व-साधना की चर्चा करनी है। यही है हमारा युगकार्य। इसलिए अब हमें इसी के ब्योरे में उतरना है; घुसना है, फिर वह चाहे कितना जटिल क्यों न हो। ब्रह्मविद्या के सहारे हम विराट जीवन-विद्या के माहिर बनेंगे; इससे कम ध्येय से, कम महात्वाकांक्षा से, हमें सन्तोष नहीं होगा, युगसेवा हमसे सम्पन्न नहीं होगी। इस एक जीवन-साधना से ही हमारा जीवन सफल होगा और जीवन-स्वामी के आशीर्वाद हमें मिलेंगे।[1]

१. 'जीवनयोग की साधना' पुस्तक से

'सत्यमेव जयते'

अनुभव ऐसा नहीं है कि सत्य की ही सदा विजय होती है। यदि होती तो सत्य को कोई छोड़ता क्यों?

इससे 'सत्यमेव जयते' का लोग यह अर्थ करते हैं कि "अन्त में सत्य की विजय होती है।" परन्तु किसके अन्त में? सृष्टि का तो अन्त है नहीं। मनुष्य का अन्त है। हर एक घटना का अन्त है। किसी मनुष्य को अपनी सत्यवादिता के कारण सारे जीवन दुःख, अन्याय और पराजय भोगनी पड़े और जीवन का अंत आने पर लोग उसकी कदर करें, तो उससे इस मनुष्य को क्या लाभ हुआ? सत्य की विजय समय पर हो तभी वह काम की है!

ऐसी वृत्ति के लोगों को विश्वास दिलाना कि अन्त में सत्य की ही विजय है, उनकी चिढ़ बढ़ाने जैसा है। इससे अधिक अच्छा तो सत्य की फलश्रुति ही बदल डालनेवाला जैन-वचन है—'सच्चं लोगम्मि सारभूयं' —इस दुनिया में साररूप तो सत्य है, बाकी सब निःसार है। प्रेम सत्य का होना चाहिए, विजय का नहीं, दुनियावी लाभ का नहीं।

सत्य के पालन से हमारा तेज बढ़ता है, चारित्र्य उन्नत होता है; सत्य से धैर्य की सिद्धि होती है। जिसके पास सत्य है, उसका धीरज कभी खत्म नहीं होता और सत्य से जो आन्तरिक सन्तोष मिलता है, उसकी बराबरी कर सकनेवाली कोई दूसरी चीज दुनिया में है ही नहीं।

इस दृष्टि से विचार करने पर 'सत्यमेव जयते' का हमें नया ही अर्थ मिलता है। हृदय-शक्ति का बाह्य सृष्टि के साथ जितना सम्बन्ध है, सत्य की उतनी विजय बाह्य सृष्टि में भी है। परन्तु सच्चा लाभ आन्तरिक सन्तोष का है। सत्य की विजय आन्तरिक होती है और वह अन्त में नहीं, बल्कि सदा, अखंड होती रहती है।

जो व्यक्ति अथवा राष्ट्र सत्य का पालन करता है उसे आत्म-सन्तोष, आत्म-प्रतिष्ठा और आत्मतेज प्राप्त होता है। यही परम लाभ है।

सत्य की विजय आन्तरिक होती है, यह भाव बताने के लिए ही मालूम होता है, उपनिषद् के ऋषियों ने यहां पर 'जि' जैसी परस्मैपदी धातु को आत्मनेपदी बनाया है। संस्कृत व्याकरण में परस्मैपदी और आत्मनेपदी प्रयोग होते हैं। इनमें आत्मनेपदी अपने लिए और परस्मैपदी दूसरे के लिए होता है। वह भेद अब बहुत नहीं पाया जाता; परन्तु मूलतः आत्मनेपदी प्रयोग वही है, जिसका फल अपने ही लिए होता है। अंग्रेजी में जहां सब्जेक्टिव शब्द आता है वहां हम 'आत्मनेपदी' रख सकते हैं। जहां ऑब्जेक्टिव शब्द हो, वहां शायद 'परस्मैपदी' चलेगा। 'आत्मने' का अर्थ बताया है—"आत्मार्थफल बोधनाय।"[1]

१. 'धर्मोदय' पुस्तक से

अद्वेष-दर्शन

महावीर आदि जैन तीर्थंकरों ने और आज के युग में महात्मा गांधी ने अहिंसा-दर्शन को प्राधान्य दिया। जैन दर्शन में मांसाहार निषेध और जीवदया को प्रधानता मिली। महात्माजी ने वैष्णवोचित जीवहत्या-निषेध को मान्यता देते हुए देश के सामने और दुनिया के सामने अहिंसक ढंग से याने सत्याग्रह के द्वारा अन्याय का प्रतिकार करने का उपाय रखा। हम युद्ध न करें, कानून के नाम से भी मनुष्य-वध न करें, इस स्थूल अहिंसा से लेकर मनुष्य मनुष्य का शोषण न करे ऐसी सूक्ष्म अहिंसा तक गांधीजी अहिंसा दर्शन को ले गये हैं। अहिंसा ही सब धर्मों की और सामाजिकता की बुनियाद होने के कारण इस दर्शन का जोरों से विकास होने के दिन अब आये हैं।

इसी अहिंसा-दर्शन का एक पहलू अत्यन्त महत्त्व का होने से उसका कुछ चिन्तन-मनन करने का यहां सोचा है।

मनुष्य जाति को हिंसा से उठाकर अहिंसा की ओर ले जाना यही अहिंसा-दर्शन की साध है। मनुष्य-जीवन हिंसा से भरा हुआ है। जीव जीव को खाकर ही जीता है। यह है वस्तुस्थिति। इसे शायद हम स्वभाव-

धर्म कह सकते हैं। आहार मांस का हो, दूध, अंडे आदि का हो, धान्य का हो, या कंदमूलफल और फूलपत्ते का हो, उसमें हिंसा तो आती ही है। फिर वह हिंसा स्थूल हो या सूक्ष्म हो। ऐसी आहार-प्रेरित हिंसा को कम करते जाना, यही है अहिंसा धर्म का प्रस्थान। इसलिए मनुष्य कहता है, कि आहार के लिए होनेवाली सूक्ष्म हिंसा को क्षम्य मानना ही चाहिए।

आत्मरक्षा के लिए हिंस्र प्राणी को अथवा हिंस्र मनुष्य को मारना हिंसा तो है ही, लेकिन उसे भी क्षम्य मानना चाहिए। (क्षम्य ही नहीं, विहित मानना चाहिए ऐसा भी कहनेवाला पक्ष है।) जबतक गांधीजी के सत्याग्रहरूपी अहिंसक प्रतिकार का आविष्कार नहीं हुआ था, तबतक सारी दुनिया मानती थी कि आत्म-रक्षा के लिए आक्रमणकारी की हत्या करनी पड़े तो ऐसी हत्या और ऐसा युद्ध धर्म्य है, स्वर्ग को पहुंचाने-वाला है।

धर्मकार कहते हैं कि इस संसाररूपी नदी या समुद्र को लांघकर मनुष्य को उस पार ले जानेवाला साधन यह शरीर ही है। (तैरकर उस पार ले जाने के साधन को तीर्थ कहते हैं।) इस तीर्थ को निभाने के लिए और बचाने के लिए जो हिंसा होती हैं, वह क्षम्य है। मोक्ष पाने में ऐसी हिंसा बाधक नहीं है, ऐसा निर्णय कई पंडितों ने दिया है। यज्ञ में पशुओं को मारनेवाले ब्राह्मणों ने यहां तक कहा कि यज्ञ के लिए होनेवाली पशु-हिंसा हिंसा है नहीं। ऐसे वचन को आज कौन मानेगा ? लेकिन यज्ञ का व्यापक अर्थ करके कोई कह सकता है कि समाज-कल्याण के लिए जो बलिदान दिया जाता है, हिंसा की जाती है, वह धर्म्य है। इसलिए उसका विरोध तो नहीं होना चाहिए।

गांधीजी कहेंगे, यज्ञ में अपना ही परिश्रम अर्पण करने की बात होती है। अपने ही प्राण अर्पण करने तक मनुष्य जा सकता है। यज्ञमात्र आत्मयज्ञ ही हो सकता है।

यह सारी चर्चा अनेक दफे हो चुकी है। यहां इसका स्मरण किया केवल प्रस्तावना के रूप में। जो हिंसा पूरी तरह से त्याज्य है, जिसे हम धर्म्य नहीं कह सकते, जिसका बचाव हो नहीं सकता और जो हिंसा हमारा पतन करती है, पात करती है, (पातक = अधःपात करनेवाला तत्त्व) वह होती है द्वेषमूलक। इसलिए अगर हम अद्वेष को अपना व्रत बना लेवें तो सबसे बड़ी और सब तरह से त्याज्य ऐसी हिंसा से हम बच ही जायेंगे।

गीता ने आदर्श भक्तों का वर्णन करते एक मारके का श्लोक दिया है। उसमें अहिंसा-दर्शन की सारी पूरी साधना क्रमशः आती है।

अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्; मैत्रः; करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः सम-दुःख-सुखः क्षमी ॥

परम धर्म समझकर अहिंसा की साधना करनेवाला आदमी सबसे प्रथम अपने हृदय से द्वेष को निकाल देवे।

जब हम चाहते हैं कि किसी का नुकसान हो, किसी की प्रतिष्ठा टूट जाय, किसी का नाश हो जाय तब कहना चाहिए कि हम उसका द्वेष करते हैं। जो लोग हमारा नुकसान करते हैं, हमको दबाते हैं, हमारे विकास में विघ्न डालते हैं, उनका द्वेष करना स्वाभाविक है। लेकिन उसी चीज को टालना, द्वेष से ऊंचे उठना हमारे लिए उन्नतिकर है। जो लोग हमारी इच्छा के अनुसार नहीं चलते अथवा जिन्हें हम पराया अथवा प्रतिकूल समझते हैं, उनका भी हम द्वेष करते हैं हालांकि ऐसा करने का हमें कोई अधिकार नहीं है। हमारी इच्छा के अनुसार चलने के लिए दुनिया थोड़ी ही बंधी हुई है ! हमने किसी को पराया माना उसमें उस बेचारे का क्या दोष ? उसका द्वेष करना हमारा ही दोष है। अथवा कहिये कि हमारा ओछापन है।

अब चंद जबरदस्त लोग चाहते हैं कि आसपास के सब लोग उनके कहे अनुसार चलें और दबकर रहें, ऐसा नहीं किया तो तुरन्त उनका द्वेष करने लगते हैं। उनका सूत्र है—दोज हू आर नॉट अण्डर अस, वी टेक दैम टु बी अगॅन्स्ट अस। यह तो साम्राज्यवादी सूत्र हुआ। ऐसों का द्वेष उनके लिए और दुनिया के लिए शाप-रूप है।

द्वेष करनेवाले दुर्जनों का और भी एक प्रकार है। ये लोग अन्याय, अत्याचार करना चाहते हैं। दुनिया को लूटना, दबाना चाहते हैं और ऐसे कुकर्म में लोगों की मदद चाहते हैं। मदद देने से जो लोग इन्कार करते हैं, उनका भी ये लोग द्वेष करते हैं।

द्वेष करने का और एक क्षेत्र रह गया।

जिनका नुकसान हम करना चाहते हैं अथवा सकारण या निष्कारण जिनका विरोध करने की हमारे मन में तीव्र इच्छा रहती है, लेकिन ऐसा करने की ताकत या हिम्मत नहीं है, उनका द्वेष करना, उनको गालियां देना, 'तुम्हारा सत्यानाश हो' कह करके उनको शाप देना और उनकी निन्दा करते रहना, यह भी द्वेष का एक निर्वीर्य किन्तु उत्कट प्रकार है।

ऐसे द्वेषों से किसी का भी लाभ नहीं है; हानि ही है।

जिसका हम द्वेष करते हैं उनका नुकसान हो या न हो, द्वेष करनेवाले हम लोगों का नुकसान तो जरूर होता ही है। द्वेष करनेवाले का अधःपात होता है। उसका लहू जल जाता है। इस तरह द्वेष असामाजिक, अकल्याणकारी और अनुन्नतिकारी तत्त्व है।

गीता कहती है कि सबसे पहले सब भूतों के प्रति द्वेषभाव छोड़ दो। अद्वेषवृत्ति रखो। उसके बाद मैत्री का उदय होगा। तुम्हें सबों के प्रति अद्वेषभाव रखना है, मैत्री रखनी है और दुखी लोगों के प्रति करुणा।

यह सब तब होगा, जब मनुष्य साधना के द्वारा अपने लोभ को जीत लेगा, अहंकार को जीत लेगा, सुख-दुख से परे रहने के लिए तितिक्षा बढ़ायेगा, और प्रमादी लोगों के प्रति उदारता से क्षमावान बनेगा।

इस एक श्लोक में अहिंसा की पूरी साधना आ जाती है। ऐसी साधना का प्रारंभ अद्वेष से करना है। अद्वेष-दर्शन ही अहिंसा-दर्शन की कुंजी है।

गांधीनीति का भविष्य

गांधी जयन्ती हर साल आती है और आती रहेगी। धीरे-धीरे दूसरी जयन्तियों की तरह यह भी एक रिवाज हो जायेगा। लेकिन इस साल गांधी जयन्ती का विशेष महत्त्व है, दो कारणों से।

एक कारण यह यह है कि सन् १९६९ में भारतमाता और सारी दुनिया गांधी-जन्म-शताब्दी बड़ी धूम-धाम से नहीं, किन्तु किसी-न-किसी दृढ़ संकल्प से मनानेवाली है। उसकी तैयारी अबकी गांधी जयन्ती से शुरू होगी। पांच साल के अन्दर देश में ऐसा कुछ काम करना है कि गांधी-जन्म-शताब्दी तक भारत की जनता न केवल गांधी-विचार की नये सिरे से दीक्षा लेगी, किन्तु ठोस कार्य भी शुरू करेगी।

दूसरा कारण कुछ नजदीक का है। गांधीजी के राजनैतिक उत्तराधिकारी भारत के जवाहरलाल के देहान्त के बाद आनेवाली यह पहली ही गांधी जयन्ती है। जवाहरलालजी के जाने के बाद चार महीने देश ने काफी संकट के देखे, काफी मनोमन्थन किया। अब हमें सोचना है कि जवाहरलालजी के जाने के बाद हमारे

पास गांधी विचार कितना सिलक (शेष) है, कितना जीवित है और आगे देश की नैया को किस ओर ले जाना है। जब जवाहरलालजी जीवित थे, देश ने अपनी बागडोर उनके हाथ में सौंप दी और विशेष सोचे बिना विश्वास रखा कि उनके हाथ में भारत का भविष्य सब तरह से सुरक्षित है।

गांधीजी का कार्य जो लोग आगे चलाते थे और जिनको जनता गांधीवादी के नाम से पहचानती है उन लोगों में से किसीने भी जवाहरलालजी की नीति का कहीं भी विरोध नहीं किया। हालांकि वे जानते थे कि गांधीजी की नीति और गांधीजी के कार्यक्रम में और जवाहरलालजी की नीति और कार्यक्रम में मौलिक भेद और अन्तर है।

कारण स्पष्ट है। गांधीजी ने ही सब बातें सोचकर जवाहरलालजी को ही अपना उत्तराधिकारी घोषित किया था।

जवाहरलालजी निर्मल चारित्र्य के, प्रामाणिक, ईमानदार व्यक्ति थे। उन्होंने जब गांधीजी का नेतृत्व मंजूर किया, तब उसके पहले और उसके बाद भी उन्होंने अपने विचार कभी भी छिपाये नहीं थे। गांधीजी के साथ उनका कहां-कहां और कितना मतभेद है, उन्होंने साफ किया ही था। खानगी में और जाहिरा तौर पर अपने भाषणों में, लेखों में और किताबों में उन्होंने अपने विचार अनेक बार स्पष्ट किये थे। अर्थशास्त्री श्री के० टी० शाह के नेतृत्व में उन्होंने भारत की अर्थनीति का चित्र तैयार करने के लिए एक समिति भी मुकर्रर की थी। गांधीजी यह सबकुछ जानते थे और जानकर ही उन्होंने जवाहरलालजी को देश का नेतृत्व सौंप दिया।

कारण स्पष्ट है। जवाहरलालजी की भारतनिष्ठा, स्वराज्य-प्राप्ति की तमन्ना और भारत के उद्धार के लिए जिस क्रान्ति की आवश्यकता है, उसे लाने के लिए अपना और देश का सर्वस्व अर्पण करने की तैयारी, इन तीन बातों में गांधीजी और जवाहरलालजी एक-दूसरे के निकटतम साथी थे। चारित्र्य की ईमानदारी और निर्भयता दोनों में एक-सी थी। यही कारण था कि अनेक तरह के स्वभाव-भेद, विचार-भेद और आदर्श-भेद होते हुए भी जवाहरलालजी ने गांधीजी को सिरछत्र मान लिया। दोनों के बीच पिता-पुत्र के जैसा संबन्ध ही कहेंगे।

गांधीजी ने भारत की हजारों बरस की आध्यात्मिक संस्कृति का निचोड़ दो शब्दों में दुनिया के सामने रख दिया था : सत्य और अहिंसा। निष्कपट चारित्र्य और मानव हितकारी शांतिनिष्ठा। गांधीजी की व्यक्तिगत अध्यात्म-निष्ठा, सत्य और अहिंसा इन दो शब्दों में व्यक्त होती। जागतिक इतिहास के अध्ययन के फलस्वरूप जवाहरलालजी भी इन दो सिद्धांतों पर आरूढ़ हुए थे : निष्कपट, निर्मल चारित्र्य और उदात्त जागतिक शान्तिनिष्ठा और युद्ध-विरोध।

गांधी और जवाहरलाल के बीच यह सबसे बड़ा साम्य था। केवल साम्य नहीं, अद्भुत ऐक्य था। इसी कारण जवाहरलालजी को भारत की नैया के लिए कर्णधार बनाया था। कूटनीति नहीं, किन्तु पक्षपातरहित प्रकटनीति, युद्ध-विरोधी जागतिक शान्तिनिष्ठा और आत्मनिष्ठा से प्रेरित निर्भयता, यही रही जवाहरलालजी की भारतनीति की मजबूत बुनियाद।

गांधीजी कहते थे कि उनका सारा प्रयास ग्रामराज्य के द्वारा रामराज्य की स्थापना के लिए है। लेकिन वे जानते थे कि सारे देश ने उस आदर्श को अपनाया नहीं था। भारतीय संस्कृति रामराज्य की स्थापना के लिऐ चाहे जितनी अनुकूल हो, पिछले ३००-४०० बरस का इतिहास उसके लिए पूरा अनुकूल नहीं था। गांधीजी जानते थे कि पठान और मुगलों के राज्यकाल में भारत ने जो अनुभव प्राप्त किया उससे अधिक अनुभव पोर्टूगीज, फ्रेन्च, ब्रिटिश के संपर्क से भारत ने प्राप्त किया है। यूरोप का असर भारत पर जितना हुआ,

उतना एशिया और अफ्रीका के किसी भी देश पर नहीं हुआ है। (जापान का अपवाद सब जानते हैं, लेकिन भारत जैसा पराधीन था वैसा जापान कभी भी पराधीन नहीं था।)

गांधीजी जानते थे कि अंग्रेजों के जाने पर देश का नेतृत्व अंग्रेजी जाननेवाले और अंग्रेजी शिक्षा के असर नीचे पले हुए नेताओं के हाथ में ही आनेवाला है। उनके सामने पार्लियामेण्टरी सेल्फ गवर्नमेण्ट यानी लोक-नियुक्त स्वराज्य का आदर्श रहेगा। कांग्रेस के द्वारा उसीके लिए देश को तैयार करना है।

गांधीजी ने अपने कार्यकाल में बहुधर्मी भारत के सामने सर्वधर्मसमभाव का आदर्श रखा, उसके लिए उन्होंने साधना यानी कोशिश भी काफी की। उसका असर हिन्दूसमाज पर बहुत अच्छा हुआ। ईसाई, पारसी, यहूदी आदि लोगों पर भी उसका अच्छा असर हुआ। लेकिन मुस्लिम लीग के सामने गांधीजी हार गये। इसलिए गांधीजी को कांग्रेस का ही धर्मनिरपेक्षता का आदर्श कबूल करना पड़ा। गांधीजी के पहले दादाभाई नौरोजी, रानाडे, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी जैसे मनीषियों ने जो धर्मनिरपेक्ष राजनैतिक आदर्श चलाया था, वही जवाहरलालजी को भी सब तरह से अनुकूल था।

अब रही भारत की औद्योगिक और अर्थनीति की बात।

इसमें गांधीजी का सारा प्रयत्न स्वावलंबन का, भारतीय संस्कृति-निष्ठा का और मानवीय अन्तिम कल्याण का था। इस बात को स्पष्ट करना जरूरी है।

गांधीजी जानते थे कि यूरोप-अमेरिका का शुद्ध अनुकरण करने की भारत की इच्छा रही तो भी अंग्रेजों का राज है तबतक वे इस नीति को सफल होने नहीं देंगे। रूई पैदा करनेवाले भारत को कपड़े की मिलें चलाने में कितनी कठिनाई सहन करनी पड़ती थी, इसका साक्षी भारत का इतिहास है। भारत ने अपने जहाज चलाने की प्राणपण से कोशिश की, लेकिन अंग्रेजों ने बड़ी क्रूरता से उस प्रयत्न को दबा दिया।

ऐसे अनुभव के कारण ही गांधीजी ने सोचा कि औद्योगिक उन्नति के लिए सरकार की और धनिकों की मदद के बिना प्रजाकीय कौशल्य, प्रजाकीय संकल्प और प्रजाकीय संगठन के द्वारा जो हो सके वही करना चाहिए। इससे दो बड़े लाभ होंगे। (१) देश के हुनर-उद्योग और कारीगरी मरते-मरते बच जायेगी, गांव-वालों को रोजी मिलेगी, और (२) जनता की स्वावलंबी संगठन-शक्ति जाग्रत होगी।

अंग्रेजों का विरोध और धनिकों की उदासीनता होते हुए भी 'स्वदेशी' के बल पर ग्रामोद्योगों का संग-ठन करना, यही होगी स्वराज्य की उत्तम तैयारी।

यह हुआ एक उद्देश्य। दूसरा और तीसरा उद्देश्य दोनों सांस्कृतिक थे। प्राचीन काल से भारत ने हाथ-कारीगरी में और ग्रामोद्योगों में लोकोत्तर प्रवीणता हासिल की थी। यहां तक कि भारत का माल दूर देशों तक जाता था और वहां से इतना धन भारत में आता था कि लोग भारत को सुवर्णभूमि कहते थे। अंग्रेजों ने ईस्ट इण्डिया कंपनी के द्वारा हमारे ग्रामोद्योगों को कुचल डाला और यन्त्रोद्योगों से हाथकारीगरी को भी खतम किया। स्वदेशी के आंदोलन के द्वारा यह सारा नुकसान धो डालने की बात थी।

और तीसरे उद्देश्य के पीछे गांधीजी की आध्यात्मिक, आर्थिक और राजनैतिक दूरदर्शिता थी जिसका महत्त्व आज नहीं, किन्तु ५० या १०० बरस के बाद ज्यादा स्पष्ट होगा।

यन्त्रोद्योग के साथ बड़े-बड़े कल-कारखाने तैयार होते हैं, पूंजीवाद खड़ा होता है। पारतन्त्र्य जितना विनाशक है, उतना ही पूंजीवाद द्वारा होनेवाला गरीबों का शोषण भी भयानक विनाशक होता है। स्वराज्य-प्राप्ति के साथ अगर पूंजीवाद का भी खतरा दूर हुआ तभी गरीब लोग सुखी होंगे और स्वराज्य कल्याणकारी सिद्ध होगा।

इसलिए गांधीजी ने खादी और ग्रामोद्योग पर इतना भार दिया और अपनी सारी शक्ति लगाई।

लेकिन गांधीजी जानते थे कि यन्त्रोद्योग आनेवाला है। स्वराज्य होते ही कल-कारखाने बढ़ेंगे और भारत ब्रिटेन, जर्मनी, जापान और अमेरिका का कमोबेश अनुकरण करेगा। गांधीजी को यह पसन्द नहीं था। लेकिन वे जानते थे कि इस बाढ़ को रोकना नामुमकिन है। उन्होंने यह भी देखा कि स्वराज्य के साथ अगर देश में समाजसत्तावाद आ गया और सरकार ही बड़े कल-कारखाने चलायेगी तो पूंजीवाद के द्वारा होनेवाला गरीबों का शोषण टल जायेगा।

इसलिए उन्होंने अपने मन में एक समझौता मंजूर किया। खेती के बाद सबसे बड़ा उद्योग है वस्त्र-निर्माण का। अगर वह उद्योग ग्रामीण जनता के हाथ में रहा तो ग्रामीण जनता की खैरियत है। इसलिए उन्होंने चाहा कि सरकार और जनता खादी-ग्रामोद्योग के बारे में उभयमान्य नीति का स्वीकार करें। फिर लोहा आदि बाकी के बड़े-बड़े उद्योग समाजवादी स्वराज्य सरकार भले ही यन्त्रोद्योग के रूप में चलावे।

नेहरू राज्यकाल में देशी और विदेशी पूंजी के सहयोग से और दोनों के सम्मिलित संगठन से बहुत से कल-कारखाने शुरू हुए हैं और नये-नये शुरू हो रहे हैं। अगर इनमें अपेक्षित सफलता मिली तो देश का स्वावलंबन और आर्थिक सामर्थ्य बढ़ेगा। औद्योगिक कल-कारखाने बढ़ने से वैज्ञानिक प्रगति होती ही है, जिसके द्वारा होनेवाला जीवन-परिवर्तन अपरिहार्य है।

लेकिन बड़े-बड़े कल-कारखाने चाहे जितने बढ़े, उनके द्वारा गांवों में रहनेवाली करोड़ों की संख्यावाली जनता की बेकारी और 'अल्पकारी' तुरन्त दूर होनेवाली नहीं है। इसलिये यन्त्रोद्योग और ग्रामोद्योग दोनों के लिये इस वक्त देश में स्थान है।

तब दोनों के बीच संघर्ष क्यों करें ? गांधीजी का जीवन-तत्त्वज्ञान जिन्हें पूर्णतया मान्य है, वे अपनी पूरी शक्ति ग्रामोद्योगों के विकास के लिये लगावें और स्वराज्य सरकार पूरी उदारता से उन्हें सब तरह की मदद दे।

इस तरह राष्ट्र की औद्योगिक नीति दो धाराओं में बहेगी। स्वराज्य सरकार और उद्योगपति बड़े-बड़े कल-कारखाने चलायेंगे और देश की औद्योगिक आर्थिक सामर्थ्य बढ़ायेंगे। साथ-साथ विज्ञान का प्रचार भी होगा।

दूसरी धारा गांधीजी के अनुयायी सर्वोदयवादी, रचनात्मक कार्यक्रम चलानेवाले सेवकों के द्वारा बहेगी, जिसके फलस्वरूप बेकारी-अल्पकारी दूर होगी। कौशल्य, स्वावलंबन और ग्रामीण सहयोग की तालीम भी बढ़ेगी।

इस दोहरी नीति को समझौता कहें या सहयोग, काफी समय तक चलाना ही पड़ेगा। लेकिन वह भारत की स्थायी या अन्तिम नीति नहीं होगी। इसके बारे में विस्तार से सोचना होगा। आज हम इतना ही कहेंगे कि यन्त्रोद्योगों के द्वारा विज्ञान और संगठन की मदद से सारी दुनिया का जो औद्योगीकरण आज दो सौ बरस से हो रहा है, उसकी मर्यादा अगले १०० बरस में आनेवाली हैं। जब एशिया के और अफ्रीका के सब देशों का एक-सा औद्योगीकरण का सारा स्वरूप ही बदल जायेगा और समाज की नवरचना—आमूलाग्र नव-रचना सोचनी पड़ेगी। उसके बारे में स्वतन्त्र रूप से सोचना पड़ेगा। इस वक्त तो गांधी जयन्ती के साथ गांधी-नीति, नेहरू-नीति और भारत की भविष्य की नीति के बारे में सोचना जरूरी है। इस लेख में मुख्य-मुख्य बातें आ गई हैं तो भी देश-रक्षा की नीति, भाषा और साहित्य की नीति और भावनात्मक एकता का सवाल इन मुख्य विषयों पर ही गांधी जयन्ती का चिन्तन प्रकट करना होगा।

मेरा धर्म

किसी ने पूछा 'आपका धर्म क्या है ?'

मैंने कहा, 'उसीकी तो खोज में हूं।' जन्म से मैं हिन्दू हूं। लेकिन हिन्दू कोई एक धर्म नहीं है। अनेक धर्मों का या सम्प्रदायों का वह एक परिवार है। कभी-कभी उन धर्मों की अंदर-अंदर नहीं बनती है, जैसे कि अविभक्त कुटुम्ब में कभी-कभी होता है। लेकिन इन दिनों इस परिवार के सब धर्मों की आपस में अच्छी बनती है। मैंने बचपन से इन सब धर्मों का वायुमंडल प्यार के साथ और उत्साह के साथ आजमाया है। सब मुझे अच्छे लगे हैं।

बाद में परिवार के बाहर के पड़ोसी धर्मों के यहां भी जरा-जरा हो आया। बचपन से जो आदत है उसी के अनुसार उनके घर पर भी आत्मीयता बरतने लगा। मुझे तो उसमें कठिनाई महसूस नहीं हुई लेकिन मैं देख सका कि उनमें पारिवारिक उदारता कुछ कम है। मेरी आत्मीयता उन्हें अखरने लगी। लेकिन बेचारे करते क्या ? मैंने जोरों से अपनी आत्मीयता चलाई। मुझे उनका घर पराया जैसा लगा ही नहीं। हां मैंने अपने लिये एक नियम रखा था—सेवा लेनी कम, सेवा मांगनी कम, सेवा देनी बहुत कुछ। मैं कहता था, "अजी, मुझे पराया क्यों मानते हैं ? मुझे अपने घर का ही मान लीजिये। घर के बुजुर्गों के प्रति आदर दिखाना मुझे अच्छा लगता है। सेवा करते आनन्द आता है। मुझे चाहिये सो इस घर के वायुमंडल में मुझे मिलता है। अगर मेरी कोई बात आपको अखरती हो तो कहिये, मैं सुधार लूंगा, संभाल लूंगा।"

वे कहने लगे, "ऐसा तो है नहीं, आप हमारे प्यारे मेहमान हैं।"

मैंने कहा, "वही तो मुझे अखरता है। मुझे मेहमान क्यों कहते हैं ? घर का कहिये। और कहीं भी रहने दीजिये। मैं आपका आतिथ्य लेने नहीं आया हूं। अपना प्रेम महसूस करने आया हूं।"

खैर, यह तो ऐसा ही चलेगा। मुझे तो सब धर्म अपने-से लगते हैं, लेकिन ज्यादा प्यारी है भक्ति। उसमें भी अभेद भक्ति में जो आनन्द आता है वह तो और ही है। उस आनन्द को धन्यता ही कहना चाहिये।

लेकिन आपने पूछा, "तुम्हारा यानी मेरा धर्म कौन-सा है ?" एक तरह से सब धर्म मेरे हैं, लेकिन इस जवाब से मुझे जितना सन्तोष होता है उतना आपको नहीं होगा।

मेरी कठिनाई धर्म पसन्द करने की नहीं है। मैं तो अपने को पूरा-पूरा नहीं पहचान सका हूं। असली बात यह है कि मैं एक होते हुए भी एक नहीं हूं।

मुझमें 'मैं' 'मैं' कहनेवाले अनेक बसे हुए हैं। 'आई कांटेन मल्टीट्यूड्स'। सबके प्रति मेरी आत्मीयता है। हम लोगों में समन्वय है, किन्तु एक-वाक्यता नहीं है। अगर इनमें किसी एक 'मैं' की प्रधानता होती तो भी मैं अपना धर्म कौन-सा है, कह सकता।

मैं भगवान से प्रार्थना करता हूं कि 'भगवान, मुझमें जो अनेक 'मैं' हैं उनमें से किसी एक को प्रधान बनाने की मुझे शक्ति दीजिये, तो मेरा बेड़ा पार होगा।'

भगवान कहते हैं—बेशक वैसा करने से तुम्हारा बेड़ा पार होगा। तुम्हारे द्वारा बहुत बड़े काम होंगे। तुम्हारी प्रतिष्ठा बढ़ेगी, तुम युगपुरुष बनोगे। इतनी शक्ति तुममें है। लेकिन मैं तुम्हारे द्वारा अपना एक प्रयोग चला रहा हूं। तुम्हारे अन्दर एक 'मैं' की प्रधानता हुई तो तुम्हारा बेड़ा पार होगा, लेकिन मुझे अपना बेड़ा पार कराना है। इस दुनिया में किसी भी काल में सफलता के लिये एकांगिता की आवश्यकता होती है। एकांगिता के बिना एकाग्रता नहीं आती और एकाग्रता के बिना सफलता कहां से ?

और अगर उत्कटता बढ़ी तो समन्वय में कुछ कमी होगी, इसलिये तुम्हें मैं एकांगी नहीं बनाऊंगा।

कॉलेज के दिनों में तुम ही ने तो व्रत लिया था कि "एक जीवन प्रयोगों के पीछे बरबाद करना है। 'कैरियर' के लिए कोशिश नहीं करूंगा। और अगर किसी भी कारण 'कैरियर' बनने लगी तो उसे तोड़ना यही होगा मेरा जीवन-कार्य।"

"तुम्हारे इस व्रत को मेरा आशीर्वाद है। इसके पालन में मैंने तुम्हारी मदद की है, और करता रहूंगा। सर्व धर्म ही तुम्हारा धर्म है। सर्व-मुक्ति में ही तुम्हारी मुक्ति है। सर्व साधनाओं का जब समन्वय होगा तब तुम्हारी साधना होगी। उसके बाद तुम्हें कुछ करना नहीं होगा और इस शरीर द्वारा जीने का प्रयोजन भी नहीं रहेगा।"

यह सारा मेरे ध्यान में आता है, लेकिन पूरा-पूरा आत्मसात् नहीं हुआ है। जब आत्मसात् होगा तभी मैं कह सकूंगा कि मेरा, निजी मेरा धर्म क्या है?

परमस्नेही अंधकार

गोवा की राजधानी पणजी में एक बार मेरा व्याख्यान था। जगह छोटी और श्रोता अधिक होने पर भी सभा में गड़बड़ नहीं थी। मेरा भाषण साहित्य विषय पर था। लोग एकाग्रता से सुन रहे थे। इतने में बिजली बन्द हो गई और दीवानखाने में अमावस सरीखा घुप्प अन्धेरा हो गया। पेट्रोमेक्स लाने के लिए कोई भागे, किसी ने कुछ और सूचना दी। थोड़ी देर ठहरकर मैंने सुझाया, "मित्रो, दीये की क्या दरकार है? आप लोगों ने मुझे देखा है, मैंने आपको देखा है। अपने विषय में हम रंग चुके हैं। प्रत्येक अपनी-अपनी जगह पर आराम से बैठा है। कुछ लोग खड़े हैं। हम अंधेरे में ही व्याख्यान आगे क्यों न चलावें? व्याख्यान के बाद प्रश्नोत्तरी चलाने की मेरी आदत है। यह प्रश्नोत्तरी भी एक-दूसरे का चेहरा देखे बिना चलाई जा सकेगी। चेहरे पर का भाव यदि न भी दिखाई दिया तो आवाज से एक-दूसरे की वृत्ति और कहने की खूबी तो ध्यान में आ ही सकेगी।"

मेरी यह खुशमिजाजी श्रोताओं को पसंद आई और सब शान्त होकर एकाग्रता से सुनने लगे। सच-मुच ही उस दिन का व्याख्यान और उसके बाद की प्रश्नोत्तरी आकर्षक और सजीव हो सकी। सभा का काम समाप्त हुआ और ऐन आभार-प्रदर्शन के वक्त कोई व्यक्ति एक मोमबत्ती ले आया। अपनी मौजूदगी प्रकट करने के लिए पेट्रोमेक्स भी मोमबत्ती के पीछे-पीछे आ गया। उसने लोगों की आंखें चौंधिया दीं। इससे हमें इतनी बात तो कबूल करनी चाहिए कि उसके प्रकाश के कारण सभा से लौटनेवाले लोगों को अपने-अपने जूते खोजना सरल हो गया।

एक इस छोटे से प्रसंग का इतने विस्तार के साथ वर्णन की जरूरत नहीं थी; लेकिन इस सभा में मुझे एक नया ही अनुभव हुआ। अंधकार में वक्ता और श्रोता के बीच निकटता अधिक अच्छी तरह स्थापित हो सकी थी। इतने उत्सुक लोग एकाग्रता से सुन रहे हैं, बड़े मार्मिक प्रश्न पूछ रहे हैं, उत्तर ठीक जंचने पर उसकी कदर भी करते हैं, और इतना होने पर भी किसी को किसी का चेहरा दिखाई नहीं देता और मानो इसी के कारण हम सब लोग अभिन्न मित्र हो गए हैं। एक-दूसरे को देख नहीं सकते, इस अड़चन के कारण सबको एक-दूसरे के प्रति सहानुभूति हो गई थी और अंधेरे की अड़चन की भरपाई करने के लिए सभी लोग अपनी भलमंसी, सज्जनता और आत्मीयता की पूंजी का खुले दिल से व्यवहार करने लगे थे। मुझे लगा कि अन्धकार

ने एक तरह से उपकार ही किया है। अन्धकार की इस शक्ति की तरफ मेरा ध्यान पहली ही बार गया।

एक बार फिर बिहार में संथाल लोगों की परिस्थिति देखने के लिए हम मोटर से घूम रहे थे। शाम के समय एक गांव में जा पहुंचे। एक पाठशाला की खाली इमारत में बैठकर हम लोगों ने गांव के लोगों के साथ वार्तालाप शुरू किया। धीरे-धीरे प्रकाश कम होकर कुछ धुंधला हो गया। वहां के एक गृहस्थ से मैंने कहा, "अन्धकार हो चला है, दीया ले आयेंगे तो अच्छा होगा।"

आश्चर्य से मेरी तरफ देखते हुए वे बोले, "दीया! इस गांव में दीया कहां से मिलेगा? सारे गांव में एक ही दीया है और वह दिक्कु के दरवाजे के सामने है। यहां के हम लोग दीया कभी इस्तेमाल नहीं करते। सूर्य छिप गया कि हमारा करोबार समाप्त हो जाता है। सुबह पौ फटी कि हम लोग काम पर लग जाते हैं।"

१९२३ में जब जेल में था, शाम को हमें कोठरी में बन्द कर देते थे और सुबह छः बजे के बाद बाहर निकालते थे। कोठरी में कभी दीया नहीं होता था। उन दिनों की मुझे याद आ गयी। लेकिन वहां कैदी भाग तो नहीं गया है, अपनी जगह पर ही है, इसकी तसल्ली करने के लिए पुलिस हाथ में लालटेन लिये दरवाजे के लोहे के सीखचों में से हमारी तरफ देखती थी। इस कारण क्षण-भर के लिए दीये के दर्शन होते थे। लेकिन यहां सारे गांव में एक ही दीया और बाकी सर्वत्र पशु-पक्षियों का-साजीवन। मैंने पूछा, "दिक्कु कौन है?" जवाब मिला, "इस प्रदेश में हम सब संथाल लोग हैं। हम लोगों के बीच कोई मारवाड़ी या कोई भी गैर-संथाली आकर रहता है तो उसे हमारी भाषा में 'दिक्कु' कहते हैं। 'दिक्कु' याने 'पराया'।"

इस गांव में जिस प्रकार एक ही दीया था, उसी तरह दिक्कु भी एक ही था। उसके भी घर में दीया नहीं था। सिर्फ घर के बाहर दरवाजे के पास एक घासलेट की ढिबरी जल रही थी।

मनुष्यों की बस्ती में अन्धेरे का साम्राज्य! मैं बड़ी चिन्ता में पड़ गया। इन लोगों को इसका कुछ बुरा नहीं लगता। अन्धेरा तो रात को आयेगा ही। उसका दुःख मानना चाहिए, यह बात भी इन लोगों के दिमाग में नहीं आती। भारतभूमि, भारतीय जीवन, भारतीय संस्कृति के बारे में बराबर बोलते रहनेवाला मैं, मुझे इस दीप-विहीन जीवन की आजतक कल्पना ही नहीं थी। हिन्दुस्तान में ऐसा भी भू-भाग है, यह बात मुझे पहली ही बार मालूम पड़ी। थोड़ी देर सोचने पर मुझे लगा कि इन लोगों पर तरस खाने से पहले मुझे अपने-आप पर ही तरस आना चाहिए।

एक सुनी हुई बात है। किसी श्रीमन्त के घर में एक लड़का बहुत ही नाजुक दिल का था। घर में रात होने से पहले ही दीये जलाये जाते थे; लेकिन दीवार पर अपनी और अपने भाइयों की छाया का स्वरूप समझाकर बताने के बजाय अमीर बाप ने प्रत्येक कमरे में दो-दो तीन-तीन दीये रखने की व्यवस्था की। उद्देश्य यह था कि उठावदार छाया कहीं भी न पड़े। बच्चा जबतक सो नहीं जाता था तबतक दीये बुझाये नहीं जाते थे। बच्चे को पौ फटने पहले नींद से उठने की आदत नहीं थी।

एक रात को लड़का आधी रात को ही जाग उठा। चारों तरफ अन्धेरा ही अन्धेरा है और बिछौने पर पास में मां वगैरह कोई भी नहीं; यह देखकर वह चीख उठा और कमरे में कोई दीया लाये, उससे पहले ही डर के मारे लड़के के प्राण-पखेरू उड़ गये। प्रत्यक्ष घटित घटना के रूप में यह कहानी मैंने उस समय सुनी थी।

अन्धेरे का डर भूत के डर जितना ही भयानक हो सकता है, इसकी कल्पना करके मैं अस्वस्थ हो गया था। उस समय मेरी उम्र भी ज्यादा बड़ी नहीं थी। लेकिन हमें अन्धेरे की आदत थी। अपरिचित जगह अन्धेरे में जाने का डर जरूर लगता था, लेकिन अपनी छाया देखकर डर लगे, इतने अनजान हम कभी भी नहीं थे, बल्कि दीये के सामने उंगलियां धर के दीवार पर छाया के हिरण बनाने और हिरणों के सींग लड़ाने

में हमें मजा आता था।

अन्धकार का थोड़ा-सा मनन करने के पहले अन्धकार के विषय में थोड़ा-सा उठावदार अनुभव कह दूं। जिस दिन उपनिषद् में प्रार्थना पढ़ी—'तमसो मा ज्योतिर्गमय'—मुझे अन्धेरे में से प्रकाश की तरफ ले चलो—उस समय अन्धकार और प्रकाश ये जगत में बड़े सर्वव्यापी और परस्पर भिन्न जीवनतत्त्व हैं, यह बात ध्यान में आकर प्रकाश के प्रति भक्ति दुगुनी हुई। लेकिन इसके साथ ही साथ अंधकार भी एक व्यापक और करीब-करीब सार्वभौम तत्त्व है, इसकी कल्पना स्पष्ट हो जाने के कारण अंधकार का महत्त्व भी समझ में आया। आध्यात्मिक दृष्टि से हम अज्ञान, को अन्धकार कहते हैं। समस्त जीवन का विचार करते समय जगत का अन्धकार और हृदयाकाश का अज्ञान ये भिन्न नहीं हैं, एक ही हैं, ऐसा उस समय प्रतीत हुआ।

एक बार एक कुटुम्ब पर दारुण प्रसंग आया था और घर के सब बड़े लोग शोक में डूब गये थे। यह देखकर मन में विचार आया कि ईश्वर की कितनी बड़ी कृपा है कि इन बच्चों को कुटुम्ब पर आये हुए भीषण संकट की कल्पना ही नहीं हो रही है। अगर उन्हें सच्ची परिस्थिति की कल्पना हो सकती तो उनके कोमल हृदय पर आघात होने से उनके प्राण ही निकल जाते। मुर्गी के बच्चों का आकार बनने से पहले जिस प्रकार उन्हें अण्डे के कवच का रक्षण चाहिए, उसी प्रकार मन पक्का हो जाय तबतक के लिए बच्चों को ईश्वर ने अज्ञान का यह कवच दिया है। यह उसकी बड़ी कृपा ही है।

संसार में सार-वस्तु क्या है और असार वस्तु क्या है, इसका ज्ञान अगर संसार के सब लोगों को एक ही समय, एक ही तरह हो जाय तो जगत् का यह घटना-चक्र ही रुक जाएगा। मनुष्य असार को सार समझकर चलता है, इसलिए उसे जीने में आनन्द आता है, और बड़े जोश के साथ वह जीता है और कर्म करता है। और, ऐसा भी नहीं कि ये सब कर्म अच्छे ही होते हैं। मनुष्य कभी-कभी जीवन-भर एक-दूसरे से द्वेष करता है। राष्ट्र सदियों तक बैर चलाते हैं और महायुद्ध करके संहार का महोत्सव करते हैं। यह सब मूल में अज्ञान की ही चेष्टाएं हैं। इसीलिए मनुष्य ने प्राचीनकाल से प्रार्थना चला रखी है—'तमसो मा ज्योतिर्गमय।'

जब हम तत्वदर्शी होकर अथवा तत्वजिज्ञासु जीवन का विचार करते हैं तब देख सकते हैं कि जीवन और मृत्यु दोनों परस्परपूरक, परस्परपोषक और एक सरीखे आवश्यक तत्त्व हैं।

केवल अज्ञान और ज्ञान की ही यह बात नहीं है। अंधकार और प्रकाश का भी ऐसा ही है। अज्ञान यानी कम ज्ञान, अपूर्ण ज्ञान, धुंधला ज्ञान, भ्रमयुक्त ज्ञान, भ्रम से मिला हुआ ज्ञान, यही अज्ञान का अर्थ होता है। इसी तरह अंधकार का भी कम प्रकाश, अपूर्ण प्रकाश ऐसा ही अर्थ करना चाहिए। रात को जहां हमें नहीं दिखाई देता वहां बिल्ली को दीखता है और वह बिना चूके चूहे पर झपट्टा मारती है, तब तो हमारे लिए अपूर्ण प्रकाश है वह बिल्ली के लिए पूर्ण है। इसके विपरीत दिन का प्रकाश बिल्ली और बाघ के लिए आवश्यकता से अधिक होने के कारण उनकी आंखें मिचमिचा जावें ऐसी प्रकृति की व्यवस्था है। फोटो खींचने के कैमरे की आंख का सूराख जिस प्रकार छोटा-बड़ा किया जा सकता है उसी प्रकार कुछ प्राणियों की आंखों का 'डायफ्रेम' प्रकाश की मात्रा के मुताबिक कम-ज्यादा किया जा सकता है। अगर ऐसा न हो सके तो उन प्राणियों को अतिप्रकाश का अंधेरा या अंधापन सहन करना पड़ता। इसीलिए उलूक को दिवाभीत या दिवान्ध कहते हैं।

आवाज के बारे में भी यही बात है। आवाज के भी सूक्ष्म आन्दोलन होते हैं। प्रति सैकण्ड अमुक आन्दोलन से कम आन्दोलन हों तो आवाज सुनाई नहीं देती। चार हजार या दस हजार आन्दोलन से ज्यादा आन्दोलन एक सैकण्ड में होने लगे तो भी आवाज एकदम गुम हो जाती है। अंधकार का भी ऐसा ही क्यों न हो? गीता में तो कहा है:

"या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥"

अध्यात्म के क्षेत्र में भगवान् शिव परमज्ञानी योगेश्वर हैं। पुराणकार कहते हैं कि व्यवहार के बारे में उनका सुस्त दिमाग चलता ही नहीं। मनुष्य का ज्ञानसप्तक और महादेव का ज्ञानसप्तक भिन्न होने चाहिए। (मनुष्य अपने गले से ज्यादा-से-ज्यादा 'सा रे ग म प ध नी सा' के तीन ही सप्तक निकाल सकता है। वह मन्द्र से नीचे नहीं जा सकता और तार सप्तक से ऊपर नहीं जा सकता। यह हुई गले की बात। कानों के बारे में भी इसी प्रकार दोनों सिरे की मर्यादा है।)

अब हम अंधकार की तरफ फिर से आवें। मैंने एक बार कुछ अंश मजाक में और कुछ अंश तात्विक वृत्ति से लिखा था—जिस स्थिति में कम दीखता है, उस स्थिति को अगर अंधकार कहें और अधिक दीखता है, उस स्थिति को प्रकाश कहें तो दिन में उजला धुप्प अंधेरा होता है, इसलिए हमें सिर्फ पृथ्वी और सूर्य ये दो ही खगोल दिखाई देते हैं। रात को कृष्ण प्रकाश फैलता है इसलिए हमें आकाश में लाखों खगोल दिखाई देते हैं। उन्हें हम तारे, नक्षत्र और तारकापुंज कहते हैं। दूरबीन की सहायता से हम इस कृष्ण प्रकाश को बहुगुना करते हैं, इसलिए हमें सुक्ष्मातिसूक्ष्म आकाश स्थित तारे दीख सकते हैं। दिन का धवल अंधकार इष्ट समझें या रात के विश्वव्यापी कृष्ण प्रकाश को परम सखा समझें ? विचार करके ही इसे निश्चित करना चाहिए।

शांतिनिकेतन में महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर रात की प्रार्थना के समय दीया हटा देते थे। रवीन्द्रनाथ ने यही परम्परा आगे चलाई। शांतिनिकेतन की यह पद्धति गांधीजी को इतनी पसन्द आई कि उन्होंने भी रात की और सुबह की प्रार्थना के समय दीया हटा देने की परिपाटी चलाई।

कितने ही योगी, शाम को प्रकाश क्षीण होकर जब अंधकार शुरू होता है, उसी समय ध्यान में बैठना पसन्द करते हैं, क्योंकि अंधकार एकाग्रता के लिए, अन्तर्मुख वृत्ति के लिए विशेष पोषक होता है। रात को आकाश में असंख्य तारे चमकते हैं। जब चांदनी होती है तब सिर्फ बड़े तारे ही दिखाई देते हैं और चन्द्रमा का प्रकाश सौम्य रूप से आकाश और पृथ्वी को काव्य की शोभा देता है कि अन्तर्मुख होकर ध्यान करने के लिए बाहर की परिस्थिति जरा भी बाधक नहीं होती।

आजकल की बिजली जहां-तहां अंधकार का संहार करती है और मन में उपशम पैदा होता हो तो उसे भगाकर उसके स्थान पर उत्तेजना उत्पन्न करती है। इस प्रकाश से अगर केवल रात का दिन हो जाता तो शिकायत इतनी नहीं थी। लेकिन यह उत्तेजना दिन में होने वाले काम भी नहीं करने देती और रात का विश्राम अथवा विश्रब्ध वार्तालाप भी नहीं होने देती। इसका प्रकाश यानी केवल उत्तेजना और कृत्रिमता। इसके कारण न करने के काम करने के लिए मनुष्य तत्पर होता है। किसी भी प्रकार का शुद्ध निर्णय करना ऐसे वक्त करीब-करीब अशक्य होता है।

और जो अंतर्राष्ट्रीय बनाव-बिगाड़ आज संसार-भर में चल रहा है, उसमें योगियों की साम्यबुद्धि होती ही है, ऐसा कौन कह सकता है ? संसार-भर में तरह-तरह की उत्तेजना की धमाचौकड़ी चल रही है और ऐसे वातावरण में ही सारा बनाव-बिगाड़ होता है। तब ऐसा नहीं कह सकते कि यह सारा कृत्रिम प्रकाश मनुष्य-जाति के कल्याण के लिए पोषक ही है।

भगवान हमें ऐसे कृत्रिम प्रकाश में से शांतिदायक अंधकार की तरफ ले जाओ, ऐसी प्रार्थना करने के दिन सचमुच ही आ गए हैं। प्राकृतिक प्रकाश में मनुष्यता होती है। प्राकृतिक अंधेरे में आत्मीयता होती है और चिन्तन को अवकाश भी मिलता है। कुदरती प्रकाश और कुदरती अंधकार, दोनों ईश्वर के दिये हुए प्रसाद हैं। दोनों में मनुष्य का व्यक्तित्व निखरता है और विकास पाता है। प्रकाश प्रवृतिपरायण होने के कारण

गड़बड़ पैदा कर सकता है। अंधकार में आत्मपरीक्षण को स्थान है और इसलिए वह आत्म-साधना के लिए विशेष अनुकूल है।

अंधकार को भावात्मक कहो, चाहे अभावात्मक, अंधकार मनुष्य के मन के लिए, हृदय के लिए और आत्मा के लिए पोषक वस्तु है। बहुत से बंधन काटकर छुटकारा देनेवाली वस्तु हितकर है। सारी रात कमरे में प्रकाश रखने की सुविधा होने पर भी सोनेवाला व्यक्ति अंधकार का ओढ़ना पसन्द करता है। दिन में सोनेवाला व्यक्ति भी प्रकाश कम करके सोता है। नींद जिस तरह थके हुए आदमी को आराम देकर ताजा करती है उसी प्रकार अंधकार भी थकान दूर कर के ताजगी उत्पन्न करता है। और इसीलिए मनुष्य अंधकार में जाकर बैठता है तो उसे नई-नई कल्पनाएं सूझती हैं भरमाये हुए मनुष्य को संकट से मुक्त होने का मार्ग सूझता है और निराश मनुष्य को आशा की खुराक मिलती है। मेरा तो साफ अभिप्राय है कि जगत् में अगर अंधेरा नहीं होता तो आज जितनी होती हैं उनसे ज्यादा आत्महत्याएं होतीं। अंधेरे के शान्त वातावरण में उत्तेजित मन स्थिर होता है, दूसरी तरफ का विचार करने लगता है, अन्तर्मुख होकर आत्मप्रवण हो सकता है और इहलोक के साथ-साथ परलोक का विचार होने के कारण मनुष्य में दिव्य-दृष्टि का उदय हो सकता है। अंधकार के पास यथेच्छ जगह होने के कारण भीड़ उत्पन्न किये बिना वह मनुष्यों को एक-दूसरे के समीप लाता है।

मृत्यु का रहस्य

जिस तरह दिवस और रात्रि मिलकर २४ घण्टे का दिन बनता है; शुक्ल-पक्ष और कृष्ण-पक्ष मिलकर महीना बनता है, उसी तरह जीवन और मरण मिलकर जिन्दगी यानी व्यापक जीवन बनता है'। दिवस-रात्र की या उभयपक्ष की उपमा कइयों को नहीं जंचेगी। वे कहेंगे कि अहोरात्र १२-१२ घण्टे के समान होते हैं। शुक्ल-कृष्णपक्ष १५-१५ दिन के होते हैं। जीवन-मरण का वैसा नहीं है। जीवन दीर्घकाल पर फैला हुआ, तना हुआ होता है। मृत्यु एक क्षण की चीज है। आखिरी सांस ले ली और जीना समाप्त हुआ। मृत्यु क्षणिक है। उसकी तुलना जीवन से कैसे हो सकती है?

लोग कहते हैं, शुक्लपक्ष में प्रकाश होता है, कृष्णपक्ष में अंधेरा। क्या बात सही है? लोग कहते हैं, दिन सफेद होता है, रात काली। क्या यह बात भी शुद्ध सत्य है?

जिसे हम बारह घण्टे की रात कहते हैं, उसके प्रारम्भ में और अन्त में संध्या-प्रकाश होता ही है।

पूर्णिमा की रात्रि सारी प्रकाशित होती है। अमावस्या की रात्रि को चन्द्रिका का अभाव रहता है। लेकिन बाकी के दिनों प्रकाश और अंधकार दोनों को कमोबेश स्थान है। हम इतना कह सकते हैं कि शुक्लपक्ष में शाम को चन्द्र प्रकाश पाया जाता है, कृष्णपक्ष में शाम को चन्द्र का दर्शन नहीं होता। बाकी दोनों पक्षों में प्रकाश और अंधेरा दोनों होते हैं।

हमारी जिन्दगी में भी मृत्यु के बाद हमारे उसी जीवन का उत्तरार्द्ध शुरू होता है, जो पूर्वार्द्ध की अपेक्षा व्यापक और दीर्घकालिक होता है।

मनुष्य के मरण के बाद वह अपने समाज में जीवित रहता है। किसीका समाज छोटा होता है, किसी का बड़ा। मनुष्य अपने जीवन में जो कर्म करता है, विचार प्रकट करता है, ध्यान-चिन्तन करता है, उसका असर उसके समाज पर होता ही रहता है। चन्द बातों में मृत्यु के बाद यह असर ज्यादा होता है। मनुष्य ने

अपने जीवन में जो-जो किया, समाज के साथ सहयोग किया या उसकी सेवा की, उसकी भली-बुरी विरासत उसके समाज को मिलती है और इस तरह वह समाज पर असर करता रहता है। वह है उसका मरणोत्तर जीवन।

महावृक्षों और पर्वतों की छाया दूर तक पहुंचती है। बुद्ध भगवान और महात्मा गांधी जैसों का असर समाज में हजारों बरसों तक अपना काम करता है। इसलिए इन लोगों को हम दीर्घजीवी या चिरजीवी कहते हैं।

समूचे जीवन का विचार करते हुए कहना पड़ता है कि मृत्यु के इस तरफ का, पूर्व जीवन छोटा है, केवल तैयारी के जैसा है, सच्चा विशाल जीवन तो मृत्यु के बाद ही शुरू होता है। मृत्यु के पहले का जीवन पुरुषार्थी होने के कारण उसका महत्त्व खूब है। मृत्यु के बाद का जीवन परिणामरूप होने से व्यापक और दीर्घकालिक होता है। इसलिए उसका भी महत्त्व कम नहीं।

मृत्यु के बाद जो जीवन जिया जाता है, उसे हमारे धर्मग्रंथों में—उपनिषदों में—नाम दिया है साम्पराय। जो लोग बच्चों के जैसे अज्ञान हैं, अंधे हैं, वे साम्पराय को नहीं देख सकते। "न साम्परायः, प्रतिभाति बालम्।"

जो ज्ञानी है, जानकार है, वह मरणोत्तर जीवन को और उसके महत्त्व को पहचानता है। वह कहता है कि इतने बड़े महत्त्व के और सुदीर्घ साम्पराय को नुकसान पहुंचे, ऐसा कार्य मैं अपने जीवन में—पूर्व तैयारी के काल में—नहीं करूंगा। बचपन में अगर क्षणिक उन्माद के कारण ब्रह्मचर्य को नष्ट किया तो मनुष्य का सारा-का-सारा गृहस्थाश्रम बिगड़ जाता है। इसलिए दीर्घदर्शी आत्महित समझनेवाला कहता है कि गृहस्थाश्रम का पूरा आनन्द लेने के लिए ब्रह्मचर्य का पूर्वाश्रम मैं संयम से, शुद्ध रूप से, व्यतीत करूंगा।

मेधावी मनुष्य कहता है कि जिह्वालौल्य को क्षण-मात्र तृप्त करने के लिए अगर मैं अपथ्य आहार या अति-आहार करूंगा तो दीर्घकाल तक मुझे बीमार रहना पड़ेगा और मैं आरोग्यानन्द और जीवानन्द से वंचित रहूंगा। इसलिए मैं अपथ्यसेवन नहीं करूंगा। संयम के द्वारा उत्कट जीवनानन्द प्राप्त होता है, उसीको लूंगा। मरणोत्तर जीवन का जिसे ख्याल है और जिसको इस बात की जागृति और स्मृति रहती है, उसीका जीवन शुद्ध और समृद्ध होता है।

साम्पराय में स्थूल देहगत जीवन को अवकाश नहीं रहता। मनुष्य अपने समाज में ही जीवित रह सकता है और उस जीवन में उसका पुरुषार्थ अथवा प्रेरणामय जीवन बढ़ता ही जाता है। इस्लाम में एक सुन्दर कल्पना पाई जाती है। किसी मनुष्य ने मुसाफिर के लाभार्थ रास्ते के किनारे एक कुआं खोदा। उसके संकल्प और परिश्रम के अनुरूप इस शुभ कर्म का (पूर्त का) उसे पुण्य मिला। अब दिन-पर-दिन जितने मुसाफिर इस कुएं से लाभ उठाते हैं, उतना उस आदमी का सबाब (पुण्य) बढ़ता जाता है। अगर यात्रियों का रास्ता बदल गया और लोगों ने इस रास्ते जाना छोड़ दिया तो पुण्यकारी का पुण्यसंचय ज्यादा नहीं बढ़ेगा। पुण्यकारी का सबाबमय जीवन—पुण्य जीवन—बढ़े या घटे, समाज के हाथ में है। लोग अगर उसे याद करते रहे तो उसकी मरणोत्तर आयु दीर्घ होगी। लोग उसे भूल गये, उसके काम का असर मिट गया तो उसके साम्पराय की मीयाद खत्म होगी।

अब सवाल यह आता है कि अगर मरण के बाद हमारा जीवन सामाजिक स्वरूप का ही रहनेवाला है तो मरण पूर्व के 'इस जीवन में' हम समाज जीवन ही व्यतीत क्यों न करें? स्वार्थवश संकुचित होकर और इन्द्रियवश होकर प्रमत्त जीवन, असमाजी जीवन व्यतीत क्यों करें? जिस तरह मरणोत्तर जीवन सामाजिक रहेगा, वैसा ही जीवन अगर मृत्यु-पूर्व व्यतीत किया तो मृत्यु के इस पार और उस पार एक ही प्रकार का शुभ-

ज वन होगा।

जिसे हम समाजवादी ढांचा कहते हैं, वह हमारे आध्यात्मिक, सामाजिक जीवन का बाह्य रूप है। जिसे हम सर्वोदयकारी पुण्य जीवन कहते हैं, वह उसका आन्तरिक स्वरूप होगा। वेदान्त ने उसे नाम दिया—विश्वात्मैक्यभावना, भूमा-स्वरूप जीवन। आत्मौपम्य उसकी साधना है।

आत्मौपम्य की यह कल्पना कुछ स्पष्ट करनी चाहिए।

मनुष्य को जब भूख लगती है तो वह आहार ढूंढ़ने लगता है। आहार को प्राप्त करके उसका उपभोग करता है। यह हुआ प्राकृतिक जीवन। लोग इसे पशु-जीवन भी कहते हैं। लेकिन मेरे पेट में भूख की वेदना शुरू होते ही अगर मैं औरों की भूख का भी साक्षात्कार करूं और उनकी क्षुधा का निवारण करने का यत्न करूं तो वह धार्मिक जीवन हुआ। वह साम्पराय के लिए पोषक होगा। मैं जो कुछ भी पुरुषार्थ करूं, उसका लाभ सबको देने की अगर वृत्ति रही तो वह सर्वोदयकारी विश्वात्मैक्य-प्रेरित ब्राह्म जीवन होगा। जो कुछ भी ज्ञान मैंने प्राप्त किया, वह सबको दे दूं, उसका दुःख और संकट अपना ही मान लूं और सबके साथ जो मुझे मिले, उतना ही मेरा अधिकार है, ऐसा समझकर चलूं, तो मृत्यु के इस पार का और उस पार का जीवन एकरूप होगा, और यही है मृत्यु पर विजय।

एक साधु छोटी-सी झोंपड़ी में रहता था। हाथ-पांव फैलाकर आराम से सोता था। इतने में जोरों से बारिश आयी। किसीने बाहर से आवाज देकर कहा, "मेरे लिए अन्दर जगह है?" साधु ने कहा, "अवश्य।" उसने अपने फैले हुए हाथ-पांव समेट लिये और पास-पास सो गये। बारिश बढ़ी और दूसरे दो यात्री आये। उन्होंने पूछा, "जगह है?" दोनों ने कहा, "अवश्य! आप अन्दर आइये।" अब दो के चार हो गये। झोंपड़ी में सोना अशक्य था। चार आदमी बैठकर बातें करने लगे और ऐसे ही रात व्यतीत करने का उन्होंने निश्चय किया। इतने में चार और आये। उनका भी इन चारों ने स्वागत किया। अब बैठना नामुमकिन हो गया। आठ-के-आठ झोंपड़ी में खड़े होकर भगवान का भजन करने लगे और बारिश से भगवान ने बचाया, इसका आनन्द मनाने लगे। यही है आत्मौपम्य। जो कुछ भी पाया, सबका है, सबके साथ समविभाग करके पाना है, यही है आत्मौपम्य का तरीका—आत्म-ऐक्य की साधना।

अब अगर ऐसी साधना हम करते रहे तो मृत्यु का डर नहीं रहेगा। मृत्यु भी जीवन-साधना का एक अंग ही है। सुख और दुःख, जीवन और मरण दोनों साधनारूप हैं। सुख और जीवन कुछ छिछले हैं। उनकी ज्ञानोपासना मन्द होती है। दुःख, संकट, निराशा और मरण इनकी साधना गहरी होती है। इनके द्वारा जीवन का साक्षात्कार सम्पूर्ण होता है। इनकी ज्ञानोपासना तेज होती है। इसीलिए साधना में इनका महत्त्व अधिक है।

अगर जिन्दगी में किसीको केवल दुःख-ही-दुःख मिला तो उसकी साधना बधिर हो जाएगी, उसमें नास्तिकता आ जाएगी। इसके विपरीत किसीके जीवन में अगर सुख-ही-सुख रहा तो उसका जीवन उथला होगा। उसका आत्मौपम्य टूट जायगा और उसका सफल-जीवन भी साधना की दृष्टि से विफल होगा। इसलिए अगर भगवान की कृपा रही तो सुख और दुःख, सफलता और विफलता दोनों हमें प्रचुर मात्रा में मिलेंगे। मृत्यु के साक्षात्कार के द्वारा ही मनुष्य जीवन का सर्वांगीण गहरा अनुभव कर सकता है।

अगर किसी साथी को अपने काम की पूर्व तैयारी में हम शरीक होने को बुलावें और फलभोग के समय उसे दूर करें तो उसे शिकायत करने का अधिकार रहेगा। यही न्याय है जीवन के बाद मरण के अधिकार का। किसी अंग्रेज ने सुन्दर शब्दों में कहा है—'मरण हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है।' (इट इज अवर प्रिविलिज टु डाई) अगर भगवान किसीको मौत से वंचित रहने की सजा देगा तो मनुष्य के लिए जीना दुश्वार होगा। उसकी कमाई का फल उसे न मिले तो वह अन्याय होगा।

ईसाई लोगों के ग्रंथों में एक वचन हम पाते हैं—'पाप के फलस्वरूप मृत्यु नाम की रोजी मिलती है।' (दी वेजिज ऑव सिन इज डैथ) सामान्य अर्थ में यह वचन गलत है। मरण तो सबके लिए अवश्यंभावी है। ईश्वर का वह प्रसाद है। जो पाप करते हैं वे ईश्वर के इस प्रसाद का सदुपयोग नहीं कर सकते। अध्यात्म-जागृति नष्ट होना ही मरण है, जिनका उक्त वाक्य में जिक्र है। पाप बढ़ने से मनुष्य की आत्म-जागृति क्षीण होती है। उसका जीवन आत्मविमुख और देहात्मवादी होता है।

संतों और अवतारी पुरुषों ने मृत्यु पर विजय पाने की जो बात की है, वह यही है। मामूली मौत से न बुद्ध भगवान बच सके, न महावीर। सबको शरीर छोड़ना ही पड़ा; लेकिन उन्होंने आत्मनाशरूपी मृत्यु पर विजय पाई। इसीको वे ढूंढ़ते थे।

सामान्य जनता मृत्यु से इतनी घबराई हुई, डरी हुई रहती है कि मृत्यु को पहचानना, उसका यथार्थ स्वरूप समझना उसके लिए कठिन होता है। समझाने का कोई प्रयत्न ही नहीं करते, नहीं तो मृत्यु हमारा सबसे श्रेष्ठ मित्र है। उसके घर आये हुए किसीको निराशा नहीं हुई।

येथें नाहीं झाली कुणाची निराश
आल्या याचकास कृपेविशीं ॥

न यहां इनके पास आये हुए किसी भी याचक की कृपा के बारे में निराशा ही हुई है।

मरणोत्तर जीवन और पुनर्जन्म एक चीज नहीं है। दोनों का भेद समझना चाहिए।

हम मानते हैं कि मनुष्य मृत्यु के बाद अपने कर्मों के अनुसार नया जन्म लेता है। अगर किसी क्रूर आदमी का देहान्त हुआ तो शायद उसे शेर या भेड़िये का जन्म मिलेगा। वहां वह अपनी क्रूरता पूरी तरह से आजमायेगा।

अब अगर उस असली क्रूर मनुष्य का लड़का पिता का श्राद्ध करता है और उसे पिण्ड देता है तो वह किसको खिलाता है? उस शेर को, जो क्रूर आदमी का नया जीवन है? उस शेर की तृप्ति तो मांस से ही हो सकेगी। उस शेर को खिलाना, उसके पांव संवहन करना (पगचंपी करना) पुत्र का धर्म नहीं है। उस क्रूर आदमी का पुत्र जब पिता का श्राद्ध करता है तब वह उसके मनुष्य जीवन के मरणोत्तर विभाग को, उसके समाजगत जीवन को पुष्ट करने की कोशिश करता है। पिता के व्याघ्र जीवन से उसे मतलब नहीं है। जब किसी सज्जन के जीवन की प्रेरणा समाज हजम कर लेता है, पूरी-पूरी हजम करके समाज ऊंचा चढ़ता है, तब उस सज्जन का मरणोत्तर जीवन सम्पूर्ण हुआ, कृतार्थ हुआ, अनन्त में विलीन हुआ। यही है सच्चा मोक्षानन्द या ब्रह्मानन्द!

एक जीवन की साधना पूरी होने पर जो कुछ भी अनुभव—कीमती अनुभव—उसे लेकर हम नये-ताजे जीवन में प्रवेश करते हैं।

एक पुरुषार्थी भारतीय परदेश गया। वहां उसने तिजारत करके अपने व्यापार का बड़ा विस्तार किया; लेकिन बूढ़ा होने पर जब उसका वहां का आकर्षण कम हो गया और स्वदेश आने की इच्छा हुई, तब उसने वहां की सारी प्रवृत्ति समेट ली। देना-पावना चुका दिया और अपनी सारी कमाई इकट्ठी करके वह भारत लौटा। मृत्यु का भी वैसा ही है। जब प्रवृत्ति अनहद बढ़ती है और साधना के तौर पर काम नहीं आती, तब उसका सारा फल इकट्ठा करके नये जन्म की नई प्रवृत्ति, नयी साधना मनुष्य शुरू करता है। इसे एक तरह से मृत्यु कह सकते हैं। लेकिन इसके लिए दुःख नहीं करते। एक स्थान छोड़ने का मामूली अल्पकालिक दुःख जरूर रहता है, लेकिन वह किसीको रोकता नहीं।

जेल में रहते वहां के कई लोगों से परिचय होता है। कुछ स्नेह-संबंध भी बन जाता है। जेल से

निकलते, विदाई के समय दुःख भी होता है। लेकिन जेल से मुक्ति पाने का आनन्द उससे कम नहीं होता। इहलोक का जीवन पूरा करते मृत्यु का जो दुःख होता है—मरनेवालों को और औरों को—वह ऐसा ही होना चाहिए।

विश्वात्मैक्य का आनंद

उपनिषदों में शुरू से आखिर तक आत्मा और ब्रह्म की खोज है। किसी इतालवी विद्वान ने कहा है कि वेद में जो 'तन्मयि' जैसे शब्द आते हैं, उन्हीं पर से 'आत्मा' शब्द आया है। वह जो मुझमें है, वह है आत्मा। उपनिषदों में आत्मा की व्युत्पत्ति अनेक प्रकार से दी है।

आप्नोति पाता है, आदत्ते लेता है, अत्ति खाता है सब कुछ, वह है आत्मा। सब कुछ पाता है, सब कुछ ग्रहण करता है, सब कुछ खा जाता है, वह है आत्मा। आत्मा की दूसरी व्याख्या 'अत्' धातु से की है (अत् सातत्य गमने)। अखंड चलते रहना, जीते रहना, सतत होना, सतत कार्य करना, यह है आत्मा का स्वरूप। "यदाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयान् इह, यच्चास्य सन्ततो भावः तस्मात् आत्मेति करिष्यते," अगर जीवन में किसी चीज की खोज करनी है, किसी चीज को पाना है, किसीके द्वारा सब कुछ प्राप्त करना है तो वह आत्मा है। वही है देखने योग्य, सुनने योग्य, मनन करने योग्य और निदिध्यास करने योग्य उस आत्मा के दर्शन से, श्रवण से, मनन से और विज्ञान से सारे विश्व का रहस्य पाया जाता है। यह आत्मा हमारे अन्दर है, हमारे जीवन का सार है। पंचभूतात्मक सृष्टि उसीके अन्दर फंसी हुई है।

मनुष्य ने जब अपनी खोज की तब इन्द्रियों के साथ, 'करण' के साथ, सहयोग करनेवाला एक अंदरूनी करण भी उसने पाया। उसने उसे 'अंतःकरण' कहा। इस अंतःकरण को समझने की कोशिश करते चित्त, चित्तवृत्ति, मन, बुद्धि, अहंकार आदि उत्तरोत्तर और सूक्ष्म तत्त्वों को उसने पहचान लिया और बाद में इन सबके परे जो है, अथवा अन्दर जो है, उसने उसे 'अंतरतर' कहा। वही थी आत्मा।

जिस तरह मनुष्य ने अपने अंदर खोज आरंभ की, उसी तरह और शायद उसके पहले उसने बाह्य सृष्टि का रहस्य समझने की कोशिश की। सबसे पहले उसका ध्यान गया पृथ्वी तत्त्व पर। उसीपर हम खड़े रहते हैं वही हमारा आधार है। पृथ्वी के बाद उसने देखा पानी। उसका कार्य देखते मनुष्य ने उसीको 'जीवन' कहा। पानी के बिना हम जी नहीं सकते हैं। पानी समस्त जीव-सृष्टि का आधार है। यह जो बाह्य सृष्टि में पानी दीख पड़ता है, इससे भी सूक्ष्म पानी उसने देख लिया, जिसमें पंचमहाभूतात्मक सारी सृष्टि पैदा हुई है।

पानी की उपासना के बाद उसने तेज को लिया। सूर्य, चन्द्र, विद्युत और अग्नि चारों में उसने तेज को देखा। सोने की चमक देखकर अथवा दूसरे किसी कारण, उसको उसने पृथ्वी में से उठाकर तेज तत्त्व में डाल दिया।

तेज की उपासना मनुष्य को बहुत ही आकर्षक लगी। लकड़ी के दो टुकड़े एक-दूसरे के साथ घिसने से धुआं निकलता है, बाद में चिनगारियां निकलती हैं और अग्नि प्रकट होती है। यह देखकर उसने अरणि का मंथन चलाया और उससे पैदा हुई अग्नि को वह आहुति देने लगा। यह था सबसे पहले का धर्म। वैदिक धर्म की बुनियाद ही यज्ञ पर है। इसी यज्ञ द्वारा तप, त्याग, बलिदान और सेवा के सामाजिक सद्गुणों को उसने

पाया। यज्ञ और तप, दान और सेवा, यही है मनुष्य का प्रधान धर्म। तप और यज्ञ के द्वारा तेजतत्त्व की उपासना करने के बाद वायु की बारी आई। वायु तो हमारा श्वास है, प्राण है। इस प्राण की उपासना करते-करते पूर्वज योग-साधना तक पहुंचे। प्राणोपासना हमारे वैदिक पूर्वजों की बहुत बड़ी साधना थी। प्राणोपासक तेजस्वी था, वह कभी दीन होकर याचना नहीं करता था। प्राणोपासक कभी परास्त नहीं हुआ। आजकल हम शक्ति बढ़ाने के लिए पौष्टिक आहार लेते हैं, विटामिन खाते हैं। वर्जिश या व्यायाम करते हैं, स्नायु को मजबूत करते हैं, शुद्ध वायुसेवन द्वारा अपने शरीर को और खून को शुद्ध करते हैं। लेकिन मज्जा तन्तु की शक्ति बढ़ाने की साधना हम भूल गये हैं। मनुष्य का असली सामर्थ्य उसके स्नायुओं पर निर्भर है। वह शान्ति अगर क्षीण हुई तो उसे वापस कैसे लाना, यह लोग अब भूल गये हैं। हमारे पूर्वजों ने ब्रह्मचर्य और प्राणोपासना के द्वारा वह शक्ति बढ़ायी थी और उन्होंने अपनी आयु की मर्यादा में भी वृद्धि की थी। यह प्राणोपासना हमें फिर से ढूंढ़कर निकालनी होगी और उसका अनुशीलन बड़े पैमाने पर करना होगा। संध्यावंदन में जो सूर्योपासना आती है, वह भी प्राणोपासना ही है।

इसके बाद मनुष्य ने देखा कि सारे विश्व को घेरे हुए है आकाश। वह हमारे हृदय में भी है और सारे विश्व में भी फैला हुआ है। आकाश को देखकर आर्य मानस स्तंभित हो गया और उसने आकाश की उपासना जोरों से की। यह पंचभूतात्मक विश्व आकाश में ओत-प्रोत है। इसकी उपासना करने से स्थैर्य और आनंदैक्य मिलेगा। यह देखकर उसने आकाश को ही अनंत का नाम दे दिया।

जिस तरह अंदरूनी उपासना में अहंकार के बाद आत्मा की प्राप्ति हुई, उसी तरह बाह्य उपासना में आकाश के बाद अक्षर-ब्रह्म की प्राप्ति हुई। जो बड़ा है, बृहत् है, बृहत्तर है, बृहत्तम है, वही है ब्रह्म। ब्रह्म से बढ़कर कुछ है ही नहीं।

जब मनुष्य की साधना अत्यन्त उत्कट हुई तब उसने पाया की अंतरतर और अंतरतम जो आत्मा उसने पाया और बृहत्तम ब्रह्म को पाया, ये दोनों एक हैं। तब उसने चिल्लाकर कहा, "अयम् आत्मा ब्रह्म।" यह हमारे उपनिषदों का प्रथम महावाक्य है। मनुष्य ने और भी एक चीज पायी। आत्मा को सचमुच पाते ही उसे परम आनंद प्राप्त होता है। इसी तरह परब्रह्म को पाते ही वैसा ही एक परम आनंद उसे मिलता है और वह बिलकुल निर्भय होता है। ब्रह्म का आनंद जिसने जान लिया, वह कभी भी और किसी से डरता नहीं, "आनंद ब्राह्मणो विद्वान न बिभेति कदाचन।"

और जब उसने आत्मानंद और ब्रह्मानंद को पाया और दोनों की एकता अनुभव हुई तब उसे इस अद्भुत अद्वैत का ज्ञानानंद प्राप्त हुआ। अगर कोई परमआनंद है तो अद्वैतानन्द ही है। इस अद्वैत ही को कहते हैं विश्वात्मैक्य। सारे विश्व के साथ अपना अभेद, अपना ऐक्य सब तरह से पाना, यही है सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ।

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष से असली पुरुषार्थ नहीं है। पुरुषार्थ के उत्तम साधन होने के कारण उन्हें भी पुरुषार्थ कहते हैं। असली एकमात्र पुरुषार्थ तो विश्वात्मैक्य का आनंद पाना ही है।

यह जिसने पाया, उसका हृदय, उसका आशय बड़ा हो गया। वह हुआ ब्राह्मण। असली ब्राह्मण तो वही है, बाकी के सारे नामधारी ब्राह्मण हैं।

यह सर्वश्रेष्ठ और एकमात्र पुरुषार्थ जिसने नहीं पाया, उसकी दीनता, उसका दारिद्र्य कभी दूर नहीं होता। वह हमारी दया का पात्र है, कृपा का पात्र है। कृपा का पात्र होने से उसे कृपण कहा है। कृपण देता नहीं याचना करता है। परिग्रह की खोज में रहता है इसीलिए वह कृपण है। दान की खोज में दौड़ने वाले और दान का माहात्म्य गाने वाले ब्राह्मण उपनिषदों की भाषा में सचमुच कृपण हैं। मनुष्य जाति की इन दो जातियों

में भी उपनिषदों ने भेद बताया है—कृपण और ब्राह्मण। हरएक कृपण को ब्राह्मण बनाना, यही है सर्वोत्तम समाज-सेवा और विश्वपूजा।[1]

१. 'उपनिषदों का बोध' से

सब धर्मों का एक परिवार

जहां देखें समाज की गिरावट की बातें ही सुननी पड़ती हैं। जो लोग गिरावट से दुःखी हैं उनकी संख्या कम नहीं है। करोड़ से भी अधिक हो तो आश्चर्य नहीं। मन में सवाल उठता है कि "क्या गिरावट इतनी जबरदस्त है कि करोड़ से अधिक सज्जन भी इसका कोई इलाज नहीं कर सकते।"

अन्दर की आवाज कहती है कि करोड़ नहीं किन्तु पचास लाख लोग भी निश्चय कर दें कि 'जहां तक हमसे हो सके समाज को गिरने नहीं देंगे। गिरनेवालों को और गिरने देनेवालों को उनकी निष्प्राण अकर्मण्यता में हम साथ नहीं देंगे। कम से कम अपनी ओर से सामाजिक शिथिलता का (नैतिक ढिलाई का) भरसक विरोध ही करेंगे, तो देखते-देखते समाज की हालत में जरूर कुछ सुधार हो सकेगा।

इतना भी याद रखना चाहिए कि जब हम समाज की गिरावट की बात करते हैं और वह भी ऐसी आवाज में कि 'इसका कोई इलाज नहीं' तब हम गिरावट को मजबूत करते हैं। और समाज की लाचारी को अपनी सम्मति भी देते हैं। घर में कोई प्रियजन बीमार पड़े तो हम बीमारी का वर्णन करके अगर कुछ इलाज न करें और रोज कहते चलें कि 'जिस चीज का इलाज नहीं उसे बरदाश्त किये बिना चारा ही नहीं' तो आसपास के लोग हमें डाटेंगे और कहेंगे कि 'आप रोना-सा चेहरा लेकर बैठे क्यों हैं ? जो भी हो सके इलाज तो शुरू कर दीजिये। फिर अगर वक्त रहा तो बीमार की बीमारी का विस्तार से वर्णन करें।' पहले इलाज, बाद में चर्चा।

हजारों वर्ष का पुराना समाज और वह भी करोड़ों लोगों का बना हुआ। उसके अंदर के छोटे-बड़े दोष असंख्य होंगे। दोष, खराबियां और गलतियां चाहे जितनी हों, चाहे जितनी पुरानी भी हों उन्हें दूर करने के लिए हमारे पास मनुष्य-बल भी कम नहीं है। हरएक आदमी किसी एक सामाजिक दोष को सुधारने का जी-जान से प्रयत्न करेगा तो उसे संतोष मिलेगा कि हमने अपने हिस्से का प्रयत्न किया। मेरे जैसे असंख्य लोग अपने-अपने स्थान पर डटे रहकर अपने ढंग से सुधार करने की कोशिश करते ही हैं। उनके परिश्रम को सफल बनाने के लिये मुझे अपनी ओर से अपना काम जोरों से करना होगा। अनेक व्यक्तियों के प्रयत्न से जो काम होता है उसकी जोड़ को ही 'ईश्वर प्रयत्न' कहा जाता है। इस जोड़ में अपना हिस्सा अदा करना ईश्वर का ही काम है।

[२]

अपनी आदत के अनुसार मैं विशाल मनुष्य-जीवन के सब पहलुओं पर चिंतन करता आया हूं। और यथासम्भव लिखता भी आया हूं। लेकिन अब उनमें से एक विषय के ही सब पहलुओं का विशेष चिंतन, विवरण और चर्चा करने का सोचा है।

हिन्दुस्तानी प्रचार सभा ने सोचा कि केवल भाषा की चर्चा अथवा नवशैली की निर्मिति में लोगों का सहयोग कम मिलता है। इसलिए इस विषय की गहराई में जाकर सर्वधर्म-समभाव अथवा उसीके व्यापक रूप में विश्व समन्वय के ऊपर सर्वशक्ति केन्द्रित की जाय। वैसा मैं थोड़ा-बहुत करता आया भी हूं। लेकिन आयंदा 'मंगल प्रभात' मानो विश्व-समन्वय का ही मुख पत्र हो ऐसे भाव से इस समन्वय विषय के भिन्न-भिन्न विषय पर ही ज्यादातर लिखने की कोशिश करूंगा। सच तो ऐसा समन्वय केवल चर्चा का विषय नहीं है। जीवन-व्यापी चीज को ही समन्वय समझना चाहिए। इसीका प्रयत्न हम आयंदा विशेष रूप से करेंगे।

सब धर्मों का एकीकरण करके, सर्वत्र चल सके ऐसा एक सार्वभौम 'समन्वितधर्म' चलाने का हमारा प्रयत्न नहीं है। हम जानते हैं कि जो बड़े-बड़े धर्म दुनिया में विशाल विस्तार में चल रहे हैं उनकी प्रतिष्ठा कभी बढ़ेगी कभी घटेगी, लेकिन ये सारे धर्म दीर्घकाल तब चलनेवाले हैं ही। हम तो इन धर्मों के बीच जो प्रकट या छिपा वैमनस्य है, परस्पर विरोध है, अलगाव है उसे दूर करके सब धर्मसमाजों को सामाजिक व्यवहार में एक-दूसरे के नजदीक लाना चाहते हैं, जिससे इन धर्म-समाजों में भाईचारा बढ़े, सहयोग बढ़े और आखिरकार सब प्रधान धर्मों में पारिवारिक सम्बन्ध स्थापित हो जाय।

हजारों वर्ष के इतिहास से हम देख सके हैं कि चमड़ी के रंग के भेद के कारण मानव-जाति अनेक महा-वंशों में बंट गई है। यूरोप, अमरीका के गोरे लोग, अफ्रीका के काले लोग, अमरीका के मुट्ठी-भर लाल आदि-वासी जिन्हें (रेड इंडियन कहते हैं) चीन, जापान के पीले लोग, अपने को अलग-अलग महाजाति मानते हैं। यह वंशभेद बड़ा तीव्र है। इनमें आपस में शादियां नहीं होतीं। लोग ऐसी शादियां पसंद भी नहीं करते। सारी मानवजाति मानो वंशभेद को कायम रखने पर तुली हुई है। इनमें यूरोप, अमरीका के गोरे लोग सबसे अधिक अभिमानी, मगरूर और तुमाखी हैं। ये गोरे लोग अफ्रीका के काले लोगों को दबाना चाहते थे। दीर्घकाल तक अफ्रीकन लोगों को पकड़कर गुलाम बनाकर उन्हें जानवरों की तरह रखने का और उनसे मारपीट कर काम लेने का प्रयोग भी इन गोरे लोगों ने किया। लेकिन यह प्रयोग आखिरकार महंगा साबित हुआ। गोरे लोगों में ऐसे भी सज्जन पैदा हुए जिन्होंने गुलामी प्रथा का घोर विरोध किया, आखिरकार अफ्रीका के काले लोग गुलामी की हालत से मुक्त हो गये। अब अफ्रीका के काले लोग धीरे-धीरे सिर ऊंचा कर रहे हैं।

तो भी गोरे लोगों का वर्णाभिमान दूर नहीं हुआ है। गोरे लोग चीन, जापान आदि ऐशियायी देशों के पीले लोगों की बढ़ती हुई प्रचंड संख्या देखकर डर जाते हैं। उधर गोरे लोगों का आतंक दुनिया के सब खंडों पर फैला है। इसके कारण गैरगोरे लोग त्रस्त हैं। तो भी गोरे लोगों ने दुनिया पर हो-हल्ला मचाया है कि चीन, जापान आदि देशों में पीले लोगों से दुनिया को खतरा है। मौके-बेमौके ये गोरे लोग पूरब के पीले संकट की, चिल्लाहट करते हैं।

ईश्वर की कृपा है कि भारत में काले, गोरे, पीले, गेहूंवर्णी सब तरह के लोग एकत्र रह रहे हैं। हमारे यहां वर्णविद्वेष चल ही नहीं सकता। क्योंकि एक ही जाति में और एक ही धर्मससाज में गोरे, काले, पीले, गेहूं-वर्णी लोग पाये जाते हैं।

अब दुनिया ने वंश-भेद और वंश-विद्वेष की जाहिरातौर पर चर्चा करना छोड़ दिया है। वर्ण-विद्वेष दूर नहीं हुआ है; दब गया है। लोग दूसरे-दूसरे कारण आगे करके वर्ण-विद्वेष छिपाने की कोशिश भी करते हैं।

ऐसी स्थिति में दुनिया के सयाने अनुभवी इतिहासवेत्ता मानवप्रेमी लोगों ने सूत्र चलाया है, "चमड़ी का रंग कैसा भी हो, वंश-भेद भले ही पुराना हो लेकिन हमें भूलना नहीं चाहिए कि सब महावंश, महाजातियां मिलकर एक विशाल मानव-कुटुम्ब बनता है। दुनिया में कहीं भी जाइये इस मानव-प्रेमी सूत्र का विरोध कोई

नहीं करता। 'सब मानव मिल करके एक विराट् मानव-समाज है। इसकी एकता मजबूत करनी चाहिए।' यह आदर्श तत्त्वतः सबको मान्य हुआ है।

इसी मिसाल से प्रेरणा पाकर हम भी घोषणा करना चाहते हैं उसी प्रकार सभी धर्म मिलकर एक आध्यात्मिक कुटुम्ब की रचना करते हैं।

अगर महावंशों का आपस-आपस में लड़ना अयोग्य है, असमीचीन है, हमारी मानवता को शोभा नहीं देता तो उसी न्याय से धर्मों के बारे में भी हम कह सकते हैं कि सब धर्म मिलकर एक आध्यात्मिक परिवार है, एक सांस्कृतिक महाकुटुंब बनता है। धर्मों का आपस में लड़ना, एक-दूसरे का विरोध करना, एक-दूसरे का नाश करने के लिए षड्यंत्र रचना यह सब आत्मनाशक है, और नामुमकिन भी है। मानव की संस्कृति की हस्ती के लिए घातक है।

हरएक धर्म में इतनी असंख्य अच्छी-अच्छी बातें हैं कि हमारे मन में हरएक धर्म के प्रति आदर ही होना चाहिए। हम आहिस्ते-आहिस्ते सब धर्मों के लोगों को एक-दूसरे के नजदीक लायेंगे और बता देंगे कि धर्मभेद होने के कारण समाजभेद होना जरूरी नहीं है।

यह काम आज इतना जरूरी हो गया है कि अनेक लोग अपने-अपने ढंग से इस दिशा में कमोबेश प्रयत्न करने लगे हैं। उनका हम अभिनंदन करें। ऐसे लोगों को ढूंढ़-ढूंढ़कर उनकी प्रवृत्ति में उनसे सहयोग करें। साल-भर में किसी एक दिन यह काम किया और संतोष माना ऐसा नहीं होना चाहिए। केवल शोभा का काम तुरंत पहचाना जाता है कि 'यह ऊपर का दिखावा ही है।' वह अभिनंदनीय भले ही हो उससे हमें पूरा संतोष नहीं होना चाहिए। हम लोगों ने एक प्रवृत्ति चलाकर देखी। एक-एक धर्म के, एक-एक प्रचारक को बुलाकर उनसे अपने-अपने धर्म के बारे में व्याख्यान करवाये। प्रचारक खुशी से आये। बोलने का मौका मिला और उदारता की प्रतिष्ठा मिली तो ऐसा मौका कौन छोड़ देगा ? (इनमें भी चंद अंधे लोग अपना बड़प्पन आगे करने का और दूसरों को छोटा दिखाने का थोड़ा-थोड़ा प्रयत्न किये बिना नहीं रहते। इससे अगर चर्चा छिड़ी तो वाद-विवाद करने का उन्हें मौका मिलता है, और लोगों ने भलमनसी बरतकर चर्चा नहीं की तो अंधे प्रचारक मानते हैं कि हमारी जीत हो गयी।) जहां लोगों को अलग-अलग धर्मों के बारे में सचमुच जानकारी नहीं है और वैसी प्राप्त करने की लोगों में इच्छा है तो उस-उस धर्म के ज्ञाता लोगों को बुलाकर थोड़े में उनसे जानकारी प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए सही। लेकिन उत्तम रिवाज यह होगा कि अगर मैं हिंदू हूं तो मैं पारसी, ईसाई अथवा इस्लामी धर्मों में मैंने क्या-क्या अच्छा पाया उसका आदरपूर्वक जिक्र करूं। और इस तरह उस-उस समाज को अपनाने की कोशिश करूं।

और एक सूचना है, सामान्य रिवाज है कि लोग त्योहार के दिन अपने रिश्तेदारों को और नजदीक के स्नेहियों को भोजन के लिए बुलाते हैं। रिवाज स्वाभाविक है। अच्छा है। और सार्वत्रिक है। इसमें हम एक इष्ट सुधार कर सकते हैं। त्योहार के दिन हम एक-दो या अधिक भिन्न धर्मी लोगों को अपना त्योहार मनाने के लिए और भोजन के लिए बुलाने का आग्रह रखें। उनके घर की और समाज की बातें उनसे पूछें। और इस तरह धीरे-धीरे दूर के लोगों को नजदीक लाने की कोशिशें करें। हम देखेंगे धर्मभेद तो ऊपर-ऊपर के हैं, अंदरूनी मानवी एकता तो सर्वत्र है। और दूर के लोगों के रस्म-रिवाजों में जो भिन्नता होती है, उसमें भी कई बातें समझने लायक होती हैं और उनमें भी चंद बातें लेने लायक भी लगती हैं।

अगर हमने तय किया कि दूर के लोगों को नजदीक लाना ही है। प्रेम और आत्मीयता का संबंध बढ़ाना है तो कई नयी-नयी चीजें हमें आप ही आप सूझेंगी। परिस्थिति ही अनेक बातें सुझायेगी, और हमारा जीवन प्रसन्न और परिपुष्ट होगा।

समन्वय की मांग

दुनिया में भेद तो रहेंगे ही। भिन्नता के बिना दुनिया चलेगी ही नहीं। ऋतुओं में भेद होते हैं। प्रदेशों में भेद होते हैं। स्वभाव-भेद तो सर्वत्र पाया जाता है। जिनके आधार पर गृहस्थाश्रम चलता है उन स्त्री-पुरुषों में शरीरभेद, कार्यभेद स्वभावभेद रहते ही हैं। इसलिए तो सहयोग की आवश्यकता रहती है और जीवन कृतार्थ होता है। भेद से कुछ बिगड़ता नहीं, बशर्ते कि भेदों से लाभ उठाकर सहयोग चलाने की शक्ति और वृत्ति सर्वत्र हो।

लेकिन जहां खुदगरजी, ईर्ष्या, असूया, अभिमान, शोषण और तज्जनित संघर्ष आया वहां सबकुछ बिगड़ने लगता है। दुनिया में से असामाजिक दोष जोर से बढ़ रहे हैं। इसलिए किसी-न-किसी कारण को आगे करके लोग लड़ने लगते हैं, एक-दूसरे से नाजायज लाभ उठाना चाहते हैं और जीवन विषमय बना देते हैं। ऐसे लोग बातचीत में जीवन को भी जीवनकलह कहते हैं। और कहते हैं, कलह तो जीवन का अनिवार्य कानून ही है। इस सिद्धान्त का प्रचलन इतना बढ़ा कि सज्जन मनीषियों को उसका प्रतिरोध करने के लिए ग्रन्थ लिखने पड़े कि जीवन में अगर कलह है तो उससे भी बढ़कर परस्पर सहयोग भी है, जिसके बिना जीवन का विकास हो ही नहीं सकता।

दुनिया में—सृष्टि के व्यापार में—संघर्ष और सहयोग दोनों तत्त्व पाये जाते हैं। लेकिन जहां मानवता आयी वहां मनुष्य संघर्ष के तत्त्व को, जैसे हो सके, कम करने की कोशिश करता है और सहयोग और परस्पर उपकारिता को बढ़ाता जाता है। इसी में मानव की मानवता चरितार्थ होती है और दुनिया प्रगति करती है। तत्त्वज्ञ कहते हैं कि दुनिया में हिंसा और अहिंसा दोनों हैं। इनमें हिंसा का तत्त्व, जैसे हो सके, उत्तरोत्तर कम करते जाना और अहिंसा को बढ़ाते जाना यही है उन्नत जीवन की साधना।

ऐसे उन्नत जीवन को ही अध्यात्म-जीवन कहते हैं। क्योंकि उसमें आत्मशक्ति का परिचय और आनन्द बढ़ता जाता है। प्रेम, करुणा, सेवा, स्वार्थत्याग, आत्मबलिदान आदि सद्गुणों का विकास आत्मपरिचय के बिना हो नहीं सकता। जो लोग आत्मा को पहचानते हैं वे ही दूसरे से निःस्वार्थ प्रेम कर सकते हैं। दूसरे के दुःख से दुःखित होना, दूसरे के सुख से प्रसन्न होना, नंदित होना यह है आत्मपरिचय का प्रारम्भिक लक्षण। दूसरे के हित के लिए अपने स्वार्थ को छोड़ देना, अपने परिश्रम से दूसरे को आराम पहुंचाना, यह है आध्यात्मिक स्वभाव का सहज लक्षण।

जब दोनों पक्षों की तरफ से ऐसे सद्गुणों का विकास एक-सा बनाया जाता है तब जीवन सुवासित होता है और सहयोग में भी आनन्द आता है।

जब दोनों पक्ष अपने-अपने स्वार्थ का ही ख्याल करते हैं किन्तु एक-दूसरे के स्वार्थ को भी मंजूर करते हैं तब दोनों के बीच न्याय का सम्बन्ध रहता है, जिसमें न रहता है संघर्ष, न रहती है सहयोग की कोई सुगन्ध।

न्याय में भी दो प्रकार होते हैं। तराजू का न्याय और भलाई का न्याय। इसलिए तो न्याय के साथ इक्विटी (न्याय) का व्यवहार होता है। ऐसे न्याय से दुनिया आज चल रही है और संघर्ष बहुत कुछ कम चल सकता है, लेकिन इससे सन्तोष नहीं होता। परस्पर आत्मीयता होने पर अन्याय के लिए अवकाश ही नहीं रहता और न्याय मांगने की इच्छा भी नहीं होती। जहां आत्मीयता है वहां कम लेना और अधिक-से अधिक देना इसीमें आनन्द आता है। आत्मीयता में समझौता तो होता ही है लेकिन उससे भी अधिक परस्पर उपकारिता भी होती है जिसे शास्त्रकार 'उपग्रह' कहते हैं।

'कंप्रोमाइज, एडजस्टमेण्ट, रिकंसिलिएशन,हार्मोनी, सिंथेसिस-—इन सब तत्त्वों को मिलाकर जो वृत्ति

है उसे कहते हैं समन्वय। समन्वय कोई दार्शनिक वस्तु नहीं है। समन्वय है सर्वकल्याणीकारी सर्वोदयी मनोवृत्ति और शुभंकरी प्रवृत्ति।

जहां सर्वत्र संघर्ष चल रहा है और संहार की तैयारियां बढ़ती जा रही हैं वहां केवल न्याय की बात दुनिया को बचा नहीं सकती। न्याय करे भी कौन ? न्याय के लिए उभय कल्याणकारी तटस्थवृत्ति चाहिए। जब रागद्वेष-मूलक संघर्ष बढ़ते हैं तब सबके सब लोग पक्षकार बनते हैं। कोई इस तरफ झुकता है, कोई उस तरफ झुकता है। न्याय की बात सब करते हैं लेकिन सर्वकल्याणकारी न्याय समझने की शक्ति गायब हो जाती है। लोग कहते है "एक-दूसरे से मिलो। दिल की बातें साफ-साफ कह दो। एक-दूसरे की दृष्टि समझ लो और कुछ समझौता करो।"

यह तरीका है तो अच्छा लेकिन दो में से एक भी दिल से समझौते के लिए तैयार न हो तो समझौते की बातें आगे कैसे बढ़ेंगी ? फिर आती है पंचायत की बातें। इसमें भी कठिनाई वही होती है। पंचायत का न्याय मन्जूर न होने पर तटस्थ न्यायाधीशों का फैसला मन्जूर करना यही एक मार्ग रहता है, जिसमें न्यायाधीश के चुनाव का सवाल आता है। अब सारा मामला नसीब के हवाले किया जाता है। जब कोई निर्णय नहीं हो सकता तब रुपया अथवा पैसा उछालकर निर्णय किया जाता है। इसे अंग्रेजी में 'टॉस' कहते हैं।

जहां सर्वस्व की होड़ चलती है, वहां बड़े-बड़े राष्ट्र और बड़े-बड़े धनी लोग टॉस ही न्याय अथवा निर्णय कैसे मान सकते हैं ? झगड़ा किसी न किसी रूप में चलता ही है और बढ़ता भी है।

इसलिए जहां कहीं मतभेद आया वहां समन्वय को काम में लाने की वृत्ति जगानी चाहिए। यह काम एक दिन का नहीं, न्यायालय का नहीं, किन्तु नित्य के जीवन की मनोवृत्ति और प्रवृत्ति का है।

किसी समय मनुष्य-स्वभाव को उन्नत करने का काम धर्म का था। धर्म के द्वारा मनुष्य की स्वार्थ, अहिंसा, असूया, अभिमान आदि मनोवृत्ति का संयम होता था और आत्मीयता, सेवा, त्याग आदि सात्विक शुभ-सद्गुणों का विकास होता था। लेकिन धर्म में साम्प्रदायिकता, संकुचितता और अभिमान घुस गये। धार्मिकता ही भ्रष्ट होने लगी। धर्म भी आपस में प्रथम चर्चा और झगड़ा करने लगे और अन्त में कुत्ते के जैसे लड़ने लगे। आखिरकार लोग धर्माभिमान से ऊब आये और धर्म की प्रतिष्ठा भी डूबने लगी। धर्माभिमानी लोग व्यक्तिशः सदाचारी थे किन्तु जहां धर्माभिमान का सवाल आया तो अभिमानी, स्वार्थी और अन्धे बनने लगे। आगे जाकर व्यक्तिगत जीवन में भी शुद्धता की जगह दंभ ने ले ली। बाहर सफेद और अन्दर सड़ा हुआ ऐसा वर्णन धर्मों का और धर्मगुरुओं का सुनना पड़ने लगा। और अंत में धर्म ही मानव-जीवन में अप्रतिष्ठित होने लगा। किसी समय धर्म का प्रभाव राजनीति पर पड़ता था। अब धर्म हो गये राजनीति के आश्रित।

ऐसी हालत में शुद्ध समन्वयवृत्ति को जाग्रत करना यही एकमात्र उपाय रहा। अगर हम सारे समाज में घुल-मिल गये और जगत की खतरनाक परिस्थिति समझाकर लोगों में परस्पर सहयोग की वृत्ति जगा सके, आत्मीयता का रोज-ब-रोज अनुभव करने लगे, तो संघर्ष का वायुमण्डल स्थापित होगा। लोगों को वही प्रिय लगेगा। समन्वय के लाभ लोगों के ध्यान में आयेंगे। जीवन की सुन्दरता का अनुभव होने पर उसी को लोग पसन्द करने लगेंगे।

यह परिवर्तन आसान नहीं है। लेकिन दुनिया ने संघर्ष का खतरा कितना बड़ा है—इसका अनुभव किया है। इसलिए समन्वय का प्रयोग कर देखने के लिए दुनिया तैयार हो रही है।

संघर्ष भी आज पहले के जैसा आसान कहां रहा है ? युद्ध छिड़ते ही लोग सहायकों को मदद में बुलाते हैं। सहायकों को मदद में दौड़ना ही पड़ता है और फिर तो हरएक बड़ा युद्ध विश्वयुद्ध बन जाता है, जिसका अन्त सर्वनाश ही हो सकता है।

आज सारी दुनिया को यह विश्वरूप-दर्शन हो रहा है। इसलिए हम आशा करते हैं कि मानव-समाज समन्वय के लिए तैयार हो जायगा। विनाश-शक्ति की अपेक्षा जीवन-शक्ति अधिक प्रभावशाली साबित होगी—ऐसे आस्तिक विश्वास से ही हम समन्वय का प्रारम्भ करने को उद्युक्त हुए हैं।

विश्व-समन्वय की विशेषता

अपने-अपने धर्म की सुन्दरता, महत्ता और उसकी खास-खास खूबियां समझानेवाले लोग चाहे जितने मिल सकते हैं।

(१) सर्व-धर्म-समन्वय के नाम से एक धर्म के प्रचारकों को या प्रतिनिधियों को बुलाकर 'अपने-अपने धर्म की स्तुति करने का काम' हम उनसे ले सकते हैं। इस तरह से सभाजनों को, श्रोताओं को अच्छी जानकारी भी मिलती है। कभी-कभी ऐसे लोगों के मुंह से वही-की-वही बातें सुन-सुनकर मनुष्य ऊब भी जाता है। असल बात यह है कि हरएक धर्म की खूबियां उस धर्म के अभिमानी के मुंह से सुनने का काम भारत में काफी हो चुका है।

अपने-अपने धर्म की खूबियां और श्रेष्ठता बतानेवाला अभिमानी साहित्य भी चाहे जितना मिल सकता है।

धर्मों का ज्ञान फैलाना पुण्य कर्म है। लेकिन वह काम बहुत हद तक हो चुका है।

(२) मिशनरी और मुल्ला जैसे चंद उपदेशक, दूसरों के धर्मों के बारे में जानकारी कम रखते हुए दूसरों के धर्मों की भली-बुरी निंदा करने में अपने धर्म की सेवा समझते थे। ऐसा प्रचार हमारे देश में किसी समय काफी हो चुका है। अब यह पहले के जैसा नहीं चलता है। लेकिन खानगी वार्तालाप में केवल दूसरे धर्म की ही नहीं, अपने भी धर्म की दूसरी जाति को दूसरे फिरके को या दूसरे पंथ को लेकर निंदा करनेवाले आज भी पाये जाते हैं। 'उनके जैसे हम नहीं हैं' ऐसा सूचित करने का, और अपनी श्रेष्ठता लोगों के मन पर ठसाने का काम बहुत से लोग, बड़े चाव से करते आये हैं। हरएक जाति के और पेशे के दोष दिखानेवाले निंदा-वचन और कहावतें हरएक भाषा में पायी जाती हैं।

(३) तटस्थ भाव से अध्ययन करके हरएक धर्म की तात्त्विक खूबियां और उनके सामाजिक जीवन के बारे में लिखनेवाले लोग भी काफी मिलते हैं।

(४) अपने-अपने धर्म के और धर्मसमाज के दोष पहचानकर, उन्हें सुधारने की कोशिश करनेवाले, और अपने ही धर्म के लोगों को इकट्ठा करके उत्कटता से उन्हें समझानेवाले सुधारक लोग भी, हर समाज में थोड़े-थोड़े होते हैं। इनकी संभाल-संभालकर बातें करें तो लोग स्वजनोचित उदारता से ऐसी बातें सुनने को तैयार रहते हैं और धन्यवाद भी देते हैं। लेकिन बातें अगर इकतर्फा हुईं, और दोषों का ही वर्णन दिन रात चला, तो समाज इनसे ऊबकर उनका बहिष्कार करता है। या तो उनका मुंह बंद करते हैं या उनको भगा देते हैं। ऐसे टीकाकार को मार डालने के किस्से हमारे देश में नहीं हैं।

(५) हरएक धर्म में गुण दोष दोनों होते हैं। यह देखकर और पहचानकर, दोषों को टालने की कड़वी बात कौन चलावे, ऐसी कठिनाई महसूस करनेवाले लोग कहने लगे हैं कि इन सब धर्मों को छोड़ दीजिये।

गुणों का अनुशीलन आसान नहीं होता। धर्मों के अंदर रहे हुए दोषों का अभिमान रखना, और जोरों से उसका समर्थन करना, मनुष्य के लिये आसान है। इसलिये सब धर्मों के अंदर पायी जानेवाली धार्मिकता को (आध्यात्मिकता को) बढ़ावा दीजिये। और अलग-अलग सब धर्मों को छोड़ दीजिये। ऐसा कहनेवाला सज्जन-वर्ग दुनिया में बढ़ रहा है।

(६) इस नीति को असंतोषकारक माननेवाले लोग भी हैं। वे कहते हैं कि सब धर्मों में से ढूंढ़ी हुई आपकी धार्मिकता निष्प्राण बनती है। केवल तात्त्विक सूत्र के रूप में ही उसे हम रख सकते हैं। मनुष्य जीवन को प्रेरणा देकर, उसके हाथों लोकोत्तर कार्य कराने का सामर्थ्य उस निर्जीव धार्मिकता में आ नहीं सकता। पानी गरम करके उसकी भाप का फिर से पानी बनाने से शुद्ध पानी मिलता है सही, किन्तु उसमें न कोई दोष रहता है, न कोई गुण। उसमें अगर प्राण होता, खास ताकत होती, तो लोग खास-खास झरने का पानी मंगवा-कर नहीं पीते। एक-एक धर्म में जो ताकत है वह सब धर्मों से ढूंढ़कर निकाले हुए दृढ़भाजक में नहीं होती।

(७) सब धर्मों की सब बातें, पक्षपातरहित इकट्ठा करने से जो खिचड़ी धर्म बनता है उसकी ओर देखने को भी कोई तैयार नहीं होगा। उस खिचड़ी धर्म को हम धर्मों का लघुत्तम साधारण भाज्य कह सकते हैं। ऐसी चीज धर्मों के संग्रहालय में रखने लायक होगी। समाज में उसका प्रचलन नहीं होगा।

धर्मबहुल इस देश में इन धर्मों का क्या किया जाये ? इस प्रश्न का हल, लोगों ने अपने-अपने ढंग से सोचा है, ढूंढ़ा है और आजमाया है। और आज भी ढूंढ़ रहे हैं।

सर्व-धर्म-समभाव अथवा समन्वय की भूमिका इन सबसे अलग है।

(८) विश्व समन्वय की बुनियाद किसी एक धर्म की विशेष प्रतिष्ठा पर स्थापित हो नहीं सकती। सब धर्मों की एक-सी प्रतिष्ठा का स्वीकार करके ही हम सबका संगठन कर सकते हैं। हरएक धर्म की अपनी-अपनी अलग खूबी तो होगी ही। ऐसा नहीं होता तो सब धर्मों में आदन-प्रदान के लिए कोई गुंजाइश नहीं होती। सब धर्मों में चंद बातें एक-सी समान और सर्वग्राह्य होती हैं, लेकिन हरएक धर्म में कुछ ऐसी बातें हैं जो उसकी निजी ही हैं। दूसरे धर्मों में वह चीज पूरी मात्रा में प्रकट नहीं हुई होगी। दूसरे धर्म ऐसी खासियतों का विशेष अध्ययन करेंगे, और उनमें से लेने लायक जो कुछ दीख पड़े अपने ढंग से अपने धर्म में ले लेंगे। समानभाव से सबका अध्ययन करते, हमारा उद्देश्य धर्मों के अंदर होड़ या प्रतिस्पर्धा बढ़ाने का नहीं, किंतु परस्पर परिचय, आत्मीयता और सहयोग बढ़ाकर सब धर्मों के लोगों को जहां तक हो सके सामाजिक जीवन में ओतप्रोत कराने का हमारा प्रयत्न रहेगा। हम लोग एक-दूसरे के त्योहार में शरीक होंगे, अपने त्योहार में दूसरे को बुलायेंगे। संकट के समय एक-दूसरे की सहायता करेंगे। धर्म-भेद के कारण अपने लोगों के लिए अभिमान, और दूसरे धर्म के बारे में 'परायापन' हम रहने नहीं देंगे।

हिंदुओं के लिए ये सारी प्रवृत्ति बिलकुल आसान और पोषक है। हिंदूधर्म ने कभी नहीं कहा है कि हमारा ही धर्म सच्चा और दूसरा धर्म गलत है। असल में हिंदूधर्म कोई एक पंथ या फिकरा नहीं है। एक ही धर्म संस्थापक, एक ही धर्म-ग्रंथ और एक ही प्रकार की धर्म-साधना के द्वारा उद्धार माननेवाले पंथ असंख्य हैं। सच्चा सनातन धर्म कहता है कि ऐसे सारे धर्म संस्थापक हमारे ही हैं, हमारे लिये पूज्य हैं। हरएक के जीवन में से हमें कुछ-न-कुछ प्रेरणा मिलेगी ही।

उसी तरह, हरएक धर्मग्रंथ का हम सहानुभूति और आदर से अध्ययन करेंगे। धर्मवचनों का जो उदार और व्यापक अर्थ होता हो उसी को लेंगे।

और धर्म-साधना तो जीवन-साधना होने के कारण हरएक व्यक्ति को अलग-अलग साधना अनुकूल आ सकती है। जिन्होंने दीर्घकाल तक धर्म-साधना चलायी है उनका अनुभव है कि हरएक आदमी के जीवन में भी

समय-समय पर धर्म-साधना कुछ बदल भी सकती है। मामूली जीवन में हम देखते हैं कि बचपन की अभिरुचि अलग होती है। उम्र बदलने से, जीवन का विकास होने पर अभिरुचि गहरी, उत्कट और व्यापक बनती है।

चंद लोग एक-एक करके जीवन के सब पहलुओं का साधना की दृष्टि से अनुभव करते हैं। बौद्धधर्म में एक-एक सद्गुण का क्रमशः विकास करने का जो जिक्र आता है उसका वर्णन भले ही यांत्रिक-सा दीख पड़े, धर्म साधना की क्रमिकता का उसमें स्वीकार है। इन सद्गुणों के उत्कर्ष को वे "पारमिता" कहते हैं।

(९) इसलिये सब धर्मों को मिलाकर हम एक परिवार बना सकते हैं। सब धर्मों का जिसमें अंतर्भाव है, ऐसे विशाल, व्यापक धर्म-कुटुम्ब को ही हम सार्वभौम सनातनधर्म कह सकते हैं। सच देखा जाय तो हिंदू धर्म इस विराट् सार्वभौम सनातनधर्म की एक शाखा ही है। सब शाखाएं मिलाकर हम महानवृक्ष का साक्षात्कार कर सकते हैं।

विश्व समन्वय में सब धर्मों का इस तरह का स्वीकार है। इसलिये इसके दरबार में हरएक पंथ का आदमी केवल अपने धर्म की बातें नहीं करेगा, दूसरों के धर्म में कौन-कौन-सी बातें अच्छी लगीं उसका जिक्र करके उसके प्रति प्रेमादर बढ़ाएगा।

इतना करने के बाद कहीं भी संघर्ष नहीं रहेगा। परस्पर परिचय के बाद आत्मीयता बढ़ेगी। आत्मीयता के कारण उत्तम सहयोग स्थापित होगा। सब धर्म के, सब वंश के, सब देशों के और भिन्न-भिन्न संस्कृति के लोग एकत्र आकर विश्व-समन्वय को बुलंद करेंगे।

जागतिक रोग का सांस्कृतिक इलाज

आजकल दुनिया में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति ही प्रधान है। इस राजनीति पर अंकुश लाने का काम यूनाइटेड नेशन्स ओर्गेनीजेशन (यूनो), कुछ हद तक कर रहा है। किन्तु उसी के वायुमण्डल का कुछ ठिकाना नहीं है।

इस जगद्व्यापी अथवा जागतिक राजनीति पर असली प्रभाव है अर्थनीति का। दुनिया के छोटे-बड़े सब देश अपना आर्थिक सामर्थ्य बढ़ाने की कोशिश में रहते हैं। हरएक देश का परम पुरुषार्थ अधिक-से-अधिक अर्थसमर्थ बनाने का ही है।

इस प्रधान उद्देश के बाद दूसरा उद्देश आता है अर्थ-वितरण का—यानी राष्ट्र की सम्पत्ति न्याय के अनुसार अधिक से-अधिक लोगों में कैसी बांटी जाय और अपने-अपने देश में से दारिद्र्य, भूख और धनी-गरीब का भेद कैसे कम किया जाय, इसी चिन्ता का रहता है।

दुनिया का तीसरा विचार गोरे, पीले, काले और गेहुएं रंग की जातियों में जो खींचातानी है, इसके बारे में है। यूरोप, अमरीका की गोरी जातियां अथवा गोरे वंश के लोग सारी दुनिया में सर्वोपरि हैं। इनके खिलाफ एशियाई और अफ्रीकी जाग्रत होकर चाहे जितना जोर करते होंगे, तो भी वैज्ञानिक, आर्थिक, राजनैतिक और सामरिक सामर्थ्य आज भी इन गोरों का ही सर्वोपरि है। और इससे भी बढ़कर यह कबूल करना पड़ेगा कि राजनैतिक दूरदृष्टि और परिपक्व चातुरी में ये गोरे ही सबसे आगे हैं।

इन लोगों का प्रधान धर्म है—ईसाई धर्म। ईसाई धर्म में प्रोटेस्टंट, कैथोलिक, ग्रीक चर्च आदि प्रधान

बमतीभेद भले ही हों, और बुद्धिवादी गोरों की धर्मनिष्ठा चाहे जितनी शिथिल हुई हो, सबके-सब ईसाई धर्म के असर के नीचे ही हैं।

आर्थिक और राजनैतिक समता के खयाल से जो लोग साम्यवादी हुए हैं, उनका तो धर्ममात्र के प्रति विरोध है। धर्म के बारे में जिनके मन में पूरी-पूरी उपेक्षा जम गई है, ऐसे लोगों की संख्या जगह-जगह बढ़ रही है।

यह सब जानते हुए भी हम कह सकते हैं कि यूरोप-अमेरिका के गोरे लोगों का धर्म ईसाई धर्म ही है।

हमने ऊपर कहा कि दुनिया में आज प्रधानता है राजनीति की, क्योंकि सारा सामर्थ्य राजनीति के वश ही रहता है। इस राजनीति पर सच्चा प्रभाव है सामर्थ्यपरायण अर्थनीति का। कुछ प्रभाव है साम्यवाद, पूंजीवाद आदि वादों का। और छिपा प्रभाव है गोरे, पीले, काले और गेहुएं— अलग-अलग रंग के वंशभेद का।

आज अगर कोई सार्वभौम कल्पना अप्रतिष्ठित हुई है, तो वह है धर्मों की, धर्म-जीवन की। सुधरी हुई दुनिया धर्म को आगे नहीं करती। वंश को भी आगे नहीं करती। लेकिन सामान्य मनुष्य धर्म का विचार किये बिना नहीं रहता।

आज की हालत देखते लोगों में अपने-अपने धर्म के नियम के अनुसार जीने का आग्रह कम है, धार्मिकता पर जोर नहीं है, लेकिन अपने-अपने धर्म की जमात के प्रति निष्ठा अभी भी कायम है। वह पहले से कम नहीं हुई है। ईश्वर-निष्ठा सिर्फ मानने की बात रही है। धर्मजीवन व्यक्तिगत आग्रह की खानगी या निजी बात बनी है। जमात, सम्प्रदाय, मिल्लत अथवा फिरका-परस्ती ही ज्यादा है। इसी का एक रूप है कम्युनालिज्म अथवा जातिनिष्ठा।

इस अर्थ में गोरे लोगों की अपनी ईसाई जमात के प्रति निष्ठा सबसे ज्यादा है।

आज दुनिया में अपनी जमात की संख्या बढ़ाने की कोशिश ईसाइयों में है। ऐसी ही कोशिश मुसलमानों में पायी जाती है और उनकी देखा-देखी बौद्धों में भी वह कुछ-कुछ आने लगी है, हालांकि उन दोनों की अपेक्षा कम है।

औरों की संख्या वृद्धि से डरने लगे हैं हिन्दू और यहूदी। और जिनको धार्मिक जमातों की होड़ में उतरने की तनिक भी इच्छा नहीं है ऐसी है सिर्फ जरथुस्त्री या पारसी कौम। इस पारसी कौम में आत्मरक्षा की वृत्ति है। वह चाहती है कि पारसियों से में कोई धर्मान्तर न करे। लेकिन वह यह भी चाहती कि गैर पारसियों में से (जुद्दीन में से) शादी के द्वारा या अन्य किसी तरह से कोई अपनी कौम में न आवे।

सनातनी हिन्दुओं की वृत्ति भी यही है (अथवा थी)। फरक इतना ही है कि सनातनी हिन्दू कभी-कभी नाराज होकर भ्रष्ट लोगों को अपनी कौम से निकाल देते हैं। पारसी लोग धर्मभ्रष्ट लोगों को सजा करेंगे, लेकिन बहिष्कृत नहीं करेंगे। यहूदियों की भी शायद यही वृत्ति होगी।

दुनिया के देशों में अथवा राष्ट्रों में प्रधानता राजनीति की है। उसमें सामर्थ्य, सम्पत्ति और संख्या तीनों का खयाल जबरदस्त है। क्योंकि जीवनकलह में, संघर्ष में, होड़ में, युद्ध में चारित्र्य का अथवा धार्मिकता का नहीं किन्तु सामर्थ्य, सम्पत्ति, संख्या और संगठन का महत्व होता है।

राजनीति में एकम होता है राष्ट्र का (अर्थात् शासन अथवा सरकाररूपी तन्त्र द्वारा संगठित जमात का) जब यही दृष्टि धार्मिक जमातों में और वांशिक जमातों में आती है, तब उस दृष्टि को हम कहते हैं धर्मनीति अथवा वंशनीति।

पश्चिम के गोरे लोगों में राजनीति अथवा राष्ट्रनीति के साथ-साथ छुपे ढंग से धर्मनीति और वंश-नीति होती ही है। लेकिन अब उसकी चर्चा खुले तौर पर नहीं होती। गोरे लोग जानते हैं कि गोरे लोगों की

अपेक्षा रंगीन (पीले, गेहुएं और काले) लोगों की संख्या अधिक है। इसलिए लोगों में वंशाभिमान जाग्रत करना खतरनाक है। तो भी अमेरिका में नीग्रो के कारण और अफ्रीका में वहां के काले बाशिन्दों के कारण वंशनीति आगे आ रही है और दुनिया का ध्यान खींच रही है।

अफ्रिका खंड काले लोगों का खंड है। गोरे लोग उसे कृष्णखंड अथवा अंधेरा खंड कहते थे। उन लोगों की रात्रि अथवा कृष्णपक्ष की अमावस सन् १६२५ तक चली। उस साल यूरोपियन लोगों ने अफ्रीका के टुकड़े करके आपस में बांट लेने का एक विराट समझौता किया था। मानो बड़े शिकारियों की एक टोली जंगली सूअरों के एक झुण्ड का कत्ल करके आपस में बांट रही हो। उसके बाद गोरे राष्ट्रों में आपस की ईर्ष्या बढ़ गई। और आफ्रिकन लोगों में जागृति, असन्तोष, शिक्षा और जिजीविषा (जीने की इच्छा) ये चार तत्व बढ़ने लगे। सन् १६२५ तक की अमावस के बाद प्रथम बहुत धीरे-धीरे लेकिन अब जोरों से अफ्रीका का शुक्ल-पक्ष शुरू हो रहा है। अब उसे अंधेरा खंड न कहते प्रभात का खंड कहना होगा। अगर अफ्रीका के इन काले लोगों में मानवता का विकास हुआ तो उनकी और दुनिया की खैरियत है। लेकिन अगर उनमें केवल राष्ट्रीयता जाग्रत हुई और गोरों की जैसी विराट वांशिक अस्मिता प्रकट हुई तो सारी दुनिया को 'न भूतो न भविष्यति' ऐसा वंशविग्रह देखना पड़ेगा। और मानवीय संस्कृति का करीब-करीब खातमा होगा। पूंजीवाद और साम्यवाद का आज का संघर्ष इतना भयानक नहीं होगा, जितना जगद्व्यापी वांशिक विग्रह का होगा।

इसलिए हमें धर्मनीति और वंशनीति इन दोनों का जागतिक राष्ट्रनीति के साथ-साथ अध्ययन करना पड़ेगा।

सब धर्मों में जो शुद्ध धार्मिकता, मानवता, सदाचार, भक्ति और अध्यात्म पाये जाते हैं, उनसे तो मनुष्यजाति का कल्याण ही होगा। लेकिन धर्मनीति में इनकी बात कम सोची जाती है। मुस्लिम लीग ने, हिन्दू सभा ने, अरब लीग ने अथवा यहूदियों की झायोनिस्ट मूवमेण्ट ने सदाचार, ईश्वरनिष्ठा, धर्मपरायणता और अध्यात्म का विचार आगे नहीं रखा है। वहां तो अपनी-अपनी जमात का सामर्थ्य और प्रभाव बढ़ाने की ही बात है।

इसलिए धर्मनीति के अध्ययन में ईश्वर-भक्ति, सन्तोष, परोपकार और निःस्वार्थ सेवा का चिन्तन करने से नहीं चलेगा। उसमें तो मिल्लत, जमात, क्रिस्सेनडॉम आदि गुटों के अभिमान का, संगठन का, पसंदगी-नापसन्दगी का और गैरों के द्वेष का प्रभाव कितना है, वही देखना है।

हम सबसे श्रेष्ठ हैं, दूसरे हमसे कम हैं, कमीने हैं, तुच्छ हैं ऐसे खयाल से जो होड़ चलती है, उस होड़ को संस्कृत में अहंश्रेयसी कहते हैं। आज सारी दुनिया में यह अहंश्रेयसी ही चलती है। जबतक यह बुखार उतरा नहीं है, तबतक मानवता, विश्व-बन्धुत्व और सर्वोदय का वायुमण्डल जम नहीं सकेगा। राष्ट्रनीति, धर्मनीति और वंशनीति में और अर्थनीति में भी चलती हुई अहंश्रेयसी ही दुनिया का सबसे बड़ा सवाल और सबसे बड़ा रोग है और सर्वोदय की भावना ही भवरोग नाशक दवा है।

विश्व-समन्वय क्या और कैसे

भारत-भाग्य-विधाता भगवान ने इस देश में करीब-करीब सब वंशों के, सब धर्मों के और सब संस्कृतियों के लोगों को एकत्र ला छोड़ा है। हमने देखा कि यूरोप के सब बाशिंदे गोरे होते हैं, अफ्रीका के काले होते हैं, जापान के पीले होते हैं, अमेरिका के आदिवासियों की चमड़ी लाल होती है, लेकिन भारत में सब रंगों के, सब वर्णों के लोग पाये जाते हैं। यहां दूध के जैसे सफेद, केतकी जैसे पीले, शालग्राम के जैसे काले और इनके बीच के सब रंगों के लोग पाये जाते हैं। बहुत से लोग गेहूं के रंग के हैं। लेकिन सब लोग गेहूं खा नहीं सकते। किसी का चावल के बिना चल नहीं सकता। ज्वार, बाजरा खानेवाले लोग भी बहुत हैं; शाकाहारी भी हैं और मांसाहारी भी हैं।

धर्मों के बारे में तो पूछना ही क्या ? पत्थर, पेड़, जानवर, भूत-प्रेत और पितर आदि की पूजा करनेवाले भी हैं और ध्यान में बैठकर निराकार-निर्गुण परमात्मा का ध्यान करनेवाले वेदांती भी हैं। और हमारे देवों की संख्या भारत की लोकसंख्या से भी कम नहीं है।

दुनिया में एक भी ऐसी संस्कृति नहीं है जिसके प्रतिनिधि भारत में न पाए जाते हों। इस पर से इतिहास विधाता की योजना यही दीख पड़ती है कि या तो सबका समन्वय करके पारिवारिक सम्बन्ध से एक कुटुम्ब बनकर रहो, नहीं तो पागल बनकर एक-दूसरे से झगड़ा करके अपने ही देश में परराज्य के गुलाम बनकर के घृणित और लज्जास्पद जीवन व्यतीत करो।

हम लोगों ने वंश के झगड़े किये, धर्म के झगड़े किये, सांस्कृतिक झगड़े किये और इस नतीजे पर पहुंचे कि सबको इस देश में शांति से रहना है। यहां पर केवल आर्य और केवल अनार्य रह नहीं सकते। न कोई सबको मुसलमान कर सका, न ईसाई। हम सब साथ रहते हैं किन्तु एक प्रजा और एक-राष्ट्र बनकर रहने की कला हमने अभी तक आत्मसात् नहीं की है। हां हमारे यहां सह-अस्तित्व है। हरएक धर्म, जन-समुदाय, पंथ और फिरका अपने-अपने में संतुष्ट है। लोग कहते हैं, "हम औरों से विशेष मिलते-जुलते नहीं हैं सही; किन्तु किसी से झगड़ा भी नहीं करते। हरएक अपना-अपना सम्भालकर अलग रह जाय तो इसमें किसी का क्या बिगड़ जाता ?"

समन्वय कहता है कि सैकड़ों और हजारों वर्ष तक साथ रहकर अगर आप एक-दूसरे के साथ संस्कारों का लेन-देन नहीं करेंगे, अपनी विविधता कायम रखते हुए एक-दूसरे के साथ सहयोग नहीं करेंगे और हरएक अपनी ही तूती अथवा अपना ही बाजा बजायेगा तो उसमें से कोलाहल सुनाई देगा, विश्व-संगीत नहीं।

रोज उठकर झगड़ा करते रहना, मार-काट करना तो बुरा है ही, लेकिन तुम्हारा मुंह पूर्व में, तो मेरा पश्चिम में ऐसा कहकर एक-दूसरे से विमुख होकर केवल सह-अस्तित्व से रहना यह भी मानवता का लक्षण नहीं। उसे हम निरोगी हालत नहीं कह सकते। निश्चय ही यह रोगी हालत है। एक ही देश में एक ही भूमि पर साथ रहते हुए परस्पर परिचय के द्वारा सहयोग नहीं करना, मानवता को विफल करना है। सहयोग द्वारा कमोबेश ओत-प्रोत हो जाना और लेन-देन बढ़ाते रहना यही है उत्तम सामाजिकता और यही है सच्ची धार्मिकता।

भारतीय संस्कृति का रुख इसी दिशा में है। इतिहास कहता है कि हम लोग प्रथम सह-अस्तित्व से ही संतोष मानते हैं। लेकिन जबरदस्तों का असर होता ही जाता है। इस तरह भारतीय संस्कृति सम्मिश्र संस्कृति है। लेकिन इसमें शुरू से उच्च-नीच-भाव मान्य रहा है। ब्राह्मण-क्षत्रिय अपने को श्रेष्ठ मानें, सवर्ण अवर्णों को दूर रखें, मुसलमान औरों को काफिर कहकर तुच्छ समझें, ईसाई लोग अपने को सर्वश्रेष्ठ मानें, गोरे लोग

काले लोगों को जंगली कहें और परस्पर आदर की जगह अभिमान और तुच्छता का वातावरण ही समाज-मान्य बन जाय यह रोगी और अवांछनीय सह-अस्तित्व है। समन्वय नहीं है।

धर्म की ही बात लीजिये। अभिमानी, जबरदस्तों के सामने हम सिर झुकाते हैं। जो लोग किसी से भी झगड़ा नहीं करते, उनसे हम अलग ही रहते हैं। पश्चिम हिन्दुस्तान के पारसियों को ही लीजिए। धार्मिक आक्रमण से बचने के लिए उन्होंने अपना देश ईरान छोड़ा। सारी दुनिया में वे कहीं भी जा सकते थे। उन्होंने भारत आना पसन्द किया क्योंकि यहां उनकी धार्मिक स्वतंत्रता को तनिक भी खतरा नहीं था। वे हमारे देश आए और हमारे बीच रहे यह उनका हमारे लिए 'वोट ऑफ कान्फीडेन्स' था। १३०० वर्ष हुए वे हमारे बीच रहे हैं। लेकिन हमने उनके धर्म का परिचय नहीं किया। जर्मन, अंग्रेज, फ्रेंच और अमेरिकन उनके धर्म का अध्ययन करते हैं, अच्छी किताबें लिखते हैं। हम तो उन्हें पढ़ते भी नहीं।

इस्लामी राज्यकर्ता भारत आये। यहां उनका राज्य हुआ। यहां के लाखों लोग मुसलमान हुए लेकिन पारसियों को इस देश में वह खतरा नहीं रहा, जो ईरान में था।

मैंने तो एक छोटा-सा ही उदाहरण दिया। अब जब भारत में स्वदेशीय या विदेशी राजाओं का राज्य नहीं रहा, प्रजा का ही राज्य है और स्वराज्य सरकार सब धर्मों के प्रति इज्जत की एक-सी निगाह से ही देखती है तब हमें अपना-अपना अभिमान छोड़कर और औरों के प्रति तुच्छता या उपेक्षा न रखते हुए परस्पर परिचय बढ़ाना चाहिए, एक-दूसरे के त्योहार में शरीक होना चाहिए, सब तरह से सहयोग बढ़ाना चाहिए, संकट के समय एक-दूसरे की मदद करनी चाहिए और पारिवारिक सम्बन्ध से घुल-मिलकर रहना चाहिए।

गांधीजी कहते थे कि सब धर्म अच्छे हैं, क्योंकि वे भगवान के दिए हुए हैं। किन्तु सब धर्म अपूर्ण हैं, क्योंकि मनुष्य ने अपनी-अपनी अपूर्णता उसमें डाल दी है। जिस तरह आकाश से आनेवाला बारिश का पानी शुद्ध होता है, लेकिन जमीन पर पड़ते ही मिट्टी के गुण-दोष और रंग लेता है, वैसा ही सब धर्मों का हुआ है।

ऐसी हालत में अपने-अपने धर्म को सुधारने का काम हर धर्म के अनुयायी स्वयं करें। हम दूसरे के धर्म नुक्ताचीनी या निंदा न करें। दूसरों के धर्मों में हमें जो अच्छा लगे उसका हम प्रसन्नता से कीर्तन करें और अपने ढंग से स्वीकार करें। इस तरह हरएक समाज एक-दूसरे से लाभ उठाकर अपने धर्म को और अपनी संस्कृति को समृद्ध और सर्वकल्याणकारी बनावे। यही है समन्वय। दूसरे के धर्म का नाश कर अपने ही धर्म को चलाने की बात अब दुनिया में नहीं चलेगी।

और असल में देखा जाए तो ये एक-दूसरे के दुश्मन नहीं हैं। जैसे एक वृक्ष की अनेक शाखाएं होती हैं वैसे ही एक किसी प्राचीन सनातन धर्म की ये सब शाखाएं हैं।

हम हिन्दू धर्म को बड़े प्रेम से और अभिमान से सनातन धर्म कहते हैं। सच देखा जाय तो हिंदू धर्म सार्वभौम विशाल सनातन धर्म की एक शाखा ही है।

मेरे पास ये पारसी दस्तूर बैठे हैं। उनके धर्म के आद्यग्रंथ गाथा के रूप में पाये जाते हैं। हिन्दू धर्म अगर वैदिक धर्म है तो पारसियों के धर्म को गाथिक धर्म कहना चाहिए। यह गाथिक धर्म सार्वभौम सनातन धर्म की एक शाखा ही है। उनके धर्म में भी इंद्र, मित्र (सूर्य) वरुण, अग्नि, यम, नासत्य आदि देवता हैं। उनकी अवस्ता भाषा और हमारी वैदिक संस्कृत व्याकरण में और शब्दावली में मिलती-जुलती भाषाएं हैं। वे भगवान को असुर अथवा अहुर कहते हैं तो हमारे वेद में भी इंद्र और वरुण को असुर कहते हैं। असु याने प्राण, उसकी रक्षा करता है वह असुर। देव और असुर का झगड़ा बाद में हुआ। अब ऐसे झगड़ों को मिटाकर समन्वय करने के दिन आ गए हैं।

इन पारसियों के धर्मगुरु जरथुस्त्र का गहरा असर हजरत मूसा, इब्राहिम और दावीद के यहूदी धर्म

पर हुआ। वह भी एकेश्वरी बना। इन यहूदियों में एक ऐसा धर्मपुरुष जागा जिसके नाम से ईसाई धर्म प्रवृत्त हुआ है। मेरी दूसरी ओर ये रोमन-कैथोलिक धर्मोपदेशक बैठे हैं। उनका ईसाई धर्म यहूदी धर्म से ही निकला है। यहूदियों की धर्मपुस्तक तौरात को वे मानते हैं और उसमें ईसामसीह के उपदेश को बढ़ाकर (जिसे इंजिल कहा जाता है) ईसाई धर्म बनता है।

आज हमारी सभा का प्रारम्भ आदरणीया कुलसुम सयानी ने किया। उनका इस्लाम धर्म इब्राहिम के के ही धर्म का विशुद्ध रूप है।

इस्लाम का धर्मग्रंथ कुरानशरीफ़ है, जिसमें भगवान साफ तौर पर कहते हैं कि ऐसा एक भी देश या जमाना नहीं है जिसमें हमने लोगों को आगाह करने के लिए अपना कोई नबी या पैगम्बर नहीं भेजा हो। इस्लाम ऐसे सब नबियों को और उनके उपदेशों को सही मानता है। लेकिन कहता है कि बाद के लोगों ने समझ की कमी के कारण उनमें बिगाड़ किया। इसलिए अब कुरान भेजने की जरूरत पैदा हुई। जो हो, इस पर से इतना तो स्पष्ट होता ही है कि सब धर्म उनके मूलरूप में सही हैं और उनमें पारिवारिक सम्बन्ध है।

इधर सार्वभौम सनातनधर्म की वैदिक शाखा का भी बड़ा विस्तार हुआ। वेदकाल के यज्ञधर्म के बाद उपनिषद के ऋषियों ने ज्ञानचर्चा बढ़ाकर मोक्ष की साधना का रास्ता बताया। श्रीकृष्ण की भगवद्गीता ने उपनिषदों के आधार पर जीवन किस तरह जीना चाहिए उसका रास्ता बताया। ज्ञान, कर्म, उपासना, भक्ति आदि अनेक जीवनयोगों की साधना बढ़ी। चार वर्णों और चार आश्रमों की व्यवस्था ने समाज को संगठित किया। ऐसे विशाल धर्म को सामान्य जनता तक पहुंचाने के लिए और लोकप्रिय बनाने के लिए इतिहास और पुराण लिखे गये।

भारत के आदिवासियों के अन्दर जो धर्मभावना थी उसका भी स्वीकार और परिवर्तन इस आर्यधर्म में किया। आगे जाकर ऐसे श्रुति-स्मृति-पुराणों के धर्म में शुद्धि करने की जरूरत महसूस हुई। इसलिए वैदिक धर्म में से जैन और बौद्ध धर्म पैदा हुए।

असली वैदिक धर्म में उपासना-भेद से शैव, वैष्णव, शाक्त आदि शाखाएं फैल गईं। फिर इनमें शुद्धि करने के लिए बंगाल में ब्रह्म-समाज और पश्चिम भारत में प्रार्थना-समाज की स्थापना हुई। इस ब्रह्म या प्रार्थना समाज का वर्णन करते मैंने कहा था कि संगीत को राग और ताल के व्याकरण में शुद्ध रूप में रखने के लिए जिस तरह हम तानपुरा या तम्बूरा काम में लाते हैं उसी तरह सब धर्मों को शुद्ध रूप में संभालने के लिए ब्राह्म या प्रार्थना-समाज धर्मों का तंबूरा है। इस प्रार्थना-समाज के भी एक प्रतिनिधि श्री चंदावरकरजी यहां मौजूद हैं। उनसे मैं कहना चाहता हूं कि संत-साहित्य में पला हुआ मैं जब पश्चिम का बुद्धिवादी (रेशनालिस्ट) साहित्य पढ़ने पर संशयवादी—नास्तिक बना तब मुझे फिर आस्तिक बनाने का काम प्रार्थना-समाज ने किया था। इसलिए मैं उनके प्रति हमेशा कृतज्ञ रहूंगा। प्रार्थना-समाज में से वेदांत की ओर मुझे खींचने का काम स्वामी विवेकानंद, उनके गुरु रामकृष्ण और उनकी शिष्या भगिनी निवेदिता ने किया। उसी वेदांत को सुवासित करने का काम रवीन्द्रनाथ ने किया। और वेदांत की शक्ति का परिचय कराया योगी अरविंद घोष ने।

इस तरह से मेरे जीवन में समन्वय की समृद्धि स्थापित हुई और राजनैतिक क्रांति, सामाजिक नव-जीवन और सांस्कृतिक जीवन-योग की त्रिवेणी को लेकर मैं गांधीजी के पास पहुंचा।

जबतक भारत पर मुसलमानों का अथवा ईसाइयों का राज्य था तब यहां ईसाई धर्म का और इस्लाम धर्म का जोर था। हिंदू लोग दबे हुए थे, इसलिए उनके धर्म की भी प्रतिष्ठा नहीं थी। तो भी पश्चिम के लोगों ने हमारा तत्त्वज्ञान और हमारी संस्कृति का अध्ययन शुरू किया। तब से उनके मन में हमारी संस्कृति के बारे

में थोड़ा आदर उत्पन्न हुआ है । स्वामी विवेकानंद, रवीन्द्रनाथ ठाकुर अरविंद घोष और महात्मा गांधी के प्रभाव से भारत की इज्जत बढ़ी और अब दुनिया के विचारवान लोग सब धर्मों के प्रति थोड़ा कुछ आदरभाव रखने लगे हैं ।

जब भारत बंटवारे के साथ स्वतंत्र हुआ तब मुसलमानों ने पाकिस्तान का राज्यधर्म इस्लाम है ऐसा जाहिर किया, हालांकि पाकिस्तान में हिन्दू लोगों की अच्छी संख्या है । भारत में हिंदू लोगों का प्रचंड बहुमत है । हम हिंदूधर्म को भारत का राज्यधर्म बना सकते थे । लेकिन वैसा हमने नहीं किया । हमने सोचा कि भारत का मिशन है कि धर्म-धर्म के बीच का संघर्ष टालकर हम धर्मों के बीच दोस्ताना संबंध बांध दें । सब धर्म मिलकर एक धर्म-कुटुंब बनें और सारी दुनिया में से धर्म के नाम के झगड़े हम टाल दें ।

धर्म-समन्वय की यह मांग केवल राजनैतिक नहीं है । यह मांग जागतिक है और सांस्कृतिक भी है ।

हम प्रथम बौद्धों के साथ और पारसियों के साथ समन्वय साधने की कोशिश करेंगे । साथ-साथ ईसाइयों से और यहूदियों से भी समन्वय करेंगे । इतना समन्वय सिद्ध होते ही मुसलमान भी राजनैतिक दृष्टि बाजू पर रखकर भारतीय-समन्वय के लिए अनुकूल होंगे ।

और अगर भारत में विश्व-समन्वय सिद्ध हुआ तो उसका प्रभाव बाहर की दुनिया पर भी पड़ेगा ।

पश्चिम के वैज्ञानिक लोग और सारी दुनिया के साम्यवादी लोग कहते हैं कि धर्म का नाम ही छोड़ दीजिये । विश्व-मानवता के आधार पर सर्व-धर्म-विरोध का आंदोलन चलाकर दुनिया की एकता स्थापित हो सकती है ।

हमारा कहना है कि सब धर्मों के अंदर जो गहरी आध्यात्मिक बुनियाद है वही है मानवता का आधार। उसको खोने को हम तैयार नहीं हैं । और सब धर्मों के अंदर जो एकांगी, भ्रमात्मक और बुरी बातें हैं उनका प्रभाव हरएक धर्म के सामान्य लोगों पर इतना बलवान है कि विज्ञान और साम्यवाद के पास इतनी शक्ति नहीं है कि कोट्यावधि लोगों के हृदय में से धर्म-निष्ठा और धर्माभिमान वे दूर कर सकेंगे । ऐसी हालत में सब धर्मों के प्रति एक-सा तिरस्कार पैदा करना और आध्यात्मिकता छोड़कर मानवता का संगठन करना आज की दुनिया में शक्य नहीं है ।

इसलिए एक-एक धर्म और संस्कृति के सुधार का काम उसके अनुयायी पर हम छोड़ दें और हम सब धर्मों में जो अच्छाइयां हैं उनपर भार देकर सब संस्कृतियों को नजदीक ला छोड़ें । और इस तरह समन्वय के द्वारा मानवता को और विश्व-ऐक्य को स्थापित करें ।

यही है आज का युगधर्म । इसे सिद्ध न किया तो परस्पर अविश्वास और तिरस्कार बढ़कर विश्व का नाश ही होगा । इसलिए सब वंशों के बीच, सब धर्मों के बीच, सब जातियों के अंदर और सब संस्कृतियों के लिए समन्वय ही एकमात्र तरणोपाय है । इसी के पीछे पड़ने का हमने ईश्वरी प्रेरणा से संकल्प किया है ।

३. मानव-दर्शन

हम सबमें सीनियरमोस्ट

बहुत कम लोग जानते हैं कि श्री विनोबा का और मेरा सम्बन्ध बहुत पुराना है। वह इतना पुराना है कि उन दिनों न मैंने गांधीजी का नाम सुना था, न विनोबा ने। मैं बड़ौदा की एक राष्ट्रीयशाला का—गंगनाथ भारतीय सर्व विद्यालय का—एक आचार्य था। और विनोबा बड़ौदा कॉलेज के एक विद्यार्थी थे। कॉलेज में उनकी द्वितीय भाषा संस्कृत नहीं, बल्कि फ्रेंच थी। उनका और मेरा सम्बन्ध प्रस्थापित होने का कोई कारण भी नहीं था।

किन्तु आकाश के सितारे क्या नहीं कर सकते ? दक्षिण कर्नाटक के एक संस्कारी युवक उन दिनों गंगनाथ विद्यालय के संस्थापक बैरिस्टर श्री केशवराव देशपाण्डेजी से मिलने के लिए बड़ौदा आये। उनका नाम था मंजेश्वर गोविन्द पै। उन्होंने मुझे आकाश के सितारों के देशी नाम बताये। इतना ही नहीं, बल्कि उनका प्रत्यक्ष परिचय भी करवाया। पश्चिम का खगोल-शास्त्र मैं जानता ही था। अब भारतीय ज्योतिष-शास्त्र की पुस्तकें मैंने मंगवाईं और दोनों की मदद से आकाश के ग्रह-नक्षत्रोंको मैं पहचानने लगा। उनकी गति के बारे में गणित भी करने लगा।

मेरा स्वभाव रहा प्रचारक का। मैंने आकाश के सितारों के काव्य का प्रचार शुरू कर दिया। यह समाचार बड़ौदा के कॉलेज में पहुंचा। वह सुनकर कॉलेज के चन्द विद्यार्थी मेरे पास आने लगे, और सूर्यास्त के बाद आकाश के सितारों का परिचय पाने लगे। विद्यार्थियों की संख्या जब बढ़ी, तब उनमें श्री विनायक नरहरे भावे भी खिंचकर आए। रात शुरू होने के बाद आकाश में जितने ग्रह और नक्षत्र दीख पड़ते हैं, उनका परिचय उन्होंने मुझे देखते-देखते पा लिया।

उनके साथ उनके एक मित्र आते थे। उन्हें गीता के बारे में दिलचस्पी थी। मैंने उनको गीता का स्वामी स्वरूपानन्दजी का अंग्रेजी का अनुवाद दिया था। मालूम नहीं विनोबा में कब गीता का आकर्षण पैदा हुआ और कब उन्होंने संस्कृत सीख ली। अनेक वर्षों के बाद जब मैंने उनके हाथ में स्वरूपानन्दवाली अपनी गीता देखी, तब मुझे पुराने दिनों की याद आई और तभी खयाल हुआ कि इनसे मेरा परिचय बहुत पुराना है।

अभी मैं बिहार गया था, तब विनोबा से मिला था। उनके इर्द-गिर्द उनके शिष्य भी बैठे थे। मेरे बारे में बोलते हुए गणिती विनोबा ने अपने इर्द-गिर्द के लोगों से कहा, "वर्षों के हिसाब से मैं काका-साहेब से दस वर्ष छोटा हूं। किन्तु महीनों के हिसाब से मैं पौने तीन महीने बड़ा हूं।" मैंने विनोबा से पूछा, "मेरी जन्म-तिथि आपको कैसे याद रही ?" उन्होंने कहा, "वेल्लोर जेल में साथ थे, तब आपने पहली दिसम्बर को उपवास किया था इसलिए तारीख याद रही।"

आश्रमवासी के नाते हम दोनों में सीनियर कौन है और जूनियर कौन है, यह भी एक विचित्र सवाल कभी-कभी पूछा जाता है।

मैं गांधीजी से सन् १९१५ की फरवरी में मिला था। दक्षिण अफ्रीका का अपना कार्य पूरा करके वे

भारत लौटे थे। अपने फिनिक्स आश्रम के साथियों से मिलने के लिए वे शान्तिनिकेतन में पधारे थे। मैं भी उन दिनों शान्तिनिकेतन में था। उनके स्वागत के समारोह में मैंने उत्साहपूर्वक हिस्सा भी लिया था। उन्हीं दिनों गांधीजी ने मुझे अपने आश्रम में आने का आमन्त्रण दिया था। किन्तु मैं आश्रम में प्रत्यक्ष शरीक हुआ बहुत दिनों के बाद। मैं बैरिस्टर केशवराव देशपाण्डेजी के साथ था। गांधीजी ने उन्हें मेरे बारे में लिखा, तब स्वयं देशपाण्डेजी मुझे सत्याग्रह आश्रम में ले गए।

उसके पहले विनोबाजी आश्रम के सदस्य बन चुके थे। किन्तु आश्रम में प्रवेश पाते ही उन्होंने गांधीजी से कहा कि "संस्कृत विद्या में अच्छा प्रवेश पाने का मेरा संकल्प है। उसे पूरा करने के लिए मैं वाई की प्राज्ञ-पाठशाला में श्री नारायण शास्त्री मराठे के पास जाना चाहता हूं।"

इस प्रकार आश्रम में प्रवेश पाकर विनोबाजी वाई चले गए और आश्रम के विद्यार्थियों को संस्कृत सिखाने का काम मुझे आश्रम में दाखिल होते ही अपने सिर पर लेना पड़ा। एक साल पूरा होते ही विनोबा फिर आश्रम में आये और काम में लग गए। किन्तु जो लोग यह नहीं जानते थे कि विनोबा आश्रम में पहले दाखिल हुए थे, वे मानने लगे कि आश्रमवासियों में काकासाहेब सीनियर हैं और विनोबा जूनियर हैं। असल में गणित के हिसाब से देखा जाय तो वे सीनियर हैं और संकल्प तथा प्रत्यक्ष काम की दृष्टि से मैं सीनियर हूं।

किन्तु आज गांधीजी के देहान्त के बीस वर्ष बाद मैं कह सकता हूं कि गांधी-कार्य के प्रचार में और विस्तार में विनोबा हम सबमें 'सीनियरमोस्ट' हैं।[1]

१. 'विनोबा और सर्वोदय क्रान्ति' से

गंगाधरराव के कुछ संस्मरण

कॉलेज की पढ़ाई पूरी करके स्वराज्य-सेवा के हेतु राष्ट्र-कार्य करने का संकल्प मैंने किया। उसी समय बेलगांव कर्नाटक के लोकनेता श्री गंगाधरराव देशपांडे के साथ मेरा परिचय बढ़ा। उन दिनों मेरी देश-भक्ति जितनी गहरी थी, सेवा करने की उमंग जितनी उछलती थी, उतनी ही अपनी योग्यता और कार्य शक्ति के बारे में मेरा अविश्वास असाधारण था। मुझे लगता था—और सही लगता था—कि लोगों से पेश आने की खूबी ही मुझमें नहीं है। मेरा नसीब ही ऐसा है कि मेरे बारे में गलतफहमी जल्द होती है। उसे दूर करने की जितनी कोशिश करूं उतनी ही उसे मजबूत करने की सफलता मुझे मिलती है। मैं मानता था कि आसपास के लोग मेरा तिरस्कार ही करते हैं। जो सज्जन हैं वे उसे छुपाते हैं और मुझसे दूर रहते हैं। कालिदास ने जिसे 'आत्मनि आरत्यय चेतः' कहा है ऐसा ही मन मुझे मिला है। और साथ-साथ तमीज और शिष्टाचार जैसी वस्तु मैं जानता ही नहीं। लाने की कोशिश करूं तो उल्टा ही हो जाता है।

ऐसे स्वभाव के साथ मैंने राष्ट्रसेवा, स्वराज-सेवा, सर्वांगीण समाजसेवा करने का निश्चय किया। सनातनी रूढ़िपरायण संस्कारों में मेरा बचपन व्यतीत हुआ था। उनके खिलाफ लड़ने का भी जोश मन में पैदा हुआ था। फलतः समाज के खिलाफ लड़ पड़ने की भी तैयार थी। इसपर आया वेदान्त का जोश और उत्साह, जो स्वामी विवेकानन्द के ग्रंथों में ठूंस-ठूंसकर भरा हुआ था। राजनीति में क्रान्तिवादी, सामाजिक क्षेत्र में रूढ़िविरोधी, और धर्म के क्षेत्र में वेदान्त का प्रचारक ऐसा विचित्र व्यक्तित्व लेकर मैंने अपने जीवन

का प्रारम्भ किया। मेरे पिता समाज में ज्यादा घुलते-मिलते नहीं थे, इसलिए बड़े लोगों से जान-पहचान कम। ऐसे मुझको कौन अपना सकता था ?

उन दिनों लोकमान्य तिलक की ओर से बम्बई में एक मराठी दैनिक 'राष्ट्रमत' शुरू हुआ। हम बड़े उत्साह से उसे पढ़ते थे। एक दिन मैंने एक लेख लिखकर सम्पादक के नाम भेजा। विश्वास था कि वे मेरा लेख लेंगे। दूसरे दिन बड़ी उत्कंठा से 'राष्ट्रमत' का अंक खरीदकर देखा। उसमें मेरा लेख नहीं था। दुःख तो हुआ, लेकिन मेरे मन में अपने बारे में जो अभिप्रायः था वह दृढ़ हुआ कि इस दुनिया के लिए मैं हूं ही नहीं। मेरा व्यक्तित्व इतना टेढ़ा-मेढ़ा है कि मेरी कहीं भी नहीं चलेगी।

'राष्ट्रमत' का अंक मैंने बाजू पर रख दिया और एल-एल० बी० की किताबें पढ़ने लगा।

दो दिन के बाद कितना आश्चर्य ! मेरा ही लेख मेरे नाम के बिना थोड़े-से परिवर्तन के साथ राष्ट्रमत में अग्रलेख के रूप में दिया गया था और गंगाधरराव ने मुझे मिलने बुलाया था। उन दिनों राष्ट्रमत के वे सर्वे-सर्वा थे। उन्होंने बड़े प्रेम से मेरे साथ बातचीत की। जीवन का उद्देश्य क्या है, क्या करना चाहता हूं आदि बातें पूछीं और अपने साथ रहने के लिए ही बुलाया। और एल-एल० बी० की बात छोड़ देने की सलाह दी। मैं मान गया। राष्ट्रमत में उन्हीं के कमरे में रहने लगा। मुझे आनन्द और सन्तोष इस बात का हुआ कि मेरी सारी विचित्रता वे समझ सकते थे। उन्हें वह अखरती नहीं थी। इतना ही नहीं, कोई अपना अनुभवी साथी हो, इसी तरह मेरे साथ बातचीत करते थे, मेरी सलाह पूछते थे और गंभीरतापूर्वक चर्चा भी करते थे।

कॉलेज के दिनों में कई क्रांतिकारी लोगों के साथ मेरा परिचय था ही। एक क्रांतिवादी नवयुवक के तौर पर ही गंगाधरराव मुझे पहचानते थे। उनके कमरे में जब क्रांतिकारी लोग आकर तरह-तरह की योजनाओं की चर्चा करते थे तब गुप्त बातें सुनने का अपना अधिकार नहीं, इस ख्याल से मैं कमरे के बाहर जाता था। लेकिन गंगाधरराव ने मुझे रोका और कहा, 'तुमपर मेरा पूरा विश्वास नहीं होता तो मैं तुम्हें अपने कमरे में रहने के लिए स्थान नहीं देता। हमारी कोई भी बात तुमसे छिपी हुई नहीं है।' मैंने कहा, 'आपके ऐसे विश्वास से मेरा जीवन धन्य हो गया, लेकिन मेरा सिद्धान्त है कि गुप्त बातों में आवश्यकता से अधिक चीजें सुनना या जान लेना अनावश्यक है, खतरनाक है। रहस्य-चीजें जान लेने का कौतूहल हरएक में होता है। वही क्रांतिकारी प्रवृत्तियों को खतरे में डालता है। और नाहक विनाश मोल लेता है।' गंगाधरराव ने कहा, 'तुम्हारी बात सही है किन्तु ऐसा समझने वाले नवयुवक हमारे दल में भी कम हैं।' मैंने कहा, 'हमारे नवयुवकों से मेरा जो परिचय है उसपर से कह सकता हूं कि बेजा कुतूहल के साथ कई लोगों में यह अदम्य इच्छा भी होती है कि लोगों को बतावें कि मैं एक बड़ा आदमी हूं, कई महत्त्व के रहस्य मैं जानता हूं। चित्त की यह खुजली रोकना कई लोगों के लिए मुश्किल होता है।'

एक दिन क्रांतिकारी नवयुवकों के दल के साथ बातचीत करते गंगाधरराव ने कहा कि 'हमारे नवयुवकों को अगर कुछ काम सौंपा तो उस काम की उनके पास से सही-सही रिपोर्ट हमें नहीं मिलती। अपनी गलतियां छिपाते हैं। वैसा करते घटनाओं के विवरण में परिवर्तन करते हैं। अपना रंग लगा देते हैं। इसलिए जो रिपोर्ट हमारे पास आती है उनमें सत्य कितना है, ढूंढ़ना हमारे लिए मुश्किल होता है। अपवाद सिर्फ कालेलकर हैं। उनका सारा-का-सारा बयान सही-सही होता है। उनपर हम विश्वास रख सकते हैं।' उद्विग्न होकर गंगाधरराव ने आगे कहा, 'पुलिसवाले अपने अफसरों को जो रिपोर्ट देते हैं वह ज्यादा अच्छी होती है। सही-सही बातें लिख देने में उनकी प्रामाणिकता कुछ अच्छी होती है।

'अंग्रेजों के खिलाफ हम लड़ते हैं। अंग्रेज देश के दुश्मन हैं। उन्हें सौ दफे झूठ कहेंगे। वैसा करते न

हमें संकोच होगा, न लज्जा। लेकिन अपनी संस्था के अन्दर, अपने लोगों के साथ, खास करके अपने नेताओं के साथ तो पूरी-पूरी सत्यता होनी चाहिए। हम लोग देश के लिए प्राण अर्पण करने के लिए तैयार हैं, लेकिन अपनी छोटी-छोटी कमजोरियां छोड़ नहीं सकते।'

गंगाधरराव ने अपने कथन में मुझे जो प्रमाण-पत्र दिया उससे तो मानो उन्होंने मुझे जीत ही लिया। (गांधीजी ने भी इसी तरह मेरे स्वभाव की थोड़ी कदर करके मुझे अपनाया था। उस घटना का आज यहां स्मरण होता है।)

एक दिन हमारे सम्पादक-मण्डल में गरमागरम चर्चा हुई। हम सब लोग उत्साह में आकर जोरों से अपनी-अपनी कलम चलाते थे। दैनिक पत्र के लिए खूब लिखना पड़ता है और वह भी समय पर। हम सब लोग अपने-अपने काम में गर्क थे, इतने में मुसे बाथरूम की ओर जाना पड़ा। वहां क्या देखता हूं कि गंगाधर-राव स्वयं नल के नीचे बाल्टियां रखकर उस पानी से पेशाबघर और टट्टीघर साफ कर रहे हैं! हाथ में एक बड़ा झाड़ू लेकर टट्टीघर का फर्श साफ कर रहे हैं। कर्नाटक के नेता, स्वराज की गर्जना करनेवाले व्याख्यान-केसरी और हम क्रांतिकारियों के पूज्य नेता उन्हीं कमरों को साफ कर रहे हैं जो हम अपनी बेदरकारी के कारण गन्दी हालत में छोड़ देते थे।

चकित होकर मैंने चिल्लाकर पूछा, 'आप यह क्या कर रहे हैं? क्या हम सब मर गये, जो आप को यह काम करना पड़ा?' उन्होंने सहजभाव से जवाब दिया, 'आप सब अपना काम तो कर ही रहेहैं, आप खाली थोड़े ही बैठे ही हैं? देखा कि ये कमरे गन्दे पड़े हैं तो साफ कर लिये। उसमें क्या हुआ?"

उन दिनों 'राष्ट्रमत' का काम ज्यादातर हम स्वयंसेवक ही करते थे। राष्ट्रमत के ऊपर कर्जा था वह दूर करना था। हम सब स्वयंसेवक राष्ट्रमत के मकान में ही रहते थे। वहीं सब साथ खाते थे। रात को टेबल पर के अखबार हटाकर उन्हीं पर वहीं सोते थे। यह सब देखकर लोग हमारी संस्था को 'राष्ट्रमठ' कहते थे। गंगाधरराव सबके साथ समान भाव से रहते थे, खाते-पीते थे, और हमें प्रेरणा देते थे। मैंने ऊपर कहा ही है, मैं उन्हें करीब-करीब पिता के जैसा ही मानता था। गंगाधरराव के कारण श्री खाडिलकर केलकर, काका पाटील, श्री दा० बि० गोखले चित्र-शाला के वासुदेवराव जोशी आदि अनेक लोगों से मेरा परिचय हुआ। लोकमान्य तिलक के साथ स्वतन्त्र रूप से थोड़ा परिचय हुआ था, लेकिन वह बढ़ा नहीं। मैं चाहता तो बढ़ा सकता था। बेलगाम के श्री गोविन्दराव याळगी तो हाईस्कूल के मेरे सहपाठी थे। लेकिन उनका घनिष्ठ परिचय गंगाधरराव के कारण ही हुआ।

मैं मानता हूं कि अपने प्रति अविश्वास होना मनुष्य का सबसे बड़ा दुर्दैव है। उससे मुझे बचाने का काम गंगाधरराव ने ऐसे मौके पर किया, जब मैं अपने सेवा-जीवन का प्रारम्भ ही कर रहा था।

(इसी तरह मेरे जीवन में आत्मविश्वास का फिर से प्रस्थापन करनेवाले थे मेरे मित्र स्वामी आनन्द। उनके प्रति भी मैं उतना ही कृतज्ञ हूं। उनका परिचय भी राष्ट्रमठ में 'राष्ट्रमत' के कारण ही हुआ।)

श्री गंगाधरराव देशपाण्डे ने 'राष्ट्रमत' बन्द होने के बाद मुझे श्रीअरविन्द घोष के स्नेही श्री केशवराव देशपांडे के पास जाने की इजाजत दी और मैंने बेलगाम का अपना राष्ट्रीय शिक्षा का काम बड़ौदे में बढ़ाया। वहां से मैं हिमालय और शान्तिनिकेतन होकर गांधीजी के पास गया, तो भी गंगाधरराव के साथ. मेरा सम्बन्ध कायम रहा।

जब मेरी कोई प्रवृत्ति पूरी होती थी तब मेरा रिवाज था कि मैं गंगाधरराव के पास जाऊं। मैं उनसे कहता था कि आपके पास कुछ काम न हो तो मैं जो नया काम शुरू करूं उसमें मुझे मदद कीजिये। लेकिन इस तरह मैं आपको बांधना नहीं चाहता। मैं जो नई प्रवृत्ति शुरू करूं या स्वीकारूं उसमें हार्दिक आशीर्वाद

मुझे दीजिये। वही मेरा मंगलाचरण होगा।

"जब तुम्हारे जैसे कट्टर क्रांतिवादी गांधीजी का अहिंसक मार्ग पसन्द करते हैं तब तुम्हारे ही मुंह से उसकी खूबियां मैं समझना चाहता हूं," ऐसा कहकर गंगाधरराव ने गांधी-मार्ग के बारे में चर्चा शुरू की। क्रांतिकारी क्रांतिकारी की परिभाषा में ही बोल सकता है, समझा सकता है। हमारी ऐसी ही स्थिति थी। गंगाधरराव के वृद्ध पिता को (क्रांति में वे गंगाधरराव से कम वृद्ध मालूम पड़ते थे। विनोद-शक्ति में और प्रसन्नता में दोनों एक से थे।) वेदान्तविद्या का शौक था। इसलिए मैं उनसे मिलने जाता और हमारी काफी चर्चा होती थी। कभी-कभी वे कहते थे कि, 'मैं तो मामूली मुख्त्यार वकील था। अगर मुझे कभी जेल जाना पड़ता तो किसलिए ? झूठी गवाही या जाली दस्तावेज बना दिया ऐसे कारण से। लेकिन मेरे लड़के को जेल हुई है ब्रिटिश साम्राज्य के बादशाह के विरुद्ध बलवा-विद्रोह करने की कोशिश में। कितना बड़ा फर्क ! और मेरे लिए कितने अभिमान की बात ! मेरा लड़का जेल जाता है इसका मुझे दर्द नहीं है। हमारे परिवार का मुख उसने उज्ज्वल किया, हमारी शान बढ़ी।'

पुराने जमाने की जमींदारी का अच्छा नमूना था, गंगाधरराव का परिवार। जब वे पढ़ने के लिए कॉलेज में गये तब पिता ने उनके साथ एक रसोइया और एक नौकर दिया था। ऐसी शान के बिना लड़के को बेलगाम से पूना भेजना पिता को पसन्द नहीं था। लड़के को यही बात हास्यास्पद लगी और उसने थोड़े ही दिनों में दोनों को वापस भेज दिया। दो जमानों में कितना अन्तर ! जब गंगाधरराव का कॉलेज जीवन पूरा हुआ तब उन्होंने पिता को पत्र लिखा कि 'अब मैं पुराने मकान में कैसे रहूं ? अब मेरे लिए एक नये ढंग का नया बंगला बांध रखिये। आते ही उसमें रह सकूं।' नये जमाने की नई शान।

कहते हैं कि गंगाधरराव ने पहले तो नामदार गोखले की 'सर्वेन्ट्स ऑफ इण्डिया सोसायटी' (भारत सेवक समाज) में दाखिल होना चाहा था; लेकिन गोखले ने उनके विचार और उनका उत्साह देखकर उन्हें सिफारिश की कि आप लोकमान्य तिलक के पास जाइये। गंगाधरराव तिलक के पास गये और एक तरह से उनके दाहिने हाथ बन गये। लोकमान्य की प्रवृत्ति पूना से चलती थी। गंगाधरराव उनके कर्नाटक के प्रतिनिधि। देखते-देखते अपना प्रान्त उन्होंने जाग्रत किया। मराठी और कन्नड़ दोनों भाषाओं में गंगाधरराव का वक्तृत्व अप्रतिम था। महाराष्ट्र में भी उनकी कोटि के वाग्मी बहुत कम थे।

जब लोकमान्य विलायत गये तब उन्होंने अपनी गद्दी पर गंगाधरराव देशपाण्डे की नियुक्ति की और कहा कि आप पूना में आकर मेरे ही घर पर रहिये। मेरा कमरा ही आपका कमरा होगा। मराठी 'केसरी' और अंग्रेजी 'मराठा' दोनों अखबार चलानेवाले सम्पादक आपकी ही निगरानी में काम करेंगे। गंगाधरराव ने ऐसे विश्वास और ऐसी नियुक्ति के लिए लोकमान्य को धन्यवाद दिया और कहा, आपके दोनों सम्पादक सुयोग्य पुरुष हैं। मैं बेलगाम ही रहूंगा। पूना आता-जाता रहूंगा। आप पीछे की चिंता न करें। गंगाधरराव जानते थे कि अपने नेता की गद्दी पर जाकर बैठने से उनकी कार्यशक्ति नहीं बढ़ेगी। असली काम तो विचार-प्रचार का है।

मेरा प्रधान कार्य राष्ट्रीय शिक्षा का ही था। मैं क्रान्तिवादी था सही, किन्तु मैं मानता था कि राष्ट्रव्यापी क्रान्ति करनी हो तो अब देशी राजाओं को तैयार करने से नहीं होगी। वह पद्धति सन् १८५७ में खत्म हुई। अब तो प्रजा-जागृति का ही युग है। हमारे जमाने के स्वातन्त्र्य-वीर श्री सावरकर ने गणेशजी की आरती में प्रार्थना की थी।

देवा द्ये हातीं तलवार, हो संगरा तयार,
देवा द्ये हातीं तलवार.........

थोड़ा जय तुज येता मिलतिला साह्याला साचार रे
ठायि ठायिचे निर्जर राजे तसेच तत्सरदार रे
देवा घे हातीं तलवार।.........

(हे गणेश जी, भगवान्, हाथ में तलवार लेकर संगर यानी युद्ध के लिए तैयार होइये। दुश्मन के खिलाफ लड़ते जब तुम्हें थोड़ी विजय प्राप्त होगी तब जगह-जगह के देवता राजा जो निर्वीर्य नहीं हुए हैं, तुम्हारी मदद में आयेंगे और उनके सरदार भी आयेंगे। उनकी मदद से देश आजाद होगा।)

लोकमान्य के जमाने के चन्द क्रान्तिकारी हैदराबाद के निजाम के यहां गये। देखने के लिए कि वहां कुछ आजादी के प्रयत्न को बल मिलता है या नहीं? श्रीकृष्णजी प्रभाकर खाडिलकर नेपाल गये यह विश्वास लेकर कि वहां के स्वतन्त्र राज से कुछ सहानुभूति और मदद मिलेगी। अन्य क्रान्तिकारी लोगों ने आशा रखी थी कि शायद कोल्हापुर के छत्रपति से प्रश्रय मिलेगा। उन्हें कैसा अनुभव हुआ यह तो हमेशा के लिए रहस्य ही रहेगा। पता नहीं, आजादी के इतिहास में भी उस प्रकरण को स्थान रहेगा या नहीं। महाराष्ट्रियों के दूसरे एक दल ने बड़ौदे का आश्रय लिया। वहां की प्रवृत्ति के बारे में अंग्रेज सजग थे। यूरोप के महायुद्ध के बाद जब अंग्रेजों का साम्राज्य १८५७ से भी मजबूत हुआ तब उन्होंने स्वराज का आन्दोलन दबाने के लिए रौलेट कमीशन नियुक्त किया। उस कमीशन की रिपोर्ट में आजादी की प्रवृत्ति के इस पहलू का अच्छा जिक्र है। श्री अरविन्द घोष, श्री केशवराव देशपाण्डे, श्री खासेराव और श्री माधवराव जाधव ये सारे भारत की आजादी के अनन्य उपासक थे। हरएक का दृष्टिकोण अलग-अलग लेकिन सबका हृदय एक था। श्री अरविन्द घोष, उनके भाई श्री बारीन्द्र घोष और केशवराव देशपाण्डे इनकी कल्पना उनकी भवानी-मन्दिर की योजना में व्यक्त हुई है। उस योजना की बुनियाद में भारत की धर्मनिष्ठा है। और उनकी कार्य पद्धति वही है जिसे आगे जाकर गांधी जी ने 'रचनात्मक कार्यक्रम' का नाम दिया।

सन् १९१५ से मेरे विचारों में परिवर्तन होने लगा। स्वामी विवेकानन्द के विचार, भगिनी निवेदिता का 'अग्रेसिव हिन्दूइज्म,' आनन्दकुमार स्वामी का कलात्मक ध्येयवाद और ग्रामीण-संस्कृति का पुनरुद्धार करने का आग्रह, लाला हरदयाल की बहुरूपी क्रान्ति मीमांसा और रवीन्द्रनाथ का 'राष्ट्रपूजा धर्म का विरोध' आदि बातें क्रमशः जंचने लगी। (यह सब मैंने काल-क्रम से नहीं लिखा है।) लेकिन जैसे-जैसे मेरे विचारों में परिवर्तन होने लगे वैसे-वैसे श्री गंगाधरराव से मैं चर्चा करता रहा और मैंने देखा कि उनका वाचन काफी विशाल था। वे नये-नये विचार ग्रहण करने में युवकों से कम तैयार नहीं थे।

शुरू की ही बात कह दूं। बम्बई प्रान्त की राजकीय परिषद बुलाने की बात थी। लोकमान्य मांडले से लौटे थे। राजकीय परिषद् बेलगाम में होनेवाली थी। गंगाधरराव और मेरे बीच तय हुआ कि इस परिषद् में हम महात्मा गांधी को बुलावें। उन दिनों वे महात्मा नहीं बने थे, कर्मवीर गांधी थे।

मैंने गांधीजी से पूछा कि आप नरम दल के साथ ही क्यों एकरूप हो जाते हैं? आप की राष्ट्रीयता कम उज्ज्वल नहीं है। राष्ट्रीय पक्ष के साथ भी आपको अपना सम्बन्ध रखना चाहिए। आप हमारे बेलगाम आयेंगे? हम तिलक पक्ष के लोग तय करने वाले हैं कि हम कांग्रेस में फिर से शरीक हों या नहीं। गांधीजी ने कहा कि बुलायेंगे तो जरूर आऊंगा। परिषद् में गांधीजी ने कहा—'आप दलीलबाज वकील बनकर कांग्रेस में प्रवेश न कीजिये। 'बहादुर सैनिक बनकर आइये।'

गंगाधरराव ने बड़ी खूबी से ऐसी व्यवस्था की कि गांधी और तिलक दोनों एकान्त में मिलें और एक-दूसरे को समझने की कोशिश करें। स्वयं गंगाधरराव भी उस समय उपस्थित नहीं रहे। काफी देर तक दोनों की बातचीत हुई। लौटते हुए तिलक ने गंगाधरराव से कहा, 'यह आदमी हमारा नहीं है। उसका रास्ता अलग

है। लेकिन सच्चा और पूरा देशभक्त है। इसके हाथों हिन्दुस्तान का अकल्याण कभी नहीं होगा। इसके काम में हमसे हो सके उतनी सहायता हम दें। लेकिन इसका विरोध हम भी न करें।'

दूरदर्शी लोकमान्य का यह अभिप्राय सुनकर गंगाधरराव प्रभावित हुए। उन्हीं के मुंह से मैंने यह अभिप्राय सुना। मैंने इसे कई बार प्रकाशित किया है और सचमुच तिलकजी ने और गांधीजी ने कभी भी एक-दूसरे का विरोध नहीं किया। जहां तक हो सका एक-दूसरे का समर्थन ही किया और गंगाधरराव धीरे-धीरे गांधीजी के बन गये।[1]

१५ अगस्त १९६०

१. 'स्वराज्य संस्कृति के संतरी' से

दीनबन्धु से प्रथम परिचय

जब दीनबन्धु एंड्र्यूज से प्रथम परिचय का स्मरण करता हूं तो मन में लज्जा छा जाती है।

हम शान्तिनिकेतन में थे। श्री गुरुदेव (रवीन्द्रनाथ) के साहित्य से और स्वभाव से आकृष्ट होकर दीनबन्धु, शान्तिनिकेतन को ही अपना पार्थिव एवं आध्यात्मिक घर बनाने की तैयारी कर रहे थे; अथवा कर चुके थे। १९१४ के दिन थे वे।

हमने देखा कि रवि ठाकुर श्री एंड्र्यूज की बहुत ही इज्जत करते थे और एंड्र्यूज तो गुरुदेव के पागल भक्त के जैसे पेश आते थे। इन दोनों के ये प्रेम-प्रसंग देखकर हृदय हर्षोत्फुल्ल हो जाता था। श्री एंड्र्यूज के साथ उनके मित्र पियरसन भी रहते थे। दोनों के स्नेह की घनिष्ठता भी हमारे आदर का विषय था। श्री पियरसन तो श्री एंड्र्यूज से भी अधिक पारदर्शक थे, और विद्यार्थियों के मानो कंठमणि ही थे। एंड्र्यूज पियरसन से अधिक प्रभावशाली थे, किन्तु पियरसन की तरह विद्यार्थियों के साथ घुल-मिल नहीं जाते थे।

शान्तिनिकेतन की व्यवस्था-चर्चा में श्री एंड्र्यूज और पियरसन पूरे दिल से शरीक होते थे। श्री एंड्र्यूज की यह आदत थी कि वे चर्चा में बार-बार गुरुदेव के वचनों का हवाला दिया करते। हम लोगों को यह बुरा लगता। क्या हम लोग गुरुदेव को कम पहचानते हैं! और अगर गुरुदेव के वचन से ही फैसला करना हो, तो फिर हम लोगों की प्रबन्ध-समिति की जरूरत ही क्या रही? हम लोगों की निजी बातचीत में श्री एंड्र्यूज की अनेक विचित्रताओं की भी चर्चा होती थी। हम लोगों ने निश्चय किया कि ये एक बड़े प्रच्छन्न साम्राज्य-वादी, "हिन्दुस्तान के हित की बातें तो बहुत करते हैं; लेकिन दिल से तो केवल इंग्लैंड का ही हित चाहते हैं। हमारे देश के सर्वश्रेष्ठ लोगों के पास ऐसे धूर्त लोगों को रखकर अंग्रेज सरकार अपना राज्य मजबूत करना चाहती है।" अंग्रेज सरकार और अंग्रेज व्यक्ति को शक की निगाह से देखना हमारी राष्ट्रीयता का सर्वप्रथम सिद्धान्त था।

श्री एंड्र्यूज की मूर्ति सामने आते ही हमारे दिल की भलमनसाहत जाग्रत हो जाती थी; किन्तु उनके पीछे हम उन पर शंका ही करते थे। जो शिक्षक श्री एंड्र्यूज के साथ बहुत मीठी-मीठी बातें करते थे और बाद में उनके बारे में सब किस्म की शंकाएं प्रकट करते थे, उनकी वृत्ति देखकर मैं हैरान हो जाता था। किन्तु मन में उनके प्रति प्रशंसा ही रहती थी क्योंकि हम मानते थे कि मायावी के साथ मायावी बनना ही उत्तम नीति

है। श्री गुरुदेव से यह सब बातें कहने की किसी की हिम्मत नहीं थी। गुरुदेव चाहे जितने मिलनसार हों, तो भी अंत में जाकर 'अरिस्टोक्रैट' (उच्च-वर्गीय) ही तो ठहरे! हम उनसे कुछ कहने गये और कहीं उन्होंने डांट दिया तो ?

१९१८ के जनवरी या फरवरी के दिन होंगे। कर्मवीर मोहनदास कर्मचन्द गांधी दक्षिण अफ्रीका से स्वदेश लौटे हुए थे। वह शान्तिनिकेतन आनेवाले थे। गांधीजी की फिनिक्स पार्टी कब की शान्तिनिकेतन में बस चुकी थी। चार्ली एंड्र्यूज अपने प्यारे 'मोहन' के भाई बन चुके थे और इसलिए फिनिक्स पार्टी के वे दादा थे।

जब गांधीजी शान्तिनिकेतन आये तब शान्तिनिकेतन का उत्साह तो अक्षय तृतीया के सागर के जैसा उमड़ रहा था। श्री क्षितिमोहन सेन ने उस दिन उपवास रखा था। उनकी यह प्रतिज्ञा थी कि भारतमाता के इस महान पुत्र का स्वागतोत्सव पूर्णतया सम्पन्न होने के बाद ही मैं खाऊंगा। गांधीजी शाम को या रात को आये और दूसरे दिन की प्रभात होने के पहले ही वे शान्तिनिकेतन के घर के हो गये। उनसे बातें करने में हमें तनिक भी संकोच नहीं होता था। दुनिया-भर के अनेक सवालों की चर्चा करने के बाद श्री एंड्र्यूज की चर्चा भी हमने कर ली। प्रतिनिधि मैं ही था। मैंने गांधीजी से कहा कि आप श्री एंड्र्यूज को अपना भाई समझते हैं। परन्तु उनके बारे में हमारी राय कुछ अलग है। गांधीजी ने तुरन्त पूछा कि उसमें क्या बुराई है ? वे अंग्रेज तो हैं ही। फिर, भला वे इंग्लैंड का हित क्यों न चाहें।

मैं कुछ शर्मिन्दा-सा हो गया। फिर मैंने कहा, "वे जैसे अपने को भारतहितैषी बताते हैं, वैसे वे नहीं हैं। शायद जाली आदमी हैं।"

गांधीजी ने कहा, "मेरा अनुभव ऐसा नहीं है। एंड्र्यूज एक नेक आदमी हैं और नेकीपरस्त भी हैं।"

अब तो मुझे दिल की पूरी-पूरी बात कहनी ही पड़ी। "देखिये, बापूजी, आप तो बड़े आदमी हैं। जो लोग आपके पास आते हैं, वे अपनी ढाल की उजली बाजू ही आपकी तरफ रखते हैं। हम छोटे लोग ही उसे सब तरफ से देख सकते हैं। इसलिए आपको हमारे जैसों की राय पर भी ध्यान देना चाहिए।"

गांधीजी ने तुरन्त कहा, "यह तो हो सकता है। किन्तु मैं भी आदमियों को पहचानने का दावा कर सकता हूं। कोई आदमी मुझे आसानी से धोखा नहीं दे सकता। और एंड्र्यूज तो मेरे इतने नजदीक आ गये हैं कि मैं उन्हें नहीं पहचानूं, यह तो नामुमकिन है। हां, श्री एंड्र्यूज हैं तो अंग्रेज। अंग्रेज जहां जायगा, अपना प्रभुत्व जमाये बिना नहीं रहेगा। उसके स्वभाव की यह खूबी समझकर आपको उसे बरदाश्त करना चाहिए। वे निर्मल हैं और पुण्य-पुरुष हैं। श्री एंड्र्यूज को हिंदुस्तान की सेवा द्वारा इंग्लैंड की सच्ची सेवा करनी है। वे इंग्लैंड को सच्चे हृदय से चाहते हैं इसलिए इंग्लैंड के हाथों हिन्दुस्तान के प्रति होनेवाला अन्याय उनके लिए असह्य हो जाता है। अगर वे इंग्लैंड को नहीं चाहते तो इस प्रकार हिन्दुस्तान की सेवा करने के लिए उद्यत नहीं होते।

"तुम जो उन पर इल्जाम लगा रहे हो, उसके लिए तुम्हें सबूत देना होगा।"

मैंने कुछ सोच-विचार कर दो-एक टूटे-फूटे सबूत पेश कर दिये। किन्तु गांधीजी के दिल पर उनका कुछ भी असर नहीं हुआ।

उस दिन मैं बड़ा अस्वस्थ होकर अपने कमरे में लौटा। गांधीजी ने जो दृष्टि बतायी वह उन दिनों हमारे पास थी ही नहीं। हम रावण और विभीषण को ही पहचानते थे। यहां तो शुद्ध मानवता को पहचानना था। मैंने गांधीजी से इतना ही कहा कि "आपने एक नई दृष्टि बतायी है। उस दृष्टि से श्री एंड्र्यूज की तरफ देखने की कोशिश करूंगा और अपने मत को बार-बार परखता रहूंगा। इस वक्त मैं इतना ही कह सकता हूं।'

मैंने मन में बहुत कुछ सोचा। श्री एंड्र्यूज से बहुत परिचय बढ़ाया। किन्तु उनसे कभी यह नहीं कहा

कि किसी समय आपके प्रति मेरे मन में घोर शंकाएं रह चुकी हैं।

एक दिन ऐसी ही कुछ बातें हो रही थीं। बातचीत के सिलसिले में बिलकुल स्वाभाविकतयाश्री एंड्र्यूज ने कहा, "मुझे हिन्दुस्तान का नेता या गुरु नहीं बनना है। मैं अंग्रेज हूं, नम्र सेवक बनकर ही मैं हिन्दुस्तान की सच्ची सेवा कर सकता हूं। मैं ऐसे अंग्रेजों को जानता हूं जो हिन्दुस्तान में आकर गुरु, नेता या मालिक बनकर हिन्दुस्तान के लोगों को उपदेश देने लगते हैं। मुझे वैसा काम नहीं करना है हिन्दुस्तान के लोगों का उद्धार हिन्दुस्तान के लोगों द्वारा ही होगा। उद्धार के रास्ते वे ही ढूंढेंगे और तय करेंगे। हिन्दुस्तान के लोगों की जो कुछ सेवा मुझसे बन सके, वह करना मेरा काम है। वह सेवा भी हिन्दुस्तान के लोग जिस तरह मुझसे लेंगे। उसी तरह मुझे करना है।"

इतनी बातें सुनने के बाद मेरा दिल साफ हो गया और मैं भी एंड्र्यूज को दुनिया के श्रेष्ठ पुरुषों में गिनने लगा। जैसे-जैसे उनकी मानवता से मेरा परिचय बढ़ता गया, वैसे-वैसे उनके प्रति मेरा आदर भी बढ़ता गया।

आज दर्द इसी बात का है कि उनकी तरफ से सब तरह का प्रोत्साहन होते हुए भी मैंने उनके सत्संग का लाभ अधिक क्यों नहीं उठाया? कभी-कभी उनसे मिलता था और अनेक विषयों पर हमारी चर्चाएं होती थीं; लेकिन मुझे उनके समय का हमेशा ख्याल रहता था और मेरा काम भी मुझे ज्यादा बैठने नहीं देता था। आज जब उनका सत्संग अलभ्य हो गया है, उनकी दी हुई एक किताब—'दी क्रीड ऑफ क्राईस्ट'—पढ़ रहा हूं और इस तरह उस महान आत्मा का सत्संग प्राप्त कर रहा हूं।

श्री एंड्र्यूज के बारे में लिखने लायक बहुत कुछ है। यहां तो उनसे केवल प्रथम परिचय का संस्मरण ही शब्दबद्ध करना था।[1]

मई १९४०

१. 'स्वराज्य संस्कृति के संतरी' से

सरहद के गांधी खान अब्दुल गफार खान

मैंने अपनी जिंदगी में जो नेक, पवित्र और सीधे संत-सत्पुरुष देखे उनमें खान अब्दुल गफार खान का स्थान है और काफी ऊंचा है। उनका ऊंचा भव्य शरीर और उनकी प्रेमपूर्ण मीठी जबान दोनों का असर दिल पर तुरंत होता ही है। किंतु मैं उन्हें तब पहचान सका, जब वे बिना किसी का ध्यान खींचे, एक बाजू पर चुप-चाप भगवान् का ध्यान करने बैठे थे।

ध्यान में बैठने का रिवाज दुनिया में कोई नया या अजीब नहीं है। लेकिन दिखावे के लिए ध्यान में बैठनेवाले अलग होते हैं, और हृदय की आंतरिक प्रेरणा से ध्यान में मगन होनेवाले और अपने को भूल जाने-वाले अलग होते हैं। खान अब्दुल गफार खान जिन्हें लोग प्रेम से बादशाह खान कहते हैं सच्चे ईश्वरभक्त हैं। सबके प्रति उनके मन में प्रेम ही रहता है। लेकिन असत्य, दम्भ और दिखावा वे बिलकुल सहन नहीं कर सकते। सचमुच वे खुदाई खिदमतगार ही हैं।

अंग्रेजों के दिनों में सरकार ने उन्हें पंजाब में रहना मना किया था तब वे वर्धा आकर गांधीजी के पास रहे थे। उनके परिवार की एक लड़की और एक लड़का भी वहां आकर रहे थे। तब हम सब लोग सुबह की प्रार्थना के बाद गांधीजी के साथ घूमने जाते थे। गांधीजी ने सोचा कि इतने लोग रोज घूमने साथ आते हैं। इनसे कुछ सेवा लेनी चाहिए। वर्धा की जमीन पथरीली। छोटे-बड़े खेतों में भी पत्थरों की कमी नहीं। गांधीजी ने कहा, 'यहां तक घूमने आते ही हैं तो छोटे-छोटे पत्थर उठाकर महिलाश्रम में ले जाएंगे। अच्छा-सा ढेर होगा। फिर इन पत्थरों का कुछ करेंगे ही।" हरएक के हाथ में पत्थर दीखने लगे। कुछ हाथ-रूमाल में पत्थर बांध के ले चले। मैं अपने साथ दो छोटी थैलियां लेके चला। दोनों हाथों में पत्थरों की थैली लेकर चलने में समतुला का बड़ा आनंद आता था। बादशाह खान सबसे बड़े। वे तो अपनी शर्ट में ही पत्थर लेकर दो हाथों से उठाते थे। पत्थरवालों का ऐसा जुलूस महिलाश्रम की ओर बढ़ता देखने में बड़ा मजा आता था।

जब घूमकर गांधीजी लौटते थे तब तौलिया लेकर उनके पांव साफ करने का काम माता कस्तूरबा करती थीं। बादशाह खान ने वह काम अपने हाथ में ले लिया। बड़े भीम के जैसे सरहद के गांधी को इस तरह महात्माजी की चरण-सेवा करते देखने के लिए स्वर्ग के देव भी इकट्ठा होते होंगे।

उसके बाद सब लोगों का नाश्ता होता था। गांधीजी एक अच्छा-ताजा परिपक्व सेब बादशाह खान को देते थे। फल काटकर खाना बादशाह को नापसंद था। बड़ा फल हाथ में ले लिया और दांतों से काटकर खा लिया।

कुछ दिनों के बाद बादशाह खान के भाई डॉ० खानसाहब आए। बड़े मीठे और मिलनसार। दोनों भाइयों से मेरी अनेक विषयों पर चर्चा होती थी। मैं तुरंत देख सका, दोनों भाइयों के स्वभाव में बड़ा फर्क है, लेकिन दोनों भारत की आजादी के लिए मर-मिटने को एक-से तैयार। बादशाह खान कहते थे कि जो कौम आजाद नहीं है उसका कोई मजहब ही नहीं है। आजाद बनना यही सबसे पहला फर्ज है।

हमारी आशादेवी ने बादशाह खान के लड़के-लड़कियों को संभालने का जिम्मा ले लिया।

थोड़े ही दिनों में गांधीजी सरहद प्रांत में जानेवाले थे। लेकिन बम्बई के गवर्नर ने बादशाह खान के एक मामूली भाषण का लाभ उठाकर उन्हें जेल भेज दिया और गांधीजी का सरहद जाना उस समय स्थगित हो गया।

बाद में गांधीजी सरहद प्रांत में गए सही। वहां का सारा बयान श्री महादेवभाई के मुंह से मैंने सुना था।

भारत के प्रपिता दादाभाई नौरोजी की लड़की खुरशीद बहन को सब जानते ही हैं। शरीर से दुबली-पतली लेकिन रूहानी ताकत में बड़ी वीरांगना। सरहद के पठानों के बीच वह निर्भयता से जाकर रहीं। बादशाह खान उनकी रक्षा के लिए अपने एक-दो खुदाई खिदमतगार देनेवाले थे। खुरशीद बहन ने कहा, "पठान तो सब मेरे भाई हैं। बहन को भाइयों से रक्षा पाने की जरूरत ही क्या?" वह तो पठानों के बीच निर्भयता से रहती थीं और उनकी सेवा करके उन्हें नसीहत भी देती थीं। बहन का वह अधिकार था। जहां तक मुझे याद है सरकार बहादुर ने खुरशीद बहन को भी वहां जेल भेजा था।

सरहद के पठान खुरशीद बहन से कहते थे, "बड़ी अजीब सरकार है यह! मारामारी, खून और डकैती करनेवाले लोगों को सरकार जेल में भेजे तो हम समझ सकते हैं लेकिन ऐसी बुराई को रोकनेवाले और सब का भला करनेवाले नेक लोगों को यह सरकार जेल में भेजती है। आखिर यह सरकार क्या चाहती है?"

बहुत दिनों के बाद मैं बादशाह खान से दिल्ली में मिला। मुझे दिल्ली और आसपास के सब स्थान देखने थे। बादशाह खान को भी सबकुछ देखना था। मोटर का प्रबंध हुआ और हम सब चले।

आजकल की दिल्ली में मुगल काल की इमारतें ज्यादा हैं। सो तो हमने देखी ही थीं। मुगलों के पहले जब दिल्ली में पठान बादशाहों का राज था तब के दिल्ली के अवशेष हम देखने के लिए गए। पुरानी मस्जिदें, पुराने मंदिर और तालाब हम सबकुछ देख आए। हमने देखा कि बादशाह खान गंभीर होकर सबकुछ देखते थे। टूरिस्ट के छिछले कुतूहल से नहीं। उन्होंने सबकुछ मौन होकर ही देखा। भारत को आजाद करने का संकल्प मजबूत करके ही हम लौटे।

जब स्वराज्य नजदीक आया तब अंग्रेजों की कुटिल नीति जोरों से चली। जिन मुसलमानों को वे अपने हाथ में ले सके उनको लेकर सब तरह के विघ्न उन्होंने खड़े किए। हिंदू भी पागल बन गए। पूर्वी बंगाल, कलकत्ता, बिहार, दिल्ली, पंजाब अनेक जगह हिंदू-मुसलमानों ने एक-दूसरे की दुश्मनी करके स्वराज को खतरे में डाला। ऐसे समय हिंदू-मुसलमानों को शांत करने की कोशिश में बादशाह खान गांधीजी के साथ रहे। दोनों ने अपनी सारी रूहानी ताकत लगाकर देश को बचाया।

स्वराज मिला; लेकिन देश के दो टुकड़े हुए। सौ साल की अंग्रेजों की नीति सफल हुई; लेकिन अंग्रेजों को दोष देने से क्या लाभ? हमारी अपनी राष्ट्रीय कमजोरी से ही तो अंग्रेजों ने लाभ उठाया।

देश के टुकड़े हुए यह तो नुकसान हुआ ही लेकिन बंटवारा मंजूर करने पर भी हिंदू-मुस्लिमों की दिल-सफाई हो न सकी। स्वराज पाकर तीन बड़े दुख हमें सहन करने पड़े। गांधीजी का खून हुआ, सिंधी लोगों की दुर्दशा हुई, और भारत के पठानों को पाकिस्तानियों के हाथों क्या-क्या सहन करना पड़ा सो तो भगवान ही जाने। पिछले बीस-पचीस वर्षों का सारा इतिहास देखते और इसमें पश्चिम के—इंगलैंड, अमेरिका के लोगों की नीति और कर्तृत्व देखकर ऐसा ही खयाल होता है कि भगवान का एक बड़ा शाप काम कर रहा है। दुनिया दिन-पर-दिन गहरी खाई में डूब रही है। दुनिया-भर के राष्ट्र मानव की दुर्दशा देख रहे हैं। आज का मनुष्य बड़ा चिंतनशील है लेकिन पाप का पश्चात्ताप करके जब पुराना पाप खत्म होने लगता है तब भी न जाने कैसे नये-नये पाप बनाता ही जाता है। "इवन इन पीनेन्स प्लैनिंग सिन्स एन्यू।"

जबतक आदमी अपनी मैली-कुचैली बुद्धि चलाएगा, पाप में डूबता ही जाएगा। जमाना ही ऐसा आया है। अगर हम अपनी बुद्धि का अभिमान छोड़कर नम्रता से ईश्वर की शरण जाएंगे और भलाई के रास्ते ही जाएंगे तभी बच सकेंगे और दुनिया को भी बचा सकेंगे।

भारत और पाकिस्तान स्वराज लेकर बैठ गए। लेकिन बादशाह खान और उनके खुदाई खिदमतगार पठानों की दुर्दशा लगातार चल रही है। पाकिस्तान उनको परेशान करता ही रहता है। उन्होंने पाकिस्तान को मंजूर किया और लोकसेवा करते रहे तो भी उनकी परेशानी दूर नहीं हुई। आज बादशाह खान अपनी बीमारी का इलाज करने के लिए अफगानिस्तान में रह रहे हैं और बड़े दुख के साथ महात्माजी को याद कर रहे हैं। उनको भूल जाना यह भी एक पाप ही होगा।

गांधीवादी नीग्रो वीर

"हो सकता है कि नीग्रो-जाति में ही किसी दिन सत्याग्रह का बल प्रकट होगा, और आत्मशक्ति के प्रभाव से यह जाति दुनिया को चकित करेगी।" इस भाव का वचन गांधीजी के लेखों में पाया जाता है। यूरोप

अमेरिका के गोरे लोग विज्ञान, यंत्रोद्योग, अर्थ-संगठन और विशाल आयोजन के बल पर दुनिया पर अपना प्रभाव डाल बैठे हैं और अब आपस की ईर्ष्या-असूया के कारण जंग की तैयारियां कर रहे हैं। इनके लिए आत्मशक्तिमूलक, तपस्यामूलक सत्याग्रह का स्वरूप समझना मुश्किल है और समझे तो भी इसका सहारा लेना उन्हें सूझेगा नहीं। जो लोग पीड़ित हैं और कुछ हद तक असहाय हैं, परास्त हैं वे ही अंतर्मुख होने पर आत्मशक्ति को ढूंढ़ सकते हैं और निराशा में से आशा का उद्भव होने पर आत्मशक्ति का प्रयोग भी कर सकते हैं।

भारत में हम लोगों की संख्या बहुत थी। हम अपने देश में ही थे। राजकर्ता चाहे जितने बलवान हों, थे मुट्ठी-भर और बाहर से आए हुए। इनके सामने हमारा सत्याग्रह सफल हुआ इसमें कोई आश्चर्य नहीं। लेकिन अमेरिका में मूल आदिवासी तो करीब नामशेष हो गए हैं। यूरोप से आए हुए गोरे लोग सारी जमीन के मालिक बन बैठे हैं। वे अपनी सहूलियत के लिए अफ्रीका से वहां के काले लोगों को गुलाम बनाकर ले आए। इन गुलामों ने कल्पनातीत कष्ट सहन किए और अब उन्हें आजादी के साथ नागरिकता के अधिकार भी मिल चुके हैं। किंतु गोरों के समाज में ये काले लोग एक ही देश के नागरिक होते हुए भी घुल-मिल नहीं सके। इन नीग्रो लोगों की उन्नति तो ठीक-ठीक हो रही है। शिक्षा, तिजारत, उद्योग-हुनर, सरकारी नौकरी और मिल-मजदूरी इन सब क्षेत्रों में वे दृढ़ता के साथ आगे बढ़ रहे हैं। लेकिन सामाजिक जीवन में इन्हें अभी भी अलग रखा जाता है और इनकी स्थिति भी अपमानजनक है। अमेरिका (युनाइटेड स्टेट्स) के उत्तर विभाग में नीग्रो लोगों की संख्या कम है। इसीलिए शायद उनकी स्थिति वहां अच्छी है। दक्षिणी राज्यों में ईख आदि की खेती के कारण मजदूरी के लिए नीग्रो गुलामों की सहायता लेने के कारण उनकी संख्या ज्यादा है और वहीं पर इनको अछूतों के जैसा रखा जाता है। गोरों के होटलों में इन्हें प्रवेश नहीं है। स्कूलों में इन्हें अलग रखा जाता है, यानी गोरों के स्कूलों में काले लड़कों को प्रवेश नहीं है। शहर में बस में बैठकर दूर-दूर तक जाने की आवश्यकता रहती है। इसमें रिवाज ऐसा है कि बस में गोरे लोग आगे बैठते हैं और काले लोगों को पीछे बैठना पड़ता है। कोई गोरा उतारू आने पर काले उतारू को अपना स्थान छोड़कर गोरे को जगह देनी पड़ती है। इस तरह कदम-कदम पर उनका अपमान होता है ''कू क्लक्स क्लन' नामक गोरों का एक भूमिगत संगठन है, जो लोग धाक-धमकी देकर कालों को दबाते हैं, तरह-तरह के अत्याचार करते हैं और कायदे का एवं नागरिकता का अपमान करते हैं। भले-भले प्रतिष्ठित सज्जनों को भी 'कू क्लक्स क्लन' से डरना पड़ता है। इनके खिलाफ कोई हिम्मत करे तो उसके लिए जान का खतरा रहता है। कल-कारखानों में जब अच्छे दिन आते हैं माल बढ़ाने की जरूरत रहती है, तब नीग्रो लोगों को कारखानों में लिया जाता है। लेकिन जब माल का उठाव कम होता है, कारखाने का काम घटाना पड़ता है, तब सबसे पहले नीग्रो मजदूरों को निकाल देते हैं। बेकारी का शिकार पहले वे हो जाते हैं। जब किसी भी कारण गोरे लोग चिढ़ जाते हैं तब कानून को बाजू पर रखकर गोरों की टोलाशाही नीग्रो लोगों को मार भी डालती है। इसे 'लिंचिग' कहते हैं। गांव के बिगड़े हुए सब गोरे लोग जब तय करते हैं कि फलाना नीग्रो गुनहगार है, तो उसे कोर्ट के सामने खड़ा न करके, न्यायाधीश के द्वारा उसकी जांच कराए बिना उसे मनमानी सजा कर देते हैं। ऐसे अत्याचार पहले बहुत होते थे। अब कम हुए हैं, लेकिन गोरों का मिजाज जब बिगड़ जाता है, तब हर तरह का खतरा पैदा होता ही है।

ऐसी कठिन स्थिति में भी नीग्रो-जाति धीरे-धीरे अपनी उन्नति कर रही है। उन्होंने अपने विद्यालय और विश्वविद्यालय खोले हैं। नीग्रो-जाति में अच्छे-अच्छे विद्वान् अध्यापक, लेखक, कवि, न्यायशास्त्री और उद्योगपति पैदा होने लगे हैं। प्रभावशाली धर्मोपदेशक, संस्थासंचालक और वक्ता भी इस जाति में अब पाए जाते हैं। ये लोग अपनी जाति के उद्धार के लिए जब प्रयत्न करने लगे, तब गोरों के साथ उनका संघर्ष बढ़

गया। संघर्ष में हर दफे परास्त होना किसी भी जाति के लिए हितकर नहीं है। जो लोग धर्म का अध्ययन करते हैं, धर्म-नीति के सिद्धांत पर विश्वास करते हैं और ईश्वर पर और उसके नबी ईसा मसीह पर श्रद्धा रखते हैं उनकी आस्तिकता की, धर्मश्रद्धा की ऐसी स्थिति में पूरी कसौटी होती है। उनका मनोमंथन तीव्र वेग से चलता है, "क्या, ईसा मसीह ने कहा वह सब सही है? या केवल पोला अभिवचन है। ईसा ने कहा कि 'प्रेम करो, शत्रु पर भी प्रेम करो। बुराई का मुकाबला बुराई से मत करो। हिंसा से परहेज रखो। जो नम्र हैं, दीन हैं, निरुपद्रवी हैं उन्हीं की अंत में विजय है।' ऐसे उदात्त विचारों पर विश्वास तो तुरंत बैठता है, लेकिन अनुभव उलटा होने से श्रद्धा डिगने लगती है। और मन कहने लगता है कि यह सारा उपदेश व्यक्ति-व्यक्ति के संबंध में ठीक है। लेकिन एक जमात का दूसरी जमात के साथ संघर्ष होता है, जाति-जाति के बीच वैमनस्य बढ़ता है, दो राष्ट्रों के बीच दुश्मनी पैदा होती है, तब ये सारे नीति-नियम काम नहीं आते। वहां तो जंगल का कानून ही सही मालूम होता है।" प्रथम ईसा मसीह जैसे नबियों के वचनों पर विश्वास रखना, अध्यात्मशास्त्र का श्रद्धा से स्वीकार करना, और बाद में इस नतीजे पर आना कि संत-वचन सार्वभौम नहीं हैं, मनुष्य की निष्ठा को ठेस पहुंचाता है, आस्तिकता अपमानित होती है, श्रद्धामय जीवन टूट जाता है और मनुष्य अस्वस्थ होता है।

अमेरिका के नीग्रो लोगों के एक धर्मोपदेशक नेता की हालत ऐसी ही हुई। सच्चा आस्तिक होने के कारण उसकी अस्वस्थता बढ़ गई। ऐसी हालत में उसने गांधीजी का नाम सुना। उनकी सत्याग्रह-मीमांसा उसने पढ़ी। गांधीजी ने हिन्दुस्तान में सत्य के और सत्याग्रह के जो प्रयोग चलाये उसकी जानकारी उसने हासिल की और उसने देखा कि ईसा मसीह की नसीहत सचमुच सार्वभौम है। गांधीजी ही सच्चे ईसाई हैं, हालांकि उन्होंने उस धर्म की दीक्षा नहीं ली है। ईसा मसीह के उपदेश का यह नया अर्थ, यह नया स्वरूप गांधीजी से प्राप्त करते ही इस नवयुवक में नया चैतन्य प्रकट हुआ और उसने अपनी जाति को इस नये रास्ते ले जाने का निश्चय किया और दो-तीन साल की कठिन तपश्चर्या के अंत में उसे सफलता मिली और सारी अमेरिका का और दुनिया का ध्यान उसकी ओर आकर्षित हुआ।

नीग्रो-जाति के इस अमेरिकन नेता का नाम है रेवरंड डॉ० मार्टिन लूथर किंग। जब मैं नीग्रो सवाल समझने के लिए अमेरिका में घूम रहा था तब मैंने मांटगोमरी जाकर रेवरंड किंग की मुलाकात ली। दो दिन उनका मेहमान भी ठहरा और मैंने उन्हें और उनकी धर्मपत्नी को भारत आने का अनुरोध भी किया। गांधीजी के साथ जिन्होंने काम किया है और सत्याग्रह के आन्दोलन में जिन्होंने नेतृत्व किया, ऐसे लोगों से खास मिलने की इनकी इच्छा है। रेवरंड किंग से मैंने कहा कि आप भारत में घूमकर हमारे गुण-दोष दोनों देखिए। सत्याग्रह आन्दोलन के पहले समाज में कई बुराइयां थीं। गांधीजी के प्रयत्न के कारण और स्वराज्य-प्राप्ति के हेतु सारा राष्ट्र बहुत कुछ ऊंचा उठा। हिंसा का आश्रय लिये बिना हम आजाद हो गए। आजादी हासिल होते ही एक तरह की कृतार्थता, अलंबुद्धि लोगों में आ गई है। नई आजादी के नये अधिकारों की लालसा भी लोगों में पैदा हुई है। पुरानी कई कमजोरियां अब खुली हो गईं। यह सब भी देखना चाहिए और ऐसी परिस्थिति में भी शांतता प्रेमी, अहिंसा-मार्गी, भारत-हृदय कैसा काम कर रहा है, यही आपको देखना है।

(मार्टिन लूथर किंग दम्पती भारत आए थे और यहां से अत्यन्त प्रभावित होकर लौटे थे। बाद में किसी विवेकहीन व्यक्ति ने उन्हें गोली मार दी। सम्पा०)

गांधीयुग के आदर्श दंपती

चिरंजीवी प्रभावती देवी को मैं पूज्य गांधीजी की एक समर्थ कृति मानता हूं। परदे आदि पुरानी प्रथा को माननेवाले सनातनी समाज में जिसका जन्म हुआ उसी को प्रेम और सेवा जैसे स्त्रीसहज सद्‌गुणों के द्वारा आदर्श-पत्नी और आदर्श सुधारक समाजसेविका बनाने की हिम्मत और कला महात्माजी की ही थी।

प्रभावतीजी का जन्म १९०६ में हुआ। जब वह चौदह वर्ष की बालिका थी तब उसका जयप्रकाश नारायण जैसे एक तेजस्वी नवयुवक के साथ विवाह हुआ। दाम्पत्य जीवन शुरू करने के पहले ही जयप्रकाशजी पश्चिम की उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए विदेश गये और प्रभावती स्वदेश की नवयुगीन तेजस्वी शिक्षा प्राप्त करने के लिए महात्माजी के आश्रम में पहुंची। इस विवाहित लड़की को ब्रह्मचर्य की दीक्षा देने की हिम्मत और कुशलता महात्माजी ने दिखाई।

अपने पास आनेवाले शिष्यों को और शिष्याओं को मनमानी दीक्षा देनेवाले संत दुनिया में कम नहीं हैं। लेकिन महात्माजी ऐसे रूढिधर्मी स्वात्म-निष्ठ संत नहीं थे। उन्होंने प्रभावती के माता-पिता को और स्नेही संबंधियों को तेजस्वी सनातनी धर्म के संस्कार देना शुरू किया, और आश्रम में रहनेवाली नम्र, सात्त्विक, प्रेमल प्रभावती के अंदर सब तरह की सर्वोच्च धार्मिकता और तेजस्विता जाग्रत करने का अखंड प्रयास चलाया।

इस युग का सद्‌भाग्य है कि प्रभावती के नाम लिखे हुए गांधीजी के पत्रों का संग्रह उपलब्ध है और वह पत्र-व्यवहार भी २० वर्ष तक चलता रहा। इसमें एक उत्तम चारित्र्यवती बाला को आदर्श पत्नी, आदर्श समाज-सेविका और (मैं अवश्य कहूंगा) आदर्श मोक्ष-साधिका बनाने की गांधीजी की कला प्रकट होती है।

प्रभावती को जिस तरह ईश्वर की कृपा से आदर्श पिता मिले वैसे ही उसी परमात्मा की योजना के अनुसार उसे आदर्श पति और आदर्श गुरु भी मिले। श्री ब्रजकिशोरजी तो गांधीजी के चंपारण्य के आंदोलन में दाहिने हाथ थे। उन्होंने बड़ी प्रसन्नता से प्रभावती को गांधीजी के आश्राम में भेजा। कहा जाता है कि उपनयन के द्वारा (जनेऊ देकर) गुरु नवयुवक को एक नया जन्म देता है। ब्रजकिशोरजी ने अपनी प्यारी लड़की को नया जन्म मिले इस हेतु गांधीजी के आश्रम में भेजा। और सचमुच प्रभावती का नया जन्म प्राप्त हुआ।

मैं तो कहूंगा कि प्रभावती का जयप्रकाशजी के साथ विवाह होना भी एक ईश्वरीय योजना ही थी। तेजस्वी जयप्रकाशजी को सात बरस की पश्चिमी विद्या पाने से गांधीजी का कार्य देश के लिए हितकर नहीं मालूम हुआ। भारत लौटते ही उन्होंने एक नये राष्ट्रसेवक दल में प्रवेश किया जो काफी हद तक गांधीविरोधी था। लेकिन जयप्रकाशजी की अद्‌भुत उदारता और निष्ठा को देखते सचमुच कहना ही पड़ता है कि प्रभावती-जयप्रकाशजी का संबंध ईश्वर की ही योजना थी। भारत आते ही जयप्रकाशजी ने देखा कि सीता-सावित्री के जैसी यह आदर्श पत्नी प्रेम, सेवा और निष्ठा को लेकर पति के साथ सहजीवन के लिए पूर्णतया तैयार है। लेकिन वह ब्रह्मचर्य का व्रत ले चुकी है। पता नहीं उनके मन में क्या-क्या उधेड़-बुन चली होगी। लेकिन उन्होंने पूरी उदारता से और निष्ठा से परिस्थिति का स्वीकार किया। और इन दोनों का यह आदर्श दाम्पत्यजीवन अर्धशताब्दि से अधिक समय तक सुन्दर ढंग से चला।

प्रकाश और प्रभा को राष्ट्रसेवा तो करनी ही थी। जयप्रकाशजी ने प्रभावती को गांधीमार्ग में अग्रसर होने से कभी मना नहीं किया। और राजनैतिक क्षेत्र में जयप्रकाशजी को अपने अलग रास्ते देखकर प्रभावती कभी अस्वस्थ नहीं हुई। लेकिन यह (परस्पर आदरयुक्त भले हो) द्वैत, दाम्पत्यजीवन में कहां तक चल सकता था। जयप्रकाशजी गांधीमार्ग में आ पहुंचे। देखते-देखते एक उज्जवल कांग्रेसी नेता बने। अगर गांधीजी की बातें पूर्णतया चल सकतीं, तो जयप्रकाश जी कांग्रेस के अधिपति भी बन जाते।

गांधीजी के सत्याग्रही राजनीति के फलस्वरूप भारत स्वतन्त्र हुआ। लेकिन साथ-साथ गांधीजी का बलिदान भी हुआ। तब से देश की परिस्थिति बदल गयी। जयप्रकाश और प्रभावती दोनों ने हमारे विनोबाजी का चलाया हुआ गांधीमार्ग ही पसंद किया। और 'आदर्श पतिभक्ति का उत्तम नमूना' देश के सामने रखनेवाली प्रभावती के देहान्त के बाद जयप्रकाशजी दिखा रहे हैं कि दाम्पत्यजीवन में पतिभक्ति एकपक्षी नहीं रह सकती। प्रभावती के पूजा-अर्चा के धार्मिक व्रतों को भी अपनाकर जयप्रकाशजी अपने जीवन के द्वारा प्रभावती को जीवित रख रहे हैं।

प्रभावतीजी ने जिन-जिन संस्थाओं में काम किया, जो-जो प्रवृत्तियां चलायीं और अन्य अनेक संस्थाओं को और व्यक्तियों को प्रेरणा दी उसका संपूर्ण वर्णन उनकी जीवनी के साथ हमें मिलना ही चाहिए। प्रभावती की स्वराज्य सेवा में यह भाग कम नहीं है।

जब प्रभावती और जयप्रकाशजी के दाम्पत्यजीवन का मैं चिंतन करता हूं, तब मुझे हमारे वेदान्ती युग का प्रारम्भ करनेवाले रामकृष्ण परमहंस और उनकी धर्मपत्नी शारदामाता के दाम्पत्य-आदर्श का ही स्मरण होता है। ये दोनों नमूने भिन्न हैं, इसमें शक नहीं। किन्तु दोनों एक-से आदरणीय और पूजनीय हैं।

हमारे जमाने का प्रारम्भ इस तरह एक आदर्श बंगाली दाम्पत्य से हुआ और स्वराज्य-प्राप्ति के सफल युग का अंत एक दूसरे आदर्श बिहारी दाम्पत्य जीवन में देखने का मौका हमें मिला। भगवान को इसमें से कौन-सी नवनिर्मिति दिखानी है, वही जाने। स्वराज्य-प्राप्ति को अब पचीस वर्ष हुए। हमारी राष्ट्रीय और सांस्कृतिक कमजोरियां देश में सर्वत्र फैली हुई दीखती हैं। लेकिन ऐसे उत्तमोत्तम उदाहरण भी देखते निराशा हमें छू नहीं सकती। स्वतन्त्र भारत के लिए कोई नया विवेकानन्द तैयार हो ही जाएगा।

हिंदू-मुस्लिम एकता के लिए जूझनेवाली बीबी अमतुस्सलाम

जब 'बीबीजी' अमतुस्सलाम ने गांधी जी के संसर्ग में आकर उनके आश्रम में दाखिल होने की इच्छा व्यक्त की, तब उनकी उम्र बीस के आसपास होगी। और उनकी तबीयत इतनी कमजोर थी कि आश्रमवाले उनको लेने को तैयार नहीं थे। यदि यह मालूम होता कि उनका शरीर तरह-तरह की बीमारियों का घर है तो उन्होंने अमतुस्सलाम बहन को मेहमान के तौर पर भी कुछ दिन रखना स्वीकार नहीं किया होता।

आज उनकी उम्र ६७ साल की होगी और तबीयत भी ऐसी ही। सोलह साल उन्होंने गांधी जी का सहवास पाया और बाद में लगभग पचीस बरस हुए हैं गांधीजी का सेवाकार्य करते हुए गांधीजी को जिन्दा रख सकी हैं। प्रसन्नता से कहना होगा कि गांधीजी के आश्रम के उत्तमोत्तम सत्याग्रही सेवकों में से वे एक हैं। गांधीजी के बताये तेजस्वी आदर्शों को अपनाकर त्यागपूर्ण सेवामय जीवन बिताने में और गांधीजी का रचनात्मक कार्य चलाने के लिए अच्छी-अच्छी संस्थाओं का विकास करने में उनसे बढ़कर आदमी मिलना दुर्लभ है।

उत्तर भारत के एक संस्कारी अमीर खानदान के छ: भाइयों की इकलौती वह लाड़ली बहन हैं। ठेठ छुटपन से उनमें हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य के लिए जीवन समर्पित करने की हौस और मौका आने पर उसे सिद्ध करने के लिए अपने प्राण अर्पण करने की उनकी तैयारी रही है।

ठेठ छुटपन से कुरानशरीफ का उर्दू तरजुमा लिखकर उसका कुछ हिस्सा जबानी करने में जितना उत्साह था उतना ही उत्साह हिन्दू कुटुम्बों से मिलकर रामायण, महाभारत की वार्ता सुनने का था। आज

आश्रम की सर्वधर्मी प्रार्थना पूरे भक्तिभाव से और सभान उत्साह से गाती हैं। और यह प्रतिदिन की प्रार्थना दो बार बोलने पर भी वह यांत्रिक न बन जाए उतनी 'हृदय की संस्कारिता और सिद्धि' उनके समान बहुत कम लोगों में पायी जाएगी।

पू० गांधीजी का सहवास उन्हें सोलह बरस से कुछ ज्यादा मिला। अमतुस्सलाम बहन बापूजी की हुईं। तब उनकी उम्र पचीस साल की थी। तब से बापूजी के बलिदान सन् १९४८ तक कई कठिन काम उन्होंने कर दिखाये हैं। सिंध से बंगाल तक हिन्दू-मुस्लिम झगड़ों को टालने और मिटाने के लिए उन्होंने अपने प्राण की बाजी लगाकर अनेक सत्याग्रह किये।

आश्रम में गांधीजी के कुटुम्बी सेवक और अन्य साधकों से अमतुस्सलाम बहन ने इतनी आत्मीयता साधी कि वे पू० बा की बेटी से भी ज्यादा प्यारी बन गईं। आज उन्हीं पू० कस्तूरबा के नाम से एक विशाल संस्था वे चला रही हैं। उनकी यह 'कस्तूरबा सेवा मन्दिर' संस्था पंजाब के पांच जिलों में फैली हुई है। वहां खादी और ग्रामोद्योग, नयी तालीम, खेती, गोपालन, शान्तिसेना वगैरा आठ-दस प्रवृत्तियां पूरे जोश से चल रही हैं। केवल खादी की ही पैदाइश हर साल चौबीस लाख रुपये की है। और इस खादी की उत्पत्ति में सत्ताईस हजार से ज्यादा लोगों को कायमी काम और रोजी मिलती है।

इन सारी प्रवृत्तियों का मुख्य केन्द्र पटियाले के पास राजपुरा में छियालीस एकड़ भूमि में बसा है।

अभी-अभी दिल्ली में बीबीजी से मिलने का मौका मिला। बीबी अमतुस्सलाम के लिए दिल्ली में पू० गांधीजी की समाधि केवल पवित्र तीर्थधाम नहीं है, परन्तु बापू का सहवास पाने का और उनसे प्रेरणा और सलाह पाने का जीता-जागता स्थान है। बीबीजी अक्सर दिल्ली आया करती हैं और आती हैं तब अचूक बापू से मिलने राजघाट समाधि पर जाती हैं और वहां घंटे बिताती हैं। कभी तो सारी रात वहीं बैठी या पड़ी रहती हैं और सारा समय प्रार्थना में बिताती हैं। हम आश्रमवासी जब इकट्ठा होते हैं तो सुबह-शाम की प्रार्थनाएं करते हैं और उसी समय बापूजी के साथ आश्रम में की हुई प्रार्थनाओं का स्मरण करते हैं। इसमें भी मेरा अनुभव यह है कि आश्रम की प्रार्थना बोलते समय सर्व-धर्म-समभाव और तमाम प्राणियों के साथ विश्वात्मैक्यभाव अनुभव करने में अमतुस्सलाम बहन का सहवास सबसे प्राणवान और प्रेममय होता है।

जो-जो संस्थाएं बीबीजी चलाती हैं उनकी रोज-ब-रोज की तफसीलें उनके ध्यान में रहती ही हैं। उन संस्थाओं में काम करनेवाले साथी और तालीम लेनेवाले विद्यार्थी, पुरुष तथा स्त्रियां, बूढ़े और बच्चे, सब बीबीजी के मन अपने परिवार के ही लोग होते हैं।

बीबीजी ने शादी नहीं की। ठेठ छुटपन से सुन्दर कपड़े और जेवर पहनने के प्रति एक नफरत-सी थी। सादा-से-सादा सेवामय पवित्र जीवन बिताने का उनका आग्रह होने पर भी कुछ संतों की तरह समाज से अलग होकर भक्तिमय मस्त जीवन बिताने में वे नहीं मानतीं। बीबीजी यानी एक विशाल गृहस्थाश्रम की माता। सेवा लेने में संकोच करेंगी लेकिन सेवा देने में उनका मातृहृदय संतोष से खिल उठता है।

उस दिन (६-५-७३) उनके साथ बैठकर बातें करने का ताजा मौका मिला। वह स्थान भी था दिल्ली की उत्तर रेलवे का केन्द्रीय अस्पताल। अपनी राजपुरा की संस्था में जो सुधार करना चाहती हैं उनकी तफसील में उतरते वह भूल गईं कि खुद अस्पताल की मरीज हैं और विदा लेते समय हमने जो प्रार्थना की उसमें उनके सेवा-परायण, तेजस्वी भक्त-हृदय का साक्षात्कार होता था और उन्हीं के कारण पू० बा तथा बापू के सहवास का भी वहां हम अनुभव कर सके।

अन्तिम समय 'आवजो', 'आवजो' की विदा लेते मैं तो प्रत्यक्ष गांधी आश्रम की तेजस्वी सर्वकल्याण-कारी, अलिप्त, निडर मूर्ति का ही मानो दर्शन कर रहा था।

पत्रावली

इस खण्ड में काकासाहेब द्वारा विभिन्न व्यक्तियों को समय-समय पर लिखे कुछ पत्र दिये गए हैं। पत्र-लेखन में काकासाहेब अद्वितीय हैं। वे उनमें अपना हृदय उंडेल देते हैं। हार्दिकता के साथ-साथ पाठक इन पत्रों को ज्ञानवर्द्धक तथा प्रेरणादायक भी पायंगे।

गांधी जी को

चिंचवड,
१७-११-२५

पूज्य श्री बापूजी की पवित्र सेवा में,

आपका पत्र स्वामी के साथ आया सो पढ़ा। विद्यार्थियों में बिगाड़ है, यह बात मेरे लिए नयी नहीं है। उसका इलाज, अपने ढंग से, मैं कर ही रहा था।

आश्रम में हम बड़े लोग अपने वायुमंडल से बच्चों को प्रभावित करने की शक्ति बहुत-कुछ खो बैठे थे। और हम यदि कुछ भी करें तो उसे आप से छिपाने की आवश्यकता तो थी ही। सबके अपराध अपने सिर लेकर कुछ आसुरी प्रायश्चित्त कर लेने की आपकी आदत हमें कम पीड़ा नहीं देती। आपके प्रायश्चित्त के द्वारा हमारे पापी अन्तःकरण कितने पवित्र बने हैं, यह तो ईश्वर ही जाने, किंतु हम आपसे डरते रहना तो जरूर सीखे हैं। कितनी ही बार मन में उठता था कि ऐसी कृत्रिम परिस्थिति में रहने से बेहतर है कि यहां से भाग निकलें। लेकिन इतनी हिम्मत लायें कहां से !

आपने क्या सोचा है ? हम सब मिट्टी के पुतले ही हैं कि आप जैसा आकार देना चाहें वैसा हम धारण न करें तो सारा दोष कुम्हार का ?

पूज्य श्री बापूजी, इसमें मैं सूक्ष्म किन्तु जबरदस्त अहंकार देखता हूं। यह मेरा अभिप्राय आज का नहीं है। जब-जब आपने कहा है कि "मुझमें ही अहंकार नहीं होगा तो तुम सबमें कहां से आयेगा।" तब-तब यही विचार मन में आया है। आप में हो तो भी हमारे में क्यों आना ही चाहिए ? हममें क्या कोई पाप नहीं है ? क्या हम सीधी नली हैं कि जो प्राण हममें आप फूकें सो सरल-सीधा हममें बहे जाय ? मेरे विचार में शायद दोष हो, इस डर से आज तक मैं उसे प्रकट करते हिचकिचाता था। हम स्वतंत्र हैं, अनुभवों से ठोके पीटे जाने के बाद हम आपके पास आये हैं। हमारे पुराने पाप आप कहां जानते हैं ? उन पापों से बचने के प्रयत्नों में आपके चरणों तक आये हैं। लेकिन क्या हमें अपना सारा बोझ आपको सौंप देना चाहिए ? आप मानते हैं, ऐसे हम नहीं हैं, वैसे होने की कोशिश करनेवाले हैं। लेकिन यदि हमारे सब पाप आप अपने मानने का आग्रह रखेंगे तो हमें वह सहन नहीं हो सकेगा। 'नवजीवन' में आप लिखते हैं कि "सत्याग्रहाश्रम के सब दोष मेरे अपने हैं। सत्याग्रह आश्रम से मैं बढ़िया नहीं हूं।" ऐसा लिखकर आप हमारे जीवन को असह्य कर देते हैं।

आपने स्वयं सात दिन का उपवास शुरू करके मेरी अच्छी कीमत की है ! अब मेरी कोई जिम्मेदारी रही नहीं है ? क्या आप जीवित रहें तबतक हमें बिल्कुल बेफिकर होकर रहना है ?

इस समय आपके उपवास में, हमारे दोष अपने मानने में, मैं गीता का अभ्यास बिल्कुल नहीं देख सकता। अथवा तो गीता का मेरा अभ्यास बिल्कुल अलग होगा। शाला की सारी जिम्मेदारी आपने मुझ पर छोड़ी थी। जब-जब आपके और मेरे बीच मतभेद हुआ तब-तब आपने कहा है कि "जिम्मेदारी आप की है आपकी बात सही है।" यह वचन क्या सत्य नहीं था ? स्वच्छन्द हमारा और प्रायश्चित्त की जिम्मेदारी आपकी, यह कहां का श्रमविभाग ?

अभी भी आप से विनती करता हूं कि—हमारी दया से नहीं—वह तो आप जानते ही नहीं—किंतु सत्य को संभालने के लिए उपवास छोड़ दीजिए।...सत्य के नाम से कहता हूं कि आपके उपवास में अन्याय है, यह देखकर भूल से या गलतफहमी से लिये हुए उपवास छोड़ने का भी एक उदाहरण आप पेश कीजिये।

स्वास्थ्य सुधारने के लिए मैं यहां आया हूं, इसलिए जल्दी में कुछ नहीं करना चाहता। किन्तु यदि आप उपवास नहीं छोड़ेंगे तो यहां से छूटने के बाद मुझे भारी प्रायश्चित करना पड़ेगा; नहीं तो मुझे आंतरिक समाधान कैसे मिलेगा?...

उपवास छोड़ने का तार मुझे तुरंत भेजेंगे, ऐसी उम्मीद है।...

आप मुझे प्रफुल्लित रहना कहते हैं। आपके दिल्ली के २१ दिन के उपवास के दरम्यान मैं प्रफुल्लित था; किन्तु आज मैं प्रफुल्ल कैसे रह सकता हूं।...

दीन सेवक
काका के सादर प्रणाम

(२)

पार्वतीपुर स्टेशन पर
मध्यरात के पश्चात्,
१५-८-४७
का आरंभ

परम पूज्य बापूजी,

परमात्मा की कृपा से और आपके पुण्यप्रताप से आज का स्वातंत्र्य का दिन देखने का भाग्य मिला है। यूं तो १८९७ से ही हम बच्चे हिन्दुस्तान को स्वतंत्र करने की बातें करते थे, किन्तु स्वातंत्र्य की प्रतिज्ञा मैंने ली थी सन् १९०६ में। तबसे जीवन ने अनेक करवटें बदलीं; लेकिन यह एक संकल्प अविचल रहा। और वही संकल्प मुझे हिमालय में से वापस सेवा-क्षेत्र में ला सका। १९०९ से आपका नाम सुनता आया और आपके बारे में लेख भी लिखे। किन्तु आपके दर्शन तो शान्तिनिकेतन में १९१५ में ही हुए। देश की स्वतंत्रता और आध्यात्मिक मोक्ष ये दो अलग-अलग आदर्श नहीं हैं, इसका स्पष्ट साक्षात्कार आपने कराया। इसीलिए अपनी अत्यंत तुच्छ सेवा मैंने आपके चरणों में अर्पित कर दी। तबसे आजादी क्या है, इसका ख्याल स्पष्ट होता चला। अब जब सारे देश के साथ हार्दिक उमंग-उल्लास से स्वातंत्र्य-प्राप्ति का दिन मना रहा हूं, तब मेरा अंतर कहता है कि सच्ची आजादी अभी बहुत दूर है। पूरा विश्वास है कि वह सच्ची आजादी भविष्य में नजदीक आयेगी ही, किन्तु पूर्णरूप से तो हाथ आयी है, ऐसा तो कह ही नहीं सकते।

मध्य रात्रि को मैं जागता ही था। बारह बजे सब-के-सब ऐन्जिनों ने स्वातंत्र्य फूंकना शुरू कर दिया। चि० सरोज, अमृतलाल और मैं—हम तीनों ने साथ बैठकर प्रार्थना की। ईशोपनिषद् पूरा गाया। और अमृतलाल ने 'आज मिल सब गीत गाओ, वाला भजन गाया। हम तीनों गले मिले। तीनों के हृदय में उस क्षण आप थे ही।

उसके बाद तुरंत आपको यह पत्र लिख रहा हूं! मुझे आप से इतना कहना है कि आज से मैं जो

कुछ भी करूंगा, उसमें हिन्दू-मुसलमान आदि का ऐक्य और दीन, दबे हुए और पतित जनों की सेवा—यही मुख्य उद्देश्य रहेगा। इसके लिए आवश्यक दृष्टि, निष्ठा और पवित्रता मुझे मिले, ऐसे आशीर्वाद मुझे दीजिएगा।

संस्था के द्वारा काम करने का विशेष उत्साह नहीं रहा है। फिर भी हाथ में लिया हुआ संगठन-कार्य चलाना ही पड़ेगा। किन्तु अब अकेले या साथियों के सहयोग से जो काम सहज हो सके उसी की ओर अधिक झुकाव रहेगा।

मुझे परम आनंद तो इस बात का है कि आखिरी बत्तीस वर्षों से मेरे मन में अंग्रेजों के प्रति जो द्वेष दृढ़मूल हो रहा था, वह कम होते-होते समूल नष्ट हो गया है। यह सारा आपकी चरण-सेवा का ही प्रताप है।

साथ ही आज स्व० महादेवभाई का उत्कट स्मरण कैसे न हो ?

आपके पुण्य चरणों में
सेवक काका के
सादर प्रणाम

श्रीमन्नारायण को

'सन्निधि'-राजघाट
नई दिल्ली-२
२३-७-६६

प्रिय श्रीमन्‌जी,

आप काठमाण्डू पहुंच गये। आशा करता हूं कि आपके पिताजी का स्वास्थ्य अब चिन्ताजनक नहीं होगा। आपके इन्दुशेखरजी ने हमारी नेपालयात्रा के प्रेस-कटिंग उसी समय भेजे थे। और अब एक अच्छी-सी फोटो अलबम—चित्र-मंजूषा—भी भेजी है। मंजूषा देखकर नेपाल के दिन ताजे हो गये।

नेपाल के बारे में बहुत कुछ लिखना है। नेपाल में हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म का जो समन्वय है, वह भारत के लिए—हमारी संस्कृत के लिए—एक बड़ी सिद्धि है। लेकिन वहां के लोगों के लिए वह सारी चीज निष्प्राण-सी हुई है।

हम मुस्लिम संस्कृति की मुठभेड़ में समन्वय तक पूरे पहुंच न सके। ईसाई संस्कृति की मुठभेड़ से भारतीय संस्कृति असाधारण प्रभावित हुई है, यहां तक कि हिन्दू-समाज और संस्कृति की शक्ल ही बदल गई है, फिर भी दोनों के बीच समन्वय स्थापित नहीं हुआ है।

तीसरी बड़ी धर्म-संस्कृत बौद्धधर्म की है। वह तो भारत में पैदा हुई और एशिया में फैली, तो भी इतने बड़े प्रभावशाली एशियाई धर्म-साम्राज्य को अपनाने का हिन्दू संस्कृति को नहीं सूझा। फलतः तीन संस्कृतियों की मुठभेड़ अब हमें झेलनी है।

इस दृष्टि से नेपाल की ओर मैंने ध्यान से देखा। आप वहां नहीं थे, इसलिए नेपाल के नेताओं से हार्दिक विचार-विनिमय नहीं हो सका। नेपाल की आज की राजनीति 'ट्रायल एण्ड एरर' (प्रयोग करो

और गलती करो) की नीति-सी मालूम होती है, और सांस्कृतिक नीति ने अभी कोई रूप ही पकड़ा नहीं है। मध्यकाल से कूदकर भविष्यकाल में दौड़ना आसान नहीं है। नेपाल के महाराजा जागरूक हैं, चतुर हैं। उनसे औपचारिक ढंग से मिलना कुछ काम का नहीं था। नेपाल के सांस्कृतिक नेताओं से मिलने की खूब इच्छा थी। शायद किसी समय फिर से नेपाल जाना इष्ट होगा।

मैं यहां 'हिन्दुस्तानी प्रचार सभा' के उद्देश्य को व्यापक बनाकर सर्व-धर्म समन्वय की ओर ले जा रहा हूं। केवल दो लिपि की बात और मिश्र भाषाशैली की बात 'डेड इशू' (निष्प्राण बिन्दु) जैसा लगता है। सर्व-धर्म समन्वय की भूमिका पर हम 'हिन्दुस्तानी'—मानस सजीवन कर सकते हैं।

मेरा विचार है कि भारत सरकार की अनुमति लेकर 'गांधी हिन्दुस्तानी साहित्य सभा' का नाम और स्वरूप भी हम व्यापक बना दें।

ट्रस्टियों में राजकुमारी अमृत कौर के स्थान पर किसी को लेना है। राजकुमारीजी को ईसाई और स्त्री समाज की प्रतिनिधि हम मान सकते थे। उनकी जगह बीबी अमतुस्सलाम बहन को लेने का सोच रहा हूं। समन्वय का काम वह असाधारण निष्ठा से कर रही हैं। राजपुरा के अलावा, इनका नेफा का और कश्मीर का काम अच्छी तरह से बढ़ा है।

यहां 'भारत सेवक समाज' के चन्द लोगों के सहयोग से सर्व-धर्म-समभाव और समन्वय का काम शुरू करना चाहता हूं—शुरू किया ही है। उसका एक परिपत्र आज की डाक से आपके नाम भेज रहा हूं। यह कच्चा प्रारूप है। स्नेहियों की राय मिलने पर इसी को सुधार-बढ़ाकर अन्तिम रूप दिया जायेगा।

'मंगल-प्रभात' की ओर देखने का आपको समय ही नहीं मिलता होगा। भारत की ओर से नेपाल में जो काम हो रहा है, सचमुच महान कार्य है। अभी तो बीज बोया जा रहा है। उगेगा, तब उसकी महानता दुनिया देख सकेगी। आपकी सात्विकता बड़ी ही मददगार होगी।

काका के सप्रेम वन्देमातरम्

बबल मेहता को[1]

गुजरात विद्यापीठ
अमदाबाद
आषाढ सुद ४. बुध

प्रिय भाई बबल मेहता,

मुझे प्रथम तो आपकी क्षमा मांगनी चाहिए। आपका ता० १६ का पत्र मेरे पास अभी तक अनुत्तरित पड़ा है। वह पत्र आया तब उसका महत्त्व देखकर, पहले के आपके पत्रों की बारीकियां फिर से पढ़ने के बाद आपको विस्तृत उत्तर देने का सोचा था। गफलत से वह पत्र बाजू पर रह गया, आज फिर से हाथ में आया है।

१. गुजरात के अनन्य सेवक तथा उस प्रान्त की रचनात्मक संस्थाओं के परामर्शदाता।

बात ऐसी है कि मेरे पास जो अनेक पत्र आते हैं, उन पर से लिखनेवाले की मनोदशा का और परिस्थिति का कुछ ख्याल जरूर आता है, किन्तु उसमें व्यक्त किये हुए मनोरथों के पीछे कितनी एकाग्रता है, संकल्प-शक्ति कितनी है, विरोधी मनोरथ या परिस्थिति का सामना करने का हृदय-बल कितना है, इसकी कल्पना पत्र पर से करना मुश्किल है। इसलिए सलाह देते संकोच होता है। एक बार मिलें, कुछ परिचय हो जाय, फिर यह उलझन नहीं रहती। पत्र द्वारा जो निकटता उत्पन्न होती है, वह हर तरह से सच्ची नहीं होती। आप नजदीक होते तो एक बार मिलने बुला लेता।

विवाह के बारे में पहला और आखिरी सिद्धान्त यह है कि मनुष्य में पवित्रता, आध्यात्मिकता अथवा जीवन्त और ज्वलंत समाज-सेवा हो तो, आज मनुष्य विवाह न करे, यही उत्तम है। आज की समाज की स्थिति और युवकों के सामने खड़ा हुआ विश्वतोमुखी क्रान्ति का आदर्श—दोनों का विचार करते निःशंक रूप से सब युवकों को कह सकता हूं कि यदि आदर्शमय जीवन तुम्हारे लिए शक्य है तो विवाह का विचार तक मत करो और यदि मन की गहराइयों में विलासिता सताती हो, परेशान करती हो, और यह परेशानी मीठी-मधुर लगती हो, और उसका सामना करने का विचार ढीला-सा हो, मन को मोहित करनेवाली हर वस्तु की ओर रसिकता की ही दृष्टि जाती हो, तो स्वतंत्र आजीविका कमाने की ताकत आते ही शादी कर लेनी चाहिए और बड़े-बड़े आदर्शों को व्यवहार में लाने का दंभ छोड़ देना चाहिए।

अब धंधा पसंद करने के विषय में।

हमारी पसंदगी बहुत-कुछ इस पर आधारित रहेगी कि हम अपने परिवार के लोगों के प्रति कैसी वृत्ति रखना चाहते हैं। आप शॉर्टहेन्ड टाईपिंग छोड़ कर बढ़ई का या खेतीबाड़ी का काम पसंद करना चाहते हैं। इस विषय में मैं निःसंकोच सलाह दूंगा। शॉर्टहेन्ड टाईपिंग का धंधा शहरों में ही चल सकता है—और वह भी अधिकतर जहां परदेश के साथ व्यापार चलता हो, वहीं चलेगा। जबतक हमको स्वराज्य मिला नहीं है, अथवा हमारे व्यापारियों में दूरदृष्टि की क्षमता नहीं है तबतक परदेश का व्यापार, राष्ट्र की दृष्टि से तो घाटे का ही रहेगा। आपके-जैसे समाज-सेवक होने की इच्छा करनेवाले को तो उसमें एक दिन भी बिगाड़ना नहीं चाहिए।

समाज-सेवक को एक तरह की संन्यास-वृत्ति धारण करनी चाहिए।

कन्या की शादी हो जाने के बाद जैसे माता-पिता के सुख:दुःख में वह प्रत्यक्ष रूप से साथ नहीं दे सकती, उसका प्रमुख कर्तव्य पति के घर के साथ ही रहता है, वैसे ही समाज-सेवक को कुटुंब और जाति-विषयक कर्तव्यों से संन्यास लेकर समाज-सेवा के कार्य को ही अपना जीवन-कार्य समझना चाहिए और परिणीत कन्या पर से जैसे मैके के लोग अपना सारा हक उठा लेते हैं, उससे किसी तरह की अपेक्षा नहीं रखते, वैसे ही जो समाज-सेवक बनता है, उसके परिवार के लोगों को अपने में अनासक्ति या निरपेक्षता की कहिये, वृत्ति उत्पन्न करनी चाहिए। यदि समझकर, यथासमय वे ऐसा न करें तो अपनी दृढ़ता से उनको ऐसी वृत्ति करने में सहायता देनी चाहिए। उनके असंतोष का ताप नहीं सहन कर सकेंगे, ऐसा लगे तो 'पहले ज मनमां मेवडीए' और 'होडे-होडे जुद्धे नव चडी ए' अर्थात पहले ही मन में सोच लेना और देखा-देखी युद्ध में शरीक नहीं होना।

देश में जब स्वराज होता है, तब इतनी बहादुरी की जरूरत कम होती है और युवकों के लिए इतनी हिम्मत दिखानी मुश्किल भी नहीं होती। ग्रीष्मकाल में जैसे पानी की आवश्यकता अधिक और पानी मिलना मुश्किल होता है, वैसे ही पारतंत्र्य में पड़े हुए समाज में समाज-सेवा का आदर्श कठिन होता है, और सामान्य आदर्श तक पहुंचने वाले सेवक भी असाधारण कोटि के माने जाते हैं।

बढ़ई के काम से या खेतीवाड़ी के काम से उच्च-जाति के युवक कभी इतना नहीं कमा सकेंगे कि अपने परिवारवालों की उच्च-वर्ग की जरूरतें और शौक को पूरा कर सकें। इसलिए ऐसे धंधे पसंद करने-वालों को कौटुंबिक जिम्मेदारी का सच्चा यानि मर्यादित ख्याल ही होना चाहिए। बहन की शादी करनी है, मां को तीर्थ-यात्रा करने ले जाना है, भाई को इन्जिनियरिंग कॉलेज में शिक्षण दिलाना है, पिता का किया हुआ करज मुझे ही चुकाना है, विधवा बहन को, दोनों घरों के विरोध के बावजूद नर्स का शिक्षण देना है, इत्यादि-इत्यादि। मनोरथ छोड़ ही देने पड़ेंगे, और यदि ऐसा न हो सके तो जीवन का सारा उद्देश्य ही बदलना चाहिए।

इनमें से एक भी मनोरथ काल्पनिक नहीं है। इन सब के उदाहरण मेरे पास हैं।

श्रम जीवन ही निष्पाप जीवन है, ऐसा जीवन हम व्यतीत करें और निकटतम और नाजुक-से-नाजुक सगे-संबंधियों को भी ऐसा जीवन व्यतीत करने का परामर्श दें, उसमें कठोरता नहीं, किन्तु स्वाभाविकता, पवित्रता और प्रतिष्ठा है, ऐसा समझकर चलेंगे, तभी हम समाज-सेवा के आदर्श को पहुंच पायेंगे। एक मजदूर किसी का आश्रित नहीं बनता, न किसी को अपना आश्रित बनाता है। इसीलिए उसका जीवन अत्यंत स्वाभाविक होता है। जो लोग अपने आश्रितों की संख्या बढ़ाते हैं, वे सामाजिक द्रोह करके ही कमाई कर सकते हैं। जो लोग खोटा, गलत, दया-भाव बढ़ाते हैं, उन्हें जाने-अनजाने, सच्ची कठोरता भी करनी पड़ती है, क्योंकि जिनके प्रति प्रेम का या सामाजिक संबंध नहीं है, उनके प्रति कठोर और द्रोही बने बिना, उनका अनुचित फायदा लिये बिना अपने सगे-संबंधियों पर वे दया कर ही नहीं सकते।

अब आप मेहनती जीवन की आवश्यकता और उसका स्वरूप समझ सकेंगे।

शिक्षक का धंधा करना हो, तो शिक्षण के आदर्श प्रथम हृदय में उतारने चाहिए। शिक्षक की दीक्षा लेनी चाहिए। निरीक्षण, परीक्षण और उद्योग का महत्त्व समझ लेना चाहिए। बोध-शक्ति, धीरज अथवा सहन-शक्ति और सेवा-भाव प्रथम अपने में लाने के बाद ही हम शिक्षण-शास्त्री बन सकेंगे और आज तो सच्चे शिक्षण-शास्त्री को अंत्यज, महिला-वर्ग और गांव के लोगों को शिक्षण देने की जिम्मेदारी प्रथम अपनानी चाहिए। बच्चों को शिक्षण देना जितना जरूरी है, उतना ही—बल्कि उससे भी अधिक आवश्यक है गांव के बड़ी उमर के किन्तु अनजान लोगों को शिक्षण देना। इस कार्य के लिए आप तैयार हैं? तैयार हो तो आ जाओ मेरे पास। मुझे आपकी आवश्यकता है।

काका कालेलकर के
सप्रेम वंदेमातरम्

(२)

गुजरात विद्यापीठ
अमदावाद
आषाढ वद १. सोम.

प्रिय भाई बबल महेता,

ता० १९ का आपका पत्र मिला। मेरे पत्र में लिखी सब सूचनाएं और चेतावनियों का पूरा विचार करने के बाद ही आपने निर्णय किया होगा। आपके भाई ने भी परिवार का आप पर का हक उठा करके ही

आपको आज्ञा दी होगी।

आप यहां आयेंगे तब इस बात का खास ख्याल रखिये कि आपके कपड़े और बिस्तरे में परदेशी कोई भी चीज न आ जाये। विद्यापीठ का सिद्धान्त है कि यहां के सारे संचालक, सेवक और विद्यार्थी मात्र खादी का ही प्रयोग करें। अस्पृश्यता निवारण, सरकार के साथ का असहकार, उद्योग का महत्त्व, शरीर श्रम करने की तैयारी, गरीबों की सेवा ही सच्चा 'करीयर' है, यह श्रद्धा आप में होगी ही, ऐसा मैं मानता हूं। विद्यापीठ ही उसके सेवकों का 'इन्श्योरन्स' है। सेवकों की आजीविका के लिए कभी उलझन पैदा नहीं होती। यह अनुभव या श्रद्धा आप में होगी या आ जायेगी, ऐसा मैं मानता हूं।

काका के
सप्रेम शुभाशीष

अमृतलाल नानावटी को[1]

चलती-फिरती रेलगाड़ी से,
२०-७-६९

चि० अमृतलाल,

"मनसा चिन्तितम् कार्यम् दैवेनान्यत्र नीयते।"

हम कार्यक्रम एक ढंग से सोचें और दैव उसे दूसरा रूप दे देता है।

हम दिल्ली से सबसे विदा लेकर समय पर निकले। ट्रेन में खाना खाया, प्रार्थना की और पूरे विश्वास से सो गये। रात को मेरी आदत के अनुसार दो-तीन दफे जागा, देखा तो ट्रेन मुझसे भी ज्यादा आराम से सोयी पड़ी थी। सोचा कि किसी से पूछ लूं कि कौन-सा स्टेशन है। छोटे-से स्टेशन पर पूछने के लिए आदमी भी आसानी से नहीं मिलते, और मिले भी तो उसका जबाव मैं सुन सकूं तब न? सुबह देखा तो हम रात के साढ़े दस बजे से स्वर्ग के राजा इन्द्र की घड़ी पर ही सोये हुए हैं। दरियाफ्त करने पर पता चला कि आगे एक मालगाड़ी के कई डिब्बे रास्ता बिगड़ने से गिर पड़े हैं। नींद खुलने पर हमारी ट्रेन ने दो स्टेशनों की मुसाफिरी कर हमारी ट्रेन ने जानकारी प्राप्त की कि कोटा से एक ट्रेन इस तरफ आ रही है, और जब हमारी ट्रेन मालगाड़ी तक पहुंच जायेगी, तब हमें उतरकर मील-पौन मील चलकर वहां की ट्रेन में बैठना होगा और उस ट्रेन के यात्री हमारी ट्रेन पर सवार होंगे।

यह सब यात्री-विनिमय करते ग्यारह बज ही गये। एक गाड़ी में नाश्ता किया, दूसरी गाड़ी में भोजन। ऐसे समय पर सब यात्री और क्या रेलवे के कर्मचारी बहुत ही सज्जनता से एक-दूसरे की मदद करते हैं और इसी तरह के अनुभव याद करके उसका भी विनिमय करते हैं। समान संकट से परस्पर सहानुभूति पैदा होती ही है। रेलवे वालों ने बड़ी हिफाजत से हमें, हमारे नये यान तक पहुंचाया और हमारे सुख-सुविधा का ख्याल भी रखा। रेलवे की समय-सारिणी देखकर मैं तय कर सका कि कोटा स्टेशन जो मध्य रात को सवा बारह बजे आने वाला था। वह दोपहर के साढ़े-बारह के बाद आ सका। इस हिसाब से हम समझ गये कि जहां

१. काकासाहेब के अंतेवासी

बंबई बीस तारीख शाम को सवा पांच बजे पहुंचने वाले थे, २१ की सुबह सूर्योदय के साथ हमारा भी बंबई में उदय होगा। रेलगाड़ी की मेहमानगिरी एक रात की जगह दो-रात चखनी पड़ेगी। और चि० सरोज तो इकौना से लखनऊ होकर आयी थी, उसको रेल में तीन रातें व्यतीत करने का पुण्य मिलेगा।

इस सारे रेल-संकट का एक लाभ यह हुआ चि० मृणालिनी देसाई का मराठी में लिखा हुआ उपन्यासात्मक गांधी-चरित्र पढ़ सका। चित्त को इकौना के नवनिर्मित आध्यात्मिक आश्रम के बारे में जानने की इच्छा थी, और चि० सरोज को अपना जवाब लिखकर बताना पड़ता था। अच्छा है, चि० सरोज को लिखने का आलस्य नहीं है।

बंबई में कान का कुछ इलाज हो सका तो गनीमत है, नहीं तो मुझे अपना आयंदा का कार्यक्रम नये सिरे से बदलना होगा। जब से कान की शक्ति क्षीण हुई, मैंने तय किया कि किसी सभा में अध्यक्ष-स्थान नहीं लूंगा। (उद्‌घाटन का भाषण करना आसान है। अध्यक्ष को सभा का संचालन करने का होता है। लोग क्या बोलते हैं, वही जो सुन नहीं सकता, संचालन क्या करेगा ?) किसी समिति का सदस्य बनने का भी मैंने छोड़ दिया है, क्योंकि समिति में एक-दूसरे के विचार सुनकर अपनी राय देने की या बदलने की होती है। आजतक मिलने आनेवाले लोगों को बिठाकर उनकी बातें सुन सकता था, अनेक कार्यकर्ता और संस्थाओं के प्रतिनिधि मिलने आते थे, उनसे विचार-विनिमय होता था। इसमें मेरी जानकारी अद्यतन रहती थी। नये-नये सवालों का, देश-काल का हिसाब करके हल ढूंढ़ना पड़ता था। अब कुदरत ने नसीहत दी है कि "आजतक बहुत सुना। उतना एक जन्म के लिए और सवालों के चिंतन करने के लिए काफी है। जितनी हो सके, उतनी सेवा करो और परलोक का भी चिंतन करो।" मैंने इस लोक का चिंतन करना पर्याप्त माना है।

अध्यात्म कहता है कि "मनुष्य हो, अनंत काल का भी चिंतन करो।" मैं मानता हूं कि इस लोक के लिए भूतकाल की जानकारी बढ़ाना, वर्तमान काल को पहचानना और भविष्य काल के लिए तैयारी करना काफी है। और चिंतन सर्व-कल्याणकारी है या नहीं, इसकी कसौटी के लिए अनंत काल का चिंतन पर्याप्त है, फिर परलोक का चिंतन किसलिए करूं ?

परलोक के बारे में बचपन से लोगों से बहुत सुनता आया हूं। पुराणों में—सब धर्मों के पुराणों में—काफी पढ़ लिया है, लेकिन अब उसके बारे में तनिक भी जिज्ञासा नहीं रही। मैं जन्म-परम्परा में मानता हूं। जन्म-परम्परा खत्म होने पर ही मोक्ष मिलता है, ऐसा भी विश्वास नहीं है। संत तुकाराम ने भगवान से यही कहा था, "तुका म्हणे गर्भवासी सुखे-घालावें आम्हासी।"

इंद्रलोक, चन्द्रलोक आदि सब वर्णन काल्पनिक हैं। पुनर्जन्म से मैं डरता नहीं। इसलिए परलोक की चिन्ता नहीं करता। सुनने की शक्ति क्षीण हुई तो बेहतर तटस्थ भाव से चिंतन चालू रहेगा, और जब तक प्राण हैं, सेवा करने की शक्ति नष्ट होनेवाली नहीं, यह विश्वास है। ट्रेन ने कृपा करके अच्छा अवकाश दिया। तटस्थ भाव से चिंतन कर रहा हूं।

जिनकी नसीहत से जीवन कृतार्थ करने की प्रेरणा मिली, वे संत भी सहज समाधि तक पहुंचने के बाद विश्व कल्याण का चिंतन करते ही थे। विकास और सेवा का अन्त कभी होता ही नहीं।

काका के सप्रेम शुभाशिष

प्रभुदास गांधी को[1]

आणंद, रामनवमी,
सन् १९२३

प्यारे प्रभुदास,

तुम मेरी परेशानी समझ सकते हो, इसलिए तुम्हें चन्द्रशंकर के हाथ से पत्र लिखवाऊं तो तुमको बुरा नहीं लगना चाहिए। तुम्हारा बड़ा पत्र मैं ध्यान से पढ़ गया। उसके २८ पन्ने गिने लम्बी चिट्ठी का मजाक किया, लेकिन मजाक तो मेरे स्वभाव का ऊपरी स्तर है अथवा ऊपरी तरंग है, ऐसा कहो तो भी चलेगा। सही बताऊं तो मुझे तुम्हारा पत्र लम्बा लगा ही नहीं। क्या तुम्हारे साथ घंटों तक बात करते हुए मैं थक जाता हूं ? तब तुम्हारा पत्र मुझे लम्बा कैसे लगेगा ? मुझे रोज लम्बे-लम्बे पत्र लिखो तो आनन्द से पढ़ूं, यही नहीं, उस आनन्द से मेरा कुछ खून भी बढ़ेगा।

विद्यार्थी लोग स्वाश्रयी बनें, यह तथ्य हमें अपना ही लेना चाहिए। लेकिन आज की देश की आर्थिक हालत देखते हुए बाजार की दृष्टि से प्रामाणिक विद्यार्थी कदाचित् ही स्वाश्रयी हो सकता है। नैतिक दृष्टि से विद्यार्थी स्वाश्रयी बनें, इतना ही पर्याप्त है। विद्यार्थी पांच घण्टा कातें अथवा और कोई मजूरी करे और उस मजूरी के द्वारा समाज को अत्यन्त उपयुक्त ऐसा काम दें तो वह नैतिक दृष्टि से स्वाश्रयी बना माना जाएगा। परंतु इन पांच घण्टों में वह अपनी उदरपूर्ति के लिए न भी कमा सके। इस विषम स्थिति में ही पाप का मूल और दुनिया का दर्द रहा हुआ है। निष्पाप मजूरी के द्वारा प्रत्येक मनुष्य यदि पांच घण्टे में अपनी सारी आवश्यकताएं पूरी तरह पा सके तो हिन्दुस्तान के सामने कुछ प्रश्न रहा ही नहीं है, ऐसा मानना होगा। अर्थात् हमारे विद्यार्थी और अध्यापक नैतिक दृष्टि से स्वाश्रयी हों, फिर भी हमें आजीविका के लिए समाज से लेना रहेगा ही। अध्यापक वेतन लेते हैं, लड़के घर से पैसा लाते हैं। मेरा पुराना अनुभव ऐसा है कि घर से १५ या २० रुपये लाने वाले लड़कों की तुलना में घर से १०-१२ रुपये ही ला पाने वाले लड़के ज्यादा मंजे-सजे हुए होते हैं। उनके द्वारा राष्ट्रीय शिक्षण का प्रचार अधिक हो सके, ऐसा है। वे ही देहात में रहने के लिए अधिक योग्य होते हैं। ऐसे विद्यार्थियों की संस्था सहायता करे—दान या कर्ज के रूप में नहीं, लेकिन जो काम करे, इसकी बाजारू कीमत नहीं, किन्तु नैतिक दृष्टि से कीमत करके उसकी मजूरी के रूप में वे, इससे हम मुफ्तखोर हैं, ऐसा खयाल लड़कों को नहीं आयेगा।

परंतु इस पद्धति के लिए एक फण्ड बनाना होगा। बापूजी इस प्रकार का फण्ड पसन्द करेंगे ही, ऐसा भरोसा नहीं है। फिर भी वहां आऊंगा तब बापूजी के साथ इसकी चर्चा करूंगा।

विद्यालय के लिए मैं क्षेत्रसंन्यास तक लेने को तैयार हूं अर्थात् विद्यालय से बाहर न जाऊं, तुम कहो तो बाहरगांव तो क्या, लेकिन अहमदाबाद भी न जाऊं। सुरेन्द्रजी ने तुम से ठीक ही कहा था कि अब से तुम अगर प्रकृति का काम करो तो साक्षी-अध्यक्ष-पुरुष का काम मैं कर सकूंगा। सुरेन्द्रजी जैसे वेदान्त प्रवीण को ऐसी ही उपमा सूझेगी, परंतु यह ठीक बैठती है।

तुम्हारे पत्र मिलते हैं, उतने पढ़ लेता हूं। किशनलालभाई विद्यालय में फिर से लौट आवें, उसके लिए मैं लालायित हूं। विद्यापीठ में ही काम करना, ऐसा मोह किशोरलालभाई को भी नहीं है, किन्तु मैं

१. गांधीजी के भतीजे के पुत्र, काकासाहेब के विद्यार्थी

मानता हूं कि बापूजी की मदद से ही किशोरलालभाई को हम लौटा सकते हैं।

विद्यालय और आश्रम के बीच एक राय नहीं है, इसके बारे में तुमको जितना दुःख है, उससे अधिक दुःख मुझे है, क्योंकि मैं इसमें दोषी हूं। परंतु मैं कृत्रिम ऐक्य कैसे बता सकूं? मुझे तो मगनलालभाई और मेरे बीच भाव-भेद तथा इससे भी ज्यादा दृष्टिभेद स्पष्ट दीखता है। कितनी ही बार हम दोनों जनों ने निखालिसता से चर्चा की है हर बार कुछ भी कड़वाहट के बिना वह यह कर सके हैं, बड़ी भारी सुंदर स्थिति है। तुम्हारे आने के बाद मैं अधिक नियमित होता जाऊंगा। शरीरश्रम भी मुझे करना ही चाहिए। मगनलालभाई अधिक अनुभव से ज्यादा समझ पायेंगे, ऐसी दोहरी आशा से ही मैं इस समय काम कर रहा हूं। परंतु सच्चा और शीघ्र उपाय तो तुम आकर विद्यालय में काम करने लग जाओ, यही है। विद्यालय और आश्रम एक बनाने के वास्ते चाहे जो कुछ करने को तैयार हूं, हट जाने के लिए भी।

मेरी दूसरी आशा किशोरलालभाई में बनी हुई है। उनके समान निखालस, प्रेमी, सौम्य फिर भी दृढ़ और ईश्वरपरायण मनुष्य के हाथ में हमारी संस्था शोभा दे, यह मेरे विचार तुम जानते ही हो। तुम और किशोरलालभाई यहां बैठकर काम चलाओ और मुझे अपने लायक काम करने दो, इससे तमाम सवाल सुलझ जाएगा।

मुझे बहुत लिखना था, किन्तु अभी समय नहीं है। चि० राधाबहन को भी अभी लिखने वाला था, आज समय नहीं मिलेगा, तो कल लिखूंगा। अपनी तबीयत खूब संभालना और स्वस्थ होकर आना।

काका के शुभाशिष

(२)

१४-३-४२

प्रिय प्रभुदास,

अब तो तुम्हारा पत्र आने पर आनंद के साथ आश्चर्य भी होता है। जब तुम्हारा पत्र आता है तब यही विचार आता है कि तुम्हारी बर्षगांठ है क्या?

ता० ५-३ का पत्र मिला। श्री जमनालालजी के अवसान का समाचार पुणे में सुना तब किसी तरह यह भरोसा ही नहीं बैठता था। तब मैं तुमको किस प्रकार अपना आत्मविश्वास पहुंचा सकूं कि मैं जल्दी से मरनेवाला नहीं हूं। मैं इतना ही कह सकता हूं कि मेरा स्वास्थ्य बढ़िया है। "एलाइव एंड किकिंग, एज़ दी अमेरिकन्स वुड से"।

मैंने देखा है कि प्रवास में दौड़ते हैं तब बुढ़ापा और मृत्यु को सांस भर आता है और वे काफी पिछड़ जाते हैं।

तुम जिस युवक के बारे में लिखते हो (सभी युवक 'नौ' होते हैं—आठ नहीं!!) उसका विचार करते हुए मुझे लगता है कि वह यहां जुलाई में आवे तो ठीक रहेगा। अब यहां गर्मी शुरू हो गई है। गर्मियों में यहां रहूंगा ही, ऐसा भरोसा नहीं है। अगर बाहर जाऊं तो उसे अपने साथ तो नहीं ले जा सकता और उसे यहां पर काम दे सकूं, यह निश्चय नहीं कह सकता। मैं मानता हूं कि वह विवाहित नहीं है। उसके अक्षर अगर अच्छे हों, हिंदी और उर्दू शुद्ध तथा सुवाच्य गति से लिख सके तो उसे आज ही ले सकता हूं। बहुत से युवकों को हिज्जे का ख्याल नहीं होता, लिखने में चौकसाई नहीं होती और अक्षरों में तो देवदास

को भी पीछे रख दें। इसलिए मैंने तुमसे दुबारा पूछा है। संस्था में काम की दृष्टि से कमजोर लोगों को भर्ती करने से हमेशा सहन करना पड़ता है। लिए हुए मनुष्य को छोड़ने की इच्छा नहीं होती। इसलिए लेने में खास जांचना पड़ता है। तुम्हारी सिफारिश है इसलिए अधिक विचार नहीं करता।

दूसरी एक दिक्कत है। हमारे यहां सामान्य रसोड़ा नहीं है। प्रत्येक को अलग-अलग पकाने में आपत्ति नहीं है, लेकिन सुविधा देनी कठिन है। अब रसोड़ा खोले बिना चारा नहीं है। लेकिन उसे चलावे कौन ? ब्रजलालभाई जीवित होकर आवें तो है।

श्री ओमप्रकाश को मंजरअली के यहां क्यों नहीं भेजा ? वह अगर होनहार हो तो मैं उनको स्वीकारने को तैयार हूं।

चि० अंबा को सप्रेम शुभाशीष, इंदिरा, गार्गी, नर्मदा इनको भी प्यार और शुभाशीष ! इनको भी मेरे जयवेद भगवान कहोगे।

तुम्हारी तबीयत अच्छी होगी।

काका के सप्रेम आशीष

जेठालाल जोषी को[1]

२० अकबर रोड
नई दिल्ली
२-११-४६

प्रिय जेठालाल,

ठीक नूतन वर्ष के दिन आपका ३१-१० का कार्ड मिला। मेरी बात ऐसी है कि मैं याद तो बहुत लोगों को करता हूं, किन्तु जिन-जिनके पत्र आते हैं उनको भी बड़ी मुश्किल से उत्तर लिख सकता हूं। सच तो यह है कि उन सबको भी उत्तर दे नहीं पाता हूं। आपका पत्र पढ़कर पुराने संस्मरण ताजे हो गए। आप जिन काम को 'ऋण' बताते हैं, वह तो आपका निष्काम कर्म ही है। ऋण तो मेरे सिर पर बढ़ता जाता है। किन्तु प्रेम का ऋण कोई कभी भी चुका सकता है ?

मेरे मन में एक ख्याल बैठ गया था कि मेरा आयुष्य ६३ वर्ष का ही है। वेल्लोर जेल में जब २० दिन के उपवास मैं आसानी से कर सका तब विनोबा ने कहा कि "६३ वर्ष के अंत में मर जाने के ये लक्षण नहीं दीखते !" मैंने कहा "ऐसा ही है तो कर देंगे पास दो-चार वर्ष का सप्लीमेंटरी बजट।"

मैंने सोचा था कि ६३ वर्ष पूरे होते ही पू० बापूजी से कहकर निवृत्ति मांग लूंगा। मैंने बापूजी से कहा भी था कि "मुझे निवृत्त होने दीजिए। काम का बोझा सिर पर नहीं होगा और संस्था चलाने की जिम्मेदारी नहीं होगी तब निवृत्ति में दुगुना काम कर दूंगा। लिखूंगा, पढ़ूंगा, चारों ओर स्वच्छन्द घूम सकूंगा, व्यक्ति को और संस्थाओं को सलाह-परामर्श दूंगा। गांधी तत्त्वज्ञान का विवरण करूंगा। आराम

१. काकासाहेब के गुजराती साहित्य के संग्रह तथा सम्पादन में सहयोगी।

नहीं लूंगा। किन्तु मुझे जिम्मेदारी में से मुक्त कीजिए। गैंडे की तरह या अश्वमेध के घोड़े की तरह स्वच्छंद विहार करने दीजिए।"

बापूजी एक ही बात कहते रहे कि "काम तुम्हारा है। चलाओ या छोड़ो, तुम्हारा सवाल है।"

लेकिन अब किससे मुक्ति मांगू ?

१५ अगस्त तक स्वराज्य प्राप्ति के संकल्प का आग्रह था। वह निकल गया और मेरे सब दोषों के साथ मुझे निभा लेनेवाले बापूजी भी गये !...अब काम करते रहने में रस नहीं रहा। हिन्दुस्तानी का काम ठीक चल पड़े तबतक जिम्मेदारी छूटती नहीं। लेकिन संस्थागत काम चलाने की शक्ति ही अब कम हो चली है। इसलिए सोचा है कि साल-दो साल में संपन्न हो जाये, ऐसा कोई गांधी-कार्य करके फिर दृढ़ता के साथ छूट जाऊंगा। इसलिए गांधी-संग्रह का काम उठा लेने को तैयार हुआ हूं, किन्तु यह भी यदि मेरे जिम्मे न आए तो अच्छा ऐसी इच्छा है। लेकिन इस काम को प्रयत्नपूर्वक टाल भी नहीं सकता।

निवृत्त हो जाने के बाद तो आप चाहेंगे इतना लेखन-कार्य कर सकूंगा। मेरे लिए यह एक विनोद है। और तबतक कुछ भी नहीं हो सकेगा। ऐसा थोड़े ही है ? दिसम्बर में बंबई में मिलेंगे तब सारी बातें करेंगे।

आपके पत्र में आप घर के लोगों का और बच्चों का उल्लेख भी नहीं करते ! क्यों आप भूल जाते है कि एक दिन मैं आपके घर आया था और बच्चों के साथ खेला भी था।

सबको अनेक शुभाशिष।

काका के सप्रेम
वंदेमातरम्

(२)

बंबई-६
५-२-५३

प्रिय जेठालाल,

दिल्ली से यहां आते या यहां से वापस जाते समय अहमदाबाद होकर, आपसे मिलकर जाने का निश्चय किया था। लेकिन दैव ने बाधा डाली।

ता० ८ को दिल्ली में एक कार्यक्रम स्वीकार कर लिया है। पिछड़े वर्ग आयोग का काम भी उसी दिन संभाल लेने का कबूल कर आया हूं।

अब बंबई में रहनेवाले गुजरातियों के लिए अफ्रीका के बारे में व्याख्यान 'इंडियन मर्चेण्ट्स चेम्बर' में देने का मैंने स्वीकार किया था। ता० ३-४ तक वह व्याख्यान हो जाने वाला था। यह काम निपटाकर, अहमदाबाद होकर दिल्ली जाने का मेरा विचार था। किन्तु वह व्याख्यान अब छठी की शाम को ही हो सकेगा।

गुजरात और अफ्रीका का संबंध देखते इस व्याख्यान द्वारा गुजरात की भी कुछ सेवा हो सकेगी

और अफ्रीका का महत्त्व तो है ही, इसलिए व्याख्यान को छोड़ देना उचित नहीं समझा।

वृद्धावस्था का अनुभव जैसे-जैसे होता जाता है, तैसे ही, हो सके इतनी सेवा कर छूटने का लोभ भी जागृत होता जाता है। पिछड़े वर्ग आयोग का काम भी इसी तरह सिर पर ले लिया।

अहमदाबाद जाकर आप से मिल नहीं सकता। आप बुरा नहीं मानेंगे, ऐसा विश्वास है। पिछड़े वर्ग आयोग के काम से घूमते-घूमते अहमदाबाद जाने का क्रम होगा ही। एक साल तक तनिक भी दया किये बिना प्रवास करना है। हरिजन, गिरिजन और अन्य दलित जनों की सेवा के उत्साह के कारण जरूरी शक्ति आसानी से मिल जायेगी, ऐसी श्रद्धा भगवान ने दी है।

मेरी सूचना है कि जब भी आपको फुरसत मिले आप मेरे पास दिल्ली चले आइये। खास काम हो तभी आना ऐसा थोड़े ही है ? मात्र मिलने के आनंद की खातिर आइए। दो-चार दिन मिलें तो दो-चार दिन और आठ-पन्द्रह मिले तो आठ-पन्द्रह दिन के लिए। जब मैं दिल्ली में रहूं तब आ ही जाइए।

श्री दादासाहब से भी मिलना हो जाएगा। आपका आने-जाने का खर्चा वहन करने में मुझे जरा भी मुश्किल नहीं है। साथ रहने का जो आनन्द मुझे मिलेगा, यह लाभ कम नहीं है। कवि श्री नरसिंहराव भोलानाथ तैलचित्र अनावरण समारंभ के लिए संदेशा साथ भेज रहा हूं।

अफ्रीका इत्यादि देशों से जो विद्यार्थी भारत में शिक्षण पाने के लिए आते हैं, उनकी सुविधा संभालने के लिए और अपने समाज में उनका परिचय करवाने के लिए दिल्ली में आई० सी० सी० आर० (इंडियन कौंसिल फॉर कल्चरल रिलेशन्स) ने एक नया विभाग शुरू किया है। इसको चलाने के हेतु मैंने श्री किशनसिंह चावड़ा को पसंद किया है। राजनैतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से इस काम का बड़ा महत्त्व है।

स्वराज्य मिलने के बाद इतनी सारी प्रवृत्तिओं के द्वार खुल गए हैं कि पर्याप्त संख्या में मनुष्य नहीं मिलते, इसी का दुःख रहता है। पिछड़े वर्ग आयोग के लिए भारत-भर भ्रमण करूंगा तब अपने साथ एक-दो युवकों को रखनेवाला हूं। तनख्वाह की बात नहीं है। खाने-पीने का और तीसरे वर्ग के प्रवास का खर्च दूंगा और वर्ष के अन्त में हरिजन और गिरिजन की सेवा के किसी केन्द्र में उन्हें रख दूंगा। ऐसी सेवा करने के लिए जो तैयार हो, ऐसे युवक आपके ध्यान में हैं तो मुझे बताइए। परीक्षितलाल ने जैसे सेवा के पीछे सब कुछ छोड़ दिया है, ऐसा करनेवाला युवक चाहिए। परीक्षितलाल को भी पूछना चाहता हूं। मेरी ओर से आप उनसे पूछ लीजिये।

काका के सप्रेम
वन्देमातरम्

पुण्डलीक को[1]

अहमदाबाद
१८-३-३०

प्रिय पुंडलीकजी,

मराठी दूसरे वर्ग में पढ़ता था, तबसे शिवाजी महाराज की और महाराष्ट्र के स्वातंत्र्य की बातें

१. गंगाधरराव देशपांडे के अंतेवासी और काकासाहेब के अनुरागी।

सुनता था। तबसे जिस स्वातंत्र्य की राह देख रहा था, वह स्वातंत्र्य अब निकट आया हुआ दीख रहा है। स्वातंत्र्य के पदचाप स्पष्ट सुनाई दे रहे हैं और स्वास्थ्य ने यदि दगा न दिया तो इस स्वातंत्र्य के प्रयास में यह मेरा देह जरूर अर्पण होनेवाला है। स्वातंत्र्य मिलने के पश्चात् जो नवविधान करने पड़ेंगे, राज्य की, समाज की और धर्म की जो नवरचना करनी पड़ेगी, उसमें मेरा कमोबेश उपयोग होगा, ऐसा आत्मविश्वास है। किन्तु एकाग्र इच्छा तो यही है कि स्वातंत्र्य प्राप्ति में ही इस देह का अंत हो जाये। नवरचना करनेवाले रचनाकुशल असंख्य उत्पन्न होंगे, और मुझे भी मोक्ष का अस्वीकार करके फिर से जन्म लेने में कौन सी रुकावट है ?

किन्तु मैं पहली टुकड़ी में जा नहीं सकता। मुझे तो नयी-नयी टुकड़ियां तैयार करके रण-मैदान पर भेजनी हैं। गांधीजी की टुकड़ी निकली, इसके अगले दिन विद्यापीठ की टुकड़ियां यहां से, उसी रास्ते से निकल पड़ीं। उनको हम 'अरुण टुकड़ी' कहते हैं। ये टुकड़ी आगे-आगे जाकर सूर्योदय की तैयारी करेंगे। गांव में सफाई करना, बापूजी के दल के लिए रहने की व्यवस्था करना, चरखे इत्यादि तैयार रखने से असंख्य काम गांववालों की मदद से करने के होते हैं। कभी-कभी हमारी टुकड़ी को गांधीजी की टुकड़ी से दुगुना चलना पड़ता है। कहीं-कहीं पीछे की व्यवस्था करके आगे की व्यवस्था के लिए दौड़ धूप करके जाना पड़ता है। विद्यापीठ के सोलह वर्ष से ऊपर के लगभग सभी विद्यार्थी लड़ाई में जुड़ गये हैं, और उत्कृष्ट काम कर रहे हैं। हमारी छह टुकड़ियां गुजरात में जगह-जगह फैल कर प्रचार-कार्य कर रही हैं। पटेल-पटवारी के त्यागपत्र यानि ब्रिटिश साम्राज्य को देहान्त-सजा। इन त्यागपत्रों का काम भी हमारे विद्यार्थी और अध्यापक कर रहे हैं।

अभी-अभी नवागाम में दिए हुए व्याख्यान में बापूजी ने गांवों में विद्यापीठ ने जो काम किया उसका गौरव से उल्लेख किया। गरीबों के हिमायती के तौर पर अब हमारी मंडली ने अच्छी प्रतिष्ठा प्राप्त की है। आणंद में बापूजी बोले थे, "अब मैं विद्यापीठ को सौ मार्क्स (अंक) देने को तैयार हूं। इस बार विद्यापीठ ने अपनी योग्यता सिद्ध की है। विद्यापीठ के पीछे जो भी पैसा खर्च हुआ वह आज उग निकला है। विद्यार्थियों ने देश के लिए शिक्षण का भी त्याग किया और अन्य भी बहुत त्याग किया है।" बापूजी के मुख से ऐसे उद्गार निकले, इससे अधिक धन्यता कौन-सी हो सकती है ? हमारे विद्यार्थी सचमुच ही इस स्तुति के योग्य हैं। लगभग प्रत्येक विद्यार्थी की घरेलू बातें मैं जानता हूं। इसलिए, दुनिया को कभी भी मालूम नहीं हो सकनेवाले उनके वीरत्व के प्रसंग मैं जानता हूं। और कितने ही माता-पिता ने अपने बच्चों को प्रोत्साहन-पूर्वक आशीर्वाद भी दिया है। गुजरात में की हुई बापूजी की और वल्लभभाई की तपस्या इतनी जबरदस्त है कि उसने गुजरात का रूप ही बदल दिया है।

आजकल में यदि बापूजी गिरफ्तार न किये गये तो जलालपुर में नमक तैयार करते समय पकड़े जायेंगे। उस समय गुजरात में फैली हुई हमारी सब टुकड़ियों को एक के बाद एक लाकर लड़ने का मौका देना है। इसके लिए मैं शायद जल्दी ही वहां जाऊंगा। 'नवजीवन' तो आप पढ़ते ही होंगे।

अत्यंत आनंद की बात यह है कि चि० शंकर[१], सामने आई हुई परीक्षा को लात मारकर गांधीजी की टुकड़ी में दांडी यात्रा में शामिल हुआ है। मुझे मिलकर वह सीधा मातर को गया। बापूजी बोले, "तुमको नहीं लूंगा ? तो किसको लूंगा ?" नडियाद में जब मैं बापूजी को मिलने गया था, मिलते ही बापूजी आनंद से बोले, "काका, शंकर ने लाज रखी।" अन्य जगह बोले, "परिपक्व फल फैंक कर शंकर जैसे लड़के

१. काकासाहेब के बड़े पुत्र सतीश।

आयेंगे तो स्वराज्य कैसे नहीं मिलेगा ?" मेरे आनंद की कल्पना आप ही कर लीजिये। शंकर, बाल[1] दोनों बापूजी के साथ एक ही दल में हैं। बंदूक की गोली खानी पड़ेगी तो भी एक-दूसरे के साथ होंगे इससे ज्यादा क्या चाहिए ? नडियाद में दोनों से भी मिला।

आश्रम में इस समय स्त्री राज्य चालू है। आश्रम के लगभग सब काम और सब विभाग—व्यवस्था, हिसाब, डाक, दुकान, चर्मालय, दुग्धालय—सारे विभाग महिलाओं की मदद से चल रहे हैं। महिलाओं ने अपने-अपने पति-पुत्रों को लड़ाई में जाने की खुशी से रजामंदी और उनके काम स्वयं संभाल लिये, यह कोई मामूली बात नहीं। मीराबाई और अंगद (रेजीनल्ड रिनाल्ड्स) दोनों को आश्रम में महत्त्व का स्थान है। अंगद ने विनोद से कहा, "बापू, यू आर आउट टू डेस्ट्रॉय ब्रिटिश रूल इन इंडिया, बट यू आर एसटेब्लिशिंग ब्रिटिश रूल इन दी आश्रम"। (बापू, आप भारत में से ब्रिटिश राज्य मिटाने निकले हैं, किंतु आश्रम में तो आप ब्रिटिश राज्य स्थापन कर रहे हैं!) अंगद महादेवभाई से कहता है, "महादेव, आई एम प्रीपेयर्ड टू डू एनी वर्क फार यंग इंडिया अंडर यू" (महादेव, मैं 'यंग इंडिया' के लिए कुछ भी काम तुम्हारे कहे अनुसार करने को तैयार हूं।) अहिंसा धर्म की यह विजय है !...

कर्नाटक में स्त्री-जागृति का काम कौन करेगा ? कर्नाटक की महिलाओं में इतना निश्चय-बल है कि वे सारे भारत को आश्चर्य-चकित कर सकती हैं। उनको किसी को जागृत करना चाहिए। सारस्वत स्त्रियों की देशभक्ति अब अच्छी तरह उदयोन्मुख है।

काका के सप्रेम
वंदेमातरम्

विजया को[2]

चि० विजया,

सचमुच किसी अन्य ललितकला से संगीत या नृत्य दोनों हृदय आत्मा को सबसे अधिक पोषक है। ये दोनों कलाएं कम-से-कम खर्च की और अधिक-से-अधिक जीवन समृद्धि की पोषक हैं।

जो लोग पेशेवर गवैये और नर्तक होते हैं उनके जीवन में इन दो कलाओं की संस्कारिता पूरी तरह से क्यों नहीं उतरती उसका आश्चर्य है, पर जिन्होंने संगीत और नृत्य को सिर्फ आमदनी का साधन नहीं बनाया, बल्कि जीवन की कमाई के रूप में ढाला है, उसके स्वभाव, बातचीत, हलन-चलन और सामान्य विवेक में भी एक तरह की सुन्दर प्रमाणबद्धता, सुघड़ता और सुरुचि आ जाती है।

वही बात मैंने टेनिस आदि खेल खेलते लोगों में देखी है। आदिवासी तो संगीत और नृत्य के खजाने पर ही जीते हैं। वे लोग जब समूह-नृत्य करते हैं तब अपनापन भूलकर नृत्य और संगीत के ताल में तल्लीन हो जाते हैं। यह बात मैंने आसाम के आदिवासियों में भी देखी है और पश्चिम भारत के ग्राम्यजन में भी देखी है। अपन से उन लोगों में अधिक जोम होता है, जबकि अपने मध्यम-वर्ग में लालित्य की अधिकता है। एक जमाना आयेगा, जब ऐसे भेद नहीं रहेंगे। लालित्य को जोम छोड़ना ही चाहिए, ऐसा नियम नहीं है।

१. काकासाहेब के छोटे पुत्र।

२. नारायणदास गांधी की पुत्रवधू; पुरुषोत्तमभाई की पत्नी; संगीत में निष्णात।

हमारे जमाने में न जाने कौन-सी पनोती लगी थी कि संगीत और नृत्यकला दोनों के बारे में राष्ट्रीय अभिरुचि की निंदा ही प्रगति मानी जाती थी।

साबरमती आश्रम में हमने दरबार गोपालदास और उनकी दांडीया-रास की मंडली को आमंत्रित किया, तब समाज-सुधारकों ने हम पर टीकाएं की थीं। पर आश्रम में संयमी जीव के सामने कोई भी न बोल सकता था। फिर तो हमारे अप्पासाहब पटवर्धन भी "गडया नो कृष्ण गडी अपुल्या राजा कपुरे चा जाला" यह गोपी गीत गाकर नाचने लगे। तत्पश्चात् सब ठीक होने लगा।

अपने देश का जीवन पहले से ही ऐसा कला-विहीन न था। मैं जब बहुत छोटा था, तब सतारा में, पुणे में और जगह-जगह लड़कियां घूमती बड़ी पींगा खेलतीं और जोरदार लड़कियां जब जपूरजा का नाच नाचतीं। तब ऐसा लगता, जैसे आंगन उखड़ जायेगा।

मेरी माता जी निरक्षर थीं, पर एक-एक पंक्ति याद करके कितने ही पौराणिक और लोकगीत कंठस्थ किये थे और मंदिर के उत्सव और त्योहार तो धर्म-जीवन और लोक-जीवन के बीच अभेद सिद्ध कर देते।

पुराने काल में जो प्राप्त किया जाता था, वह अब केलवणी के द्वारा जीवंत करना रहा।

काका के सप्रेमशुभाशिष

बबनी को[1]

नई दिल्ली

२-७-६०

चि० प्यारी बबनी,

तुम्हारे पत्र में गुजराती काव्यों के उद्धरण आते हैं, यह सुंदर है। किन्तु जब अंग्रेजी के फिकरे आते है तब मन को बात चुभती है कि बीच-बीच में संस्कृत के सुवाक्य नहीं हैं। मुझे कहना इतना ही है कि जिस दिलचस्पी से तुम अंग्रेजी पढ़ती हो, उसी दिलचस्पी से संस्कृत साहित्य में भी अवगाहन करने का मौका हासिलकर लेना। संस्कृत काव्यों की रसिकता उच्च कोटि की है और वह पूरी काव्य राशि अपने स्वदेश के विषय में, स्वदेश की नदियों, पर्वत मालाओं और नगरियों के विषय में, तीर्थस्थानों के विषय में, यहां की ऋतुओं के विषय में, यहां के पशु-पक्षियों के विषय में होती है। इसलिए उनके साथ तुरंत ही अनुभूति का तादात्म्य उत्पन्न होता है। और जब संस्कृत कवि मानवी जीवन, उसकी भावनाएं, प्रेम-भावना या भक्ति-भावना को छेड़ देते हैं, तब तो अपने पूर्वजों के लाखों बरस के पुरुषार्थ का और चिंतन की प्रतिध्वनि जगाते हैं, और उस स्वकीय, सनातन जीवन की समृद्ध विरासत हमको उपलब्ध करवा देते हैं।

आरंभ में यदि संस्कृत काव्य कठिन लगे तो पुराण ग्रंथ पढ़ो। पुराणों की भाषा बिल्कुल, एकदम आसान रहती है। उससे भी सर्वोत्कृष्ट काव्य है वाल्मीकि-रामायण। वह जितना सुंदर है, उतना सरल भी

१. विजया बहन की पुत्री निरुपमा (बबनी)।

है। प्रारंभ के दिनों में रामायण के गुजराती अनुवाद का एकाध अध्याय पहले पढ़ लेना, उसके बाद उसी का मूल संस्कृत पढ़ना। समझने की दृष्टि से ऐसी पूर्व तैयारी बड़ी सहायक साबित होती है।

तुम्हारे पत्र का संतोष व्यक्त करने चला था, किन्तु मैंने तो शिक्षक सुलभ उपदेश ही दिया। संस्कृत वाचन के साथ-ही-साथ अंग्रेजी कविता पढ़ेगी तो दोनों एक-दूसरे के लिए पोषक और प्रेरक होंगे।

कार्डिनल न्यूमन की काव्य पंक्ति लिखकर तुमने अपने उद्‌गार भी दिए हैं, यह अच्छा है। मनुष्य को मनुष्य से ही विमुख देखकर कार्डिनल न्यूमन ने चेतावनी दी है। मंदिरों के शिखर और गिरजाघर के 'स्टीपल' के बारे में मैंने जो कहा है—कि आकाश के आनंत्य में भी प्रभु बसते हैं, उस ओर मनुष्य का ध्यान आकर्षित करनेवाली ये उंगलियां हैं—यही विचार तुमने अपने पत्र में भी लिखा है।

अब तुमको एक सूचना दूं? हिमालय की उत्तुंग भव्यता और उसके दुर्गम विस्तार से प्रभावित होने के पश्चात् उन सधी हुई संस्कारी आंखों से सौराष्ट्र का समुद्र-किनारे को फिर से निहारना, वह भी किनारे पर की किसी ऊंची पहाड़ी पर से, (घोघा की तरफ ऐसा स्थान होना चाहिए) तब फिर सागर का दर्शन भी तुम्हें सागर-गंभीर काव्य का साक्षात्कार करवायेगा। कालिदास ने सागर और हिमवान—दोनों को एक ही श्लोक में बिठाकर भारत भूमि की उत्तर-दक्षिण-मर्यादा का एक साथ स्मरण किया है—"समुद्र इव गांभीर्यं धैर्येण हिमवान इव।" और जब तुम हवाई जहाज में बैठकर व्योम-विहार करोगी तब पहाड़, समुद्र और आकाश इस भगवान की त्रिविध विभूति का एक साथ दर्शन और चिंतन कर सकोगी। फिर उसका भी काव्य स्फुरेगा।

अब समय का बजेट खुट जाने से पत्र यहां समाप्त करता हूं।

चि० कल्पक, अरुणा, विजया और पुरुषोत्तम को भी सप्रेम शुभाशिष

काका के सप्रेम शुभाशिष

चंदन को[1] वर्धा

१३-१-३८

चिरंजीव चंदन,

लग्न संस्था के विषय में तुमने सवाल उठाया है:

जो लोग आर्थिक स्तर बढ़ाना चाहते हैं, वे लग्न समस्या को ज्यादा कठिन बनायेंगे ही। आर्थिक जीवन स्तर एक सीमा से अधिक बढ़ाने पर नैतिक जीवन स्तर नीचे उतरेगा ही और उच्च आदर्श को और नाजुक भावनाओं को ठेस पहुंचेगी। अपने यहां सन्यासी, बैरागी और तपस्वियों ने जीवन की आवश्यकताओं को कम करने की पराकाष्ठा की। प्रयोग के तौर पर बात अच्छी थी—है। उसके विपरीत गृहस्थाश्रमी लोगों ने विलास करके अमर्याद संतति बढ़ाई, कार्य-कौशल्य को कम किया, यह बहुत बुरा हुआ।

गृहस्थाश्रम में रहनेवाले लोगों का भौतिक जीवन-स्तर अल्पतम भी न हो, और न अधिकतम हो। शास्त्रीय दृष्टि से पूरा सोच कर इष्टतम-स्तर होना चाहिए।—अमरीकी दृष्टि से नहीं, किन्तु शास्त्रीय दृष्टि से इष्टतम स्तर तय करना चाहिए। मनुष्य की कार्य-शक्ति और सहन-शक्ति बढ़े, जीवन-शक्ति और

१. काकासाहेब की पुत्रवधू—सतीशभाई की पत्नी।

संयम-शक्ति भी बढ़े, इन्द्रियों की शक्ति क्षीण न हो और सब इष्ट अनुभव लेने की उनकी क्षमता सूक्ष्म होकर दीर्घकाल तक टिके; सहकार, त्याग और बलिदान की उनकी वृत्तियां मारी न जायें,—ऐसी स्थिति को मैं इष्टतम स्तर मानता हूं।

ऐसे इष्टतम जीवन-स्तर को संभालने की दृष्टि से संस्कृति का विकास करना चाहिए। सामान्यतः तो स्त्री घर को संभाले और बच्चों को अच्छे संस्कार दे, यह योग्य ही है। सर्वोच्च कीर्ति, अधिकार और स्वतंत्रता उसमें समाये हुए है। जानवरों की मादा जिस तरह अपने बच्चों को देखती है, उसी तरह बच्चों को बड़े करना, ऐसा मैं नहीं कहता और फूहड़ की तरह घर को चलावे यह भी नहीं कहता। किन्तु अद्यतन समाजशास्त्र, सुप्रजा-निर्माण-शास्त्र, आरोग्यशास्त्र, आहारशास्त्र, धर्मशास्त्र, नृवंशशास्त्र और सौंदर्यशास्त्र आदि सुसंस्कृत जीवन के शास्त्रों का जिसमें विनियोग होता है ऐसा गृह-संस्था और कुटुंब-संस्था चला सके, वह राष्ट्र-निर्मात्री भी है और समाज की आधार स्तंभ भी है; संस्कृति रक्षक तो वह है ही। राज्य संस्था चलाने की अपेक्षा कुटुम्ब-संस्था चलाने में अधिक बड़प्पन है।

मेरी राय से, स्त्री को आजीविका के लिए अलग काम न लेकर पति को उसके काम में ही सहायक होना चाहिए। पारिवारिक वायुमंडल के लिए भी यहां इष्ट है। यदि अलग काम करना ही हो, तो ऐसा काम पसंद करना चाहिए, जिसमें गृह-संचालन में, बालकों की परवरिश में, और प्रसव के बाद की विश्रान्ति में, बाधा न आ पाये। समाज को भी कानून और रिवाज द्वारा ऐसी व्यवस्था कर ही देनी चाहिए, जिससे ऊपर के तीन कर्त्तव्य सुरक्षित रहें।

संतति-नियामक साधनों की बातें बहुत चल रही हैं। माना जाता है कि इन साधनों से संभोग-प्रवृत्ति व्यवस्थित होती है, किन्तु असंयमी मनुष्य-जाति गर्भाधान-निरोधी साधन मिलने से अधिक असंयमी बनेगी, व्यभिचार बढ़ जायेगा, और फलतः प्रेम-जीवन धीरे-धीरे छिछला, दंभी और असंस्कारी होता जायेगा। यदि प्रेम-जीवन का प्रश्न नहीं होता, तो संभोग-जीवन मात्र प्राणीशास्त्र का सवाल बन जाता। जब निष्ठा, वफादारी, गहराई और आत्म-बलिदान या त्याग के तत्त्व आते हैं तभी प्रेम-जीवन समृद्धि बनता है, उसमें अधिक-से-अधिक जीवन-रस मिलता है और बालकों के लिए उत्तमोत्तम विरासत तैयार होती है। जहां यह सब नहीं है, वहां नंगे स्वार्थ का जोर ही बढ़ेगा, दंभ और कृत्रिमता सामान्य और समाज-मान्य बनेंगे और जीवन में सुवास का नामोनिशान नहीं रहेगा। एक-दूसरे में ओतप्रोत होना—यही है लग्न। संभोग-जीवन और प्रेम-जीवन एक ही दिशा में बहते रहे और प्रेम जीवन के आदर्श स्वीकारकर, संभोग-जीवन मर्यादित हो जाये, यही है लग्न-जीवन का सार-सर्वस्व।

अब संतति-नियमन के साधन काम में लेने के बारे में :

भूख और नींद मनुष्य के लिए स्वाभाविक है। इनके बिना मनुष्य जी नहीं सकता। काम-तृप्ति के बिना मनुष्य जी सकता है। इतना ही नहीं, किन्तु ब्रह्मचर्य के लिए आवश्यक नियमों का पालन करके मनुष्य संयम बढ़ाता जाये तो उसकी प्रसन्नता टिकती है, यौवन दीर्घकाल तक रहता है, बुद्धि अधिक तीव्र और शुद्ध होती है, वह निष्पक्ष होता जाता है और उसकी सेवाशक्ति अनेक गुनी बढ़ती है। मन में तो विषयों का सेवन करते रहना और बाहर से अर्थात् केवल बाह्याचार में कामतृप्ति को त्याग देना, उससे अनेक तरह की विकृतियां पैदा होती हैं और नुकसान भी होता है। सबसे बड़ा नुकसान तो यह है कि कला की कल्पना ही विकृत हो जाती है। काम-प्रेरणा में से प्रेम-जीवन को यदि पुष्टि मिले तो संभोग-जीवन व्यवस्थित भी होता है और संतति को संस्कार की पूंजी भी प्राप्त होती है। जगत् में यदि शान्ति संभालनी है तो संभोग-जीवन को हमेशा प्रेमजीवन के पीछे-पीछे चलना चाहिए, उसका अधिकार स्वामित्व में रहना चाहिए। ऐसा न रहा तो बच्चों के संस्कार असामाजिक हो जायेंगे और उसी में से वर्ग विग्रह, वर्गद्वेष, स्वार्थ, दंभ, विलासिता,

लड़ाइयां और विनाश ही उत्पन्न होंगे।

पत्नी की तंदुरुस्ती ठीक न हो अथवा गर्भाशय में कोई विकृति हो और फलत: बच्चे को जन्म देना खतरनाक हो जाये अथवा बच्चे जन्म लेकर थोड़े ही दिनों में मर जाते हों और ऐसी हालत में भी पति-पत्नी दोनों संयम रखने में असमर्थ ही हों, तो उस हालत में निरोध के साधन भले काम में लें। इसे मैं क्षम्य मानूंगा, किन्तु खर्चीला जीवन-स्तर निभा नहीं सकते, इसलिए साधन काम में लेना, यह नामर्दायी है। बच्चे भी मेहनत-मजदूरी करके अपना भाग्योदय ढूंढ़ लें, यही योग्य है। ऐसी स्थिति से लोग इतने डरते क्यों हैं ? आदर्श समाज में कोई मनुष्य जन्म से श्रीमंत रह ही नहीं सके, ऐसा होगा। जेल जाने के बाद वहां सब जैसे एक-से होते हैं, वैसे यदि समाज में सबका प्रारंभ एक-सा कर सकते तो प्रत्येक को अपने ही बल से आगे आने की सचाई मिलती।

काका के सप्रेम शुभाशिष

यशोधरा को[1]

४०/ए, बी.जी. खेर मार्ग
बम्बई—४००००६
६-२-७५

चिरंजीव प्यारी यशोधरा,

तुम्हारा दिनांक ३-२ का छः आठ पन्ने का पत्र मिला। पढ़कर बहुत आनन्द मिला। जब समय मिले तब ही प्रफुल्ल मन और मुक्त कलम से लिखना। (इतना लिखवाकर मैं नहाने गया इतने में चि०सरोज ने तुम्हें पत्र लिखा जो इसके साथ है। उस पत्र को मेरा पत्र ही समझना।)

अब तुम्हारी शिव-भक्ति के बारे में हम दोनों 'वेदान्ती ऐकेश्वरी' हैं। आज का हिन्दू धर्म वैसा ही है। विशेष तो हमारी शिवभक्ति । उसमें हम एक-हृदय हैं। हमारा खानदान ही शिवभक्त। हमारे पिताजी घर के अन्दर के देवमंदिर में हमेशा शिव-पूजा करते। उस छोटे-से मंदिर में अनेक छोटी मूर्तियां। मुझे यज्ञोपवीत मिला, उसके पूर्व से ही मैं मूर्तियों को स्नान करवाने में पिताश्री की मदद करता था।

गोवा में हमारे कुलदेवता का मंदिर मंगेशी। वह भी शिव मंदिर। वहां मैंने छुटपन में महीना दो महीना पूजा की है 'सोलह सोमवार' किये हैं।

अब शिवलिंग की उसासना के बारे में मैंने भी 'सौराष्ट्रे सोमनाथम्' आदि श्लोक कंठस्थ किये थे। अनेक स्थान की यात्रा की। लेकिन हर जगह पुजारियों की अत्यंत हीन मनोवृत्ति देखकर और पूजा के प्रकार देखकर निश्चय किया कि बारह ज्योतिलिंग के दर्शन को जाना ही नहीं। उन स्थानों पर शिवजी नहीं, लेकिन पुजारी ही हैं। मैं जाति से ब्राह्मण होकर और अपने धार्मिक इतिहास को पढ़ा है इसी कारण, ब्राह्मणों के पापों को सह नहीं सकता। स्वामी विवेकानन्द जन्म से क्षत्रिय, वे ब्राह्मणों के दोष भले ही निभा लें। ब्राह्मणों को अपने पुरखों के दोषों को मिटाने के लिए प्रायश्चित्त करके धर्म में परिवर्तन लाना ही चाहिए।

१. अहमदाबाद में हिन्दी की शिक्षिका; हिमालय की पुजारिन।

अब फिरसे ज्योतिर्लिंग पर आऊं। इन बारह लिंगों से भी ज्यादा पवित्र एक स्थान है—'गोकर्णः'

यथा कैलास-शिखरे, यथा मंदार मूर्धनि।
निवासो निश्चितः शंभो,—तथा गोकर्ण मंडले ।।

यह गोकर्ण कारवार के पास है 'चालीस साल में एक बार होने वाले अष्टबंध महोत्सव में' मैं वहां छुटपन में पिताश्री के साथ गया था। इसका वर्णन मेरी 'स्मरण-यात्रा' में लिखा हुआ है।

'भारतीय संस्कृति कोश' करके एक मराठी 'एनसाइक्लोपीडिया' जैसी ग्रंथमाला तैयार हो रही है। दस भाग में से आठ भाग प्रकाशित हुए हैं। दस भाग की कीमत करीब रु० २५०/- होगी। उसमें गोकर्ण का माहात्म्य दिया है और बारह ज्योतिर्लिंग के बारे में भी थोड़ी-बहुत जानकारी मिलती है।

बारहों बारह ज्योतिर्लिंग जाने का संकल्प न कर, उज्जैन के महाकाल, हिमालय के केदार, बनारस के विश्वेश और नासिक के त्र्यंबक इतने का दर्शन किया हो तो बस। सेतुबंध रामेश्वर को भी इनके साथ मिला दो। लेकिन इतने सबके दर्शन को जाना ही चाहिए ऐसी राय मैं नहीं दूंगा। हृदय कहे, उसी प्रकार निश्चित करना।

अब तुमने 'वेदोक्त' और शास्त्रोक्त के बीच का भेद पूछा है। (मेरे मन से ये भेद महत्व के नहीं हैं।) चार वेद और इनके 'ब्राह्मण' (ब्राह्मन नामक ग्रंथ) में जो हिन्दूधर्म मिलता है, वह वेदोक्त है। उन वेदों से जो अध्यात्म तत्त्व मिला, उसे उपनिषद के ऋषियों ने अलग करके बताया। उसे वेदान्त कहते हैं। वेद से निकलता मक्खन, वह वेदान्त। इतना ऊंचा धर्म जो सह न सके, उन्होंने स्मृतियों और पुराण से अनेक धर्मशास्त्रों को जन्म दिया है। उसका विस्तार अनन्त है। वह अपना रूढ़िगत हिंदू-धर्म शास्त्रोक्त कहलाता है। तुम्हें पता ही है कि सौराष्ट्र के दयानंद सरस्वती ने वेदों को प्रमाण मानकर पीछे के पौराणिक भाग को मिटा दिया और आर्य समाज की स्थापना की। वेद में कुछ संकुचितता है, उसी कारण उसको स्वीकार करने के लिए वे बंधे हुए हैं, जबकि बंगाल के ब्रह्म समाज ने और बम्बई के प्रार्थना समाज ने ग्रंथ प्रामाण्य मिटाकर, बुद्धि प्रामाण्य, हृदय प्रामण्य और अनुभव प्रामाण्य को महत्व दिया। कविवर रवीन्द्र ठाकुर ब्रह्म समाजी। मैं तो भारतीय संस्कृति का उपासक। मैंने विवेकानन्द, रवीन्द्रनाथ और गांधीजी तीनों के पास से खूब लिया। लेकिन मेरा व्यक्तित्व भारत माता के आशीर्वाद से शुद्ध, समर्थ और समृद्ध बने, ऐसी साधना मैंने चलाई है।

हिंदू धर्म की अनेक वस्तुओं की मैं कद्र कर सकूं, लेकिन आज निभा लेने को ना कहूं। मेरा आध्यात्मिक स्वातंत्र्य मेरे लिए मुख्य है। उसे धोखा दिया ही न जाए।

हम हिमालय, सह्याद्रि जैसे पर्वत और गंगा, ब्रह्मपुत्र, नर्मदा, कृष्णा, कावेरी जैसी नदियों के भक्त हैं। मेरी परम्परा और तुम्हारी परम्परा में इतना साम्य है कि मानो हम एक ही आध्यात्मिक परिवार के हैं। तुम्हारे गुरुजी हमारे इस संबंध को आशीर्वाद देते हैं, वह कम संतोष की बात नहीं।

अब एक मुख्य बात तुम लिखती हो, "जहां कहीं खराब दृष्टिगोचर होता है वहां चक्षु बन्द कर देती हूं, उस ओर दुर्लक्ष्य करती हूं।...आदि। भक्तों के लिए यह ठीक है। लेकिन जिसने संस्कृति की इतनी बड़ी बपौती पाई' वह ऐसा "स्वार्थी तटस्थभाव" स्थापित नहीं रख सकता। हमारी संस्कृति की सेवा हम न करें, तो उस घर में रहने का हमें अधिकार है ? कूड़ा-कचरा पुराना हो या नया, घर में रहनेवाले को उसे दूर करने के धर्म का पालन करना ही होगा। स्वामी विवेकानन्द ने अपने जमाने के सुधारकों के सामने अपनी कलम चलाई। अपनी संस्कृति की आत्मरक्षा के लिए उस समय वह जरूरी था, क्योंकि विदेशी राज्य के नीचे हम गुलाम अवस्था में थे। विवेकानन्द की मानसिक शक्ति के लिए आदर रखें, लेकिन हमारी

मानसिक शक्ति वेदान्त और भारतमाता दोनों के ओर की निष्ठा से प्रेरित होनी चाहिए।...

पूजा में घंटध्वनि का असर तुम्हारे मानस-पटल पर अधिक होता है, यह पढ़कर मुझे बहुत आनंद आया। ऐसी छोटी वस्तु में भी हममें कितना साम्य ! रूप-दर्शन से ध्वनि का माहात्म्य आत्मा की दृष्टि से अधिक है।

आज बहुत लिखवाया। अगर अहमदाबाद आ सकोंगे तो जरूर मिलेंगे, लेकिन संभव है वहां पर्याप्त समय न मिले, कई लोगों से मिलने का हो। तुम्हें दिल्ली आने का समय निकाल लेना चाहिए। लेकिन हमें जल्दी नहीं।

कालेहि अयम् निरवधिर् विपुलात्व पृथिवी।

स्नेहाधीन काका के सप्रेम शुभाशिष।

पूणे १४-९-३७

अनसूया बजाज को[1]

चि० सौ० अनु,

ता० ३ और ५ के दोनों पत्र तुम्हारे मिले। कितने मधुर लिखे हैं। मोटर के प्रवास का तुम्हारा वर्णन इतना जीवन्त है कि मानो मैं तुम्हारे साथ ही प्रवास कर रहा हूं और गरम रेत में मेरे पांव के बिस्कुट बन रहे हों, ऐसा मुझे लगा।

रात के तारों के साथ अच्छी दोस्ती कर ले, ये तारिकाएं सनातन भक्तियां हैं। उनका रास अखण्ड चलता है। राजपूताने में तारों की शोभा विशेष रहती होगी। ध्रुव, ध्रुवमत्स्य, शर्मिष्ठा, देवयानी, हंस, अभिजित, वगैरा नक्षत्र देखने लायक हैं, किन्तु पत्र में कैसे दिखाये जायें ?

श्याम वगैरा पुस्तकें जरूर मैं तुमसे सुनूंगा, लेकिन मेरे संस्मरण तो तुमको ही लिखने पड़ेंगे। मैं सुनाता जाऊंगा और दूसरे दिन तुम उनको लिख कर ले आना। कबूल ?

तुमको समय दिया तो तुम उत्तम तरह से तैयार होगी, लेकिन मेरा ही कार्य-क्रम अव्यवस्थित चलता है। इसलिए नियमित समय देकर सिखाना नहीं हो सकता। दिन भर के कार्य-क्रम में से ही बहुत-कुछ सीखने का होता है। देख, सुनकर, और करके अधिक सीख सकते हैं। पर इसके लिए निश्चित समय नहीं हो सकता। खैर, इन बातों का कभी अन्त नहीं आयेगा।

छुटपन में मैंने देखा था एक घुड़सवार जीन पर से सरककर घोड़े के पेट के नीचे लटक रहा था; घोड़े की लातें सवार को लग रही थीं। आखिर घोड़ा हमारे घर के बिलकुल सामने ऐसा उछला कि सवार का लटकता सिर एक पत्थर पर एक नारियल के समान पटका और 'अय्ययो' कर उसने प्राण त्यागे। तुम्हारे पत्र में ऊंट के बारे में पढ़कर मुझे चालीस-पैंतालिस साल पहले की यह घटना याद आयी। पहले याद आयी होती तो उसे 'स्मरण-यात्रा' में लिख देता।

मैं आज बम्बई जाता हूं। ता० १५ को ता० १६ को, वर्धा अथवा नागपुर। १८-१९-२० मुजफ्फरपुर। २१-२२-२३ को देवघर, वैद्यनाथ धाम, सन्थाल लोगों का प्रदेश देखना है। २५ ता० तक वापस वर्धा।

1. राधाकृष्ण बजाज की पत्नी अनसूया।

तू सीकर से वापस आयेगी तब दिनेश नन्दनी का 'मौतिक-माल' ले आना।...

मैं तो अभी कोई सक्रेटरी न रखकर ऐसे ही स्वयं रहूंगा। प्रयोग काफी हुए। अब आगे नसीब में क्या है, किसको मालूम !

राधाकृष्णजी को सप्रेम वन्देमातरम् और अनु को काका का सप्रेम शुभाशीर्वाद।

उमा अग्रवाल को[1]

वर्धा
१-११-३५

चि० ॐ को काका के सप्रेम शुभाशिष,

तुम्हारा ता० २७-१० का पत्र कल मिला। पढ़कर खुश हुआ। चि० रामकृष्ण का भी एक खत अल्मोड़े से आया है। उसमें मैंने नुक्ताचीनी बहुत की है। तुम्हारा पत्र सुव्यवस्थित है।

तुम्हारा यह पत्र पहला ही है तो सही, लेकिन तुम तो जब कोयल और बिल्ली थी, तबसे मेरी गोद में खेली हो। इसलिए प्रथम पत्र का तुम्हें क्षोभ न रहा, यही स्वाभाविक था।

तुम्हारे 'विद्योदय' से अगर तुम डिसिप्लिन सीखकर आ गई तो पूज्य बापूजी को अपार आनन्द होगा। मुझको आनन्द के साथ अदेखाई भी होगी, क्योंकि मैं तो जिन्दगी भर अव्यवस्थित रहा, इसलिए मेरे जीवन की दो-तिहाई उपयुक्तता नष्ट हो गयी।

कहते हैं कि पानी में गिरने से ही तैरना आता है, इसी तरह से मद्रास में तुम्हें इंगलिश आ जाएगा। मुझे विश्वास है कि इंगलिश के तामिल उच्चारण तुम नहीं सीखोगी, नहीं तो हम तुम्हें वर्धा आने नहीं देंगे। फिर मद्रास में ही रहना होगा।

तुम इंगलिश सीख लो और वहां के शिक्षकों में और लड़कियों में राष्ट्रभाषा का कुछ प्रचार भी करो।

मद्रास की तरफ कर्नाटक संगीत और वीणा-वादन अप्रतिम होता है। विशालाक्षी का संगीत हमने सुना था।

गणित तो कुछ-कुछ करती होगी। गणित से सेवा-शक्ति बढ़ती है।

प्रार्थना किसी भी धर्म की हो, हम उसमें से धार्मिकता ले सकते हैं। बाईबल का अभ्यास तो उपयोगी है ही, खासकर के जीजस का गिरि प्रवचन (सर्मन आन दी माउण्ट) और अपने शिष्यों को प्रचार के समय भेजते समय दिया हुआ आदेश। और भी अच्छी-अच्छी चीजें हैं, लेकिन इस वक्त इसका जिक्र नहीं करूंगा। मुझे समय-समय पर लिखोगी ही। मेरी तबीयत अच्छी है। ५ तारीख के बाद उमरावती, धुलिया, बम्बई जाऊंगा।

१. जमनालाल बजाज की पुत्री (ओम)।

अगर मेरे हाथ में होता तो मैं ॐ का नाम 'प्रसन्न' रखता। तुम्हारी प्रसन्नता हमेशा के लिए कायम रहे और सभी के लिए वह सांसर्गिक हो जाए।

यही काका का शुभाशिष

(२)

कलकत्ता

३-६-४१

चि० ओम्

वाह, क्या पत्र है ! गुस्सा, नाराजगी, अबोला (बोलचाल बन्द) और कुट्टी से पत्र की शुरुवात क्या कोई "सादर सविनय प्रणाम" से करता है ! रूठने की भी एक कला है। तुम्हारे जैसी संस्कारी और कला-कुशल लड़की को तो यह कला भी सांगोपांग हस्तगत ही नहीं, बल्कि स्वभावगत कर लेनी चाहिए। गुस्सा कैसे होना, रूसना कैसे, फिर जैसे कुछ हुआ ही नहीं था, यह सब सीखने के लिए एक अच्छा-सा साधन हो, इसलिए तो लड़कियां शादी करती हैं। तुम्हारे 'वे' तुम्हें रूठने का मौका ही नहीं देते हैं, ऐसा लगता है।

पिछले महीने हम खूब घूमे। उत्कल प्रान्त के काफी सुन्दर स्थान देखें। फिर अमृतलाल नाणावटी और मैं कुर्सियांग, दार्जिलिंग कालिम्पोंग, रंगपो आदि स्थानों पर गए। वहां हमने कांचनजंगा जैसा पहाड़ देखा। तीस्ता, रंगीत, बालासन्, महानदी जैसी नदियां देखीं। इन सब दृश्यों का वर्णन मैं तुम्हें लिखता। लेकिन तुमने कुट्टी जो कर रखी है, इसलिए लेखनी को रोकना पड़ता है। क्या उपाय ! अब तो जब किसी मासिक पत्रिका में यह वर्णन निकलेगा, तभी तुम्हें पढ़ने को मिलेगा। नाणावटी वर्धा गए हैं, इसलिए मुझे खुद ही सब लिखना पड़ रहा है। इससे हाथ को रोकना पड़ता है।

हम मिलेंगे, तब सिनेमा की चर्चा जरूर करेंगे। अब मैं इस क्षेत्र में बिलकुल अनभिज्ञ नहीं रहा हूं। फिर भी मैं उसका मर्मज्ञ हूं, ऐसा मुझे नहीं लगता।

दो-तीन दिनों में हम आसाम की यात्रा को जाएंगे वहां १२-१४ दिन रहकर लौटेंगे। यहां एक कान्फरेन्स करनी है। फिर रांची लौटा, नागपुर होते हुए वापस वर्धा। तुम वर्धा कब आ रही हो ? क्या अपने साथ अपने वहां का तोता लाओगी ? या कह दोगी, "वर्धा में कौन से कम होते हैं, जो बाहर से लाने पड़े ?" मैं इसके जवाब में इतना ही कहूंगा कि वर्धा से जितने तोते बाहर जाते हैं, कम-से-कम उतने तो वापस मिलने चाहिए।

श्री रैहाना तैयबजी करांची गयी होंगी। चि० सरोजिनी फिलहाल बम्बई ही है। तुम्हारा वजन कितना है ?

तुम्हारे पतिदेव को सप्रेम वंदेमातरम् और तुम्हें

काका के सप्रेम शुभाशिष

पदम चंद्र सिंघी को[1]

काकासाहब कालेलकर एम० पी०
८१, साऊथ ऐवेन्यू, नई दिल्ली-१
१४-९-५६

प्रिय पदम,

तुम्हारा निर्मल और सविस्तार पत्र ता० १०-९ का मिला। प्रथम विचार हुआ कि वही चि० लीला को पढ़ने भेज दूं। लेकिन सोचा कि डाक में कहीं गुम हो जाए, इससे बेहतर यही होगा कि जब वह यहां आएगी तब उसे वह पढ़ने दूं। आज उसके लिए एक पत्र भेजता हूं, वह उसे देना।

जीवन में जो घटनाएं घटती हैं, वे सुखकर हों या दुःखकर, जीवन का अनुभव समृद्ध करने के लिए होती है। मानसिक दुःख और वेदना के द्वारा भी जीवन समृद्ध होता है। यह साक्षात्कार जिसे हुआ, वह कभी भी मायूस नहीं होगा।

मुझे याद नहीं कि हमारे बाबू कामत को तुम मिले हो या नहीं। उसके लिए जीवन-साथी पसंद करने में मेरा हाथ था। उसने जो सहन किया, वह तुम्हारे दुःख से सौ गुना अधिक था, लेकिन उसने हमेशा उससे आध्यात्मिक लाभ ही उठाया। आज वह श्री विनोबा के कार्य में मग्न है।

हम लोग ता० १७ की रात को यहां से निकल सिक्किम की ओर जाएंगे और पहली अक्तूबर तक यहां वापस लौटेंगे। उसके बाद १० अक्तूबर के आसपास किसी समय बम्बई जाएंगे।

जब हो सके, तुम दोनों एक दफे आकर मिलो, और इससे भी अधिक महत्त्व की बात यह है कि तुम दोनों निश्चय करो कि हमेशा साथ ही रहना है। पढ़ाई, इम्तहान, सब गौण है। परिस्थितिवश अलग रहने की बात मैं समझ सकता हूं, लेकिन सबसे बलवत्तर परिस्थिति कहती है कि इन दिनों साथ ही रहो।

नटवर ने श्री गुप्ता को कहकर सर्टिफिकेट भेजने का प्रबंध किया था, सो मिला ही होगा।

काका के सप्रेम शुभाशिष

(२)

"सन्निधि"
राजघाट, नई दिल्ली-१
२९-१०-६३

प्रिय पदम,

ता० २२-१० का पत्र मिला। मुनि जिनविजयजी मेरे पुराने स्नेही और साथी हैं, लेकिन मुझे शक है कि श्री पुरोहित जी द्वारा इकट्ठा किया हुआ साहित्य वे भेज नहीं सकेंगे। पुरातत्व मन्दिर अपना मसाला कभी बाहर नहीं भेजते।

१. पिछड़े तथा दलित वर्ग संबंधी कार्य में काकासाहेब के सहयोगी।

खैर, जो कुछ हो सकता था, आपने किया है।

मीरा के संबंध में जो विचार-गोष्ठी होने वाली है उसमें उपस्थित रहकर मैं क्या करूं ? एक तो मैं कान से बहुत कम सुनता हूं। दूसरे, चोटी के विद्वानों के बीच बैठते भी संकोच होगा। विचार-गोष्ठी में जो निबंध पढ़े जाएंगे और चर्चा होगी, वह सब छप तो जाएगी। उससे मैं लाभ उठाऊंगा।

हिन्दी साहित्य समिति के उद्घाटन के लिए मैं आ सकता हूं। मेरा खयाल है कि वे लोग विचार-गोष्ठी और समिति का उद्घाटन करीब-करीब एक ही समय पर करेंगे।

मीरा-विचार-गोष्ठी के फलस्वरूप अगर आवश्यक संदर्भ-साहित्य तैयार होगा तो मीरा-भक्तों को और दुनिया को लाभ होगा।

१. मीरा-साहित्य में आनेवाले सब शब्दों का एक प्रामाणिक और परिपुष्ट कोश चाहिए।

२. मीरा के नाम से प्रचलित सब भजनों का समस्त संग्रह प्रकाशित करके उनमें मीरा के सही भजन कौन से और कौन से त्याज्य हैं, इसका भी यथाशक्ति निर्णय करना चाहिए।

३. मीरा ने समय-समय पर अलग-अलग साधनाएं आजमाई हैं, उन सब साधनाओं का विवरण अब एकत्र करने के दिन आये हैं।

४. मीरा के भजनों से भाषा का स्वरूप देखकर तीन विभाग करने चाहिए :

(१) राजस्थानी विभाग, जिसमें वृन्दावन जाने के पहले के सब भजन आ जाएं।

(२) वृन्दावन विभाग, जिसमें राजस्थानी शब्द कम होते हैं और हिन्दी शब्द अधिक आते हैं। और

(३) द्वारका का विभाग, जिसमें गुजराती शब्दों की भरमार है।

ऐसे तीन विभाग, भाषा के स्वरूप के अनुसार, करने से मीरा की साधनाओं का क्रम भी कुछ न कुछ स्पष्ट होगा। ऐसी-ऐसी कई चीजें ध्यान में आती हैं, जो मीरा-साहित्य उपासकों के सामने रखने को जी चाहता है।

मीरा किस परम्परा की थी और मीरा का अपना कोई सम्प्रदाय तैयार हुआ था या नहीं, इसकी भी खोज होनी चाहिए। और अन्त में मीरा का एक कायमी केन्द्र ऐसे स्थान पर स्थापित होना चाहिए, जहां से बहुत-कुछ काम हो सके।

चि० रुचिरा और वनमाला दोनों की लीलाएं बढ़ गयी होंगी। चि० लीला को चाहिए कि बच्चों की लीला के वर्णन लिखे। आप उसमें मदद कर सकते हैं।

काका के सप्रेम वन्देमातरम्

वनु को[1]

सन्निधि, राजघाट
नई दिल्ली-१
ता० २६-८-७४

चिरंजीव प्यारी वनु,

तुम्हारा ता० २२-८ का पत्र आज ता० २६ को मिला। तुम्हारा पत्र आने से बड़ी खुशी हुई।

१. पदमचन्द्र सिंघी की पुत्री।

छात्रावास का वायुमंडल न पूरा शिक्षकों के हाथ में रहता है, न विद्यार्थी-विद्यार्थिनियों के। समाज की सारी कमजोरियां अब छात्रालयों में प्रकट होने लगी हैं, यह नये जमाने की बात है। अनुभवी लोगों ने सलाह दी है कि जिस परिस्थिति का इलाज नहीं हो सकता, उसे सहन करना ही चाहिए—व्हाट कैननॉट बी क्योर्ड, मस्ट बी एंड्योर्ड।

अब सारी परिस्थिति सहन करके हो सके, इतना एकाग्र होकर पढ़ो। फिर कॉलिज में जाना। बड़ौदा अच्छा स्थान है। वहां मराठी, गुजराती और हिन्दी तीन भाषाएं चलती हैं। कालेज में तीन भाषा के सिर पर अंग्रेजी का राज्य चलता है। वहां के छात्रालय में अधिक संभाल करके रहना पड़ेगा।

हमारे जमाने में अंग्रेजों का राज्य था। अब स्वराज्य और प्रजा-राज्य है। अब देश में स्वर्ग पैदा करना या न करना हमारे ही हाथ में है। तुम्हारे जैसे व्यक्ति को अपनी तरफ से अत्यन्त पवित्र, उत्साही और सेवा-परायण वायुमंडल पैदा करने की कोशिश करनी चाहिए। बाकी भारतमाता के भाग्य में जो होगा सो देखना पड़ेगा।

तुम लोग भीमताम, नैनीताल हो आयीं और हिमालय का दर्शन हुआ, तुम्हारा अभिनन्दन करता हूं।

जयपुर के पास वनस्थली है। हीरालाल शास्त्री बड़े अच्छे राष्ट्रभक्त विद्वान हैं। वे वनस्थली विद्यापीठ चलाते हैं। उनका परिचय पढ़े तो अच्छा है।

यहां मेरा स्वास्थ्य अच्छा है। किन्तु स्मरण-शक्ति कमजोर हो रही है। बहुत बातें भूल जाता हूं। पुराने परिचित आदमी भी पराए बन जाते हैं। इसका इलाज क्या बुढ़ापा कोई रोग नहीं कि दवा हो सके। कान से सुनायी नहीं देता। जयपुर गया तो लोगों की बातें कैसे सुनूंगा न पत्र पढ़ सकता हूं। तुम्हारा पत्र पढ़कर बड़ी खुशी हुई। अब चि० सरोज और कुसुम तुमको लिखेंगी। चि० रुचिरा और तुमको इस बुढ्ढे काका के सप्रेम अनेकानेक शुभाशिष। फिर से पत्र जरूर लिखो।

परिशिष्ट

- काकासाहेब के जीवन की प्रमुख घटनाएं
- उनकी कृतियां

परिशिष्ट

१ :: काकासाहेब के जीवन की मुख्य तिथियां

परिवार : **पिताजी** बालकृष्ण जीवाजी, जन्म १८३३ अथवा १८३४, चैत्र शुक्ल प्रतिपदा; निधन २५ फरवरी १९१०, माघ पूर्णिमा; वय ७६-७७ वर्ष। सातारा में कलैक्टर रहे।

माताजी : राधाबाई, जन्म...निधन १८ जून १९०८।

भाई-बहन : छः भाई, एक बहन।

१. मंगेश (बाबा), २. रघुनाथ (अण्णा), ३. भागीरथी (आक्का), ४. विष्णु, ५. केशु (भाऊ), ६. गोंदू (नाना), ७. दत्तु दत्तात्रेय (काकासाहेब)।

१८८५ : १ दिसम्बर, काकासाहेब का सातारा में कार्तिक कृष्णा १०, शक, जन्म।

संवत १८०७

१८९२, ११ मार्च : सतारा छोड़कर कारवार गये। मराठी की दूसरी कक्षा, नूतन मराठी विद्यालय, पूना, मराठी तीसरी, कारवार। मराठी चौथी, शाहपुर, बेलगाम।

१८९४ : चीन-जापान युद्ध; गोवा में राणाओं का विद्रोह।

१८९७ : शाहपुर, महारानी विक्टोरिया की डायमण्ड जुबिली। रैण्ड-आयर्स्ट की हत्या। बम्बई-पूना क्षेत्र में प्लेग का आरंभ। अंग्रेजी पहली। दूसरी कक्षा, सावनूर।

१९९८ : कारवार छोड़कर धाड़वाड़ पहुंचे, चौथी कक्षा। प्लेग में तीसरे भाई विष्णु की मृत्यु। बोअर-युद्ध, १८९९-१९०२; गोवा में प्रथम निवास, वायरलेस टेलीग्राफी का आरम्भ।

१९०० : धाड़वाड़ छोड़कर बेलगाम आये। चीन में बॉक्सर-युद्ध।

१९०१ : महारानी विक्टोरिया की मृत्यु।

१९०२ : बोअर-युद्ध समाप्त। ज्येष्ठ महीने में लक्ष्मी शिरोडकर के साथ विवाह। अंग्रेजी छठी कक्षा।

१९०३ : मैट्रिक पास हुए; स्कूल फाइनल की परीक्षा भी। पिताजी ने पेन्शन प्राप्त की और सांगली राज्य में ट्रैजरी ऑफिसर नियुक्त। इंग्लैण्ड में फ्री ट्रेड और प्रोजेक्शन का झगड़ा।

१९०४-१९०५ : रूस-जापान युद्ध आरंभ।

१९०४-१९०७ : फर्ग्युसन कालेज, पूना में।

१९०५ : बंग-भंग। बनारस में गोखलेजी कांग्रेस-अध्यक्ष।

१९०६ : बहिष्कार-आन्दोलन। लाजपतराय और आजितसिंह का निर्वासन।

मई, १९०७ : ६ वर्षों तक शकर न खाने का व्रत लिया। सान्फ्रांसिस्को में भूकम्प।

१९०७ : बी० ए० पास हुए।

१९०८ : तीसरी संयुक्त गौड़ सारस्वत ब्राह्मण-परिषद्। बेलगाम के गणेश विद्यालय में आचार्य का पद-ग्रहण। उसको छोड़कर एल-एल० बी० प्रथम वर्ष की परीक्षा पास की।

१८ जून, १९०८ : माताजी का स्वर्गवास। लोकमान्य तिलक को ६ वर्ष के कारावास की सजा। इंग्लैण्ड में कर्जन-वायली की हत्या।

२३ जून, १९०९ : प्रथम पुत्र शंकर (सतीश) का जन्म। बम्बई में एल-एल० बी०, द्वितीय वर्ष में प्रवेश। मराठी दैनिक 'राष्ट्रमत' में कार्यारंभ। वहां दत्तोपंत आप्टे, वीर वामनराव, गोपालराव ओगले, हरिभाऊ फाटक, स्वामी आनन्द आदि साथी थे। गंगाधरराव देशपाण्डे सबके अगुआ।

१९१० : नासिक केस। पिताजी की मृत्यु। टॉल्स्टॉय की मृत्यु। सरकार ने 'राष्ट्रमत' बन्द किया। हेली का धूमकेतु दीखा।

१९१०-१९११ : गंगनाथ विद्यालय (बड़ौदा) के आचार्य। १९११ के दिल्ली दरबार के बाद विद्यालय बन्द। पुर्तगाल में रिपब्लिक की स्थापना।

१९१२ : हिमालय की ओर प्रयाण। द्वितीय पुत्र बाल का जन्म, २१ मई, १९१२। चीन में रिपब्लिक की स्थापना। हिमालय की यात्रा—कलकत्ता, अयोध्या, अल्मोड़ा, गंगोत्री, जमनोत्री, केदार, बद्री, हरिद्वार, लाहौर, रावलपिण्डी, काश्मीर, अमरनाथ, श्रीनगर, जम्मू, ऋषिकेश, टिहरी, देहरादून।

१० दिसम्बर, १९१२ : दिल्ली में लॉर्ड हार्डिंग पर बम फेंका गया। बीमारी के कारण देहरादून रहे।

१९१३ : ऋषिकुल, हरिद्वार के मुख्य अधिष्ठाता। मुजफ्फरनगर, नेपाल की यात्रा। शान्तिनिकेतन देखने गये—पहली बार।

१९१४ : प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ा। लोकमान्य तिलक छूटे। गिरिधारी कृपालानी के साथ शान्तिनिकेतन में रहे।

१९१४-१९१५ : छः महीने ब्रह्मचर्याश्रम, सिंध में। फिर शान्तिनिकेतन।

१९१५ : फरवरी—शान्तिनिकेतन में गांधीजी आये। उनके साथ भेंट हुई। १९ फरवरी, गोखलेजी का स्वर्गवास। कृपालानी को पत्र लिखकर गांधीजी से मिलने बुलाया। शान्तिनिकेतन में मगनलाल गांधी, मगनभाई पटेल, मणिलाल, रामदास, देवदास, प्रभुदास, कृष्णदास, जमुनादास गांधी, हरिहर शर्मा चिन्तामणि शास्त्री, भीमराव शास्त्री आदि थे। ६ मार्च, गांधीजी पुनः शान्तिनिकेतन आये। शान्तिनिकेतन में ४० दिन तक स्वावलम्बन चला। ४ मार्च, रविबाबू की रचना 'फाल्गुनी' सुनी। ३१ मार्च, गांधीजी की फिनिक्स पार्टी हरिद्वार गई। २५ मई, कोचरब में आश्रम की स्थापना। ३ जून, रवीन्द्रनाथ ठाकुर को 'सर' की उपाधि मिली। अप्रेल-मई, ब्रह्मदेश की यात्रा। वापस बम्बई। दिसम्बर में बम्बई में कांग्रेस-अधिवेशन। वहां गांधीजी से फिर मिले।

१९१६ : सयाजीपुरा, बड़ौदा में। ग्रामसेवा, को-ऑपरेटिव डेरी, 'आत्मधर्म' मासिक के संचालन में सहायता (तीन वर्ष तक)। वहां से कोचरब आश्रम में, एक महीने के लिए। बेलगाम में प्रान्त की राजनैतिक परिषद्, लोकमान्य की अध्यक्षता में। ४ फरवरी, हिन्दू विश्वविद्यालय में गांधीजी का भाषण। लखनऊ-कांग्रेस। हिन्दू-मुस्लिम समझौता।

१९१७ : फीजी में प्रचलित गिरमिटिया पद्धति बन्द की गई। १० अप्रैल, चम्पारन जाते समय मार्ग में बड़ौदा स्टेशन पर गांधीजी काकासाहेब से मिले और उन्होंने आश्रम की शाला में सम्मिलित होने का निर्णय अन्तिम रूप से किया। आश्रम की शाला से जुड़े। शिक्षा परिषद्, भड़ौच के लिए राष्ट्रभाषा हिन्दी के विषय में लेख लिखा। अहमदाबाद में मजदूरों की हड़ताल (धर्मयुद्ध)। सिंध की यात्रा में गांधीजी के साथ।

१९१८ : हिन्दी साहित्य-सम्मेलन, इन्दौर में गांधीजी के साथ। गोधरा परिषद्।

१९१९ : रौलेट कानून। पंजाब, गुजरात आदि स्थानों में दंगे।

१९२० : गुजराती साहित्य-सम्मेलन के अवसर पर रवीन्द्रनाथ ठाकुर का अहमदाबाद आगमन। उस समय उनके विषय में गुजराती में लेख लिखा। (पहला गुजराती लेख) गुजरात राजनैतिक परिषद्, अहमदाबाद। १९ जुलाई, विद्यापीठ की स्थापना का प्रस्ताव। नागपुर-कांग्रेस। अजन्ता की गुफाएं देखीं।

१९२१ : अहमदाबाद की खादी-कांग्रेस; कला-प्रदर्शनी की रचना।

१९२२ : 'यंग इण्डिया', 'नवजीवन' के मुकदमे। गांधीजी को छः वर्ष की सजा। 'नवजीवन' में काकासाहेब का प्रथम अग्रलेख। ४ जून, 'बारडोली का कार्यक्रम'। पुरातत्व-मन्दिर द्वारा 'उपनिषद् पाठावली' प्रकाशित।

१९२३ : महादेवभाई इलाहाबाद जेल से वापस आये। 'नवजीवन' में प्रकाशित लेखों के कारण धारा १२४ (अ) का अभियोग और एक वर्ष की सजा। जेल-यात्रा के दिनों में हिन्दू-मुस्लिम दंगे शुरू। सितम्बर में दिल्ली में कांग्रेस का विशेष अधिवेशन।

१९२४ : एक साल जेल में रहने के बाद बाहर। बनाररस में शिक्षा-परिषद् का अधिवेशन। ५ फरवरी, गांधीजी जेल से मुक्त। काकासाहेब उनसे पहले छूट चुके थे। १३ मई, बोरसद राजनैतिक-परिषद् के सभापति। २५ जून, अहमदाबाद में अखिल भारत कांग्रेस-कमेटी की बैठक। पत्रकार-परिषद् में निबन्ध पढ़ा—'पत्रकार की दीक्षा'। बेलगाम कांग्रेस—गांधीजी के सभापतित्व में। सफाई काम की देखरेख।

१९२५ : आरोग्य की खोज में—चिचवड़, सिंहगढ़ आदि।

१९२७ : गांधीजी के साथ दक्षिण भारत और श्रीलंका की यात्रा।

१९२८ : विद्यापीठ का पुनर्गठन : काकासाहेब विद्यापीठ के कुलनायक बने और उसके काम का सारा दायित्व संभाला।

१९२९ : विद्यापीठ द्वारा गुजराती भाषा के 'जोड़नी कोश' का प्रकाशन।

१९३० : २६ जनवरी, स्वतंत्रता दिवस की प्रतिज्ञा—'धन्यघड़ी'। दांडी-कूच—। विद्यापीठ एक छावनी में बदला। विद्यापीठ में राष्ट्रीय शिक्षा-सम्मेलन और छात्रालय सम्मेलन। तलेगांव में सातवीं महाराष्ट्रीय राष्ट्रीय-शिक्षा-परिषद् के सभापति। आणन्द में मुकदमा चला। सजा हुई। गांधीजी के साथ यरवदा जेल में। जेल से छूटे।

१९३१ : स्वराज्य-विद्यालय और अन्य प्रवृत्तियां।

१९३२ : स्वराज्य-संग्राम। ५ जनवरी को गिरफ्तारी। साबरमती तथा हिंडलगा जेल। 'हिंडलग्याचा प्रसाद' (मराठी) लिखवाया।

१९३३ : पुनः पकड़े गये। हैदराबाद जेल में श्री डांगे के साथ। उन्हें मराठी में 'गीताधर्म' लिखवाया।

१९३४ : जेल से छूटे।

१९३५ : २० अप्रैल, हिन्दी साहित्य-सम्मेलन, इन्दौर। लिपि-सुधार समिति के अध्यक्ष।

१९३६ : बारहवां गुजराती साहित्य सम्मेलन—कला-विभाग के सभापति। गांधीजी सम्मेलन के अध्यक्ष। नागपुर में अखिल भारतीय साहित्य परिषद्। नवजीवन ने काकासाहेब के गुजराती लेखों के विषयवार संग्रह प्रकाशित करने शुरू किये। इसी साल 'जीवन-विकास' ग्रंथ छपा।

१९३७ : वर्धा में अखिल भारत शिक्षा-परिषद्—नया समन्वय। वर्धा-शिक्षा-योजना की समिति के सदस्य। मद्रास में अखिल भारतीय साहित्य-परिषद् की दूसरी बैठक।

१९३८ : अगस्त से 'सर्वोदय' मासिक का प्रकाशन प्रारंभ।

१९३९ : अक्टूबर से 'सबकी बोली' का प्रकाशन। 'बुनियादी हिन्दी' की घोषणा। राष्ट्रभाषा की वैज्ञानिक शीघ्रलिपि। हिन्दी लेखन यंत्र।

१९४२ : मई में हिन्दुस्तानी प्रचार-सभा की स्थापना। अगस्त में 'भारत छोड़ो' आन्दोलन शुरू। आगाखान महल में महादेवभाई देसाई की मृत्यु।

१९४३-१९४४ : मध्य प्रान्त और दक्षिण भारत की जेलों में। २२ फरवरी आगाखान महल में कस्तूरबा गांधी का स्वर्गवास।

१९४५ : सीवनी (म० प्रां०) जेल से छूटे। हिन्दुस्तानी के प्रचार का काम किया।

१९४६ : अहमदाबाद आदि स्थानों में षष्ट्यब्दी पूर्ति के उत्सव मनाये गये।

१९४७ : १५ अगस्त, विभाजन के साथ भारत स्वतंत्र।

१९४८ : ३० जनवरी, गांधीजी की हत्या। गांधी-स्मारक-निधि की स्थापना। भारत सरकार की हिन्दी शॉर्ट हैंड और टाइप रायटर समिति के अध्यक्ष। सर्वसेवा संघ की स्थापना।

१९४९ : बम्बई में गांधी-स्मारक संग्रहालय की स्थापना।

१९५० : मई से अगस्त, पूर्वी अफ्रीका की यात्रा (युगांडा, केनिया, टांगानिका, जंजीबार), इन देशों के साथ रुआंडा, उरुंडी भी—जो कांगो के पास हैं। हिन्दुस्तानी प्रचार सभा के सभापति। इंडियन कौंसिल फॉर कल्चरल रिलेशन्स के उपाध्यक्ष।

१९५१ : गांधी स्मारक संग्रहालय का, जिसके काकासाहेब डायरेक्टर थे, स्थानांतर बम्बई से दिल्ली को।

१९५२ : राष्ट्रपति की ओर से राज्यसभा के सदस्य मनोनीत। हिन्दुस्तानी तालीमी संघ (बुनियादी तालीम) के अध्यक्ष। पहली यूरोप यात्रा (स्वीट्जरलैंड, जर्मनी, फ्रांस, इंग्लैण्ड, पुर्तगाल) इसके बाद पश्चिम अफ्रीका, गोल्डकोस्ट (घाना) नाइजीरिया और मिस्र की यात्रा।

१९५३ : राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त पिछड़ी जाती-आयोग के अध्यक्ष, इसी सिलसिले में भारत भ्रमण।

१९५४ : जापान-यात्रा (पहली बार) और भारत-भ्रमण।

१९५५ : पिछड़ी जातियों के आयोग की रिपोर्ट प्रकाशित।

१९५६ : सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय प्रकाशन की सरकारी योजना के सलाहकार मण्डल में नियुक्ति।

१९५७ : दूसरी बार जापान की यात्रा। चीन की यात्रा। थाईलैण्ड और कम्बोज (अंकोरवाट और अंकोरधाम) का प्रवास।

१९५८ : इंग्लैण्ड, वेस्टइंडीज, ट्रिनीडाड, ब्रिटिश गियान, सूरीनाम, संयुक्त राष्ट्र अमरीका की यात्रा। दूसरी बार राज्यसभा के सदस्य मनोनीत।

१९५९ : पूर्व अफ्रीका के चारों देशों के प्रवास के बाद मारीशस, रियूनियन, मैडेगास्कर (मैलेगासी) की यात्रा। गुजराती साहित्य परिषद् के बीसवें सम्मेलन (अहमदाबाद) के सभापति।

१९६० : सरकारी हिन्दी विश्वकोश समिति के सदस्य।

१९६१ : अहमदाबाद में कालेलकर अध्ययन-ग्रंथ अर्पित किया गया।

१९६२ : जापान की तीसरी बार यात्रा; रूस में ताशकन्द, मास्को यास्नाया पोलियाना और लेनिनग्राड की यात्रा।

१९६४ : राज्यसभा से निवृत्त; राष्ट्रपति की ओर से 'पद्म विभूषण' से सम्मानित। बिहार के समन्वय-आश्रम में अभिरुचि का आरम्भ .

१९६५ : समन्वय-आश्रम के ट्रस्टी मण्डल के अध्यक्ष। बिहार में समन्वय पर्व महोत्सव; १ दिसम्बर को ८० वर्ष पूर्ण।

राष्ट्रपति भवन नई दिल्ली में 'संस्कृति के परिव्राजक' हिन्दी ग्रंथ राष्ट्रपति द्वारा अर्पित।

१९६६ : दाहिनी आंख के मोतियाबिंदु का ऑपरेशन। 'जीवन व्यवस्था' गुजराती पुस्तक पर साहित्य अकादमी का पारितोषिक। 'परमसखा मृत्यु' हिंदी पुस्तक पर उत्तर प्रदेश सरकार का पारितोषिक।

१९६७ : जुलाई-अगस्त चौथी बार जापान-यात्रा। सरोज नाणावटी, रवीन्द्र केलेकर, शरद पाण्ड्या साथ थे। गांधी विद्यापीठ बेड़छी की स्थापना। कुलपति बनाये गये। जुगतराम दवे उपकुलपति। बुनियादी तालीम के संचालक आर्यनायकम् का देहान्त। सरदार पटेल यूनिवर्सिटी वल्लभ विद्यानगर(आणंद) की ओर से डी० लिट्० की उपाधि। १० जुलाई 'विश्व-समन्वय-संघ की स्थापना।

१९६८ : तात्सुमारु सुगियामा की ओर से आमंत्रण, पांचवीं जापान-यात्रा। सुशीलकुमार, मोहन, सरोज साथ थे।

१९६९ : सीमान्त गांधी बादशाह खान से अक्तूबर में दिल्ली में मिले। ९ दिसम्बर ८५वीं वर्षगांठ बम्बई में रेखा प्रकाशन की ओर से मनायी गयी।

१९७० : आसाम, नागालैण्ड, मणिपुर, त्रिपुरा की यात्रा। १ दिसम्बर को बम्बई में ८६वें जन्मदिन के निमित्त अखिल भारतीय सूताजंलि सम्मान। दक्षिण भारत की यात्रा।

१९७१ : गोवा-प्रवास। गुजरात यूनिवर्सिटी की ओर से डी० लिट्० की उपाधि और साहित्य अकादमी की ओर से साहित्य फैलोशिप का ताम्रपत्र अहमदाबाद में भेंट। ८७वां जन्मदिन-समारोह गांधी संस्थाओं की ओर से श्री कृपालानीजी की अध्यक्षता में।

१९७२ : जापानी बौद्ध भिक्षु फुजीई गुरुजी की ओर से आमंत्रण—छठी बार जापान-यात्रा। साथ में सरोज और श्रीपाद जोशी। ८८वां जन्मदिन दिल्ली में मनाया गया।

१९७३ : २३ सितम्बर से २ अक्तूबर तक साबरमती आश्रम, अहमदाबाद में। ८९वीं वर्षगांठ की प्रार्थना सभा सन्निधि में। १४-११-७३ कच्छ में गढसीसा में प्रवचन।

१९७४ : २६ मई द्वितीय पुत्र बाल का देहांत। अप्रैल में काशी विद्यापीठ की ओर से उपाधि दी गयी। २९ जुलाई मामासाहेब फड़के का देहान्त। २९ नवम्बर नारायणदास गांधी का देहान्त। ९०वां जन्म-दिन सन्निधि में।

१९७५ : १७ मई, रेहाना तैयबजी का देहान्त। ९१वां जन्मदिन सन्निधि में। प्रार्थना सभा में 'प्रकृति का संगीत पुस्तक का तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी द्वारा विमोचन।

१९७६ : १५ जनवरी स्वामी आनंद का देहान्त। ३० मार्च गांधी हिन्दुस्तानी साहित्य सभा की बैठक। सभा के अध्यक्ष-पद से निवृत्त। सरोज नाणावटी की अध्यक्ष के स्थान पर नियुक्ति। 'मंगल प्रभात' पाक्षिक पत्रिका के संपादक-पद से मुक्ति। अमृतलाल नाणावटी ने संपादक-पद सम्भाला। मई में अमृतलाल गंभीर रूप से अस्वस्थ्य। विलिंग्डन अस्पताल में भर्ती।

१९७७ : ३० मई, डॉ० शरद नाणावटी का देहान्त। २८ सितम्बर को गांधी हिन्दुस्तानी साहित्य सभा की बैठक। अमृतलाल नाणावटी मंत्री स्थान से निवृत। हसमुख व्यास की नियुक्ति। ९३वां जन्मदिन सन्निधि में। प्रार्थना सभा में 'उपनिषदों का बोध' पुस्तक का विमोचन। २९ दिसम्बर मनुभाई जोधाणी का स्वर्गवास।

१९७८ : ३ जनवरी को श्रीमनजी का स्वर्गवास। ६ जनवरी लीलावती मुन्शी का स्वर्गवास। १६ मार्च पं०

सुखलालजी का देहान्त। १५ अगस्त नाथजी का देहान्त। बम्बई को छोड़ अन्यत्र न जाने का निश्चिय। जाड़े के दिनों में बम्बई गये।

१९७९ : २ मई को मार्तंड उपाध्याय का देहान्त। दो-तीन दफे मलेरिया बुखार।

१ दिसम्बर को ९५वें जन्मदिवस के शुभ अवसर पर 'समन्वय के साधक' नामक अभिनंदन ग्रंथ भारत के उपराष्ट्रपति जस्टिस एम० हिदायतुल्ला द्वारा समर्पित।

काकासाहेब कालेलकर के ग्रंथों की सूची

गुजराती

१. स्वदेशी धर्म १९२०
२. कालेलकरना लेखो भाग-१, १९२३
३. गामडामां जईने शुं करीशुं ? १९२३
४. पूर्वरंग (श्री नरहरि परीख के साथ) १९२३
५. हिमालयनो प्रवास १९२४
६. कालेलकरना भाग-२, १९२५
७. ओतराली दीवालो १९२५
८. करंडिया, बेकरी
९. ब्रह्मदेशनो प्रवास १९३१
१०. जीवता तहेवारो १९३४
११. लोकमाता १९३४
१२. स्मरण यात्रा १९३४
१३. लोकजीवन (मराठी हिण्डलग्याचा प्रसाद का अनुवाद) १९३५
१४. जीवननो आनन्द १९३६
१५. जीवन-विकास १९३६
१६. जीवन भारती १९३७
१७. जीवन संस्कृति १९३९
१८. सद्‌बोध शतकम् १९४१
१९. गीताधर्म (मराठी गीतेचें समाज रचना-शास्त्र के आधार पर) १९४४
२०. संकलिता भगवद्‌गीता १९४५
२१. मानवी खंडियेरो (पेरी बरजेस के 'हू वॉक अलोन' का श्री कि० घ० मशरूवाला के साथ किया गया अनुवाद) १९४६
२२. गीतासार १९४७
२३. श्री नेत्रमणिभाई ने १९४७

२४. बापुनी झांकी (मूल हिन्दी से अनूदित) १९४९
२५. पूर्व अफ्रीका मां १९५१
२६. धर्मोदय १९५२
२६. रखडवानो आनन्द १९५३
२७. जीवन लीला ('लोकमाता' की परिवर्द्धित आवृत्ति) १९५६
२९. जीवन प्रदीप १९५६
३०. अवारनवार १९५६
३१. मधुसंचय १९५७
३२. उगमणो देश—जापान १९५८
३३. चि० चन्दनने १९५८
३४. जीवन-चिंतन १९५९
३५. मीठाना प्रतापे १९५९
३६. रवीन्द्र सौरभ (मराठी से अनूदित) १९५९
३७. नारी गौरवनो कवि १९६०
३८. शुद्ध जीवन दृष्टिनी भाषा-नीति १९६०
३९. भारतीय संस्कृतिनो उद्‌गाता १९६१
४०. साहित्यमां सार्वभौम जीवन १९६१
४१. चिंतन अने पुरुषार्थमां समन्वय १९६१
४२. रविच्छविनुं उपस्थान अने तर्पण १९६१
४३. शर्करा द्वीप मोरीशियस १९६२
४४. जीवन व्यवस्था १९६३
४५. विद्यार्थिनीने पत्रो १९६४
४६. स्मरण यात्रा (संक्षिप्त) १९६७
४७. भारत दर्शन भाग-१, १९६७
४८. भारत दर्शन भाग-२, १९६७
४९. भारत दर्शन भाग-३, १९६८
५०. भारत दर्शन भाग-४, १९६८
५१. गुजरातमां गांधीयुग १९६९
५२. परमसखा मृत्यु (हिन्दी से अनूदित) १९६९
५३. प्रासंगिक प्रतिसाद १९७०
५४. विरल सहवास १९७१
५५. वात्सल्यमयी प्रसादी १९७२
५६. भजनांजलि १९७४
५७. गांधी युगना ज्योतिर्धरो (गांधी युग के जलते चिराग का अनुवाद) १९७५
५८. नारी जीवन परिमल १९७७
.५९. ज्यां दरेकने पहोचवुं छे १९७७

१. बापुना पत्रो—१ आश्रमनी बहेनोने १९४९
२. " "—३ कुसुम बहेन देसाई ने १९५४
३. " "—५ कु० प्रेमाबहन कंटकने १९६०
४. " "—६ गं-स्व० गंगाबहेनने १९६०
५. गीता पदार्थ कोश १९६०
६. बापू के पत्र—बीबी अमतुस्सलाम के नाम १९६३

हिन्दी

१. राष्ट्रीय शिक्षा के आदर्शों का विकास १९२८
२. जिन्दा बनो १९३०
३. सहजीवन की समस्या १९३७
४. सप्त सरिता १९३७
५. कला : एक जीवन दर्शन १९३७
६. अजित वीर्य बाहुबलि (अनुवाद) १९४२
७. दो आम (अनुवाद) १९४७
८. जीवन का काव्य (अनुवाद) १९४७
९. जीवन-विहार (अनुवाद) १९४७
१०. हिन्दुस्तानी की नीति १९४७
११. हिन्दुस्तानी के प्रचारक गांधीजी १९४८
१२. बापू की झांकियां १९४८
१३. हिमालय की यात्रा (अनुवाद) १९४८
१४. नागरी वर्णलिपि बोध १९५१
१५. उस पार के पड़ोसी १९५१
१६. कैद की आजादी (उत्तर की दीवारें) १९५१
१७. स्मरण-यात्रा (अनुवाद) १९५३
१८. हिमालय निवासियों से १९५४
१९. जीवन-साहित्य १९५५
२०. लोक-जीवन १९५५
२१. जीवन संस्कृति की बुनियाद १९५५
२२. नक्षत्र माला १९५८
२३. जीवन लीला १९५८
२४. सूर्योदय का देश १९५९
२५. गांधीजी की अध्यात्म-साधना १९५९
२६. स्वाराज्य-भाषा १९५९

२७. सद्‌बोध शतकम् १९६१
२८. कठोर कृपा १९६१
२९. गीता-रत्न-प्रभा १९६१
३०. आश्रम-संहिता १९६२
३१. नमक के प्रभाव से १९६२
३२. प्रजा का राज प्रजा की भाषा में १९६२
३३. उड़ते फूल १९६४
३४. यात्रा का आनन्द १९६५
३५. समन्वय १९६५
३६. सत्याग्रह-विचार और युद्ध-नीति १९६५
३७. परसखा मृत्यु १९६६
३८. शान्तिसेना और विश्वशान्ति १९६६
३९. समन्वय संस्कृति की ओर १९६७
४०. गीता के प्रेरक तत्त्व १९६७
४१. राष्ट्रभारती हिन्दी का प्रश्न १९६७
४२. युगमूर्ति रवीन्द्रनाथ १९६९
४३. जीवन-योग की साधना १९६९
४४. विनोबा और सर्वोदय क्रान्ति १९७०
४५. गांधी-युग के जलते चिराग १९७०
४६. गांधी चरित्र कीर्तन १९७०
४७. गांधीजी का जीवन दर्शन १९७०
४८. गांधीजी का रचनात्मक क्रान्तिशास्त्र (दो खण्डों में) १९७१
४९. नवभारत के चन्द निर्माता १९७२
५०. युगानुकूल हिन्दू जीवन-दृष्टि १९७२
५१. स्वराज्य संस्कृति के संतरी १९७३
५२. प्रकृति का संगीत १९७६
(मलयालम में भी अनूदित)
५३. ईशावास्य उपनिषद् १९७६
२८. उपनिषदों का बोध १९७७

संपादित पुस्तकें

१. बापू के पत्र बजाज परिवार के नाम १९५७
२. स्मरणांजलि १९५७
३. आश्रम की बहनों से १९५७

मराठी

१. स्वामी रामतीर्थ : जीवन चरित्र १९०७ (श्री गुणाजी के साथ)
२. गीतेचें समाज रचना शास्त्र १९३३
३. हिंडलग्याचा प्रसाद १९३४
४. उत्तरेकडील भिंती १९३४
५. साहित्यचें मूलधन १९३८
६. जिवंत व्रतोत्सव १९४०
७. हिमालयातील प्रवास १९४२
८. जीवन विहार (अनुवाद) १९४३
९. ब्रह्मदेशचा प्रवास " "
१०. जीवन आणि समाज " "
११. समाज आणि समाजसेवा "
१२. जीवन-संस्कृति " "
१३. वन शोभा १९४४
१४. भक्ति कुसुमें (अनुवाद) १९४४
१५. आमच्चा देशाचें दर्शन (अनुवाद) १९४४
१६. लाटांचे तांडव " १९४५
१७. हिन्दुचें समाज कारण (अनुवाद) १९४५
१८. सामाजिक प्रश्न " १९४६
१९. लोकमाता " १९४७
२०. जीवनांतील आनन्द " १९४७
२१. सप्रेम वन्देमातरम् १९४७
२२, साहित्याची कामगिरी १९४८
२३. स्मरण यात्रा १९४९
२४. बापूजीं चीं ओझरती दर्शनें १९५०
२५. मृगजलांतील मोती (जिब्रान) १९५१
२६. मालंच (रवीन्द्रनाथ) १९५२
२७. लोकजीवन १९५२
२८. रवीन्द्र प्रतिभेचे कोंवले किरण १९५५
२९. जीवन लीला (गुजराती से अनूदित) १९५८
३०. पुण्यभूमि गोमंतक १९५८
३१. रवीन्द्र मनन १९५८
३२. रवीन्द्र वीणा १९६१
३३. रवीन्द्र झंकार १९६२
३४. खेलकर पानें १९६४

३५. भारत दर्शन भाग १, २, ३, क्रमश: १९६५, ६६ व ६७
३६. संत मानस तुकाराम १९६७
३७. भारत दर्शन भाग-४ १९६७
३८. नैवेद्य १९६८
३९. भारत दर्शन भाग-५ १९६८
४०. भारत दर्शन भाग-६ १९७०
४१. भारत दर्शन भाग-७ (गुजराती से अनूदित जीवननो आनन्द का एक हिस्सा) १९७०
४२. आंतरजगांतील यात्रा १९७३

कोंकणी

१. उत्तर दिकाच्यो वणत्यो (अनुवाद) १९५९

उर्दू

१. बापू की झांकियां (अनुवाद) १९५८

बंगला

१. जीवन लीला (अनुवाद) १९५८

मलयालम

१. गीता रत्न प्रभा
२. जीवन लीला

अंग्रेजी

१. स्ट्रेचे ग्लिम्सेस ऑव बापू १९५०
२. ऑवर नेक्सट शोर नेवर्स १९५४
३. ए ग्लिम्प्स ऑव गांधीजी १९६०
४. ईवन बिहाइण्ड दि बार्स १९६१
५. दि नागरी एल्फेबेट्स १९६१
६. दि गीता एज जीवन योग १९६७

प्रेस में (हिन्दी)

१. चिंतनिका
२. साहित्य—एक कला और जीवन दर्शन
३. नवसृजन की गांधीनीति
४. अहिंसा की जीवन-दृष्टि
५. गांधीजी के जीवन सिद्धान्त

□ प्रेरक विचार

- गीता में कहा गया है कि यह जीवन-चक्र प्रवर्तित है, इसलिए जीवसृष्टि भी कायम है। इसी जीवन-चक्र को गीता ने 'यज्ञ' कहा है। यह यज्ञ-चक्र यदि न होता तो सृष्टि का बोझ भगवान के लिए भी असह्य हो जाता।...
- मनुष्य के सुख-दुःख उसके अधीन नहीं हैं; किन्तु सुख-दुःख का सदुपयोग कर लेना उसके हाथों में है। सुख और दुःख से मनुष्य अगर अपना अधःपात न होने दे, अपनी साधना के द्वारा दोनों का सदुपयोग करे और उन्नति साध ले तो एक ढंग से (अर्थात् नम्र अर्थ में) वह भी सुख-दुःख का ईश्वर बन सकता है।...
- सत्य के पालन से हमारा तेज बढ़ता है, चारित्र्य उन्नत होता है, धैर्य की सिद्धि होती है।...सत्य से जो आन्तरिक सन्तोष मिलता है, उसकी बराबरी कर सकने वाली कोई दूसरी चीज दुनिया में है ही नहीं।...
- मुर्गी के बच्चों का आकार बनने से पहले जिस प्रकार उन्हें अण्डे के कवच का रक्षण चाहिए, उसी प्रकार मन पक्का हो जाय तबतक के लिए बच्चों को ईश्वर ने अज्ञान का यह कवच दिया है। यह उसकी कृपा ही है।...
- मामूली मौत से न बुद्ध भगवान् बच सके, न महावीर। सबको शरीर छोड़ना ही पड़ा, लेकिन उन्होंने आत्मनाश रूपी मृत्यु पर विजय पाई।... —काका कालेलकर

□□